जयशंकर प्रसाद

नाटक संग्रह

[हिन्दीकोश]

सूची

अग्निमित्र

प्रसाद वाङ्मय की यह अन्तिम और अपरिसमाप्त नाट्यकृति है जो इरावती उपन्यास में परिवर्तित हुई। इनके आरम्भ में दृश्य संकेत और साढ़े संवादों का क्षेपक लगाना परिस्थितिवशात् मेरे लिए अनिवार्य हो गया — इसके लिए पाठक मुझे क्षमा करें।

~रत्नशंकर प्रसाद।

पात्र

बृहद्रथ — सम्राट

पुष्यमित्र — सेनापति

अग्निमित्र — पुष्यमित्र का पुत्र

बलमित्र — अग्निमित्र का दूसरा पुत्र

पतंजलि

इरावती

भिक्षु, भिक्षुणियाँ और सैनिक

प्रथम दृश्य

(उज्जयिनी में शिप्रा तट पर कुक्कुटाराम का द्वार । एक भिक्षु सिर झुकाए टहल रहा है। एक उद्विग्न अश्वारोही सैनिक वेग से आकर उसके समीप रुकता है)

सैनिक — (रोषपूर्वक) क्या तुम्हीं इस कुक्कुटाराम के स्थविर हो?

भिक्षु — (मन्द स्वर में) शान्त हो उपासक। ऐसा अविनय क्यों?

सैनिक — (क्षोभ से) शान्त ! मृत्यु-शीतल शून्यता की व्यवस्था देनेवाले वाग्जाल की विज्ञप्ति बहुत हो चुकी। उत्तर दो तुम्हीं स्थविर हो या अन्य कोई?

भिक्षु — (अन्तरिक्ष को देखते) यह पिशंग सन्ध्या शून्य का ही विवर्त्त कर रही है। देखो! न दिन है न रात, दिवापति का निर्वाण हो रहा है — मानो समग्र विश्व तथागत की पीली संघाटी में आश्रय ले रहा है...

सैनिक — (पैर पटकते हुए) बको मत।

भिक्षु — धैर्य धरो, अनुद्विग्न हो जाओ, धर्म का पथ प्रशस्त है, सुआख्याात है। मैं तुम्हें आर्य मत्य बताकर शील से प्रतिष्ठित करूँगा। आओ, यहाँ निर्वाण का...

सैनिक — निर्वाण! मैं उसमें विश्वास नहीं करता वह भी शून्य — असत् है — सबसे बड़ा अन्धकार है। तुम्हें उस दिवापति का निर्वाण दीख रहा है जो आगामी कल अपनी सम्पूर्ण प्रभा से उदित होने वाला है, तथागत की पीली संघाटी की छाया के बाद — आ रहा है निविड़ अन्धकार! तुम्हारा वह निर्वाण ढूँढ़ लूँगा किसी दूसरे जन्म में जब जीवन अपनी सार्थकता खो देगा। मालव पुर्नजन्मवादी है।

भिक्षु — कदाचित् इस पवित्र कुक्कुटाराम के महास्थविर को तुम पूछ रहे थे...

सैनिक — (व्यंगपूर्वक) मेरा प्रश्न भी शून्य बन गया? अभी कदाचित् लगा रखा है (कुक्कुटाराम की ओर इंगित करते) [1] इस नीहार भरे कुहर में मनुष्य सामान्य जीवन को भी नहीं देख पाता। न जाने कब तुम्हारे इस कुक्कुटाराम की प्राचीर गिरेगी और उसमें बन्दिनी मानवता मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

भिक्षु — (घृणा से) अनार्थ! तुम कितने पाप-मति हो?

सैनिक — भिक्षु! तुम्हारा पुण्य न जाने कब धोखे से पाप बन गया — हाँ, वह पुण्य था! किन्तु अब मानवता को वह किधर ले जा

---

[1] आरम्भ से यहाँ तक क्षेपक है।

रहा है, इस पर कभी विचार किया? इस पवित्र मानव-जीवन की, इस चैतन्य ज्वाला की उपयोगिता क्या निर्वाण में बुझ जाने में है?

(भिक्षु हताश होकर उसकी ओर देखता हुआ चुप रह जाता है। भीतर घंटा की ध्वनि होती है और उसी द्वार से भिक्षुणियों का दल निकलता है। घंटा की ध्वनि बन्द हो जाती है और सजीव शोक-प्रवाह-सी भिक्षुणियों की पाँत, अभ्यास से विषादपूर्ण विक्षेप करती हुई एक ओर चली जाती है। नेपथ्य में गीत)

सुख साधन में भूल न रे मन!
भव तृष्णा न मिटेगी तेरी
आशा दोला झूल न रे मन!
रूप वेदना क्षणिक रंग हैं
खिल-खिल कर यों फूल ने रे मन!

(भिक्षु और सैनिक जैसे उन्हें न देखते हुए सविनय सिर झुका लेते है। सहसा सैनिक एक सुपरिचित मूर्ति देखकर जिधर भिक्षुणियों का दल नेपथ्य में चला जाता है, उसी ओर देखने लगता है। आवेश से आगे बढ़ता हुआ।)

सैनिक — (ऊँचे स्वर से) इरावती! इरावती! सुन लो, चली न जाओ।

भिक्षु — फिर वही अभिनय!

सैनिक — चुप रहो भिक्षु? यह किस क्रूरकर्मा का विधान है! जिसे ऊषा की उल्लसित लालिमा में विकसित होना चाहिए, उसे तुम — नहीं, तुम्हारे धर्म-दम्भ ने दिनान्त की सन्ध्या के पीलेपन में डूबते हुए — मुरझायी साँस लेने की आज्ञा दी है। इरावती, जिसको वसन्त की कोकिला की तरह मादक तान लेनी चाहिए वह चिर शोक संगीत-सी महाशून्य में चली जा रही है। तुम कहोगे कि इससे धर्म का प्रचार होता है। किन्तु ...।

भिक्षु — युवक! धर्म ही मानव हृदय में शान्ति और उपशम का साधन है।

सैनिक — हृदयहीन धार्मिक! शान्ति होगी कहाँ? तुम्हारे क्षणिक विज्ञान के राज्य में शान्ति ठहरेगी कहाँ? तुम क्या जानो? यौवन-काल में सम्पूर्ण समर्पण करने वाले हृदय में घोर दुःख और कष्ट में भी कितना विश्वास और कितनी शान्ति होती है। वग शान्ति तुम्हारी-जैसी मृतक-शान्ति नहीं। किन्तु मैं यह क्या कह रहा हूँ? तुम उसे क्या समझोगे? (विनम्र होकर) स्थविर! क्षमा करो! मैं अतिवादी हूँ। बताओ इरावती को संघ की मृत्यु-शीतल छाया में किसने भेज दिया है?

भिक्षु — (हँसकर) सम्राट् ने।

सैनिक — ओह! सम्राट् ने?

(भिक्षु नेपथ्य की ओर देखकर चुप रहने का संकेत करता है। उल्काधारी सैनिकों और परिचारिकाओं से घिरा हुआ शिविकारूढ़ सम्राट् का प्रवेश। युवक झुक कर अभिवादन करता हुआ हट जाता है।)

सम्राट् — (भिक्षु को देखकर) भन्ते! मैं वन्दना करता हूँ।

भिक्षु — कल्याण लाभ हो।

सम्राट् — संघ सकुशल है न? धर्म-चर्या में कोई व्याधात तो नहीं?

भिक्षु — आपके यशस्वी शासन में संघ सब प्रकार से सुखी होकर धर्माचरण कर रहा है।

सम्राट् — यह प्रसन्नता की बात है। मालूम होता है कि आप वायु सेवन करके लौट रहे है।

भिक्षु — नहीं, भिक्षुणियों की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वे टहलकर आती ही होगी।

सम्राट् — अच्छा उन कुमारियों का क्या हुआ जिन्हें मैंने संघ में भिजवा दिया था। युवतियाँ खड्ग लिए एक ध्वज की परिक्रमा करे — यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने ठीक किया न?

भिक्षु — वह तो सम्राट ने धर्मानुकूल ही किया। भूली हुई अधार्मिक क्रियाओं का पुनः प्रचार करने में आपकी मालव सेना ने न जाने क्या गुप्त रहस्य रखा है?

सम्राट् — (जैसे सचेत होकर — ठीक कहा आपने! इन्द्रध्वज का तो बहुत दिनों से नाम भी नहीं सुना गया था। उहँ, होगा कुछ।

भिक्षु — महाराज, मुझे तो बड़ा सन्देह है।

सम्राट् — (भय से इन्द्रध्वज को देखता हुआ) बलमित्र! कुमारामात्य सेनापति पुष्यमित्र को यही बुला लो।

(बलमित्र जाता है। सम्राट के संकेत से शिविका रख दी जाती है)

सम्राट् — स्थविर! आप भी इस शिला खंड पर बैठ जायँ मैं सेनापति की प्रतीक्षा करूँगा।

(भिक्षु शिला खंड पर बैठ जाता है और भिक्षुणियों का दल उसी तरह लौटता है।)

सम्राट् — (कुतूहल से देखा हुआ) सुन्दर! संघ में बहुत-सी धार्मिक क्रियाओं में रोचक परिवर्तन किये है।

भिक्षु — भगवान् तथागत ने समयानुकूल नियमों में परिवर्तन करने की इसीलिए आज्ञा दी है।

(भिक्षुणियाँ समीप आती है।)

सम्राट् — आर्य, क्या ये सब इन्द्र-कुमारियाँ है?

भिक्षु — नहीं, इनमें केवल एक ही है। और सब तो संघ के कड़े नियमों का पालन करने में अस्वस्थ हो गयी है।

सम्राट् — जो स्त्रियाँ अवरोध के नियमों का न पालन करें उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है।

इरावती — (आगे बढ़कर) सम्राट! यह अन्याय है। मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध भिक्षुणी बना देना राजशक्ति का परिहास है।

सम्राट् — (उसे सस्पृह देखता हुआ) तुम अन्याय का नाम न लो।

(वेग से सैनिक का प्रवेश)

सैनिक — सम्राट की जय हो! अन्याय का नाम न लेने से वह छिप जाय, ऐसी बात नहीं। वह पीड़ित के प्रतिबिम्ब में भयंकर मूर्तिमान होकर सबकी आँखों के सामने नाचता है।

सम्राट् — (रोष से) तुम कौन हो? दुर्विनीत। वाचाल!

सैनिक — मालव सेना का एक नायक।

सैनिक — (इरावती से) इरे, तुम सम्राट् से अपने कुल में लौटने की आज्ञा माँगो।

सम्राट् — नहीं, जो स्त्रियाँ अवरोध में न रह सके, उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है। नियमों का पालन करना राष्ट्र की प्रजा के लिए उतना ही आवश्यक है जितना श्वास-प्रश्वास लेना।

सैनिक — देव, जीवन के स्वतन्त्र विकास को रोकने वाले नियम राष्ट्र की उन्नति को भी रोकते है। भारतीय विचारकों ने इसे अच्छी तरह समझा है। स्वर्गीय विश्व-विश्रुत महाराज धर्माशोक ने श्रमण और ब्राह्मण के धर्माचरण में बाधा न डालते हुए जो साधारण संशोधन प्रचलित किये थे, उनका अब अतिक्रमण किया जा रहा है। मालवों ने राज सिंहासन की जिस निष्ठा के साथ सेवा की है, उसकी यों अवहेलना न होनी चाहिए। इस मालव कुमारी को संन्यास-बन्धन से मुक्त करने की आज्ञा दीजिए।

सम्राट् — (सरोष) धृष्ट युवक! तू मुझे शिक्षा देना चाहता है? (भिक्षुणियों की ओर देखकर) आर्य स्थविर! इन्हें संघाराम में जाने की अनुमति दीजिए।

(भिक्षु के संकेत करने पर भिक्षुणियाँ जाने लगती हैं)

सैनिक — ठहरो इरा!

(इरावती रुक जाती है)

सम्राट् — ऐं!

(सेनापति पुष्यमित्र और बलमित्र का प्रवेश)

पुष्यमित्र — राजाधिराज की जय हो! (बलमित्र से कड़क कर) इन दोनों युवक और युवतियों को बंदी करो, और शीघ्र यहाँ से ले जाओ।

(पुष्यमित्र के इस आकस्मिक आचरण से कुछ चकित और कुछ विमूढ़-सा हो जाता है। सैनिक और इरावती का बलमित्र के साथ प्रस्थान)

भिक्षु — देव! संघ की सीमा मे आज यह पहला अवसर है कि एक भिक्षुणी बन्दिनी बनायी जाय। संघ-महास्थविर की आज्ञा ही यहाँ ऐसे विषयों में प्रधान होती रही।

सेनापति — (विनम्र होकर) आर्य! मुझे यह नहीं मालूम था कि राजशक्ति से ऊपर भी किसी की शक्ति माननीय है, चाहे वह संघ ही क्यों न हो।

सम्राट् — (कुछ प्रसन्न-सा होकर) आर्य! इस विवाद को मैं स्वयं महास्थविर से जाकर समझ लूँगा। अभी तो जो सेनापति ने किया वही ठीक है।

सेनापति — मैं अनुगृहीत हुआ महाराज! किन्तु मेरी पहले की प्रार्थना के अनुसार क्या इन्द्रध्वज महोत्सव को श्रीमान् न कृतार्थ करेंगे? आज उत्सव का अन्तिम समारोह है। मालव सैनिक रात्रि की रणचर्या का कृत्रिम प्रदर्शन करेंगे।

सम्राट् — (विरक्त होकर सन्दिग्ध भाव से) मुझे तुम्हारा इन्द्रध्वज कुछ समझ में नहीं आता। यह क्या उपद्रव है?

भिक्षु — सेनापति! हिंसा को उत्तेजना देना धर्म-विरुद्ध है।

सम्राट् — (कुछ चंचल-सा होकर) सेनापति! धार्मिक विधानों में हस्तक्षेप करने का तुम्हारा अभिप्राय तो नहीं होगा?

सेनापति — कदापि नहीं महाराज! आर्य स्थविर की यह अहिंसा एक प्रतिक्रिया है। राष्ट्र में जैसे नृशंसता स्पृहणीय नहीं वैसे ही कायरता भी अभीष्ट न होगी। उत्तर-पश्चिम में यवन मिलिन्द तथा पूर्व-दक्षिण में जैन खारवेल अपने बल को बढ़ा रहे है। किसी भी क्षण मौर्य-साम्राज्य को निगल जाने के लिए ये दोनों शक्तियाँ अग्रसर हो सकती है।

सम्राट् — सेनापति! हम लोग भविष्य की चिन्ता में प्रायः वर्तमान को भी नष्ट कर देते है। आक्रमण की वैसी सम्भावना नहीं जैसी आप सुना रहे हैं। तो भी मैं चाहता हूँ कि यह इन्द्रध्वज शीघ्र हटा दिया जाये।

पुष्यमित्र — (सिर झुकाकर) उत्तम होता कि सम्राट अपनी आज्ञा पर फिर विचार करते। मालवों की दुर्द्धर्ष वीर सेना...।

सम्राट — दुर्द्धर्ष! क्या कहते हो सेनापति! मालवों का नाम मैं इतनी बार नहीं सुनना चाहता। मैं विनीत और दुर्द्धर्ष दोनों का नियामक हूँ। मैं सम्राट हूँ।

(पुष्यमित्र सिर झुका लेता है और भिक्षु के साथ सम्राट सपरिवार खुल फाटक से भीतर जाता है।)

पुष्यमित्र — इधर? या उधर? यह दुर्बल, धर्म के आडम्बर में महा-विलासी नाममात्र का सम्राट! क्षत्रिय दार्शनिक और संन्यासी भिक्षु हो रहे हैं। इसलिए ब्राह्मण पुष्यमित्र ने शस्त्र ग्रहण करके आज तक मगध राष्ट्र की रक्षा की है, किन्तु भीतर उपप्लव और बाहर से आक्रमण! पुष्यमित्र! अब तुम क्या करोगे? और अग्निमित्र, जिसे मैं इतने दिनों तक बचाता रहा, आज उसकी भेंट सम्राट से हो ही गयी। कैसी विचित्र परिस्थिति है? उस उच्छृंखल युवक को मैं विदिशा से आने नहीं देता था। क्या करूँ? (व्यग्र होकर टहलने लगता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वेश में पतंजलि का प्रवेश)

पुष्यमित्र — नमस्कार, इस समय आपकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता थी।

पतंजलि — (शिला खंड पर बैठते हुए) मेरी आवश्यकता? आश्चर्य!

पुष्यमित्र — मैं इस समय अत्यन्त उद्विग्न हूँ।

पतंजलि — (सहज भाव से) होना भी चाहिए। किन्तु इस जड़ता से आच्छन्न, निर्मम उदासीनता में किसी तरह की बौद्धिक उत्तेजना में पड़े हुए सेनापति को देखकर मुझे तो प्रसन्नता ही हो रही है।

पुष्यमित्र — मैं क्या करूँ?

पतंजलि — यही तो संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है — 'मैं क्या करूँ?' इसपर विचार और कर्म के पहले मनुष्य अपना शरीर, मन और वाणी शुद्ध कर ले। जो मन से कायर, शरीर से शिथिल होने पर वचन का वीर है, उससे कुछ नहीं होता। विश्व शक्ति-तरंग है। वह तरल अग्नि जो इसके अन्तरतम में द्रुत-वेग से चक्कर लगा रही है, विषाद के कलुष से पीड़ित अपने को कुछ न समझने वाले प्राणी के द्वारा अनुकरण करने की वस्तु नहीं।

पुष्यमित्र — आर्य! तब क्या इस दुःखवाद, श्रद्धाहीन निराशा की ओर ले जानेवाले अनात्मवाद के निर्वाण का अन्धकार अनन्त है? आर्य जाति कहाँ जा रही है? और...

पतंजलि — जहाँ उसे जाना है, चिति-शक्ति अपने अभाव पक्ष की लीला देख रही है। तुम क्षात्रधर्मा ब्राह्मण अभी भी दुविधा में पड़े हो। जीवन का विकास इस दुःखपूर्ण बुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है। उसे आनन्द पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है। दुःखवाद की निद्रा आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है। यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग है, तुम, मंगलपूर्ण सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के पंच-कृत्य में कुशल चिरानन्दमयी आत्मसत्ता में विश्राम करो। तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे। वहीं करोगे जो होना चाहिए

(पुष्यमित्र कुछ समय के लिए सिर झुकाकर प्रकृतिस्थ हो जाता है। पतंजलि का प्रस्थान। नेपथ्य में कोलाहल करते हुए मालव सैनिकों का प्रवेश। पुष्यमित्र चौंककर खड़ा हो जाता है)

पुष्यमित्र — क्या है?

बलमित्र — आर्य! इस अपमान का प्रतिशोध लिये बिना हम लोग शान्त नहीं होंगे। कुक्कुटाराम शान्त भिक्षुओं ने निवास योग्य अब नहीं रहा। अब यह अपने नाम को सार्थक करेगा। और उसमें कुक्कुट ही रहेंगे।

पुष्यमित्र — तो क्या तुम लोग उपद्रव करने पर तुले हुए हो?

एक मालव सैनिक — मालव कुल की वीर बालिकाएँ इस तरह पकड़ कर धर्म के नाम पर कारागार में बन्द कर दी जायँ और हम लोग देखते रहें। यह नहीं हो सकता।

दूसरा सैनिक — धर्म कहाँ है? जनता को क्या वास्तव में संघ वही दे रहा है जो उससे आशा थी?

तीसरा सैनिक — ठीक है सेनापति। मिठाई न मिले तो मीठी बात तो मिलनी ही चाहिए। हम पर अत्याचार भी हो और ऊपर से डाँट-फटकार।

पुष्यमित्र — (रोष से) मूर्खो! सम्राट् भी इस समय संघाराम में ही है, लौट जाओ। मैं इसकी व्यवस्था कर दूँगा।

बलमित्र — आपकी व्यवस्था तो कुछ ही क्षण पहले मैंने देखी है। अभी-अभी आपने राज-शक्ति को प्रसन्न करने के लिए अन्यायपूर्वक अपने पुत्र को बन्दी करने की आज्ञा दी है।

तीसरा सैनिक — और राजशक्ति संघ को प्रसन्न करने में तत्पर है। कहा है कि 'संघे शक्तिः कलौ युगे'।

पुष्यमित्र — तुम अपनी परिहासप्रियता को रोको। (बलमित्र) सुनते हो बलमित्र! बृहद्रथ केवल सम्राट ही नहीं, अपितु वह मेरी एकान्त राजनिष्ठा का प्रतिनिधि है। सुनो, यह पुष्यमित्र नहीं कह रहा है किन्तु सेनापति की आज्ञा है, मेरे प्रिय सैनिकों, लौट जाओ।

बलमित्र — पूज्यपाद, आप मेरे पितृव्य है किन्तु सेनापति नहीं। जो सैनिक की मर्यादा सुरक्षित नहीं रख सका ऐसे सेनापति की अधीनता में सैनिक भी नहीं।

(नेपथ्य में — 'महानायक अग्निमित्र की जय।' पुष्यमित्र चौंककर देखने लगता है। इरावती और कुछ सैनिकों के साथ अग्निमित्र का प्रवेश)

पुष्यमित्र — (उन्मत्त भाव से) तो क्या तुम सब विद्रोही हो? नहीं, अग्निमित्र, तुमसे मुझे यह आशा न थी। तुमको बन्दीगृह में जाने की मैंने आज्ञा दी थी।

अग्निमित्र — तात, वह आज्ञा शिरोधार्य करके मैं बन्दीगृह तक गया।

पुष्यमित्र — तो फिर कैसे चला आया?

अग्निमित्र — आपकी आज्ञा पालन करके मैं लौट आया।

पुष्यमित्र — (उद्विग्न भाव से टहलता हुआ) हूँ..। (फिर सहसा खड्ग खींच लेता है) तो फिर आओ आज सेनापति और सैनिकों की शस्त्र-परीक्षा होगी। साम्राज्य का एक स्वामिभक्त पुरुष यहाँ उपस्थित था, इसे संसार जान ले।

बलमित्र — मालव की पवित्र कुमारियों के नाम पर, उनके उज्ज्वल सम्मान के नाम पर कुक्कुटाराम में जाने का पथ माँगता हूँ। प्रतिज्ञा करता हूँ कि मालव कुमारियों को लाने के अतिरिक्त संघाराम में और कुछ न करूँगा।

पुष्यमित्र — मेरे जीवित रहते यह नहीं हो सकता।

(पतंजलि का सहसा पुनः प्रवेश)

पतंजलि — वाणी का अपव्यय न करो। एक कदाचित् शब्द लगा लेने से क्या बुरा होता? किन्तु यह क्या! तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो? सेनापति, तुम्हारा इन्द्रध्वज महोत्सव विघ्नसंकुल है। उत्सव के संरक्षक व्याकुल है. स्थविरों की मन्त्रणा से विमूढ होकर सम्राट बृहद्रथ की कोई विकट आज्ञा उन्हें मिली है। मैं स्वस्त्ययन करने जाकर लौट आया। चलिए शीघ्र उधर चलिए।

(चिन्तित भाव से पुष्यमित्र का प्रस्थान)

बलमित्र — अग्निमित्र! अब क्या देख रहे हो?

(मालव सैनिकों का संघाराम के द्वार में प्रवेश)

इरावती — अब क्या होगा?

पतंजलि — वही जो होनेवाला है।

इरावती — आचार्य, क्या होनेवाला है?

पतंजलि — क्षत्रिये! यह मनुष्य की तर्क-बुद्धि की प्रतिक्रिया है। सहस्रों वर्ष की दार्शनिकता ने अपना अतिवादी स्वरूप प्रकट किया है। आज हम लोग दर्शन का सृष्टि से सामंजस्य करना भूलकर बौद्धिक मोह में पड़े हुए है। हम में सब कर्मों को भस्म

करनेवाली अग्नि-ज्वाला, आत्मा की आहुति समझकर सबको ग्रहण करनेवाली शक्ति का ह्रास हो रहा है। चिरकाल से ब्राह्मणों के विरोध में क्षत्रियों ने जिस दार्शनिकता की सृष्टि की है उसी का यह परिणाम है कि एक वीर बालिका उपद्रव की आशंका से घबराकर पूछती है कि अब क्या होगा? आर्य चाणक्य ने शूद्रप्राय भारतवर्ष में जिस क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा की थी वह अनात्मवाद के चक्कर में छिन्न-भिन्न हो रहा है, अब ब्राह्मण को ही समतोलन के लिए क्षत्रिय बनना पड़ेगा। यह उसी का समारम्भ है।

इरावती — तो क्या विप्लव होगा?

पतंजलि — (हँसकर) विप्लव? नहीं! संशोधन होगा। महाशक्ति की सृष्टि — महायज्ञ है। इसकी आहुतियाँ बन्द कर दी गयी। मन, वाणी और शरीर से इसीलिए आर्य लोग अपवित्र हो गये है। आत्म-केन्द्र के अभाव में कर्मों की प्रतिष्ठा नहीं रही। इसलिए अब फिर से यज्ञ का आरम्भ हो रहा है।

(कुक्कुटाराम के द्वार से मालव सैनिकों के साथ इन्द्र कुमारियाँ आती है)

अग्निमित्र — (पतंजलि से) आचार्य, हम लोग किधर चले?

पतंजलि — (इन्द्रध्वज की ओर हाथ उठाकर) इन्द्रध्वज के नीचे।

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(मालवों के साथ पतंजलि आकर इन्द्रध्वज की वन्दना करते है। विस्तृत भूमिका में इन्द्रध्वज, जिसके चारों ओर खड्ग लिए आठ कुमारियाँ गाती हुई घूमती है।)

बलमित्र — आचार्य! अब क्या आज्ञा है?

पतंजलि — आज्ञा न पूछो। यज्ञ का आरम्भ है। जिस दृढता के साथ तुम लोगों ने अब तक इसकी रक्षा की है इससे विचलित न हो। जो कुछ करना है वह धीरे-धीरे नहीं, बड़ी तीव्र गति से मेघ-ज्योति की तरह स्वयं उपस्थित होकर तुम से कर्तव्य करा लेगा।

एक मालव — यह तो बात समझ में नहीं आती। बुद्धि से जिसका आदि और अन्त न समझा गया हो उस कर्म को करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा?

पतंजलि — तुम पक्के बुद्धिवादी हो। मालूम होता है कि तुमने जन्म लेने से पहले भली भाँति सोच विचार किया था।

एक मालव — आर्य! ऐसा तो नहीं, फिर भी जब हम सोचने-विचारने के योग्य हो जायँ तब अविचार से चलना क्या ठीक होगा?

पतंजलि — तुम्हारी ज्ञान-श्लाघा नयी नहीं है। विचार करने पर भी तुम आज तक की घटनाओं को नियति का सुनिश्चित कर्म नहीं समझ रहे हो। अभी हृदय के यौवन से, आनन्द से जिस सीमा तक बढ़ आये हो वह कदाचित् बुद्धि क्षेत्र से दूर है। सम्राट की आज्ञा भंग करके जो बीज तुमने आरोपित किया है, वह शीघ्र ही फलीभूत होगा।

(पटाक्षेप)

अजातशत्रु

कथा-प्रसंग

इतिहास में घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नई घटना होती ही नहीं। किन्तु असाधारण नई घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखती है।

मानव-समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूल-सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा-शक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती, तब तक वह रूप-परिवर्तन करती हुई, पुनरावृत्ति करती ही जाती है। समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उसका विरोध करने लगती है, और पूर्व कल्पना

कुछ काल तक ठहरकर, फिर होने के लिए अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव-समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।

भारत का ऐतिहासिक काल

गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उस काल की बौद्ध-कथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में भी प्रसंग आता है। लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं। पौराणिक काल के बाद गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व ने तत्कालीन सभ्य संसार में बड़ा भारी परिवर्तन किया। इसलिए हम कहेंगे कि भारत के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ धन्य है, जिसने संसार में पशु-कीट-पतंग से लेकर इन्द्र तक के साम्यवाद की शंखध्वनि की थी। केवल इसी कारण हमें, अपना अतीव प्राचीन इतिहास रखने पर भी, यहीं से इतिहास-काल का प्रारम्भ मानने से गर्व होना चाहिए।

भारत-युद्ध के पौराणिक काल के बाद इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों की प्रभुता कम होने पर बहुत दिनों तक कोई सम्राट् नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने-अपने देशों में शासन करती थीं। बौद्धों के प्राचीन संघों में ऐसे 16 राष्ट्रों के उल्लेख हैं, प्रायः उनका वर्णन भौगोलिक क्रम के अनुसार न होकर जातीयता के अनुसार है।

उनके नाम हैं-अंग, मगध, काशी, कोसल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गांधार और काम्बोज। उस काल में जिन लोगों से बौद्धों का सम्बन्ध हुआ है, इनमें उन्हीं का नाम है। जातक-कथाओं में शिवि, सौवीर, नद्र, विराट् और उद्यान का भी नाम आया है; किन्तु उनकी प्रधानता नहीं है। उस समय जिन छोटी-से-छोटी जातियों, गणों और राष्ट्रों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से हुआ, उन्हें प्रधानता दी गई, जैसे 'मल्ल' आदि।

अपनी-अपनी स्वतन्त्र कुलीनता और आचार रखने वाले इन राष्ट्रों में-कितनों ही में गणतन्त्र शासन-प्रणाली भी प्रचलित थी-निसर्ग-नियमानुसार एकता, राजनीति के कारण नहीं, किन्तु एक-से होने वाली धार्मिक क्रान्ति से थी।

वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञों और पुरोहितों के एकाधिपत्य से साधारण जनता के हृदय-क्षेत्र में विद्रोह की उत्पत्ति हो रही थी। उसी के फलस्वरूप जैन-बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। चरम अहिंसावादी जैन-धर्म के बाद बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। वह हिंसामय 'वेद-वाद' और पूर्ण अहिंसा वाली जैन-दीक्षाओं के 'अति-वाद' से बचता हुआ एक मध्यवर्ती नया मार्ग था। सम्भवतः धर्म-चक्र-प्रवर्तन के समय गौतम ने इसी से अपने धर्म को 'मध्यमा प्रतिपदा' के नाम

से अभिहित किया और इसी धार्मिक क्रान्ति ने भारत के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को परस्पर सन्धि-विग्रह के लिए बाध्य किया।

इन्द्रप्रस्थ और अयोध्या के प्रभाव का ह्रास होने पर, इसी धर्म के प्रभाव से पाटलिपुत्र पीछे बहुत दिनों तक भारत की राजधानी बना रहा। उस समय के बौद्ध-ग्रन्थों में ऊपर कहे हुए बहुत-से राष्ट्रों में से चार प्रमुख राष्ट्रों का अधिक वर्णन है-कोसल, मगध, अवन्ति और वत्स। कोसल का पुराना राष्ट्र सम्भवतः उस काल में सब राष्ट्रों से विशेष मर्यादा रखता था; किन्तु वह जर्जर हो रहा था। प्रसेनजित् वहाँ का राजा था। अवन्ति में प्रद्योत (पज्जोत) राजा था। मालव का राष्ट्र भी उस समय सबल था। मगध, जिसने कौरवों के बाद भारत मे महान् साम्राज्य स्थापित किया, शक्तिशाली हो रहा था। बिम्बिसार वहाँ के राजा थे। अजातशत्रु वैशाली (वृजि) की राजकुमारी से उत्पन्न, उन्हीं का पुत्र था। इसका वर्णन भी बौद्धों की प्राचीन कथाओं में बहुत मिलता है। बिम्बिसार की बड़ी रानी कोसला (वासवी) कोसल नरेश प्रसेनजित् की बहन थी। वत्स-राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसका खँडहर जिला बाँदा (करुई सब-डिवीजन) में यमुना-किनारे 'कोसम' नाम से प्रसिद्ध है। उदयन इसी कौशाम्बी का राजा था। इसने मगध-राज और अवन्ति-नरेश की राजकुमारियों से विवाह किया था। भारत के

सहस्र-रजनी-चरित्र 'कथा-सरित्सागर' का नायक इसी का पुत्र नरवाहनदत्त है।

वृहत्कथा (कथा-सरित्सागर) के आदि आचार्य वररुचि हैं, जो कौशाम्बी में उत्पन्न हुए थे। और जिन्होंने मगध में नन्द का मन्त्रित्व किया। उदयन के समकालीन अजातशत्रु के बाद उदयाश्व, नन्दिवर्द्धन और महानन्द नाम के तीन राजा मगध के सिंहासन पर बैठे। शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न, महानन्द के पुत्र, महापद्म ने नंद-वंश की नींव डाली। इसके बाद सुमाल्य आदि आठ नन्दों ने शासन किया। (विष्णुपुराण, 4 अंश)। किसी के मत से महानन्द के बाद नवनन्दों ने राज्य किया। इस 'नवनन्द' वाक्य के दो अर्थ हुए-नवनन्द (नवीन नन्द), तथा महापद्म और सुमाल्य आदि नौ नन्द। इनका राज्यकाल भी, पुराणों के अनुसार, 100 वर्ष होता है। नन्द के पहले राजाओं का राज्य-काल भी, पुराणों के अनुसार, लगभग 100 वर्ष होता है। ढुण्ढि ने मुद्राराक्षस के उपोद्धात में अन्तिम नन्द का नाम धननन्द लिखा है। इसके बाद योगानन्द का मन्त्री वररुचि हुआ। यदि ऊपर लिखी हुई पुराणों की गणना सही है, तो मानना होगा कि उदयन के पीछे 200 वर्ष के बाद वररुचि हुए, क्योंकि पुराणों के अनुसार 4 शिशुनाग वंश के और 9 नन्दवंश के राजाओं का राज्य-काल इतना ही होता है। महावंश और जैनों के अनुसार कालाशोक के बाद केवल नवनन्द

का नाम आता है। कालाशोक पुराणों का महापद्म नन्द है। बौद्धमतानुसार इन शिशुनाग तथा नन्दों का सम्पूर्ण राज्यकाल 100 वर्ष से कुछ ही अधिक होता है। यदि इसे माना जाए, तो उदयन के 100-125 वर्ष पीछे वररुचि का होना प्रमाणित होगा। कथा-सरित्सागर में इसी का नाम 'कात्यायन' भी है-"नाम्नावररुचिः किं च कात्यायन इति श्रुतः"। इन विवरणों से प्रतीत होता है कि वररुचि उदयन के 125-200 वर्ष बाद हुए। विख्यात उदयन की कौशाम्बी वररुचि की जन्मभूमि है।

मूल वृहत्कथा वररुचि ने काणभूति से कही, और काणभूति ने गुणाढ्य से। इससे व्यक्त होता है कि यह कथा वररुचि के मस्तिष्क का आविष्कार है, जो सम्भवतः उसने संक्षिप्त रूप से संस्कृत में कही थी; क्योंकि उदयन की कथा उसकी जन्म-भूमि में किम्वदन्तियों के रूप में प्रचलित रही होगी। उसी मूल उपाख्यान को क्रमशः काणभूति और गुणाढ्य ने प्राकृत और पैशाची भाषाओं में विस्तारपूर्वक लिखा। महाकवि क्षेमेन्द्र ने उसे वृहत्कथा-मंजरी नाम से, संक्षिप्त रूप से, संस्कृत में लिखा। फिर काश्मीर-राज अनन्तदेव के राज्यकाल में कथा-सरित्सागर की रचना हुई। इस उपाख्यान को भारतीयों ने बहुत आदर दिया और वत्सराज उदयन कई नाटकों और उपाख्यानों में नायक बनाए गए। स्वप्न-वासवदत्ता, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और रत्नावली में इन्हीं का वर्णन

है। 'हर्षचरित' में लिखा है-"नागवन विहारशीलं च मायामातंगांगान्निर्गताः महासेनसैनिकाः वत्सपतिंन्ययंसिषु।" मेघदूत में भी-"प्राप्यावन्तीनुदयन- कथाकोविदग्राममवृद्धान्" और "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्ने" इत्यादि हैं। इससे इस कथा की सर्वलोकप्रियता समझी जा सकती है। वररुचि ने इस उपाख्यान-माला को सम्भवतः 350 ई. पूर्व लिखा होगा। सातवाहन नामक आंध्र-नरपति के राजपण्डित गुणाढ्य ने इसे वृहत्कथा नाम से ईसा की पहली शताब्दी में लिखा। इस कथा का नायक नरवाहनदत्त इसी उदयन का पुत्र था।

बौद्धों के यहाँ इसके पिता का नाम 'परन्तप' मिलता है। और 'मरन परिदीपितउदेनिवस्तु' के नाम से एक आख्यायिका है। उसमें भी (जैसा कि कथा-सरित्सागर में) इसकी माता का गरुड़ वंश के पक्षी द्वारा उदयगिरि की गुफा में ले जाया जाना और वहाँ एक मुनि कुमार का उनकी रक्षा और सेवा करना लिखा है। बहुत दिनों तक इसी प्रकार साथ रहते-रहते मुनि से उसका स्नेह हो गया और उसी से वह गर्भवती हुई। उदयगिरि (कलिंग) की गुफा में जन्म होने के कारण लड़के का नाम उदयन पड़ा। मुनि ने उसे हस्ती-वश करने की विद्या, और भी कई सिद्धियाँ दीं। एक वीणा भी मिली (कथा-सरित्सागर के अनुसार, वह प्राण बचाने पर, नागराज ने दी थी)। वीणा द्वारा हाथियों और शबरों की बहुत-सी

सेना एकत्र करके उसने कौशाम्बी को हस्तगत किया और अपनी राजधानी बनाया, किन्तु वृहत्कथा के आदि आचार्य वररुचि का कौशाम्बी में जन्म होने के कारण उदयन की ओर विशेष पक्षपात-सा दिखाई देता है। अपने आख्यान के नायक को कुलीन बनाने के लिए उसने उदयन को पाण्डव वंश का लिखा है। उनके अनुसार उदयन गाण्डीवधारी अर्जुन की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न सहस्रानीक का पुत्र था। बौद्धों के मतानुसार 'परन्तप' के क्षेत्रज पुत्र उदयन की कुलीनता नहीं प्रकट होती; परन्तु वररुचि ने लिखा है कि इन्द्रप्रस्थ नष्ट होने पर पाण्डव-वंशियों ने कौशाम्बी को राजधानी बनाया। वररुचि ने यों सहस्रानीक से कौशाम्बी के राजवंश का आरम्भ माना है। कहा जाता है, इसी उदयन ने अवन्तिका को जीतकर उसका नाम उदयपुरी या उज्जयनपुरी रखा। कथा-सरित्सागर में उदयन के बाद नरवाहनदत्त का ही वर्णन मिलता है। विदित होता है, एक-दो पीढ़ी चलकर उदयन का वंश मगध की साम्राज्य-लिप्सा और उसकी रणनीति में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं रख सका।

किन्तु विष्णुपुराण की एक प्राचीन प्रति में कुछ नया शोध मिला है और उससे कुछ और नई बातों का पता चलता है। विष्णुपुराण के चतुर्थ अंक के 21 वें अध्याय में लिखा है कि "तस्यापि, जन्मेजयश्रुतसेनोप्रसेनभीमसेनाः पुत्राश्चत्वारो भविष्यन्ति॥ 1।

तस्यापरः शतानीको भविष्यति

योऽसौ...विषयविरक्तचित्तो...निर्वाणमाप्यति॥ 2॥

शतानीकादश्वमेघदत्तो भविता। तस्मादप्यधिसीमकृष्णः

अधिसीमकृष्णात् नृचक्षुः यो गंगयापहृते हस्तिनापुरे कौशाम्ब्याम् निवत्स्यति।"

इसके बाद 17 राजाओं के नाम हैं। फिर "ततोप्यपरः शतानीकः तस्माच्च उदयनः उदयनादहीनरः" लिखा है।

इससे दो बातें व्यक्त होती हैं। पहली यह कि शतानीक कौशाम्बी में नहीं गए; किन्तु नृचक्षु नामक पाण्डव-वंशी राजा हस्तिनापुर के गंगा में बह जाने पर कौशम्बी गए। उनसे 29 वीं पीढ़ी में उदयन हुए। सम्भवतः उनके पुत्र अहीनर का ही नाम कथा-सरित्सागर में नरवाहनदत्त लिखा है।

दूसरी यह कि शतानीक इस अध्याय में दोनों स्थान पर 'अपरशतानीक' करके लिखा गया है। 'अपरशतानीक' का विषय-विरागी होना, विरक्त हो जाना लिखा है। सम्भवतः यह शतानीक उदयन के पहले का कौशाम्बी का राजा है। अथवा बौद्धों की कथा के अनुसार इसकी रानी का क्षेत्रज पुत्र उदयन है, किन्तु वहाँ नाम-इस राजा का परन्तप है। जन्मेजय के बाद जो 'अपरशतानीक' आता है, वह भ्रम-सा प्रतीत होता है, क्योंकि जन्मेजय ने अश्वमेध यज्ञ किया था; इसलिए जन्मेजय के पुत्र का

नाम अश्वमेधदत्त होना कुछ संगत प्रतीत होता है, अतएव कौशाम्बी में इस दूसरे शतानीक की ही वास्तविक स्थिति ज्ञात होती है, जिसकी स्त्री किसी प्रकार (गरुड़ पक्षी द्वारा) हरी गई। उस राजा शतानीक के विरागी हो जाने पर उदयगिरि की गुफा में उत्पन्न विजयी और वीर उदयन, अपने बाहुबल से, कौशाम्बी का अधिकारी हो गया। इसके बाद कौशाम्बी के सिंहासन पर क्रमशः अहीनर (नरवाहनदत्त), खण्डपाणि, नरमित्र और क्षेमक-ये चार राजा बैठे। इसके बाद कौशाम्बी के राजवंश या पाण्डव-वंश का अवसान होता है।

अर्जुन से सातवीं पीढ़ी में उदयन का होना तो किसी प्रकार से ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्जुन के समकालीन जरासंध के पुत्र सहदेव से लेकर, शिशुनाग वंश से पहले के जरासंध वंश के 22 राजा मगध के सिंहासन पर बैठ चुके हैं। उनके बाद 12 शिशुनाग वंश के बैठे जिनमें छठे और सातवें राजाओं के समकालीन उदयन थे। तो क्या एक वंश में उतने ही समय में, तीस पीढ़ियाँ हो गईं जितने में कि दूसरे वंश में केवल सात पीढ़ियाँ हुईं! यह बात कदापि मानने योग्य न होगी। सम्भवतः इसी विषमता को देखकर श्रीगणपति शास्त्री ने "अभिमन्योः पंचविंश सन्तानः" इत्यादि लिखा है। कौशाम्बी में न तो अभी विशेष खोज हुई है, और न शिलालेख इत्यादि ही मिले हैं; इसलिए

सम्भव है, कौशाम्बी के राजवंश का रहस्य अभी पृथ्वी के गर्भ में ही दबा पड़ा हो।

कथा-सरित्सागर में उदयन की दो रानियों के ही नाम मिले हैं। वासवदत्ता और पद्मावती। किन्तु बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में उसकी तीसरी रानी मागन्धी का नाम भी आया है।

वासवदत्ता उसकी बड़ी रानी थी जो अवन्ति के चण्डमहासेन की कन्या थी। इसी चण्ड का नाम प्रद्योत भी था, क्योंकि मेघदूत में "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्ने" और किसी प्रति में "चण्डस्यात्र प्रियदुहितरं वत्सराजो विजह्ने" ये दोनों पाठ मिलते हैं। इधर बौद्धों के लेखों में अवन्ति के राजा का नाम प्रद्योत मिलता है और कथा-सरित्सागर के एक श्लोक से एक भ्रम और भी उत्पन्न होता है। वह यह है-"ततश्चण्डमहासेनप्रद्योतो पितरो द्वयो देव्योः" तो क्या प्रद्योत पद्मावती के पिता का नाम था किन्तु कुछ लोग प्रद्योत और चण्डमहासेन को एक ही मानते हैं। यही मत ठीक है, क्योंकि भास ने अवन्ति के राजा का नाम प्रद्योत ही लिखा है, और वासवदत्ता में उसने यह दिखाया है कि मगध राजकुमारी पद्मावती को यह अपने लिए चाहता था। जैकोबी ने अपने वासवदत्ता के अनुवाद में अनुमान किया कि यह प्रद्योत चण्डमहासेन का पुत्र था; किन्तु जैसा कि प्राचीन राजाओं में देखा जाता है, यह अवश्य अवन्ति के राजा का मुख्य नाम था। उसका

राजकीय नाम चण्डमहासेन था। बौद्धों के लेख से प्रसेनजित् के एक दूसरे नाम 'अग्निदत्त' का भी पता लगता है। बिम्बिसार 'श्रेणिक' और अजातशत्रु 'कुणीक' के नाम से भी विख्यात थे।

पद्मावती, उदयन की दूसरी रानी, के पिता के नाम में बड़ा मतभेद है। यह तो निर्विवाद है कि वह मगधराज की कन्या थी, क्योंकि कथा-सरित्सागर में भी यही लिखा है; किन्तु बौद्धों ने उसका नाम श्यामावती लिखा है, जिस पर मागन्धी के द्वारा उत्तेजित किए जाने पर, उदयन बहुत नाराज हो गए थे। वे श्यामावती के ऊपर, बौद्ध-धर्म का उपदेश सुनने के कारण, बहुत क्रुद्ध हुए। यहाँ तक कि उसे जला डालने का भी उपक्रम हुआ था; किन्तु भास की वासवदत्ता में इस रानी के भाई का नाम दर्शक लिखा है। पुराणों में भी अजातशत्रु के बाद दर्शक, दर्भक और वंशक-इन कई नामों से अभिहित एक राजा का उल्लेख है; किन्तु महावंश आदि बौद्ध ग्रन्थों में केवल अजातशत्रु के पुत्र उदयाश्व का ही नाम उदायिन, उदयभद्रक के रूपान्तर में मिलता है। मेरा अनुमान है कि पद्मावती अजातशत्रु की बहन थी और भास ने सम्भवतः (कुणीक के स्थान में) अजात के दूसरे नाम दर्शक का ही उल्लेख किया है जैसा कि चण्डमहासेन के लिए प्रद्योत नाम का प्रयोग किया है।

यदि पद्मावती अजातशत्रु की कन्या हुई, तो इन बातों को भी विचारना होगा कि जिस समय बिम्बिसार मगध में, अपनी

वृद्धावस्था में राज्य कर रहा था, उस समय पद्मावती का विवाह हो चुका था। प्रसेनजित् उसका समवयस्क था। वह बिम्बिसार का साला था; कलिंगदत्त ने प्रसेनजित् को अपनी कन्या देनी चाही थी, किन्तु स्वयं उसकी कन्या कलिंगसेना ने प्रसेन को वृद्ध देखकर उदयन से विवाह करने का निश्चय किया था।

"श्रावस्तीं प्राप्य पूर्वं च तं प्रसेनजितम् नृपम्!
मृगयानिर्गतं दूराज्जरापाण्डुं ददर्श सा॥
तमुद्यानगता सावैवत्सेशं सख्युरुदीरितम्।" इत्यादि
(मदनमंजुका लम्बक)

अर्थात्-पहले श्रावस्ती में पहुँचकर, उद्यान में ठहरकर, उसने सखी के बताए हुए वत्सराज प्रसेनजित् को, शिकार के लिए जाते समय, दूर से देखा। वह वृद्धावस्था के कारण पाण्डु-वर्ण हो रहे थे। इधर बौद्धों ने लिखा है कि "गौतम ने अपना नवाँ चातुर्मास्य कौशाम्बी में, उदयन के राज्य-काल में, व्यतीत किया और 45 चातुर्मास्य करके उनका निर्वाण हुआ।" ऐसा भी कहा जाता है- अजातशत्रु के राज्याभिषेक के नवें या आठवें वर्ष में गौतम का निर्वाण हुआ। इससे प्रतीत होता है कि गौतम के 35 वें 36 वें चातुर्मास्य के समय अजातशत्रु सिंहासन पर बैठा। तब तक वह बिम्बिसार का प्रतिनिधि या युवराज मात्र था; क्योंकि अजात ने अपने पिता को अलग करके, प्रतिनिधि रूप से, बहुत दिनों तक

राज-कार्य किया था, और इसी कारण गौतम ने राजगृह का जाना बन्द कर दिया था। 35 वें चातुर्मास्य में 9 चातुर्मास्यों का समय घटा देने से निश्चय होता है कि अजात के सिंहासन पर बैठने के 26 वर्ष पहले उदयन ने पद्मावती और वासवदत्ता से विवाह कर लिया था और वह एक स्वतन्त्र शक्तिशाली नरेश था। इन बातों को देखने से यह ठीक जँचता है कि पद्मावती अजातशत्रु की बड़ी बहन थी, और पद्मावती को अजातशत्रु से बड़ी मानने के लिए यह विवरण यथेष्ट है। दर्शक का उल्लेख पुराणों में मिलता है, और भास ने भी अपने नाटक में वही नाम लिखा है; किन्तु समय का व्यवधान देखने से-और बौद्धों के यहाँ उसका नाम न मिलने से-यही अनुमान होता है कि प्रायः जैसे एक ही राजा को बौद्ध, जैन और पौराणिक लोग भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं, वैसे ही दर्शक, कुणीक और अजातशत्रु-ये नाम एक ही व्यक्ति के हैं, जैसे बिम्बिसार के लिए विन्ध्यसेन और श्रेणिक-ये दो नाम और भी मिलते हैं। प्रोफेसर गैगर महावंश के अनुवाद में बड़ी दृढ़ता से अजातशत्रु और उदयाश्व के बीच में दर्शक नाम के किसी राजा के होने का विरोध करते हैं। कथा-सरित्सागर के अनुसार प्रद्योत ही पद्मावती के पिता का नाम था। इन सब बातों को देखने से यही अनुमान होता है कि पद्मावती बिम्बिसार की बड़ी रानी कोसला (वासवी) के गर्भ से उत्पन्न मगध राजकुमारी थी।

नवीन उन्नतिशील राष्ट्र मगध, जिसने कौरवों के बाद महान् साम्राज्य भारत में स्थापित किया, इस नाटक की घटना का केन्द्र है। मगध को कोसल का दिया हुआ, राजकुमारी कोसला (वासवी) के दहेज में काशी का प्रान्त था, जिसके लिए मगध के राजकुमार अजातशत्रु और प्रसेनजित् से युद्ध हुआ। इस युद्ध का कारण, काशी-प्रान्त का आयकर लेने का संघर्ष था। 'हरितमात', 'बड्ढकीसूकर', 'तच्छसूकर' जातक की कथाओं का इसी घटना से सम्बन्ध है।

अजातशत्रु जब अपने पिता के जीवन में ही राज्याधिकार का भोग कर रहा था और जब उसकी विमाता कोसलकुमारी वासवी अजात के द्वारा एक प्रकार से उपेक्षित-सी हो रही थी, उस समय उसके पिता (कोसलनरेश) प्रसेनजित् ने उद्योग किया कि मेरे दिए हुए काशी-प्रान्त का आयकर वासवी को ही मिले। निदान, इस प्रश्न को लेकर दो युद्ध हुए। दूसरे युद्ध में अजातशत्रु बन्दी हुआ। सम्भवतः इस बार उदयन ने भी कोसल को सहायता दी थी। फिर भी निकट-सम्बन्धी जानकर समझौता होना अवश्यम्भावी था, अतएव प्रसेनजित् ने मैत्री चिरस्थायी करने के लिए, और अपनी बात भी रखने के लिए अजातशत्रु से अपनी दुहिता वाजिराकुमारी का ब्याह कर दिया।

अजातशत्रु के हाथ से उसके पिता बिम्बिसार की हत्या होने का उल्लेख भी मिलता है। 'थुस जातक कथा' अजातशत्रु के अपने पिता से राज्य छीन लेने के सम्बन्ध में, भविष्यवाणी के रूप में, कही गई है। परन्तु बुद्धघोष ने बिम्बिसार को बहुत दिन तक अधिकारच्युत होकर बन्दी की अवस्था में रहना लिखा है। और जब अजातशत्रु को पुत्र हुआ, तब उसे 'पैतृक स्नेह' का मूल्य समझ पड़ा। उस समय वह स्वयं पिता को कारागार से मुक्त करने के लिए गया; किन्तु उस समय वहाँ महाराज बिम्बिसार की अन्तिम अवस्था थी। इस तरह से भी पितृहत्या का कलंक उस पर आरोपित किया जाता है; किन्तु कई विद्वानों के मत से इसमें सन्देह है कि अजात ने वास्तव में पिता को बन्दी बनाया या मार डाला था। उस काल की घटनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि बिम्बिसार पर गौतम बुद्ध का अधिक प्रभाव पड़ा था। उसने अपने पुत्र का उद्धत स्वभाव देखकर जो कि गौतम के विरोधी देवदत्त के प्रभाव में विशेष रहता था, स्वयं सिंहासन छोड़ दिया होगा।

इसका कारण भी है। अजातशत्रु की माता छलना, वैशाली के राजवंश की थी, जो जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की निकट-सम्बन्धिनी भी थी। वैशाली की वृजि-जाति (लिच्छवि) अपने गोत्र के महावीर स्वामी का धर्म विशेष रूप से मानती थी। छलना का

झुकाव अपने कुल-धर्म की ओर अधिक था। इधर देवदत्त जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने गौतम बुद्ध को मार डालने का एक भारी षडयन्त्र रचा था और किशोर अजात को अपने प्रभाव में लाकर राजशक्ति से भी उसमें सहायता लेना चाहता था- चाहता था कि गौतम से संघ में अहिंसा की ऐसी व्याख्या प्रचारित करावे जो कि जैन धर्म से मिलती हो, और उसके इस उद्देश्य में राजमाता की सहानुभूति का भी मिलना स्वाभाविक ही था।

बौद्ध-मत में बुद्ध ने कृत, दृष्ट और उद्दिष्ट-इन्हीं तीन प्रकार की हिंसाओं का निषेध किया था। यदि भिक्षा में मांस भी मिले, तो वर्जित नहीं था। किन्तु देवदत्त यह चाहता था कि 'संघ में यह नियम हो जाए कि कोई भिक्षु मांस खाए ही नहीं।' गौतम ने ऐसी आज्ञा नहीं प्रचारित की। देवदत्त को धर्म के बहाने छलना की सहानुभूति मिली और बड़ी रानी तथा बिम्बिसार के साथ, जो बुद्धभक्त थे, शत्रुता की जाने लगी।

इसी गृह-कलह को देखकर बिम्बिसार ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया होगा और राजशक्ति के प्रलोभन से अजात को अपने पिता पर सन्देह रखने का कारण हुआ होगा और विशेष नियन्त्रण की भी आवश्यकता रही होगी। देवदत्त और अजात के कारण गौतम को कष्ट पहुँचाने का निष्फल प्रयास हुआ। सम्भवतः इसी से

अजात की क्रूरताओं का बौद्ध-साहित्य में बड़ा अतिरंजित वर्णन मिलता है।

कोसल-नरेश प्रसेनजित् के-शाक्य-दासी-कुमारी के गर्भ से उत्पन्न-कुमार का नाम विरुद्धक था। विरुद्धक की माता का नाम जातकों में बासभखत्तिया मिलता है। (उसी का कल्पित नाम शक्तिमती है) प्रसेनजित् अजात के पास सहायता के लिए राजगृह आया था, किन्तु 'भद्दसाल-जातक' में इसका विस्तृत विवरण मिलता है कि विद्रोही विरुद्धक गौतम के कहने पर फिर से अपनी पूर्व मर्यादा पर अपने पिता के द्वारा अधिष्ठित हुआ। इसने कपिलवस्तु का जनसंहार इसलिए चिढ़कर किया था कि शाक्यों ने धोखा देकर प्रसेनजित् से शाक्य-कुमारी के बदले एक दासीकुमारी से ब्याह कर दिया था, जिससे दासी-सन्तान होने के कारण विरुद्धक को अपने पिता के द्वारा अपदस्थ होना पड़ा था। शाक्यों के संहार के कारण बौद्धों ने इसे भी क्रूरता का अवतार अंकित किया है। 'भद्दसाल-कथा' के सम्बन्ध में जातक में कोसल-सेनापति बन्धुल और उसकी स्त्री मल्लिका का विशद वर्णन है। इस बन्धुल के पराक्रम से भीत होकर कोसल-नरेश ने इसकी हत्या करा डाली थी और इसका बदला लेने के लिए उसके भागिनेय दीर्घकारायण ने प्रसेनजित् से राजचिह्न लेकर क्रूर विरुद्धक को कोसल के सिंहासन पर अभिषिक्त किया।

प्रसेन और विरुद्धक सम्बन्धिनी घटना का वर्णन 'अवदान-कल्पलता' में भी मिलता है। बिम्बिसार और प्रसेन दोनों के पुत्र विद्रोही थे और तत्कालीन धर्म के उलट-फेर में गौतम के विरोधी थे। इसीलिए इनका क्रूरतापूर्ण अतिरंजित चित्र बौद्ध-इतिहास में मिलता है। उस काल के राष्ट्रों के उलट-फेर में धर्म-दुराग्रह ने भी सम्भवतः बहुत भाग लिया था।

मागन्धी (श्यामा), जिसके उकसाने से पद्मावती पर उदयन बहुत असन्तुष्ट हुए थे, ब्राह्मण-कन्या थी, जिसको उसके पिता गौतम से ब्याहना चाहते थे, और गौतम ने उसका तिरस्कार किया था। इसी मागन्धी को और बौद्धों के साहित्य में वर्णित आम्रपाली (अम्बपाली) को, हमने कल्पना द्वारा एक में मिलाने का साहस किया है। अम्बपाली पतिता और वेश्या होने पर भी गौतम के द्वारा अन्तिम काल में पवित्र की गई। (कुछ लोग जीवक को इसी का पुत्र मानते हैं।)

लिच्छवियों का निमन्त्रण अस्वीकार करके गौतम ने उसकी भिक्षा ग्रहण की थी। बौद्धों की श्यामावती वेश्या आम्रपाली, मागन्धी और इस नाटक की श्यामा वेश्या का एकत्र संघटन कुछ विचित्र तो होगा; किन्तु चरित्र का विकास और कौतुक बढ़ाना ही इसका उद्देश्य है।

सम्राट् अजातशत्रु के समय में मगध साम्राज्य-रूप में परिणत हुआ; क्योंकि अंग और वैशाली को इसने स्वयं विजय किया था और काशी अब निर्विवाद रूप से उसके अधीन हो गई थी। कोसल भी इसका मित्रराष्ट्र था। उत्तरी भारत में यह इतिहासकाल का प्रथम सम्राट् हुआ। मथुरा के समीप परखम गाँव में मिली हुई अजातशत्रु की मूर्ति देखकर मिस्टर जायसवाल की सम्मति है कि अजातशत्रु ने सम्भवतः पश्चिम में मथुरा तक भी विजय किया था।

~जयशंकर प्रसाद।

पात्र

बिम्बिसार — मगध का सम्राट्

अजातशत्रु (कुणीक) – मगध का राजकुमार

उदयन — कौशाम्बी का राजा, मगध सम्राट् का जामाता

प्रसेनजित् — कोसल का राजा

विरुद्धक (शैलेन्द्र) – कोसल का राजकुमार

गौतम — बुद्धदेव

सारिपुत्र — सद्धर्म के आचार्य

आनन्द — गौतम के शिष्य

देवदत्त (भिक्षु) – गौतम बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी

समुद्रदत्त — देवदत्त का शिष्य

जीवक — मगध का राजवैद्य

वसन्तक — उदयन का विदूषक

बन्धुल — कोसल का सेनापति

सुदत्त — कोसल का कोषाध्यक्ष

दीर्घकारायण — सेनापति बन्धुल का भांजा, सहकारी सेनापति

लुब्धक — शिकारी

(काशी का दण्डनायक, अमात्य, दूत, दौवारिक और अनुचरगण)

वासवी — मगध-सम्राट् की बड़ी रानी

छलना (चेल्लना) – मगध-सम्राट् की छोटी रानी और राजमाता

पद्मावती — मगध की राजकुमारी, उदयन की रानी

मागन्धी (श्यामा) – आम्रपाली, उदयन का रानी

वासवदत्ता — उज्जयिनी की राजकुमारी, उदयन की रानी

शक्तिमती (महामाया) – शाक्यकुमारी, कोसल की रानी

मल्लिका — सेनापति बन्धुल की पत्नी

बाजिरा — कोसल की राजकुमारी

नवीना — सेविका

(विजया, सरला, कंचुकी, दासी, नर्त्तकी इत्यादि)

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(प्रकोष्ठ में राजकुमार अजातशत्रु, पद्मावती, समुद्रदत्त और लुब्धक)

अजातशत्रु — क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया। मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?

समुद्रदत्त — कुमार! यह बड़ा दुष्ट हो गया है। आज कई दिनों से यह मेरी बात सुनता ही नहीं है।

लुब्धक — कुमार! हम तो आज्ञाकारी अनुचर हैं। आज मैंने जब एक मृग-शावक को पकड़ा, तब उसकी माता ने ऐसी करुणा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा कि उसे छोड़ ही देते बना। अपराध क्षमा हो।

अजातशत्रु — हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र! ला तो कोड़ा।

समुद्रदत्त — (कोड़ा लाकर देता है) लीजिए। इसकी अच्छी पूजा कीजिए।

पद्मावती — (कोड़ा पकड़कर) भाई कुणीक! तुम इतने दिनों में ही बड़े निष्ठुर हो गए। भला उसे क्यों मारते हो?

अजातशत्रु — उसने मेरी आज्ञा क्यों नहीं मानी?

पद्मावती — उसे मैंने ही मना किया था, उसका क्या अपराध?

समुद्रदत्त — (धीरे से) तभी तो उसको आजकल गर्व हो गया। किसी की बात नहीं सुनता।

अजातशत्रु — तो इस प्रकार तुम उसे मेरा अपमान करना सिखाती हो?

पद्मावती — यह मेरा कर्त्तव्य है कि तुमको अभिशापों से बचाऊँ और अच्छी बातें सिखाऊँ। जा रे लुब्धक, जा, चला जा। कुमार जब मृगया खेलने जायँ, तो उनकी सेवा करना। निरीह जीवों को पकड़कर निर्दयता सिखाने में सहायक न होना।

अजातशत्रु — यह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।

पद्मावती — मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशुजगत् में क्या कम हैं?

समुद्रदत्त — देवि! करुणा और स्नेह के लिए तो स्त्रियाँ जगत् में हुई हैं, किन्तु पुरुष भी क्या वही हो जाएँ?

पद्मावती — चुप रहो, समुद्र! क्या क्रूरता ही पुरुषार्थ का परिचय है? ऐसी चाटूक्तियाँ भावी शासक को अच्छा नहीं बनाती।

(छलना का प्रवेश)

छलना — पद्मावती! यह तुम्हारा अविचार है। कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।

पद्मावती — माँ! यह क्या कह रही हो! कुणीक मेरा भाई है, मेरे सुखों की आशा है, मैं उसे कर्त्तव्य क्यों न बताऊँ? क्या उसे चाटुकारों की चाल में फँसते देखूँ और कुछ न कहूँ!

छलना — तो क्या तुम उसे बोदा और डरपोक बनाना चाहती हो? क्या निर्बल हाथों से भी कोई राजदण्ड ग्रहण कर सकता है?

पद्मावती — माँ! क्या कठोर और क्रूर हाथों से ही राज्य सुशासित होता है? ऐसा विष-वृक्ष लगाना क्या ठीक होगा? अभी कुणीक किशोर है, यही समय सुशिक्षा का है। बच्चों का हृदय कोमल थाला है, चाहे इसमें कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूलों के पौधे।

अजातशत्रु — फिर तुमने मेरी आज्ञा क्यों भंग होने दी? क्या दूसरे अनुचर इसी प्रकार मेरी आज्ञा का तिरस्कार करने का साहस न करेंगे?

छलना — यह कैसी बात?

अजातशत्रु — मेरे चित्रक के लिए जो मृग आता था, उसे ले आने के लिए लुब्धक को रोक दिया गया। आज वह कैसे खेलेगा?

छलना — पद्मा! तू क्या इसकी मंगल-कामना करती है? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है। क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है?

पद्मावती — माँ! क्षमा हो। मेरी समझ में तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।

छलना — तू कुटिलता की मूर्ति है। कुणीक को अयोग्य शासक बनाकर उसका राज्य आत्मसात करने के लिए कौशाम्बी से आई है।

पद्मावती — माँ! बहुत हुआ, अन्यथा तिरस्कार न करो। मैं आज ही चली जाऊँगी!

(वासवी का प्रवेश)

वासवी — वत्स कुणीक! कई दिनों से तुमको देखा नहीं। मेरे मन्दिर में इधर क्यों नहीं आए? कुशल तो है? (अजात के सिर पर हाथ फेरती है)

अजातशत्रु — नहीं माँ, मैं तुम्हारे यहाँ न आऊँगा, जब तक पद्मा घर न जाएगी।

वासवी — क्यों? पद्मा तो तुम्हारी ही बहन है। उसने क्या अपराध किया है? वह तो बड़ी सीधी लड़की है।

छलना — (क्रोध से) वह सीधी और तुम सीधी! आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।

वासवी — छलना! बहन!! यह क्या कह रही हो? मेरा वत्स कुणीक! प्यारा! कुणीक! हा भगवान! मैं उसे देखने न पाऊँगी। मेरा क्या अपराध...

अजातशत्रु — यह पद्मा बार-बार मुझे अपदस्थ किया चाहती है, और जिस बात को मैं कहता हूँ उसे ही रोक देती है।

वासवी — यह मैं क्या देख रही हूँ। छलना! यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है? राज-परिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है —

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उसके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उसके जीवन में!
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर?

छलना — यह सब जिन्हें खाने को नहीं मिलता, उन्हें चाहिए। जो प्रभु हैं, जिन्हें पर्याप्त है; उन्हें किसी की क्या चिन्ता-जो व्यर्थ अपनी आत्मा को दबावें।

वासवी — क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो? पद्मा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी! उसे कहने का तुम्हें अधिकार है। किन्तु तुम तो मुझसे छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखाकर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?

छलना — (स्वगत) मैं छोटी हूँ, यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं। (प्रकट) छोटी हूँ, या बड़ी; किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है। वह भिखमंगों का-जो अकर्मण्य होकर राज्य छोड़कर दरिद्र हो गए हैं-उपदेश नहीं ग्रहण करने पावेगा।

पद्मावती — माँ! अब चलो, यहाँ से चलो! नहीं तो मैं ही जाती हूँ।

वासवी — चलती हूँ, बेटी! किन्तु छलना — सावधान! यह असत्य गर्व मानव-समाज का बड़ा भारी शत्रु है।

(पद्मावती और वासवी जाती हैं)

द्वितीय दृश्य

(महाराज बिम्बिसार एकाकी बैठे हुए आप-ही-आप कुछ विचार रहे हैं)

बिम्बिसार — आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड-ताण्डव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है; किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा में मरता है;

अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे सन्तोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे गिरे तो भी क्या?

छलना — (प्रवेश करके) और नीचे के लोग वहीं रहें! वे मानो कुछ अधिकार नहीं रखते? ऊपरवालों का यह क्या अन्याय नहीं है

बिम्बिसार — (चौंककर) कौन, छलना?

छलना — हाँ, महाराज! मैं ही हूँ।

बिम्बिसार — तुम्हारी बात मैं नहीं समझ सका?

छलना — साधारण जीवों में भी उन्नति की चेष्टा दिखाई देती है। महाराज! इसकी किसको चाह नहीं है। महत्त्व का यह अर्थ नहीं कि सबको क्षुद्र समझे।

बिम्बिसार — तब?

छलना — यही कि मैं छोटी हूँ, इसलिए पटरानी नहीं हो सकी, और वासवी मुझे इसी बात पर अपदस्थ किया चाहती है।

बिम्बिसार — छलना! यह क्या! तुम तो राजमाता हो। देवी वासवी के लिए थोड़ा-सा भी सम्मान कर लेना तुम्हें विशेष लघु नहीं बना सकता-उन्होंने कभी तुम्हारी अवहेलना भी तो नहीं की।

छलना — इन भुलावों में मैं नहीं आ सकती। महाराज! मेरी धमनियों में लिच्छवि रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है। यह नीरव

अपमान, यह सांकेतिक घृणा, मुझे सह्य नहीं और जबकि खुलकर कुणीक का अपकार किया जा रहा है, तब तो...

बिम्बिसार — ठहरो! तुम्हारा यह अभियोग अन्यायपूर्ण है। क्या इसी कारण तो बेटी पद्मावती नहीं चली गई? क्या इसी कारण तो कुणीक मेरी भी आज्ञा सुनने में आनाकानी नहीं करने लगा है? कैसा उत्पात मचाना चाहती हो?

छलना — मैं उत्पात रोकना चाहती हूँ। आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।

वासवी — (प्रवेश करके) नाथ, मैं भी इससे सहमत हूँ। मैं चाहती हूँ कि यह उत्सव देखकर और आपकी आज्ञा लेकर मैं कोसल जाऊँ। सुदत्त आज आया है, भाई ने मुझे बुलाया है।

बिम्बिसार — कौन, देवी वासवी!

छलना — हाँ, महाराज!

कंचुकी — (प्रवेश करके) महाराज! जय हो! भगवान् तथागत गौतम आ रहे हैं।

बिम्बिसार — सादर लिवा लाओ। (कंचुकी का प्रस्थान) छलना! हृदय का आवेग कम करो, महाश्रमण के सामने दुर्बलता न प्रकट होने पावे।

अजात को साथ लिए हुए गौतम का प्रवेश। सब नमस्कार करते हैं।

गौतम — कल्याण हो। शान्ति मिले!!

बिम्बिसार — भगवन्, आपने पधारकर मुझे अनुगृहीत किया।

गौतम — राजन्! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्वभर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है —

गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बूँद भर लाती है॥
निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

बिम्बिसार — करुणामूर्ति! हिंसा से रँगी हुई वसुन्धरा आपके चरणों के स्पर्श से अवश्य ही स्वच्छ हो जाएगी। उसकी कलंक कालिमा धुल जाएगी।

गौतम — राजन्, शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी रूप से सब दृश्य देखती है। तब भी, इन सांसारिक झगड़ों में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो-यही न्याय

का समर्थन है। तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्त्व से प्रेरित होकर समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित करती है। यदि वह ऐसा न करे, तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय का समर्थन हो जाता है- हम विरक्तों की भी इसीलिए राजदर्शन की आवश्यकता हो जाती है।

बिम्बिसार — भगवान् की शान्तिवाणी की धारा प्रलय की नरकाग्नि को भी बुझा देगी। मैं कृतार्थ हुआ।

छलना — (नीचा सर करके) भगवन्! यदि आज्ञा हो, तो मैं जाऊँ।

गौतम — रानी! तुम्हारे पति और देश के सम्राट् के रहते हुए मुझे कोई अधिकार नहीं है कि तुम्हें आज्ञा दूँ। तुम इन्हीं से आज्ञा ले सकती हो।

बिम्बिसार — (घूमकर देखते हुए) हाँ, छलने! तुम जा सकती हो; किन्तु कुणीक को न ले जाना, क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है।

(छलना का क्रोध से प्रस्थान)

गौतम — यह तो मैं पहले ही से समझता था, किन्तु छोटी रानी के साथ अन्य को विचार से काम लेना चाहिए।

बिम्बिसार — भगवन्! हम लोगों का क्या अविचार आपने देखा?

गौतम — शीतल वाणी — मधुर व्यवहार — से क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते? राजन्, संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार नहीं। वाक्-संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है। अस्तु, अब मैं तुमसे एक काम की बात कहना चाहता हूँ। क्या तुम मानोगे-क्यों महारानी?

बिम्बिसार — अवश्य।

गौतम — तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण-भोग से कुछ विश्राम लो। क्यों कुमार, तुम राज्य का कार्य मन्त्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे?

अजातशत्रु — क्यों नहीं, पिताजी यदि आज्ञा दें।

गौतम — यह बोझ, जहाँ तक शीघ्र हो, यदि एक अधिकारी व्यक्ति को सौंप दिया जाए, तो मानव को प्रसन्न ही होना चाहिए, क्योंकि राजन्, इससे कभी-न-कभी तुम हटाए जाओगे; जैसा कि विश्व-भर का नियम है। फिर यदि तुम उदारता से उसे भोगकर छोड़ दो, तो इसमें क्या दुःख?

बिम्बिसार — योग्यता होनी चाहिए, महाराज! यह बड़ा गुरुतर कार्य है। नवीन रक्त राज्यश्री को सदैव तलवार के दर्पण में देखना चाहता है।

गौतम — (हँसकर) ठीक है। किन्तु, काम करने के पहले तो किसी ने भी आज तक विश्वस्त प्रमाण नहीं दिया कि वह कार्य के योग्य है। यह बहाना तुम्हारा राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट कर रहा है। राजन्! समझ लो, इस गृह-विवाद, आन्तरिक झगड़ों से विश्राम लो।

वासवी — भगवन्! हम लोगों के लिए तो छोटा-सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।

बिम्बिसार — तब जैसी आपकी आज्ञा। (कंचुकी से) राज-परिषद् सभागृह में एकत्र हो; कंचुकी! शीघ्रता करो।

(कंचुकी का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(पथ में समुद्रदत्त और देवदत्त)

देवदत्त — वत्स! मैं तेरी कार्यवाही से प्रसन्न हूँ। हाँ, फिर क्या हुआ — क्या अजात का राज तिलक हो गया?

समुद्रदत्त — शुभ मुहूर्त में सिंहासन पर बैठना ही शेष है और परिषद् का कार्य तो उनकी देख-रेख में होने लगा। कुशलता से राजकुमार ने कार्यारम्भ किया है, किन्तु गौतम यदि न चाहते तो यह काम सरलता से न हो सकता।

देवदत्त — फिर उसी ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा! अरे समुद्र, यदि मैं इसकी चेष्टा न करता, तो यह सब कुछ न होता — लिच्छविकुमारी में इतना मनोबल कहाँ कि वह यों अड़ जाती!

समुद्रदत्त — तो युवराज ने आपको बुलाया है, क्योंकि रानी वासवी और महाराज बिम्बिसार सम्भवतः अपनी नवीन कुटी में चले गये होंगे। अब यह राज्य केवल राजमाता और युवराज के हाथ में है। उनकी इच्छा है कि आपके सदुपदेश से राज्य सुशासित हो।

देवदत्त — (कुछ बनता हुआ) यह झंझट भला मुझ विरक्त से कहाँ होगा। फिर भी लोकोपकार के लिए तो कुछ करना ही पड़ता है।

समुद्रदत — किन्तु गुरुदेव! युवराज है बड़ा उद्धत, उसके संग रहने में भी डर मालूम पड़ता है। बिना आपकी छाया के मैं तो नहीं रह सकता।

देवदत्त — वत्स समुद्र! तुम नहीं जानते कि कितना गुरुतर काम तुम्हारे हाथ में है। मगध-राष्ट्र का उद्धार इस भिक्षु के हाथों से

करना ही होगा। जब राजा ही उसका अनुयायी है, फिर जनता क्यों न भाड़ में जायगी। यह गौतम बड़ा ही कपट-मुनि है। देखते नहीं, यह कितना प्रभावशाली होता जा रहा है; नहीं तो मुझे इन झगड़ों से क्या काम?

समुद्रदत्त — तब क्या आज्ञा है?

देवदत्त — गौतम का प्रभाव मगध पर से तब तक नहीं हटेगा, जब तक बिम्बिसार राजगृह से दूर न जायगा। यह राष्ट्र का शत्रु गौतम समग्र जम्बूद्वीप को भिक्षु बनाना चाहता है और अपने को उनका मुखिया। इस तरह जम्बूद्वीप भर पर एक दूसरे रूप में शासन करना चाहता है।

जीवक — (सहसा प्रवेश करके) आप विरक्त है और मैं गृही। किन्तु जितना मैं आपके मुख से अकस्मात् सुना है, वही पर्याप्त है कि आपको रोककर कुछ कहूँ। संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते है?

देवदत्त — यह पुरानी मण्डली का गुप्तचर है, समुद्र! युवराज से कहो कि इसका उपाय करें। यह विद्रोही है, इसका मुख बन्द होना चाहिये।

जीवक — ठहरो, मुझे कह लेने दो। मैं ऐसा डरपोक नहीं हूँ कि जो बात तुमसे कहनी है, उसे दूसरों से कहूँ। मैं भी राजकुल का प्राचीन सेवक हूँ। तुम लोगों की यह कूटमन्त्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। इसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं। सावधान, मगध का अधःपतन दूर नहीं। (जाता है)

सुदत्त — (प्रवेश करके) आर्य समुद्रदत्तजी! कहिये, मेरे जाने का प्रबन्ध ठीक हो गया है न? शीघ्र कोसल पहुँच जाना मेरे लिए आवश्यक है। महारानी तो अब जायँगी नहीं क्योंकि मगध-नरेश ने वानप्रस्थ आश्रम का अवलम्बन लिया है; फिर मैं ठहर कर क्या करूँगा?

समुद्रदत्त — किन्तु युवराज ने तो अभी आपको ठहरने के लिये कहा है।

सुदत्त — नहीं, मुझे एक क्षण भी यहाँ ठहरना अनुचित जान पड़ता है, मैं इसीलिए आपको खोजकर मिला हूँ। मुझे यहाँ का समाचार कोसल शीघ्र पहुँचाना होगा। युवराज से मेरी ओर से क्षमा माँग लीजियेगा। (जाता है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(उपवन में महाराज बिम्बिसार और महारानी वासवी)

बिम्बिसार — देवि, तुम कुछ समझती हो कि मनुष्य के लिए एक पुत्र का होना क्यों इतना आवश्यक समझा गया है?

वासवी — नाथ! मैं तो समझती हूँ कि वात्सल्य नाम का जो पुनीत स्नेह है, उसी के पोषण के लिए।

बिम्बिसार — स्नेहमयी! वह भी हो सकता है, किन्तु मेरे विचार में कोई और ही बात है।

वासवी — वह क्या, नाथ?

बिम्बिसार — संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।

वासवी — मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दुःख नहीं।

बिम्बिसार — दुःख तो नहीं, देवि! फिर भी इस कुणीक के व्यवहार से अधिकार का ध्यान हो जाता है। तुम्हें विश्वास हो या न हो,

किन्तु कभी-कभी याचकों का लौट जाना, मेरी वेदना का कारण होता है।

वासवी — तो नाथ! जो आपका है वही न राज्य का है, उसी का अधिकारी कुणीक है, और जो कुछ मुझे मेरे पीहर से मिला है, उसे जब तक मैं न छोड़ूँ, तब तक तो मेरा ही है।

बिम्बिसार — इसका क्या अर्थ है?

वासवी — काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने, आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिये। मगध-साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएँ। नाथ! मैं ऐसा द्वेष से नहीं कहती हूँ, किन्तु आपका मान बचाने के लिये।

बिम्बिसार — मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवि, जिन्हें अभी छोड़ आया।

(जीवक का प्रवेश)

जीवक — महाराज की जय हो!

बिम्बिसार — जीवक, यह कैसा परिहास? यह सम्बोधन अब क्यों? यहाँ तुम कैसे आये?

जीवक — यह अभ्यास का दोष है। मैं श्रीमान् के साथ ही रहूँगा; अब मुझे वह पुरानी गृहस्थी अच्छी नहीं लगती।

बिम्बिसार — इस अकारण वैराग्य का कोई अर्थ भी है?

जीवक — कुछ नहीं राजाधिराज! और है तो यही कि जिन आत्मीयों के लिए निष्कपट भाव से मैं परिश्रम करता हुआ उन्हें सुख देने का प्रबन्ध करता हूँ, वे भी विद्रोही हो जाते है।

वासवी — महाराज, जीवन की सारी क्रियाओं का अन्त केवल अनन्त विश्राम में है। इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपासा जग उठे, तब उसमें विलम्ब क्यों करे?

जीवक — यही विचार कर मैं भी स्वामी की शरण में आया हूँ, क्योंकि समुद्रदत्त की चालें मुझे नहीं रुचती। अदृष्ट का आदेश जानकर मैं भी आपका अनुगामी हो गया हूँ।

बिम्बिसार — क्या अदृष्ट सोचकर, अकर्मण्य बनकर, तुम भी मेरी तरह बैठ जाना चाहते हो?

जीवक — नहीं महाराज! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ

— कर्म से क्यों विरक्त रहूँ — मैं इस उच्छृंखल नवीन राजशक्ति का विरोधी होकर आपकी सेवा करने आया हूँ.

वासवी — यह तुम्हारी उदारता है, किन्तु हम लोगों को किस बात की शंका है जो तुम व्यस्त हो?

जीवक — देवदत्त, निष्ठुर देवदत्त के कुचक्र के महाराज की जीवन-रक्षा होनी ही चाहिये।

बिम्बिसार — आश्चर्य! यह मैं क्या सुन रहा हूँ! जीवक! मुझे भ्रान्ति में न डालो — विष का घड़ा मेरे हृदय पर न डालो। भला अब मेरे प्राण से मगध-साम्राज्य का क्या सम्बन्ध है? देवदत्त मुझ से क्यों इतना असन्तुष्ट है?

जीवक — बुद्धदेव की प्रतिद्वन्द्विता ने उसे अन्धा कर दिया है — महत्त्वाकांक्षा उसे एक गर्त्त में गिरा रही है। उसकी वह आशा तब तक सफल न होगी, जब तक आप जीवित रहकर गौतम की प्रतिष्ठा बढ़ाते रहेंगे और उनकी सहायता करते रहेंगे।

बिम्बिसार — मूर्खता, नहीं नहीं, यह देवदत्त की क्षुद्रता है। भला आत्मबल या प्रतिभा किसी की प्रशंसा के बल से विश्व में खड़ी होती है? अपना अवलम्ब वह स्वयं है, इसमें मेरी इच्छा या अनिच्छा क्या। वह दिव्य ज्योति स्वतः सबकी आँखों को

आकर्षित कर रही है। देवदत्त का विरोध केवल उसे उन्नति दे सकेगा।

जीवक — देव! फिर भी जो ईर्ष्या की पट्टी आँखों पर चढ़ाये हैं, वे इसे नहीं देख सकते। अब मुझे क्या आज्ञा है, क्योंकि यह जीवन अब आप ही की सेवा के लिए उत्सर्ग है।

वासवी — जीवक, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी सद्बुद्धि तुम्हारी चिर संगिनी रहे। महाराज को अब स्वतन्त्र वृत्ति की आवश्यकता है, अतः काशी-प्रान्त राजस्व, जो हमारा प्राप्य है, लाने का उद्योग करना होगा। मगध-साम्राज्य से हम लोग किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखेंगे।

जीवक — देवि! इसके पहले एक बार मेरा कौशाम्बी जाना आवश्यक है।

बिम्बिसार — नहीं जीवक! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता।

वासवी — तब भी आपको भिक्षावृत्ति नहीं करनी होगी। अभी हम लोगों में वह त्याग, मानापमान-रहित अपूर्व स्थिति नहीं आ सकेगी। फिर, जो शत्रु से भी अधिक घृणित व्यवहार करना चाहता हो, उसकी भिक्षावृत्ति पर अवलम्बन करने को हृदय नहीं कहता।

जीवक — तो सुदत्त कोसल जा चुके है और कौशाम्बी में भी यह समाचार पहुँचना आवश्यक है। इसीलिये मैं कहता था, और कोई बात नहीं। काशी के दण्डनायक से भी मिलता जाऊँगा।

बिम्बिसार — जैसी तुम लोगों की इच्छा।

वासवी — नाथ! मैं आपसे छिपाती थी, फिर भी कहना ही पड़ा कि हम लोग वानप्रस्थ आश्रम में भी स्वतन्त्र नहीं रखे गये हैं।

बिम्बिसार — (निःश्वास लेकर) ऐसा! – जो कुछ हो —

(गाते हुए भिक्षुओं का प्रवेश)

न धरो कहकर इसको अपना।
यह दो दिन का है सपना
वैभव का बरसाती नाला, भरा पहाड़ी झरना।
बहो, बहाओ नहीं अन्य को, जिससे पड़े कलपना॥
न धरो कहकर इसको अपना।
दुखियों का कुछ आँसू पोंछ लो, पड़े न आहें भरना।
लोभ छोड़कर उदार, बस, एक उसी को जपना॥
न धरो कहकर इसको अपना।

बिम्बिसार — देवि, इन्हें कुछ दो —

वासवी — और तो कुछ नहीं है — (कंकण उतार कर देती है) प्रभु! इस स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर तड़ा रंग रहता है, जिससे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देखने पाता — (भिखारी जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(कौशाम्बी में मागन्धी का मन्दिर)

मागन्धी — (स्वगत) इस रूप का इतना अपमान! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ! मुझे से ब्याह करना अस्वीकार किया! यहाँ मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला न गयी, यहाँ रूप का गौरव हुआ, तो धन के अभाव से दरिद्र-कन्या होने के अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूँ! अच्छा इसका भी प्रतिशोध लूँगी, अब से यही मेरा व्रत हुआ। उदयन राजा है, तो मैं भी हृदय की रानी हूँ। दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं!

(एक दासी का प्रवेश)

दासी — देवि क्या आज्ञा है?

मागन्धी — तू ही न गयी थी गौतम का समाचार लाने, वह आजकल पद्मावती के मन्दिर में भिक्षा लेने आता है न?

दासी — आता है स्वामिनी! वह घंटों महल में बैठकर उपदेश करता है। महाराज भी वहीं बैठकर उसकी वक्तृता सुनते है, बड़ा आदर करते हैं।

मागन्धी — तभी कई दिनों से इधर नहीं आते है, अच्छा नर्त्तकियों को तो बुला ला। नवीना से भी कह दे कि वह शीघ्र आवे और आसव लेती आवे।

(दासी का प्रस्थान)

मागन्धी — (आप-ही-आप) गौतम! तुम्हारी तितिक्षा तुम्हें कहाँ ले जायगी? यह तुमने कभी न विचारा कि सुन्दरी स्त्रियाँ भी संसार में अपना कुछ अस्तित्व रखती है। अच्छा तो देखें कौन खड़ा रहता है?

(नवीना का पान-पात्र लेकर प्रवेश)

नवीना — देवी की जय हो!

मागन्धी — तुम्हें भी बुलाना होगा, क्यों? महाराज नहीं आते है तो तुम सब महारानी हो गयी हो न?

नवीना — दासी को आज्ञा मिलनी चाहिये, वह तो प्रतिक्षण श्रीचरणों में रहती है। (पान कराती है)

मागन्धी — महाराज आयेंगे कि नहीं, इसका पता लगाकर शीघ्र आओ —

(नवीना जाती है, मागन्धी आप-ही-आप गाती है)

अली ने क्यों भला अवहेला की।
चम्पक-कली खिली सौरभ से उषा मनोहर बेला की।
विरस दिवस, मन बहलाने को मलजय से फिर खेला की।
अली ने क्यों भला अवहेला की।

नवीना — (प्रवेश करके) महाराज आया ही चाहते हैं।

मागन्धी — अच्छा आज मुझे बड़ा काम करना है, नवीना! नर्त्तकियों को शीघ्र बुला। मेरी वेष-भूषा ठीक है न — देखो तो —

नवीना — वाह स्वामिनी, तुम्हें वेष-भूषा की क्या आवश्यकता है — यह सहज सुन्दर रूप बनावटों से और भी बिगड़ जायगा।

मागन्धी — (हँसकर) अच्छा, अच्छा, रहने दे, और सब उपकरण ठीक रहे, समझी? कोई वस्तु अस्त-व्यस्त न रहे। अप्रसन्नता की कोई बात न होने पावे। उस दिन जो कहा है, वह ठीक रहे।

नवीना — वह भी आपके फिर कहने की आवश्यकता है? मैं सब अभी ठीक किये देती हूँ। (जाती है)

(एक ओर से उदयन का और दूसरी ओर से नर्त्तकियों का प्रवेश। सब नाचती है और मागन्धी उदयन का हाथ पकड़कर बैठाती है)

(नर्त्तकियों का गान)

> प्यारे, निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे!
> बरसो सदा दया-जल शीतल,
> सिंचे हमारा हृदय-मरुस्थल,
> अरे कँटीले फूल इसी में फूलना रे!

(नर्त्तकियाँ जाती है)

मागन्धी — आर्यपुत्र! क्या कई दिनों तक मेरा ध्यान भी न आया? क्या मुझसे कोई अपराध हुआ था।

उदयन — नहीं प्रिये! मगध से गौतम नाम के महात्मा आये है, जो अपने को 'बुद्ध' कहते है। देवी पद्मावती के मन्दिर में उनका संघ निमन्त्रित होता था और वे उपदेश देते थे। महादेवी वासवदत्ता भी वहीं नित्य आती थी।

मागन्धी — (बात काटकर) तब फिर मुझे क्यों पूछा जाय!

उदयन — (आदर से) नहीं-नहीं, यह तो तुम्हारी भूल थी, बुलवाने पर भी नहीं आयी। वाह! सुनने के योग्य उपदेश होता था। अभी तो कई दिन होगा। हमने अनुरोध किया है कि वे कुछ दिनों तक ठहर कर कौशाम्बी में धर्म का प्रचार करें।

मागन्धी — आप पृथ्वीनाथ है, आपको सब कुछ सोहाता है, किन्तु मैं तो अच्छी आँखों से इस गौतम को नहीं देखती। मगध के राजमन्दिर में ही मुड़ियों का स्वाँग अच्छा है। कौशाम्बी इस पाखण्ड से बची रहे तो बड़ा उत्तम हो। स्त्रियों के मन्दिर में उपदेश क्यों हो — क्या उन्हें पातिव्रत छोड़कर किसी और धर्म की आवश्यकता है? (पान-पात्र बढ़ाती है)

उदयन — ठहरो मागन्धी! पुरुष का हृदय बड़ा सशंक होता है, क्या तुम इसे नहीं जानती? क्या अभी-अभी तुमने कुछ विषाक्त

व्यंग नहीं किया है? यह मदिरा अब मैं नहीं पीऊँगा। अभी आज ही भगवान् का इसी पर उपदेश हुआ है, पर मैं देखता हूँ कि मदिरा से पहले तुमने मेरा हलाहल मेरे हृदय में उँड़ेल दिया। यह व्यंग सूखे ग्रास की तरह नीचे नहीं उतरता और बाहर भी नहीं हो पाता।

मागन्धी — क्षमा कीजिये नाथ! मैं प्रार्थना करती हूँ, अपने हृदय को इस हाला तृप्त कीजिये। अपराध क्षमा हो! मैं दरिद्र-कन्या हूँ। मुझे आपके आने पर और किसी की अभिलाषा नहीं है। वे आपको पा चुकी है, अब उन्हें और कुछ की बलवती आकांक्षा है, चाहे लोग उसे धर्म ही क्यों न कहें। मुझमें इतनी सामर्थ्य भी नहीं।

उदयन — हूँ, अच्छा देखा जायगा। (मुग्ध होकर) उठो मागन्धी, उठो! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेम-पूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी। (मागन्धी मदिरा पिलाती है)

उदयन — (प्रेमोन्मत्त होकर) तो मागन्धी, कुछ गाओ। अब मुझे मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो — एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ मैं भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि-निःश्वास मेरी कल्पना की आलिंगन करने लगे।

मागन्धी — वही तो मैं भी चाहती हूँ कि मेरी मूर्च्छना मेरे प्राणनाथ की विश्वमोहिनी वीणा की सहकारिणी हो, हृदय और तन्त्री एक होकर बज उठें, विश्वभर जिसके सम पर सिर हिला दे और पागल हो जाय।

उदयन — हाँ, मागन्धी! वह रूप तुम्हारा बड़ा प्रभावशाली था, जिसने उदयन को तुम्हारे चरणों में लुटा दिया। (मद्यप की-सी चेष्टा करता है) – किसी को भेजो कि पद्मावती के मन्दिर से ...)

मागन्धी — (दासी से) आर्यपुत्र की हस्तिस्कन्ध-वीणा ले आओ।

(दासी जाती है)

उदयन — तब तक तुम्हीं कुछ सुनाओ।

(मागन्धी पान कराती है और गाती है)

आओ हिय में अहो प्राण प्यारे!
नैन भये निर्मोही, नहीं अब देखे बिना रहते है तुम्हारे॥
सबको छोड़ तुम्हें पाया है, देखूँ कि तुम होते हो हमारे॥
तपन बुझे तन की औ' मन की, हों हम-तुम पल एक न न्यारे॥

आओ हिये में अहो प्राण प्यारे!

उदयन — हृदयेश्वरी! कौन मुझसे तुमको अलग कर सकता है?

हमारे वक्ष में बनकर हृदय, यह छवि समायेगी।
स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला गान गायेगी॥
अलग तब चेतना ही चित्त में कुछ रह न जायेगी।
अकेले विश्व-मन्दिर में तुम्हीं को पूज पायेगी॥

मागन्धी — मैं दासी हूँ प्रियतम!

उदयन — नहीं, तुम आज से स्वामिनी बनो।

(दासी वीणा लेकर आती है और उदयन के सामने रखती हैं। उदयन के उठाने के साथ ही साँप का बच्चा निकल पड़ता है — मागन्धी चिल्ला उठती है)

मागन्धी — पद्मावती! तू यहाँ तक आगे बढ़ चुकी है! जो मेरी शंका थी, वह प्रत्यक्ष हुई।

उदयन — (क्रोध से उठकर खड़ा हो जाता है) मैं अभी इसका प्रतिशोध लूँगा। ओह! ऐसा पाखण्ड-पूर्ण आचरण! असह्य!

मागन्धी — क्षमा सम्राट्! आपके हाथ में न्यायदण्ड है। केवल प्रतिहिंसा से आपका कोई कर्त्तव्य निर्धारित न होना चाहिए, सहसा भी नहीं। प्रार्थना है कि आज विश्राम करें; कल विचार कर कोई काम कीजिएगा।

उदयन — नहीं ! (सिर पकड़कर) किन्तु फिर भी तुम कह रही हो — अच्छा मैं विश्राम चाहता हूँ।

मागन्धी — यहीं...

(उदयन लेटता है, मागन्धी पैर दबाती है।)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

कौशाम्बी के पथ में जीवक।

जीवक — (आप-ही-आप) राजकुमारी से भेंट हुई और गौतम के दर्शन भी हुए, किन्तु मैं तो चकित हो गया हूँ कि क्या करूँ।

वासवी देवी और उनकी कन्या पद्मावती, दोनों की एक तरह की अवस्था है। जिसे अपना ही सम्भालना दुष्कर है, वह वासवी की क्या सहायता कर सकेगी! सुना है कि कई दिनों से पद्मावती के मन्दिर में उदयन जाते ही नहीं, और व्यवहारों से भी कुछ असन्तुष्ट-से दिखलाई पड़ते हैं; क्योंकि उन्हीं के परिजन होने के कारण मुझसे भी अच्छी तरह न बोले, और महाराज बिम्बिसार की कथा सुनकर भी कोई मत नहीं प्रकट किया। दासी आने को थी, वह भी नहीं आई। क्या करूँ!

दासी — (प्रवेश करके) नमस्कार! देवि ने कहा है, आर्य जीवक से कहो कि मेरी चिन्ता न करें। माताजी की देख-रेख उन्हीं पर है, अब वे शीघ्र ही मगध चले जाएँ। देवता जब प्रसन्न होंगे, उनसे अनुरोध करके कोई उपाय निकालूँगी और पिताजी के श्रीचरणों का भी दर्शन करूँगी। इस समय तो उनका जाना ही श्रेयस्कर है। महाराज की विरक्ति से मैं उनसे भी कुछ कहना नहीं चाहती। सम्भव है कि उन्हें किसी षड्यन्त्र की आशंका हो, क्योंकि नई रानी ने मेरे विरुद्ध कान भर दिए हैं, इसलिए मुझे अपनी कन्या समझकर क्षमा करेंगे। मैं इस समय बहुत दुःखी हो रही हूँ, कर्त्तव्य-निर्धारण नहीं कर सकती।

जीवक — राजकुमारी से कहना कि मैं उनकी कल्याण-कामना करता हूँ। भगवान की कृपा से वे अपने पूर्व-गौरव का लाभ करें

और मगध की कोई चिन्ता न करें। मैं केवल सन्देश कहने यहाँ चला आया था। अभी मुझे शीघ्र कोसल जाना होगा।

दासी — बहुत अच्छा। (नमस्कार करके जाती है।)

(गौतम का संघ के साथ प्रवेश)

जीवक — महाश्रमण के चरणों में अभिवादन करता हूँ।

गौतम — कहो, मगध में क्या समाचार है? मगध-नरेश सकुशल तो हैं?

जीवक — तथागत! आपसे क्या छिपा है? मगध-राजकुल में बड़ी अशान्ति है। वानप्रस्थ-आश्रम में भी महाराज बिम्बिसार को चैन नहीं है।

गौतम — जीवक!

चंचल चन्द्र सूर्य है चंचल, चपल सभी ग्रह तारा है।
चंचल अनिल, अनल, जल थल, सब चंचल जैसे पारा है।
जगत प्रगति से अपने चंचल, मन की चंचल लीला है।
प्रति क्षण प्रकृति चंचला कैसी यह परिवर्तनशीला है।
अणु-परमाणु, दुःख-सुख चंचल क्षणिक सभी सुख साधन हैं।
दृश्य सकल नश्वर-परिणामी, किसको दुख, किसको धन है

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना दुःख-मूल यह भूल महा।

चंचल मानव! क्यों भूला तू, इस सीटी में सार कहाँ?

जीवक — प्रभु! सत्य है।

गौतम — कल्याण हो। सत्य की रक्षा करने से, वही सुरक्षित कर लेता है। जीवक! निर्भय होकर पवित्र कर्त्तव्य करो।

(गौतम का संघ सहित प्रस्थान। विदूषक वसन्तक का प्रवेश)

वसन्तक — अहा वैद्यराज! नमस्कार। बस एक रेचक और थोड़ा-सा बस्तिकर्म्म — इसके बाद गर्मी ठण्डी! अभी आप हमारे नमस्कार का भी उत्तर देने के लिए मुख न खोलिए, पहले रेचक प्रदान कीजिए। निदान में समय नष्ट न कीजिए।

जीवक — (स्वगत) यह विदूषक इस समय कहाँ से आ गया! भगवान्, किसी तरह हटे।

वसन्तक — क्या आप निदान कर रहे हैं? अजी अजीर्ण है, अजीर्ण। पाचक देना हो दो, नहीं तो हम अच्छी तरह जानते हैं कि वैद्य लोग अपने मतलब से रेचन तो अवश्य ही देंगे। अच्छा, हाँ कहो तो, बुद्धि के अजीर्ण में तो रेचन ही गुणकारी होगा? सुनो जी मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से

बुद्धि का; किन्तु महर्षि अग्निवेश ने कहा है कि इसमें रेचन ही गुणकारी होता है। (हँसता है)

जीवक — तुम दूसरे की तो कुछ सुनोगे नहीं?

वसन्तक — सुना है कि धन्वन्तरि के पास एक ऐसी पुड़िया थी कि बुढ़िया युवती हो जाए और दरिद्रता का केंचुल छोड़कर मणिमयी बन जावे! क्या तुम्हारे पास भी...उहूँ... नहीं है? तुम क्या जानो।

जीवक — तुम्हारा तात्पर्य क्या है? हम कुछ न समझ सके।

वसन्तक — केवल खलबट्टा चलाते रहे और मूर्खता का पुटपाक करते रहे। महाराज ने एक नई दरिद्र कन्या से ब्याह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो गया है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गई हैं, तब कैसे मेल हो? क्या तुम अपनी औषधि से उन्हें विवाह करने के समय की अवस्था का नहीं बना सकते, जिसमें महाराज इस अजीर्ण से बच जाएँ?

जीवक — तुम्हारे ऐसे चाटुकार और भी चाट लगा देंगे, दो-चार और जुटा देंगे।

वसन्तक — उसमें तो गुरुजनों का ही अनुकरण है! श्वसुर ने दो ब्याह किए, तो दामाद ने तीन। कुछ उन्नति ही रही।

जीवक — दोनों अपने कर्म के फल भोग रहे हैं। कहो, कोई यथार्थ बात भी कहने-सुनने की है या यही हँसोड़पन?

वसन्तक — घबराइए मत। बड़ी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा भगिनी की तरह प्यार करती हैं। उनका कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा। उन्होंने ही मुझे भेजा है और प्रार्थना की है कि "आर्यपुत्र की अवस्था आप देख रहे हैं, उनके व्यवहार पर ध्यान न दीजिएगा। पद्मावती मेरी सहोदरा है, उसकी ओर से आप निश्चिंत रहें। कोसल से समाचार भेजिएगा।" नमस्कार। (हँसता हुआ जाता है।)

जीवक — अच्छा, अब मैं भी कोसल जाऊँ।

(जाता है)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(श्रावस्ती की राजसभा। प्रसेनजित् सिंहासन पर और अमात्य, अनुचरगण यथास्थान बैठे हैं)

प्रसेनजित् — क्या यह सब सच है सुदत्त? तुमने आज मुझे एक बड़ी आश्चर्यजनक बात सुनाई है। क्या सचमुच अजातशत्रु ने अपने पिता को सिंहासन से उतारकर उनका तिरस्कार किया है?

सुदत्त — पृथ्वीनाथ! यह उतना ही सत्य है, जितना श्रीमान् का इस समय सिंहासन पर बैठना। मगध-नरेश से एक षडयन्त्र द्वारा सिंहासन छीन लिया गया है।

विरुद्धक — मैंने तो सुना है कि महाराज बिम्बिसार ने वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार किया है और उस अवस्था में युवराज का राज्य सम्भालना अच्छा ही है।

प्रसेनजित् — विरुद्धक! क्या अजात की ऐसी परिपक्व अवस्था है कि मगध-नरेश उसे साम्राज्य का बोझ उठाने की आज्ञा दें?

विरुद्धक — पिताजी! यदि क्षमा हो, तो मैं यह कहने में संकोच न करूँगा कि युवराज को राज्य-संचालन की शिक्षा देना महाराज का ही कर्त्तव्य है।

प्रसेनजित् — (उत्तेजित होकर) और आज तुम दूसरे शब्दों में उसी शिक्षा के पाने का उद्योग कर रहे हो! क्या राज्याधिकार ऐसे प्रलोभन की वस्तु है कि कर्त्तव्य और पितृभक्ति एक बार ही भुला दी जाए?

विरुद्धक — पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार माँगे, तो उसमें दोष ही क्या?

प्रसेनजित् — (और भी उत्तेजित होकर) तब तू अवश्य ही नीच रक्त का मिश्रण है। उस दिन, जब तेरे ननिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मैंने सुनी थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ। अब मुझे विश्वास हो गया कि शाक्यों के कथनानुसार तेरी माता अवश्य ही दासी-पुत्री है। नहीं तो तू इस पवित्र कोसल की विश्व-विश्रुत गाथा पर पानी फेरकर अपने पिता के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर न करता। क्या इसी कोसल में रामचन्द्र और दशरथ के सदृश पुत्र और पिता अपना उदाहरण नहीं छोड़ गए हैं?

सुदत्त — दयानिधे! बालक का अपराध मार्जनीय है।

विरुद्धक — चुप रहो, सुदत्त! पिता कहे और पुत्र उसे सुने। तुम चाटुकारिता करके मुझे अपमानित न करो।

प्रसेनजित् — अपमान! पिता से पुत्र का अपमान!! क्या यह विद्रोही युवक-हृदय, जो नीच रक्त से कलुषित है, युवराज होने के योग्य है? क्या भेड़िये की तरह भयानक ऐसी दुराचारी सन्तान अपने माता-पिता का ही वध न करेगी? अमात्य!

अमात्य — आज्ञा, पृथ्वीनाथ!

प्रसेनजित् — (स्वगत) अभी से इसका गर्व तोड़ देना चाहिए। (प्रकट) आज से यह निर्भीक किन्तु अशिष्ट बालक — अपने युवराज पद से वंचित किया गया। और, इसकी माता का राजमहिषी का-सा सम्मान नहीं होगा — केवल जीविका-निर्वाह के लिए उसे राजकोष से व्यय मिला करेगा।

विरुद्धक — पिताजी, मैं न्याय चाहता हूँ।

प्रसेनजित् — अबोध, तू पिता से न्याय चाहता है! यदि पक्ष निर्बल है और पुत्र अपराधी है, तो किस पिता ने पुत्र के लिए न्याय किया है परन्तु मैं यहाँ पिता नहीं, राजा हूँ। तेरा बड़प्पन और महत्त्वाकांक्षा से पूर्ण हृदय अच्छी तरह कुचल दिया जाएगा-बस चला जा।

(विरुद्धक सिर झुकाकर जाता है)

अमात्य — यदि अपराध क्षमा हो, तो कुछ प्रार्थना करूँ। यह न्याय नहीं है। कोसल के राजदण्ड ने कभी ऐसी व्यवस्था नहीं दी। किसी दूसरे के पुत्र का कलंकित कर्म सुनकर श्रीमान् उत्तेजित हो अपने पुत्र को दण्ड दें, यह श्रीमान् की प्रत्यक्ष निर्बलता है। क्या श्रीमान् उसे उचित शासक नहीं बनाना चाहते?

प्रसेनजित् — चुप रहो मन्त्री, जो कहता हूँ वह करो।

(दौवारिक आता है)

दौवारिक — महाराज की जय हो! मगध से जीवक आए हैं।

प्रसेनजित् — जाओ, लिवा लाओ।

(दौवारिक जाता है और जीवक को लिवा लाता है)

जीवक — जय हो कोसल-नरेश की!

प्रसेनजित् — कुशल तो है, जीवक तुम्हारे महाराज की तो सब बातें हम सुन चुके हैं, उन्हें दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, कोई नया समाचार हो तो कहो।

जीवक — दयालु देव, कोई नया समाचार नहीं है। अपमान की यन्त्रणा ही महादेवी वासवी को दुखित कर रही है, और कुछ नहीं।

प्रसेनजित् — तुम लोगों ने तो राजकुमार को अच्छी शिक्षा दी। अस्तु, देवी वासवी को अपमान भोगने की आवश्यकता नहीं। उन्हें अपनी सपत्नी-पुत्र के भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह नहीं करना होगा। मन्त्री! काशी की प्रजा के नाम एक पत्र लिखो कि वह अजात को राज-कर न देकर वासवी को अपना कर-दान करे, क्योंकि काशी

का प्रान्त वासवी को मिला है, सपत्नी-पुत्र का उस पर कोई अधिकार नहीं है।

जीवक — महाराज! देवी वासवी ने कुशल पूछा है और कहा है कि इस अवस्था में मैं आर्यपुत्र को छोड़कर नहीं आ सकती, इसलिए भाई कुछ अन्यथा न समझें।

प्रसेनजित् — जीवक, यह तुम क्या कहते हो? कोसल-कुमारी दशरथ-नन्दिनी शान्ता का उदाहरण उसके सामने है; दरिद्र ऋषि के साथ जो दिव्य जीवन व्यतीत कर सकती थी। क्या वासवी किसी दूसरे कोसल की राजकुमारी है? कुल-शील-पालन ही तो आर्य-ललनाओं का परमोज्ज्वल आभूषण है। स्त्रियों का वही मुख्य धन है। अच्छा जाओ, विश्राम करो।

(जीवक का प्रस्थान। सेनापति बन्धुल का प्रवेश)

बन्धुल — प्रबल प्रतापी कोसल-नरेश की जय हो!

प्रसेनजित् — स्वागत सेनापते! तुम्हारे मुख से 'जय' शब्द कितना सुहावना सुनाई पड़ता है! कहो, क्या समाचार है!

बन्धुल — सम्राट्, कोसल की विजयिनी पताका वीरों के रक्त में अपने अरुणोदय का तीव्र तेज दौड़ाती है और शत्रुओं को उसी

रक्त में नहाने की सूचना देती है! राजाधिराज! हिमालय का सीमा प्रान्त बर्बर लिच्छिवियों के रक्त से और भी ठण्डा कर दिया गया है। कोसल के प्रचण्ड नाम से ही शान्ति स्वयं पहरा दे रही है। यह सब श्रीचरणों का प्रताप है। अब विद्रोह का नाम भी नहीं है। विदेशी बर्बर शताब्दियों तक उधर देखने का भी साहस न करेंगे।

प्रसेनजित् — धन्य हो, विजयी वीर! कोसल तुम्हारे ऊपर गर्व करता है और आशीर्वादपूर्ण अभिनन्दन करता है। लो, यह विजय का स्मरण-चिह्न!...

(हार पहनाता है)

सब — जय, सेनापति बन्धुल की जय!

प्रसेनजित् — (चौंकते हुए) हैं! जाओ, विश्राम करो।

(बन्धुल जाता है)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(प्रकोष्ठ में कुमार विरुद्धक एकाकी)

विरुद्धक — (आप-ही-आप) घोर अपमान! अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद!! यह असहनीय है। धिक्कारपूर्ण कोसल-देश की सीमा कभी की मेरी आँखों से दूर हो जाती; किन्तु मेरे जीवन का विकास-सूत्र एक बड़े ही कोमल कुसुम के साथ बँध गया है। हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भण्डार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य व कोमल कण्ठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्भालकर उतारने के लिए, नक्षत्रलोक को गई थीं। शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस

आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत् की कुटिल गृहस्थी के आलबाल में आश्चर्यपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप में तुम्हें सबने देखा। यह कैसा इन्द्रजाल था — प्रभात का वह मनोहर स्वप्न था — सेनापति बन्धुल, एक हृदयहीन क्रूर सैनिक ने तुम्हें अपने उष्णीष का फूल बनाया। और, हम तुम्हें अपने घेरे में रखने के लिए कँटीली झाड़ी बनकर पड़े ही रहे! कोसल के आज भी हम कण्टकस्वरूप हैं...!

(कोसल की रानी का प्रवेश)

रानी — छिः राजकुमार! इसी दुर्बल हृदय से तुम संसार में कुछ कर सकोगे? स्त्रियों की-सी रोदनशीला प्रकृति लेकर तुम कोसल के सम्राट् बनोगे?

विरुद्धक — माँ, क्या कहती हो! हम आज एक तिरस्कृत युवकमात्र हैं, कहाँ का कोसल और कौन राजकुमार!

रानी — देखो, तुम मेरी सन्तान होकर मेरे सामने ऐसी नीच बात न कहो। दासी की पुत्री होकर भी मैं राजरानी बनी और हठ से मैंने इस पद को ग्रहण किया, और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक होगे, यह कभी मैंने स्वप्न में भी न सोचा था। बालक! मानव अपनी इच्छा-शक्ति से और पौरुष से ही कुछ

होता है। जन्मसिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्व में छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी क्यों अवहेलना करते हो? महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जाएँगी। मल्लिका तो क्या, राजलक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लोटेगी। पुरुषार्थ करो! इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं।

विरुद्धक — बस, माँ! अब कुछ न कहो। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्त्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। माँ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर, कोसल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वन्दना करूँगा। आशीर्वाद दो कि इस क्रूर परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँ।

रानी — (सिर पर हाथ फेरकर) मेरे बच्चे, ऐसा ही हो।

(दोनों जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(अपने प्रकोष्ठ में पद्मावती वीणा बजाना चाहती है। कई बार प्रयास करने पर भी नहीं सफल होती)

पद्मावती — जब भीतर की तन्त्री बेकल है तब यह कैसे बजे! मेरे स्वामी! मेरे नाथ! यह कैसा भाव है, प्रभु!

(फिर वीणा उठाती है और रख देती है, गाने लगती है)

मीड़ मत खिंचे बीन के तार
निर्दय उँगली! अरी ठहर जा
पल-भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।
छेड़-छेड़कर मूक तन्त्र को,
विचलित कर मधु मौन मन्त्र को-
बिखरा दे मत, शून्य पवन में

लय हो स्वर-संसार।
मसल उठेगी सकरुण वीणा,
किसी हृदय को होगी पीड़ा,
नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार।

पद्मावती — (आप-ही-आप) यह सौभाग्य ही है कि भगवान् गौतम आ गए हैं, अन्यथा पिता की दुरवस्था सोचते-सोचते तो मेरी बुरी अवस्था हो गई थी। महाश्रमण की अमोघ सान्त्वना मुझे धैर्य देती है; किन्तु मैं यह क्या सुन रही हूँ — स्वामी मुझसे असन्तुष्ट हैं। भला यह वेदना मुझसे कैसे सही जाएगी! कई बार दासी गई; किन्तु वहाँ तो तेवर ही ऐसे हैं कि किसी को अनुनय-विनय करने का साहस ही नहीं होता। फिर भी कोई चिन्ता नहीं, राजभक्त प्रजा को विद्रोही होने का भय ही क्यों हो?

हमारा प्रेमनिधि सुन्दर सरल है।
अमृतमय है, नहीं इसमें गरल है॥

नेपथ्य से — भगवान् बुद्ध की जय हो।

पद्मावती — अहा! संघ-सहित करुणानिधान जा रहे हैं, दर्शन तो करूँ।

(खिड़की से देखती है। उदयन का प्रवेश)

उदयन — (क्रोध से) पापीयसी, देख ले, यह तेरे हृदय का विष — तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह नया झरोखा बना है।

पद्मावती — (चौंककर खड़ी हो जाती है, हाथ जोड़कर) प्रभु! स्वामी! क्षमा हो! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है, किन्तु अमृत है, नाथ! जिसके रूप पर आपकी भी असीम भक्ति है, उसी रमणी-रत्न मागन्धी का भी जिन्होंने तिरस्कार किया था — शान्ति के सहचर, करुणा के स्वामी — उन बुद्ध को, मांसपिण्डों की कभी आवश्यकता नहीं।

उदयन — किन्तु मेरे प्राणों की है। क्यों, इसीलिए न वीणा में साँप का बच्चा छिपाकर भेजा था! तू मगध की राजकुमारी है, प्रभुत्व का विष जो तेरे रक्त में घुसा है, वह कितनी ही हत्याएँ कर सकता है। दुराचारिणी! तेरी छलना का दाँव मुझ पर नहीं चला — अब तेरा अन्त है, सावधान! (तलवार निकालता है)

पद्मावती — मैं कौशाम्बी-नरेश की राजभक्त प्रजा हूँ। स्वामी, किसी छलना का आपके मन पर अधिकार हो गया है। वह कलंक मेरे सिर पर ही सही, विचारक दृष्टि में यदि मैं अपराधिनी हूँ, तो दण्ड भी मुझे स्वीकार है, और वह दण्ड, वह शान्तिदायक दण्ड यदि स्वामी के कर-कमलों से मिले, तो मेरा सौभाग्य है। प्रभु! पाप का सब दण्ड ग्रहण कर लेने से वही पुण्य हो जाता है। (सिर झुकाकर घुटने टेकती है)

उदयन — पापीयसी! तेरी वाणी का घुमाव-फिराव मुझे अपनी ओर नहीं आकर्षित करेगा। दुष्टे! इस हलाहल से भरे हुए हृदय को निकालना ही होगा। प्रार्थना कर ले।

पद्मावती — मेरे नाथ! इस जन्म के सर्वस्व! और परजन्म के स्वर्ग! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं समक्ष हो तो प्रार्थना किसकी करूँ मैं प्रस्तुत हूँ।

(तलवार उठाता है, इसी समय वासवदत्ता प्रवेश करती है)

वासवदत्ता — ठहरिए! मागन्धी की दासी नवीना आ रही है, जिसने सब अपराध स्वीकार किया हे। आपको मेरे इस राजमन्दिर की सीमा के भीतर, इस तरह, हत्या करने का अधिकार नहीं है। मैं

इसका विचार करूँगी और प्रमाणित कर दूँगी कि अपराधी कोई दूसरा है। वाह! इसी बुद्धि पर आप राज्य-शासन कर रहे हैं? कौन है जी? बुलाओ मागन्धी और नवीना को।

दासी — महादेवी की जो आज्ञा। (जाती है)

उदयन — देवी! मेरा तो हाथ ही नहीं उठता है — यह क्या माया है?

वासवदत्ता — आर्यपुत्र! यह सती का तेज है, सत्य का शासन है, हृदयहीन मद्यप का प्रलाप नहीं। देवी पद्मावती! तू पति के अपराधों को क्षमा कर।

पद्मावती — (उठकर) भगवान् यह क्या! मेरे स्वामी! मेरा अपराध क्षमा हो-नसें चढ़ गई होंगी। (हाथ सीधा करती है)

दासी — (प्रवेश करके) महाराज, भागिये! महादेवी, हटिये, वह देखिए आग की लपट इधर ही चली आ रही है। नई महारानी के महल में आग लगी है, और उसका पता नहीं है। नवीना मरती हुई कह रही थी कि मागन्धी स्वयं मरी और मुझे भी उसने मार डाला; वह महाराज का सामना नहीं करना चाहती थी।

उदयन — क्या? षड्यन्त्र! अरे, क्या मैं पागल हो गया था। देवी अपराध क्षमा हो। (पद्मावती के सामने घुटने टेकता है।)

पद्मावती — उठिए-उठिए, महाराज! दासी को लज्जित न कीजिए।

वासवदत्ता — यह प्रणय लीला दूसरी जगह होगी — चलो हटो, यह देखो लपट फैल रही है।

(वासवदत्ता दोनों का हाथ पकड़कर खींचकर खड़ी हो जाती है। पर्दा हटता है — मागन्धी के महल में आग लगी हुई दिखाई पड़ती है)

(यवनिका)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(मगध में अजातशत्रु की राजसभा)

अजातशत्रु — यह क्या सच है, समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ! प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है? चींटी भी पंख

लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है! 'राज-कर मैं न दूँगा' – यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं किया?

समुद्रदत्त — देव! मेरा कोई अपराध नहीं। काशी में बड़ा उपद्रव मचा था। शैलेन्द्र नामक विकट डाकू के आतंक से लोग पीड़ित थे। दण्डनायक ने मुझसे कहा कि काशी के नागरिक कहते हैं कि हम कोसल की प्रजा हैं, और...

अजातशत्रु — कहो-कहो, रुकते क्यों हो?

समुद्रदत्त — और हम लोग उस अत्याचारी राजा को कर न देंगे जो धर्म के बल से पिता के जीते-जी सिंहासन छीनकर बैठ गया है। और, जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता-उनके दुःखों को नहीं सुनता तथा...

अजातशत्रु — हाँ-हाँ, कहो, संकोच न करो।

समुद्रदत्त — सम्राट्! इसी तरह की बहुत-सी बातें वे कहते हैं, उन्हें सुनने में कोई लाभ नहीं। अब जो आज्ञा दीजिए वह किया जाए।

अजातशत्रु — ओह! अब समझ में आया। यह काशी की प्रजा का कण्ठ नहीं, इसमें हमारी विमाता का व्यंग्य-स्वर है। इसका

प्रतिकार आवश्यक है। इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता। (कुछ सोचता है)

दौवारिक — (प्रवेश करके) जय हो, आर्य देवदत्त आ रहे हैं।

(देवदत्त का प्रवेश)

देवदत्त — सम्राट् का कल्याण हो, धर्म की वृद्धि हो, शासन सुखद हो!

अजातशत्रु — नमस्कार, भगवन्! आपकी कृपा से सब कुछ होगा और यह उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आवश्यकता के समय आप पुकारे हुए देवता की तरह आ जाते हैं।

देवदत्त — (बैठता हुआ) आवश्यकता कैसी राजन्! आपको कमी क्या है, और हम लोगों के पास आशीर्वाद के अतिरिक्त और धरा ही क्या है? फिर भी सुनूँ...

अजातशत्रु — कोसल के दाँत जम रहे हैं। वह काशी की प्रजा में विद्रोह करना चाहता है। वहाँ के लोग राजस्व देना अस्वीकार करते हैं।

देवदत्त — पाखण्डी गौतम आजकल उसी ओर घूम रहा है, इसीलिए। कोई चिन्ता नहीं। गौतम की कोई चाल नहीं चलेगी। यदि मुनिव्रत धारण करके भी वह ऐसे साम्राज्य के षड्यन्त्रों में लिप्त है, तो मैं भी हठवश उसका प्रतिद्वन्द्वी बनूँगा। परिषद् का आह्वान करो।

अजातशत्रु — जैसी आज्ञा — (दौवारिक से) – जाओ जी, परिषद् के सभ्यों को बुला लाओ।

(दौवारिक जाता है, फिर प्रवेश)

दौवारिक — सम्राट् की जय हो! कोसल से कोई गुप्त अनुचर आया है और दर्शन की इच्छा प्रकट करता है।

देवदत्त — उसे लिवा लाओ।

(दौवारिक जाकर लिवा लाता है)

दूत — मगध-सम्राट् की जय हो! कुमार विरुद्धक ने यह पत्र श्रीमान् की सेवा में भेजा है।

(पत्र देता है, अजातशत्रु पत्र पढ़कर देवदत्त को दे देता है।

देवदत्त — (पढ़कर) वाह, कैसा सुयोग! हम लोग क्यों न सहमत होंगे। दूत, तुम्हें शीघ्र पुरस्कार और पत्र मिलेगा- जाओ, विश्राम करो।

(दूत जाता है)

अजातशत्रु — गुरुदेव, बड़ी अनुकूल घटना है! मगध जैसा परिवर्तन कर चुका है, वही तो कोसल भी चाहता है। हम नहीं समझते कि बुड्ढों को क्या पड़ी है और उन्हें सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी और नियन्त्रण में बँधी हुई, संसार के कीचड़ में निमज्जित राजतन्त्र की पद्धति नवीन उद्योग को असफल कर देगी? तिल-भर भी जो अपने पुराने विचारों से हटना नहीं चाहता, उसे अवश्य नष्ट हो जाना चाहिए, क्योंकि यह जगत् ही गतिशील है।

देवदत्त — अधिकार, चाहे वे कैसे भी जर्जर और हल्की नींव के हों, अथवा अन्याय ही से क्यों न संगठित हों, सहज में नहीं छोड़े जा सकते। भद्रजन उन्हें विचार से काम में लाते हैं और हठी

तथा दुराग्रही उनमें तब तक परिवर्तन भी नहीं करना चाहते, जब तक वे एक बार ही न हटा दिए जाएँ।

दौवारिक — (प्रवेश करके) जय हो, देव! महामान्य परिषद् के सभ्यगण आए हैं।

देवदत्त — उन्हें लिवा लाओ!

(दौवारिक जाकर लिवा लाता है।)

सभ्यगण — सम्राट् की जय हो! (देवदत्त का अभिवादन करते हैं)

देवदत्त — राष्ट्र का कल्याण हो। राजा और परिषद् की श्री-वृद्धि हो।

(सब बैठते हैं)

एक सभ्य — क्या आज्ञा है?

अजातशत्रु — आप लोग राष्ट्र के शुभचिन्तक हैं। जब पिताजी ने यह प्रकाण्ड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने किशोर जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किन्तु बात वैसी नहीं थी! मान्य महोदयो, राष्ट्र में एक ऐसी

गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है, जो इस शक्तिशाली मगध-राष्ट्र को उन्नत नहीं देखना चाहती। और मैंने केवल इस बोझ को आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था। आप लोग बताइए कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं? या अपने राष्ट्र और सम्राट् को आप लोग अपमानित करना चाहते हैं?

दूसरा सभ्य — कभी नहीं। मगध का राष्ट्र सदैव गर्व से उन्नत रहेगा और विरोधी शक्ति पद-दलित होगी।

देवदत्त — कुछ मैं भी कहना चाहता हूँ। इस समय जब मगध का राष्ट्र अपने यौवन में पैर रख रहा है, तब विद्रोह की आवश्यकता नहीं, राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को उसकी उन्नति सोचनी चाहिए। राजकुल के कौटुम्बिक झगड़ों से और राष्ट्र से कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं कि उनके पक्षपाती होकर हम अपने देश की और जाति की दुर्दशा कराएँ। सम्राट् की विमाता बार-बार विप्लव की सूचना दे रही हैं। यद्यपि महामान्य सम्राट् बिम्बिसार ने अपने सब अधिकार अपनी सुयोग्य सन्तान को दे दिए हैं, फिर भी ऐसी दुश्चेष्टा क्यों की जा रही है काशी, जो कि बहुत दिनों से मगध का एक सम्पन्न प्रान्त रहा है, वासवी देवी के षडयन्त्र से राजस्व देना अस्वीकार करता है। वह कहता है कि मैं कोसल का दिया हुआ वासवी देवी का रक्षित धन हूँ। क्या ऐसे सुरम्य

और धनी प्रदेश को मगध छोड़ देने को प्रस्तुत है? क्या फिर इसी तरह और प्रदेश भी स्वतन्त्र होने की चेष्टा न करेंगे? क्या इसी में राष्ट्र का कल्याण है?

सभ्यगण — कभी नहीं, कभी नहीं। ऐसा कदापि न होने पाएगा।

अजातशत्रु — तब आप लोग मेरा साथ देने के लिए पूर्ण रूप से प्रस्तुत हैं? देश को अपमान से बचाना चाहते हैं?

सभ्यगण — अवश्य! राष्ट्र के कल्याण के लिए प्राण तक विसर्जन किया जा सकता है, और हम सब ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं।

देवदत्त — तथास्तु! क्या इसके लिए कोई नीति आप लोग निर्धारित करेंगे?

एक सभ्य — मेरी विनीत सम्मति है कि आप ही इस परिषद् के प्रधान बनें और नवीन सम्राट् को अपनी स्वतन्त्र सम्मति देकर राष्ट्र का कल्याण करें, क्योंकि आप सदृश महात्मा सर्वलोक के हित की कामना रखते हैं। राष्ट्र का उद्धार करना भी भारी परोपकार है।

अजातशत्रु — यह मुझे भी स्वीकार है।

देवदत्त — मेरी सम्मति है कि साम्राज्य का सैनिक अधिकार स्वयं लेकर सेनापति के रूप में कोसल के साथ युद्ध और उसका दमन करने के लिए अजातशत्रु को अग्रसर होना चाहिए। समुद्रदत्त

गुप्त-प्रणिधि बनकर काशी जाएँ और प्रजा को मगध के अनुकूल बनाएँ, तथा शासन-भार परिषद् अपने सिर पर लें।

दूसरा सभ्य — यदि सम्राट् बिम्बिसार इसमें अपमान समझें?

देवदत्त — जिसने राज्य अपने हाथ से छोड़कर स्त्री की वश्यता स्वीकार कर ली, उसे इसका ध्यान भी नहीं हो सकता। फिर भी उनके समस्त व्यवहार वासवी देवी की अनुमति से होंगे। (सोचकर) और भी एक बात है, मैं भूल गया था, वह यह कि कार्य को उत्तम रूप से चलाने के लिए महादेवी छलना परिषद् की देख-रेख किया करें।

समुद्रदत्त — यदि आज्ञा हो, तो मैं भी कुछ कहूँ।

सभ्यगण — हाँ-हाँ, अवश्य।

समुद्रदत्त — यह एक भी सफल नहीं होगा, जब तक वासवी देवी के हाथ-पैर चलते रहेंगे। यदि आप लोग राष्ट्र का निश्चित कल्याण चाहते हैं, तो पहले इसका प्रबन्ध करें।

देवदत्त — तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

समुद्रदत्त — यही कि वासवी देवी को महाराज बिम्बिसार से अलग तो किया नहीं जा सकता-फिर भी आवश्यकता से बाध्य होकर उस उपवन की रक्षा पूर्ण रूप से होनी चाहिए।

तीसरा सभ्य — क्या महाराज बन्दी बनाए जाएँगे? मैं ऐसी मंत्रणा का विरोध करता हूँ। यह अनर्थ है! अन्याय है!

देवदत्त — ठहरिए, अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण कीजिए और विषय के गौरव को मत भुला दीजिए। समुद्रदत्त सम्राट् बिम्बिसार को बन्दी नहीं बनाना चाहता, किन्तु नियन्त्रण चाहता है, सो भी किस पर, केवल वासवी देवी पर, जो कि मगध की गुप्त शत्रु है। इसका और कोई दूसरा सरल उपाय नहीं। यह किसी पर प्रकट करके सम्राट् का निरादर न किया जाए, किन्तु युद्धकाल की राज-मर्यादा कहकर अपना काम निकाला जाए, क्योंकि ऐसे समय में राजकुल की विशेष रक्षा होनी चाहिए।

तीसरा सभ्य — तब मेरा कोई विरोध नहीं।

अजातशत्रु — फिर, आप लोग आज की इस मन्त्रणा से सहमत हैं?

सब — हम सबको स्वीकार है।

अजातशत्रु — तथास्तु!

(सब जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(स्थान — पथ। मार्ग में बन्धुल)

बन्धुल — (स्वगत) इस अभिमानी राजकुमार से तो मिलने की इच्छा भी नहीं थी, किन्तु क्या करूँ, उसे अस्वीकार भी नहीं कर सका। कोसल-नरेश ने जो मुझे काशी का सामन्त बनाया है, वह मुझे अच्छा नहीं लगता, किन्तु राजा की आज्ञा। मुझे तो सरल और सैनिक-जीवन ही रुचिकर है। यह सामन्त का आडम्बरपूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है। महाराज प्रसेनजित् ने कहा कि 'शीघ्र ही मगध काशी पर अधिकार करना चाहेगा, इसलिए तुम्हारा वहाँ जाना आवश्यक है।' यहाँ का दण्डनायक तो मुझसे प्रसन्न है। अच्छा, देखा जाएगा। (टहलता है) यह समझ में नहीं आता कि एकान्त में कुमार क्यों मुझसे मिलना चाहता है!

(विरुद्धक का प्रवेश)

विरुद्धक — सेनापते! कुशल तो है

बन्धुल — कुमार की जय हो! क्या आज्ञा है? आप अकेले क्यों हैं?

विरुद्धक — मित्र बन्धुल! मैं तो तिरस्कृत राज-सन्तान हूँ। फिर अपमान सहकर, चाहे वह पिता का सिंहासन क्यों न हो, मुझे रुचिकर नहीं।

बन्धुल — राजकुमार! आपको सम्राट् ने निर्वासित तो नहीं किया, फिर आप क्यों इस तरह अकेले घूमते हैं? चलिए — काशी का सिंहासन आपको मैं दिला सकता हूँ।

विरुद्धक — नहीं बन्धुल! मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता, मुझे तो अधिकार चाहिए, स्वत्व चाहिए।

बन्धुल — फिर आप क्या करेंगे?

विरुद्धक — जो कर रहा हूँ।

बन्धुक — वह क्या?

विरुद्धक — मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा। क्षत्रियकुमार हूँ, चिन्ता क्या है स्पष्ट कहता हूँ बन्धुल, मैं साहसिक हो गया हूँ। अब वही मेरी वृत्ति है। राज्य-स्थापन करने के पहले मगध के भूपाल भी तो यही करते थे!

बन्धुल — सावधान! राजकुमार! ऐसी दुराचार की बात न सोचिए। यदि आप इस पथ से नहीं लौटते, तब मेरा भी कुछ कर्त्तव्य होगा, जो आपके लिए बड़ा कठोर होगा। आतंक का दमन करना

प्रत्येक राजपुरुष का कर्म है, यह युवराज को भी मानना ही पड़ेगा।

विरुद्धक — मित्र बन्धुल! तुम बड़े सरल हो। जब तुम्हारी सीमा के भीतर कोई उपद्रव हो, तो मुझे इसी तरह आह्वान कर सकते हो किन्तु इस समय तो मैं एक दूसरी-तुम्हारे शुभ की बात कहने आया हूँ। कुछ समझते हो कि तुमको काशी का सामन्त क्यों बनाकर भेजा गया है?

बन्धुल — यह तो बड़ी सीधी बात है — कोसल-नरेश इस राज्य को हस्तगत करना चाहते हैं, मगध भी उत्तेजित है, युद्ध की सम्भावना है; इसलिए मैं यहाँ भेजा गया हूँ। मेरी वीरता पर कोसल को विश्वास है।

विरुद्धक — क्या ही अच्छा होता कि कोसल तुम्हारी बुद्धि पर भी अभिमान कर सकता, किन्तु बात कुछ दूसरी ही है।

बन्धुल — वह क्या?

विरुद्धक — कोसल-नरेश को तुम्हारी वीरता से सन्तोष नहीं; किन्तु आतंक है। राजशक्ति किसी को भी इतना उन्नत नहीं देखना चाहती।

बन्धुल — फिर सामन्त बनाकर मेरा क्यों सम्मान किया गया?

विरुद्धक — यह एक षड्यन्त्र है, जिससे तुम्हारा अस्तित्व न रह जाए।

बन्धुल — विद्रोही राजकुमार! मैं तुम्हें बन्दी बनाता हूँ। सावधान हो!

(पकड़ना चाहता है)

विरुद्धक — अपनी चिन्ता करो; मैं 'शैलेन्द्र' हूँ।

(विरुद्धक तलवार खींचता हुआ निकल जाता है, फिर बन्धुल भी चकित होकर चला जाता है। श्यामा का प्रवेश)

श्यामा — (स्वगत) रात्रि चाहे कितनी भयानक हो, किन्तु प्रेममयी रमणी के हृदय से भयानक वह कदापि नहीं हो सकती। यह देखो, पवन मानो किसी डर से धीरे-धीरे साँस ले रहा है। किसी आतंक से पक्षीवृन्द अपने घोंसलों में जाकर छिप गए हैं। आकाश में ताराओं का झुंड नीरव-सा है, जैसे कोई भयानक बात देखकर भी वे बोल नहीं सकते, केवल आपस में इंगित कर रहे हैं! संसार किसी भयानक समस्या में निमग्न-सा प्रतीत होता है! किन्तु मैं शैलेन्द्र से मिलने आई हूँ — वह डाकू है तो क्या, मेरी

भी अतृप्त वासना है। मागन्धी! चुप, वह नाम क्यों लेती है। मागन्धी कौशाम्बी के महल में आग लगाकर जल मरी — अब तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठि इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं; राजरानी होकर और क्या मिलता था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा!

(विरुद्धक का प्रवेश)

विरुद्धक — रमणी! तुम क्यों इस घोर कानन में आई हो?

श्यामा — शैलेन्द्र, क्या तुम्हीं को बताना होगा! मेरे हृदय में जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझाएगा? तुम मेरे स्नेह की परीक्षा चाहते थे — बोलो, तुम कैसी परीक्षा चाहते हो?

विरुद्धक — श्यामा, मैं डाकू हूँ। यदि तुमको इसी समय मार डालूँ?

श्यामा — तुम्हारे डाकूपन का ही विश्वास करके आई हूँ। यदि साधारण मनुष्य समझती — जो ऊपर से बहुत सीधा-सादा बनता है — तो मैं कदापि यहाँ आने का साहस न करती। शैलेन्द्र! लो,

यह अपनी नुकीली कटार, इस तड़पते हुए कलेजे में भोंक दो!
(घुटने के बल बैठ जाती है)

विरुद्धक — किन्तु श्यामा! विश्वास करने वाले के साथ डाकू भी ऐसा नहीं करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है। तुमसे मिलने में इसलिए मैं डरता था कि तुम रमणी हो और वह भी वार-विलासिनी; मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियाँ डाकुओं से भी भयानक हैं।

श्यामा — तो क्या अभी तक तुम्हें मेरा विश्वास नहीं? क्या तुम मनुष्य नहीं हो, आन्तरिक प्रेम की शीतलता ने तुम्हें कभी स्पर्श नहीं किया? क्या मेरी प्रणय भिक्षा असफल होगी? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते-करते क्या प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है? क्या वार-विलासिनी प्रेम करना नहीं जानती? क्या कठोर और क्रूर कर्म करते-करते तुम्हारे हृदय में चेतनालोक की गुदगुदी और कोमल स्पन्दन नाम को भी अवशिष्ट नहीं है? क्या तुम्हारा हृदय केवल मांसपिंड है? उसमें रक्त का संचार नहीं? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं प्रियतम! (हाथ पकड़कर गाती है।)

बहुत छिपाया, उफन पड़ा अब,

सँभालने का समय नहीं है
अखिल विश्व में सतेज फैला
अनल हुआ यह प्रणय नहीं है
कहीं तड़पकर गिरे न बिजली
कहीं न वर्षा हो कालिमा की
तुम्हें न पाकर शशांक मेरे
बना शून्य यह, हृदय नहीं है
तड़प रही है कहीं कोकिला
कहीं पपीहा पुकारता है
यही विरुद क्या तुम्हें सुहाता
कि नील नीरद सदय नहीं है
जली दीपमालिका प्राण की
हृदय-कुटी स्वच्छ हो गई है
पलक-पाँवड़े बिछा चुकी हूँ
न दूसरा ठौर, भय नहीं है
चपल निकलकर कहाँ चले अब
इसे कुचल दो मृदुल चरण से
कि आह निकले दबे हृदय से
भला कहो, यह विजय नहीं है

(दोनों हाथ-में-हाथ मिलाए हुए जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(मल्लिका के उपवन में मल्लिका और शक्तिमती)

मल्लिका — वीर-हृदय युद्ध का नाम ही सुनकर नाच उठता है। शक्तिशाली भुज-दण्ड फड़कने लगते हैं। भला मेरे रोकने से वे रुक सकते थे! कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कण्टक भी मैं नहीं होना चाहती। वह मेरे अनुराग, सुहाग की वस्तु हैं। फिर भी उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है, जो हमारी शृंगार-मंजूषा में बन्द करके नहीं रखा जा सकता। महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही कर्त्तव्य नहीं है।

शक्तिमती — मल्लिका, तेरा कहना ठीक है, किन्तु फिर भी...

मल्लिका — किन्तु-परन्तु नहीं। वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में चक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकने में

असमर्थ है। रानी! एक दिन मैंने कहा कि 'मैं पावा के अमृतसर का जल पीकर स्वस्थ होना चाहती हूँ; पर वह सरोवर पाँच सौ प्रधान मल्लों से सदैव रक्षित रहता है। दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नहीं पीने पाता।' उसी दिन स्वामी ने कहा कि 'तभी तो तुम्हें वह जल अच्छी तरह पिला सकूँगा।'

शक्तिमती — फिर क्या हुआ?

मल्लिका — रथ पर अकेले मुझे लेकर वहीं चले। उस दिन मेरा परम सौभाग्य था, सारी मल्लजाति की स्त्रियाँ मुझ पर ईर्ष्या करती थीं। जब मैं अकेली रथ पर बैठी थी, मेरे वीर स्वामी ने उन पाँच सौ मल्लों से अकेले युद्ध आरम्भ किया और मुझे आज्ञा दी — 'तुम निर्भय होकर जाओ, सरोवर में स्नान करो या जल पी लो।'

शक्तिमती — उस युद्ध में क्या हुआ?

मल्लिका — वैसी बाण-विद्या पाण्डवों की कहानी में मैंने सुनी थी। देखा, उनके धनुष कटे थे और कमरबन्ध के बन्धन से ही वे चल सकते थे। जब वे समीप आकर खड्ग-युद्ध में आह्वान करने लगे, तब स्वामी ने कहा — 'पहले अपने शरीर की अवस्था को देखो, मैं अर्द्धमृतक घायलों पर अस्त्र नहीं चलाता।' फिर उन्होंने ललकारकर कहा — 'वीर मल्लगण, जाओ, अस्त्रवैद्य से अपनी चिकित्सा कराओ, बीच में जो अपनी कमरबन्ध खोलेगा,

उसकी मृत्यु निश्चित है!' मल्ल-महिलाओं की ईर्ष्या और उस सरोवर का जल स्वेच्छा से पान कर मैं कोसल लौट आई।

शक्तिमती — आश्चर्य, ऐसी बाण-विद्या तो अब नहीं देखने में आती! ऐसी वीरता तो विश्वास करने की बात ही है, फिर भी मल्लिका! राजशक्ति का प्रलोभन, उसका आदर-अच्छा नहीं है, विष का लड्डू है, गन्धर्वनगर का प्रकाश है। कब क्या परिणाम होगा- निश्चय नहीं है और इसी वीरता से महाराज को आतंक हो गया है। यद्यपि मैं इस समय निरादृत हूँ, फिर भी मुझसे उनकी बातें छिपी नहीं हैं। मल्लिका! मैं तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ, इसलिए कहती हूँ...

मल्लिका — क्या कहना चाहती हो, रानी?

शक्तिमती — शैलेन्द्र डाकू के नाम गुप्त आज्ञापत्र जा चुका है, कि यदि तुम बन्धुल का वध कर सकोगे, तो तुम्हारे पिछले सब अपराध क्षमा कर दिए जाएँगे, और तुम उनके स्थान पर सेनापति बनाए जाओगे।

मल्लिका — किन्तु शैलेन्द्र एक वीर पुरुष है। वह गुप्त हत्या क्यों करेगा? यदि वह प्रकट रूप से युद्ध करेगा, तो मुझे निश्चय है कि कोसल के सेनापति उसे अवश्य बन्दी बनाएँगे।

शक्तिमती — किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसा करेगा, क्योंकि प्रलोभन बुरी वस्तु है।

मल्लिका — रानी! बस करो! मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा-जब तक कि स्वयं राजा, राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाए।

शक्तिमती — क्या कहूँ! मल्लिका, मुझे दया आती है और तुमसे स्नेह भी है; क्योंकि तुम्हें पुत्रवधू बनाने की बड़ी इच्छा थी; किन्तु घमण्डी कोसल नरेश ने उसे अस्वीकार किया। मुझे इसका बड़ा दुःख है; इसीलिए तुम्हें सचेत करने आई थी।

मल्लिका — बस, रानी बस! मेरे लिए मेरी स्थिति अच्छी है और तुम्हारे लिए तुम्हारी। तुम्हारे दुर्विनीत राजकुमार से न ब्याही जाने में मैं अपना सौभाग्य ही समझती हूँ। दूसरे की क्यों, अपनी ही दशा देखो, कोसल की महिषी बनी थीं, अब...

शक्तिमती — (क्रोध से) मल्लिका, सावधान! मैं जाती हूँ। (प्रस्थान)

मल्लिका — गर्वीली स्त्री, तुझे राजपद की बड़ी अभिलाषा थी; किन्तु मुझे कुछ नहीं, केवल स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना

तथा कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है। भाग्य जो कुछ दिखाए।

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(काशी में श्यामा अपने गृह बैठी है)

श्यामा — (स्वगत) शैलेन्द्र! यह तुमने क्या किया — मेरी प्रणयलता पर कैसा वज्रपात किया! अभागे बन्धुल को ही क्या पड़ी थी कि उसने द्वन्द्वयुद्ध का आह्वान स्वीकार कर लिया! कोसल का प्रधान सेनापति छल से मारा गया है। और उसी के हाथ से घायल होकर तुम भी बन्दी हुए। प्रिय शैलेन्द्र! तुम्हें किस तरह बचाऊँ — (सोचती है)

समुद्रदत्त — (प्रवेश करते हुए) श्यामा! तुम्हारे रूप की प्रशंसा सुनकर यहाँ चले आने का साहस हुआ है। क्या मैंने कुछ अनुचित किया?

श्यामा — (देखती हुई) नहीं श्रीमान्, यह तो आपका घर है। श्यामा आतिथ्य धर्म को भूल नहीं सकती-यह कुटीर आपकी सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत है। सम्भवतः आप परदेसी हैं और इस नगर में नवागत व्यक्ति हैं। बैठिए-क्या आज्ञा है!

समुद्रदत्त — (बैठता हुआ) हाँ सुन्दरि, मैं नवागत व्यक्ति हूँ, किन्तु एक बार और आ चुका हूँ — तभी तुम्हारे रूप की ज्वाला ने मुझे पतंग बनाया था, अब उसमें जलने के लिए आया हूँ। भला इतनी भी कृपा न होगी?

श्यामा — मैं आपसे विनती करती हूँ कि पहले आप ठण्डे होइये और कुछ थकावट मिटाइए, फिर बातें होंगी। विजया! श्रीमान् को विश्रामगृह में लिवा जा।

(विजया आती है और समुद्रदत्त को लिवा जाती है। एक दासी का प्रवेश)

दासी — स्वामिनी! दण्डनायक ने कहा है कि श्यामा की आज्ञा ही मेरे लिए सब कुछ है। हजार मोहरों की आवश्यकता नहीं, केवल एक मनुष्य उसके स्थान में चाहिए, क्योंकि सेनापति की हत्या हो गई है, और यह बात भी छिपी नहीं है कि शैलेन्द्र पकड़ा गया

है। तब, उसका कोई प्रतिनिधि चाहिए जो सूली पर रातोंरात चढ़ा दिया जाए। अभी किसी ने उसे पहचाना नहीं है।

श्यामा — अच्छा, सुन चुकी। जा, शीघ्र संगीत का सम्भार ठीक कर; एक बड़े सम्भ्रान्त सज्जन आए हैं। शीघ्र जा, देर न कर...

(दासी जाती है)

(स्वगत) स्वर्ण-पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा — जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलता है? मुक्त नील गगन में अपने छोटे-छोटे पंख फैला कर जब वह उड़ती है; तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है, उसके सामने तो सोने के पिंजरे में उसका गान क्रन्दन ही है। मैं उसी श्यामा की तरह, जो स्वतन्त्र है, राजमहल की परतन्त्रता से बाहर आई हूँ। हँसूँगी और हँसाऊँगी, रोऊँगी और रुलाऊँगी! फूल की तरह आई हूँ, परिमल की तरह चली जाऊँगी। स्वप्न की चन्द्रिका में मलयानिल की सेज पर खेलूँगी। फूलों की धूल से अंगराग बनाऊँगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़ें। चाहे कितनों ही के प्राण जाएँ, मुझे कुछ चिन्ता नहीं! कुम्हला कर, फूलों को कुचल देने में ही सुख है।

(समुद्रदत्त का प्रवेश)

श्यामा — (खड़ी होकर) कोई कष्ट तो नहीं हुआ? दासियाँ दुर्विनीत होती हैं, क्षमा कीजिएगा।

समुद्रदत्त — सुन्दरियों की तुम महारानी हो और तुम वास्तव में उसी तरह रहती भी हो; तब जैसा गृहस्थ होगा, वैसे आतिथ्य की भी सम्भावना है-बड़ा सुख मिला, हृदय शीतल हो गया।

श्यामा — आप तो मेरी प्रशंसा करके मुझे बार-बार लज्जित करते हैं।

समुद्रदत्त — सुन्दरी! मैं कह तो नहीं सकता; किन्तु मैं बिना मूल्य का दास हूँ। अनुग्रह करके कोमल कण्ठ से कुछ सुनाओ।

श्यामा — जैसी आज्ञा।

(बजाने वाले आते हैं। गान और नृत्य)

चला है मन्थर गति में पवन रसीला नन्दन कानन का
नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का
चला है मन्थर गति में पवन रसीला नन्दन कानन का

फूलों पर आनन्द भैरवी गाते मधुकर वृन्द,

बिखर रही है किस यौवन की किरण, खिला अरविन्द,
ध्यान है किसके आनन का
नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का ॥
चला है मन्थर गति में पवन रसीला नन्दन कानन का

उषा सुनहला मद्य पिलाती, प्रकृति बरसाती फूल,
मतवाले होकर देखो तो विधि-निषेध को भूल,
आज कर लो अपने मन का।
नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का ॥
चला है मन्थर गति में पवन रसीला नन्दन कानन का।

समुद्रदत्त — अहा! श्यामा का-सा कण्ठ भी है। सुन्दरी, तुम्हारी जैसी प्रशंसा सुनी थी, वैसी ही तुम हो! एक बार इस तीव्र मादक को और पिला दो। पागल हो जाने के लिए इन्द्रियाँ प्रस्तुत हैं।

(श्यामा इंगित करती है, सब जाते हैं)

श्यामा — क्षमा कीजिए, मैं इस समय बड़ी चिन्तित हूँ, इस कारण आपको प्रसन्न न कर सकी। अभी दासी ने आकर एक बात ऐसी

कही है कि मेरा चित्त चंचल हो उठा। केवल शिष्टाचारवश इस समय मैंने आपको गाना सुनाया...

समुद्रदत्त — वह कैसी बात है, क्या मैं भी सुन सकता हूँ?

श्यामा — (संकोच से) आप अभी तो विदेश से आ रहे हैं, मुझसे कोई घनिष्ठता भी नहीं, तब कैसे अपना हाल कहूँ।

समुद्रदत्त — सुन्दरी! यह तुम्हारा संकोच व्यर्थ है।

श्यामा — मेरा एक सम्बन्धी किसी अपराध में बन्दी हुआ है, दण्डनायक ने कहा है कि यदि रात-रात में मेरे पास हजार मोहरें पहुँच जाएँ, तो मैं इसे छोड़ दूँगा, नहीं तो नहीं। (रोती है)

समुद्रदत्त — तो इसमें कौन-सी चिन्ता की बात है। मैं देता हूँ; इन्हें भेज दो। (स्वगत) मैं भी तो षड्यन्त्र करने आया हूँ — इसी तरह दो-चार अंतरंग मित्र बना लूँगा, जो समय पर काम आएँ। दण्डनायक से भी समझ लूँगा — कोई चिन्ता नहीं।

श्यामा — (मोहरों की थैली देकर) तो दासी पर दया करके इसे दे आइए, क्योंकि मैं किस पर विश्वास करके इतना धन भेज दूँ! और यदि आपको पहचाने जाने की शंका हो तो मैं आपका अभी वेश बदल सकती हूँ।

समुद्रदत्त — अजी, मोहरें तो मेरे पास हैं, इनकी क्या आवश्यकता है?

श्यामा — आपकी कृपा है। वह भी, मेरी ही हैं, किन्तु इन्हें ही ले जाइए; नहीं तो आप इसे भी वार-वनिताओं की एक चाल समझिएगा।

समुद्रदत्त — भला यह कैसी बात — सुन्दरी श्यामा, तुम मेरी हँसी उड़ाती हो! तुम्हारे लिए यह प्राण प्रस्तुत है। बात इतनी ही है कि वह मुझे पहचानता है।

श्यामा — नहीं, यह तो मेरी पहली बात आपको माननी ही होगी। इतना बोझ मुझ पर न दीजिए कि मैत्री में चतुरता की गन्ध आने लगे और हम लोगों को एक-दूसरे पर शंका करने का अवकाश मिले। मैं आपका वेश बदल देती हूँ।

समुद्रदत्त — अच्छा प्रिये! ऐसा ही होगा। मेरा वेश-परिवर्तन करा दो।

(श्यामा वेश बदलती है और समुद्रदत्त मोहरों की थैली लेकर अकड़ता हुआ जाता है)

श्यामा — जाओ बलि के बकरे, जाओ! फिर न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा प्यारा शैलेन्द्र!

तुम्हारी मोहनी छवि पर निछावर प्राण हैं मेरे।

अखिल भूलोक बलिहारी मधुर मृदु हास पर तेरे॥

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(सेनापति बन्धुल का गृह। मल्लिका और दासी)

मल्लिका — संसार में स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ है, किन्तु हाय! आज मैं उसी सुहाग से वंचित हो गई हूँ। हृदय थरथरा रहा है, कण्ठ भरा आता है — एक निर्दय चेतना सब इन्द्रियों को अचेतन और शिथिल बनाए दे रही है। आह! (ठहरकर और निःश्वास लेकर) हे प्रभु! मुझे बल दो — विपत्तियों को सहन करने के लिए — बल दो! मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण जाने पर कोई भय नहीं रहता, विपत्ति और दुःख उस आनन्द के दास बन जाते हैं, फिर सांसारिक आतंक उसे नहीं डरा सकते हैं। मैं जानती हूँ कि मानव-हृदय अपनी दुर्बलताओं में ही सबल होने का

स्वाँग बनाता है। किन्तु मुझे उस बनावट से, उस दम्भ से, बचा लो! शान्ति के लिए साहस दो — बल दो!!

दासी — स्वामिनी! धैर्य धारण कीजिए।

मल्लिका — सरला! धैर्य न होता, तो अब तक यह हृदय फट जाता — यह शरीर निस्पन्द हो जाता। यह वैधव्य-दुःख नारी-जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, यह किसी भी स्त्री को अनुभव न करना पड़े।

दासी — स्वामिनी, इस दुःख में भगवान् ही सान्त्वना दे सकेंगे — उन्हीं का अवलम्ब है।

मल्लिका — एक बात स्मरण हो आई, सरला!

दासी — क्या स्वामिनी?

मल्लिका — सद्धर्म के सेनापति सारिपुत्र मौद्गल्यायन को कल मैं निमन्त्रण दे आई हूँ, आज वे आवेंगे। देख, यदि न हुआ हो तो भिक्षा का प्रबन्ध शीघ्र कर, जा — शीघ्र जा। (दासी जाती है।) तथागत! तुम धन्य हो, तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। तुमने संसार को दुःखमय बतलाया और उससे छूटने का उपाय भी सिखाया, कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की; अपवित्रों को अपनाया, दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य

करुणा की वर्षा से विश्व को आप्लावित किया — अमिताभ, तुम्हारी जय हो!

(सरला आती है)

सरला — स्वामिनी! भिक्षा का आयोजन सब ठीक है, कोई चिन्ता नहीं, किन्तु...

मल्लिका — किन्तु नहीं, सरला! मैं भी व्यवहार जानती हूँ, आतिथ्य परम धर्म है। मैं भी नारी हूँ, नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ। शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं, जी रो उठता है; तब भी कर्त्तव्य करना ही होगा।

(सारिपुत्र और आनन्द का प्रवेश)

मल्लिका — जय हो! अमिताभ की जय हो-दासी वन्दना करती है। स्वागत!

सारिपुत्र — शान्ति मिले — सन्तोष में तृप्ति हो। देवि! हम लोग आ गए — भिक्षा प्रस्तुत है।

मल्लिका — देव! यथाशक्ति प्रस्तुत है। पावन कीजिए। चलिए।

(दासी जल लाती है, मल्लिका पैर धुलाती है। दोनों बैठते हैं और भोजन करते हैं। लाते समय स्वर्णपात्र दासी से गिरकर टूट जाता है। मल्लिका उसे दूसरा लाने को कहती है)

आनन्द — देवि! दासी का अपराध क्षमा करना — जितनी वस्तुएँ बनती हैं, वे सब बिगड़ने ही के लिए। यही उसका परिणाम था; उसमें बेचारी दासी को कलंक मात्र था।

मल्लिका — यथार्थ है!

सारिपुत्र — आनन्द, क्या तुमने समझा कि मल्लिका दासी पर रुष्ट होगी! क्या तुमने अभी नहीं पहचाना! स्वर्ण-पात्र टूटने से इन्हें क्या क्षोभ होगा — स्वामी के मारे जाने का समाचार अभी हम लोगों के आने के थोड़ी ही देर पहले आया है, किन्तु वह भी इन्हें अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं कर सका! फिर यह तो एक धातुपात्र था! (मल्लिका से) – तुम्हारा धैर्य सराहनीय है! आनन्द! तो, इस मूर्तिमती धर्म-परायणता से कर्त्तव्य की शिक्षा लो।

आनन्द — महिमामयी! अपराध क्षमा हो। आज मुझे विश्वास हुआ कि केवल काषाय धारण कर लेने से ही धर्म पर एकाधिकार नहीं हो जाता, यह तो चित्त-शुद्धि से मिलता है।

मल्लिका — पतितपावन की अमोघ वाणी ने दृश्यों की नश्वरता की घोषणा की है। अब मुझे वह मोह की दुर्बलता-सी दिखाई पड़ती है। उस धर्मशासन से कभी विद्रोह न करूँगी, वह मानव का पवित्र अधिकार है, शान्तिदायक धैर्य का साधन है, जीवन का विश्राम है। (पैर पकड़ती है) महापुरुष! आशीर्वाद दीजिए कि मैं इससे विचलित न होऊँ।

सारिपुत्र — उठो, देवि! उठो! तुम्हें मैं क्या उपदेश करूँ? तुम्हारा चरित्र धैर्य का, कर्त्तव्य का, स्वयं आदर्श है। तुम्हारे हृदय में अखण्ड शान्ति है। हाँ, तुम जानती हो कि तुम्हारा शत्रु कौन है- तब भी विश्वमैत्री के अनुरोध से, उससे केवल उदासीन ही न रहो, प्रत्युत द्वेष भी न रखो।

(महाराज प्रसेनजित् का प्रवेश)

प्रसेनजित् — महास्थविर! मैं अभिवादन करता हूँ। मल्लिका देवी, मैं क्षमा माँगने आया हूँ।

मल्लिका — स्वागत, महाराज! क्षमा किस बात की

प्रसेनजित् — नहीं — मैंने अपराध किया है। सेनापति बन्धुल के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था — इसलिए उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है।

मल्लिका — यह अब छिपा नहीं है, महाराज! प्रजा के साथ आप इतना छल, इतनी प्रवंचना और कपट-व्यवहार रखते हैं! धन्य हैं।

प्रसेनजित् — मुझे धिक्कार दो — मुझे शाप दो-मल्लिका! तुम्हारे मुखमण्डल पर ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न भी नहीं है। जो तुम्हारी इच्छा हो वह कहो, मैं उसे पूर्ण करूँगा।

मल्लिका — (हाथ जोड़कर) कुछ नहीं, महाराज! आज्ञा दीजिए कि आपके राज्य से निर्विघ्न चली जाऊँ; किसी शान्तिपूर्ण स्थान में रहूँ! ईर्ष्या से आपका हृदय प्रलय के मध्याह्न का सूर्य हो रहा है, उसकी भीषणता से बचकर किसी छाया में विश्राम करूँ। और कुछ भी मैं नहीं चाहती।

सारिपुत्र — मूर्तिमती करुणे! तुम्हारी विजय है। (हाथ जोड़ता है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(महाराज बिम्बिसार का गृह। बिम्बिसार और वासवी)

बिम्बिसार — रात में ताराओं का प्रभाव विशेष रहने से चन्द्र नहीं दिखाई देता और चन्द्रमा का तेज बढ़ने से तारे सब फीके पड़ जाते हैं, क्या इसी को शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष कहते हैं? देवि! कभी तुमने इस पर विचार किया है

वासवी — आर्यपुत्र! मुझे तो विश्वास है कि नीला पर्दा इसका रहस्य छिपाए है, जितना चाहता है, उतना ही प्रकट करता है। कभी निशाकर को छाती पर लेकर खेला करता है, कभी ताराओं को बिखेरता और कृष्णा कुहू के साथ क्रीड़ा करता है।

बिम्बिसार — और कोमल पत्तियों को, जो अपनी डाली में निरीह लटका करती हैं, प्रभंजन क्यों झिंझोड़ता है

वासवी — उसकी गति है, वह किसी से कहता नहीं है कि तुम मेरे मार्ग में अड़ो; जो साहस करता है, उसे हिलना पड़ता है। नाथ! समय भी इसी तरह चला जा रहा है, उसके लिए पहाड़ और पत्ती बराबर हैं।

बिम्बिसार — फिर उसकी गति तो सम नहीं है, ऐसा क्यों?

वासवी — यही समझाने के लिए बड़े-बड़े दार्शनिकों ने कई तरह की व्याख्याएँ की हैं, फिर भी प्रत्येक नियम में अपवाद लगा दिए हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपवाद नियम पर है, या नियामक पर। सम्भवतः उसे ही लोग बवण्डर कहते हैं।

बिम्बिसार — तब तो, देवि! प्रत्येक असम्भावित घटना के मूल में यही बवण्डर है। सच तो यह है कि विश्व-भर में स्थान-स्थान पर वात्याचक्र हैं; जल में उसे भँवर कहते हैं, स्थल पर उसे बवण्डर कहते हैं, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृंखलता और धर्म में उसे पाप कहते हैं। चाहे इन्हें नियमों का अपवाद कहो, चाहे बवण्डर-यही न?

(छलना का प्रवेश)

बिम्बिसार — यह लो, हम लोग तो बवण्डर की बातें करते थे, तुम यहाँ कैसे पहुँच गईं राजमाता महादेवी को इस दरिद्र कुटीर में क्या आवश्यकता हुई?

छलना — मैं बवण्डर हूँ — इसीलिए जहाँ मैं चाहती हूँ, असम्भावित रूप से चली जाती हूँ और देखना चाहती हूँ कि इस प्रवाह में कितनी सामर्थ्य है — इसमें आवर्त्त उत्पन्न कर सकती हूँ कि नहीं!

वासवी — छलना! बहन! तुमको क्या हो गया है

छलना — प्रमाद — और क्या! अभी सन्तोष नहीं हुआ इतना उपद्रव करा चुकी हो, और भी कुछ शेष है

वासवी — क्यों, अजात तो अच्छी तरह है कुशल तो है?

छलना — क्या चाहती हो समुद्रदत्त काशी में मारा ही गया। कोसल और मगध में युद्ध का उपद्रव हो रहा है। अजात भी उसमें गया है। साम्राज्य-भर में आतंक है।

बिम्बिसार — युद्ध में क्या हुआ? (मुँह फिराकर) अथवा मुझे क्या?

छलना — शैलेन्द्र नाम के डाकू ने द्वन्द्वयुद्ध में आह्वान करके फिर धोखा देकर कोसल के सेनापति को मार डाला। सेनापति के मर जाने से सेना घबराई थी, उसी समय अजात ने आक्रमण कर दिया और विजयी हुआ-काशी पर अधिकार हो गया।

वासवी — तब इतना घबराती क्यों हो? अजात को रण-दुर्म्मद साहसी बनाने के लिए ही तो तुम्हें इतनी उत्कण्ठा थी। राजकुमार को तो ऐसी उद्धत शिक्षा तुम्हीं ने दी थी। फिर उलाहना क्यों?

छलना — उलाहना क्यों न दूँ — जबकि तुमने जान-बूझकर यह विप्लव खड़ा किया है। क्या तुम इसे नहीं दबा सकती थीं; क्योंकि वह तो तुम्हारे पिता से तुम्हें मिला हुआ प्रान्त था।

वासवी — जिसने दिया था, यदि वह ले ले, तो मुझे क्या अधिकार है कि मैं उसे न लौटा दूँ? तुम्हीं बतलाओ कि मेरा अधिकार छीन

कर जब आर्यपुत्र ने तुम्हें दे दिया, तब भी मैंने कोई विरोध किया था

छलना — यह ताना सुनने मैं नहीं आई हूँ। वासवी, तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आई हूँ।

बिम्बिसार — तो राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी यह तो एक सामान्य अनुचर कर सकता था।

छलना — किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और सन्देश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।

बिम्बिसार — (खड़े होकर) छलना! मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे परित्याग नहीं किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी! चली जा। तुझे लज्जा नहीं-बर्बर लिच्छिवि-रक्त!

वासवी — बहन! जाओ, सिंहासन पर बैठ कर राजकार्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि!

(छलना जाती है)

वासवी — (प्रार्थना करती है -)

दाता सुमति दीजिए!
मान-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर
बोधक-विवेक-बीज अंकुरित कीजिए
दाता सुमति दीजिए॥

(जीवक का प्रवेश)

जीवक — जय हो, देव!

बिम्बिसार — जीवक, स्वागत! तुम बड़े समय पर आए! इस समय हृदय बड़ा उद्विग्न था। कोई नया समाचार सुनाओ।

जीवक — कौशाम्बी के समाचार तो लिखकर भेज चुका हूँ। नया समाचार यह है कि मागन्धी का सब षड्यन्त्र खुल गया और राजकुमारी पद्मावती का गौरव पूर्ववत् हो गया। वह दुष्टा मागन्धी महल में आग लगाकर जल मरी!

बिम्बिसार — बेटी पद्मा! प्राण बचे। इतने दिनों तक बड़ी दुःखी रही, क्यों जीवक?

वासवी — और कोसल का क्या समाचार है? विरुद्धक को भाई ने क्षमा किया या नहीं? वह आजकल कहाँ है?

जीवक — वही तो काशी का शैलेन्द्र है। उसने मगध-नरेश — नहीं-नहीं — कुमार कुणीक से मिलकर कोसल सेनापति बन्धुल को मार डाला और स्वयं इधर-उधर विद्रोह करता फिर रहा है।

वासवी — यह क्या है! भगवन्! बच्चों को यह क्या सूझी है? क्या यही राजकुल की शिक्षा है?

जीवक — और महाराज प्रसेनजित्, घायल होकर रणक्षेत्र से लौट गए। इधर कोई और नई बात हुई हो, तो मैं नहीं जानता।

बिम्बिसार — जीवक, अब तुम विश्राम करो। अब और कोई समाचार सुनने की इच्छा नहीं है। संसार-भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षडयन्त्र और प्रताड़ना है। यही सब तुम सुनाओगे, ऐसा मुझे निश्चय हो गया। जाने दो। एक शीतल निःश्वास लेकर तुम विश्व के वात्याचक्र से अलग हो जाओ और इस पर प्रलय के सूर्य की किरणों से तप कर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा होने दो। अविश्वास की आँधियों को सरपट दौड़ने दो। पृथ्वी के प्राणियों में अन्याय बढ़े, जिससे दृढ़ होकर लोग अनीश्वरवादी हो जाएँ, और प्रतिदिन नई समस्या हल करते-करते कुटिल कृतघ्न-जीव मूर्खता की धूल उड़ावें-और विश्व-भर में इस पर एक उन्मत्त अट्टहास हो। (उन्मत्त भाव से जाता है)

(दृश्यान्तर

सप्तम दृश्य

(कोसल की सीमा पर मल्लिका की कुटी में मल्लिका और दीर्घकारायण)

दीर्घकारायण — नहीं, मैं कभी इसका अनुमोदन नहीं कर सकता। आप चाहे इसे धर्म समझें; किन्तु साँप को जीवनदान करना कभी भी लोकहितकर नहीं है।

मल्लिका — कारायण, तुम्हारा रक्त अभी बहुत खौल रहा है। तुम्हारी प्रतिहिंसा की बर्बरता वेगवती है, किन्तु सोचो, विचारो, जिसके हृदय में विश्वमैत्री के द्वारा करुणा का उद्रेक हुआ है, उसे अपकार का स्मरण क्या कभी अपने कर्त्तव्य से विचलित कर सकता है?

दीर्घकारायण — आप देवी हैं। सौरमण्डल से भिन्न जो केवल कल्पना के आधार पर स्थित है, उस जगत् की बातें आप सोच सकती हैं। किन्तु हम इस संघर्षपूर्ण जगत् के जीव हैं, जिसमें कि

शून्य भी प्रतिध्वनि देता है, जहाँ किसी को वेग से कंकड़ी मारने पर वही कंकड़ी — मारने वाले की ओर — लौटने की चेष्टा करती है। इसलिए मैं तो यही कहूँगा कि इस मरणासन्न घमण्डी और दुर्वृत्त कोसल-नरेश की रक्षा आपको नहीं करनी चाहिए।

मल्लिका — अपना कर्त्तव्य मैं अच्छी तरह जानती हूँ। करुणा की विजय-पताका के नीचे हमने प्रयाण करने का दृढ़ विचार करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है। अब एक पग भी पीछे हटने का अवकाश नहीं। विश्वासी सैनिक के समान नश्वर जीवन का बलिदान करूँगी — कारायण!

दीर्घकारायण — तब मैं जाता हूँ-जैसी इच्छा।

मल्लिका — ठहरो, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ। क्या तुम इस युद्ध में नहीं गए थे? क्या तुमने अपने हाथों से जान-बूझकर कोसल को पराजित होने नहीं दिया? क्या सच्चे सैनिक के समान ही तुम इस रणक्षेत्र में खड़े थे और तब भी कोसल-नरेश की यह दुर्दशा हुई? जब तुम इस लघु-सत्य को पालने में असमर्थ हुए, तब तुमसे और महान् स्वार्थ-त्याग की क्या आशा की जाय! मुझे विश्वास है कि यदि कोसल की सेना अपने सत्य पर रहती, तो यह दुःखद घटना न होने पाती।

दीर्घकारायण — इसमें मेरा क्या अपराध है जैसी सबकी वैसी ही मेरी इच्छा थी। (कुटी से घायल प्रसेनजित् निकलता है।)

प्रसेनजित् — देवि, तुम्हारे उपकारों का बोझ मुझे असह्य हो रहा है। तुम्हारी शीतलता ने इस जलते हुए लोहे पर विजय प्राप्त कर ली है। बार-बार क्षमा माँगने पर हृदय को सन्तोष नहीं होता। अब मैं श्रावस्ती जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

मल्लिका — सम्राट्! क्या आपको मैंने बन्दी कर रखा है? यह कैसा प्रश्न! बड़ी प्रसन्नता से आप जा सकते हैं!

प्रसेनजित् — नहीं, देवि! इस दुराचारी के पैरों में तुम्हारे उपकारों की बेड़ी और हाथों में क्षमा की हथकड़ी पड़ी है। जब तक तुम कोई आज्ञा देकर इसे मुक्त नहीं करोगी, यह जाने में असमर्थ है।

मल्लिका — कारायण! यह तुम्हारे सम्राट् हैं — जाओ; इन्हें राजधानी तक सकुशल पहुँचा दो, मुझे तुम्हारे बाहुबल पर भरोसा है, और चरित्र पर भी।

प्रसेनजित् — कौन कारायण, सेनापति बन्धुल का भागिनेय?

दीर्घकारायण — हाँ, श्रीमान्! वही कारायण अभिवादन करता है।

प्रसेनजित् — कारायण! माता ने आज्ञा दी है, तुम मुझे कल पहुँचा दोगे देखो जननी की यह मूर्ति!-विपद में बच्चे की तरह उसने मेरी सेवा की है। क्या तुम इसमें भक्ति करते हो यदि तुमने इन दिव्य चरणों की भक्ति पाई है, तो तुम्हारा जीवन धन्य है।

(मल्लिका का पैर पकड़ता है)

मल्लिका — उठिए सम्राट्! उठिए! मर्यादा भंग करने का आपको भी अधिकार नहीं है।

प्रसेनजित् — यदि आज्ञा हो तो मैं दीर्घकारायण को अपना सेनापति बनाऊँ और इसी वीर में स्वर्गीय सेनापति बन्धुल की प्रतिकृति देख कर अपने कुकर्म का प्रायश्चित करूँ। देवि! मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है! और आपने क्षमा करके मुझे कठोर दण्ड दिया है। हृदय में इसकी बड़ी ज्वाला है, देवि! एक अभिशाप तो दे दो, जिसमें नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।

मल्लिका — अतीत के वज्र-कठोर हृदय पर जो कुटिल-रेखा-चित्र खिंच गए हैं; वे क्या कभी मिटेंगे? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिए, जो भविष्य में उज्ज्वल होकर दर्शकों के हृदय को शान्ति दें। दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिए।

प्रसेनजित् — आपका आशीर्वाद सफल हो! चलो कारायण!

(दोनों नमस्कार करके जाते हैं)

मल्लिका — (प्रार्थना करती है)

अधीर हो न चित्त विश्व-मोह-जाल में।
यह वेदना-विलोल-वीचि-मय समुद्र है॥
है दुःख का भँवर चला कराल चाल में।
वह भी क्षणिक, इसे कहीं टिकाव है नहीं॥
सब लौट जाएँगे उसी अनन्त काल में।
अधीर हो न चित्त विश्व-मोह-जाल में॥

अजातशत्रु — (प्रवेश करके) कहाँ गया! मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना, कहाँ गया रमणी! शीघ्र बता — वह घमण्डी कोसल-सम्राट् कहाँ गया?

मल्लिका — शान्त हो, राजकुमार कुणीक! शान्त हो, तुम किसे खोजते हो बैठो! अहा, यह सुन्दर मुख, इसमें भयानकता क्यों ले आते हो? सहज वदन को क्यों विकृत करते हो? शीतल हो; विश्राम लो। देखो यह अशोक की शीतल छाया तुम्हारे हृदय को कोमल बना देगी, बैठ जाओ।

अजातशत्रु — (मुग्ध-सा बैठ जाता है) क्या यहाँ प्रसेनजित् नहीं रहा, अभी मुझे गुप्तचर ने समाचार दिया है।

मल्लिका — हाँ, इसी आश्रम में उनकी शुश्रूषा हुई और वे स्वस्थ होकर अभी-अभी गए हैं। पर तुम उन्हें लेकर क्या करोगे? तुम

उष्ण रक्त चाहते हो, या इस दौड़-धूप के बाद शीतल हिम-जल युद्ध में जब यशार्जन कर चुके, तब हत्या करके क्या अब हत्यारे बनोगे? वीरों को विजय की लिप्सा होना चाहिए, न कि हत्या की।

अजातशत्रु — देवि! आप कौन हैं हृदय नम्र होकर आप-ही-आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी नहीं सुनी।

मल्लिका — मैं स्वर्गीय कोसल-सेनापति की विधवा हूँ, जिसके जीवन में तुम्हारी बड़ी हानि थी और षडयन्त्र के द्वारा मरवाकर तुमने काशी का राज्य हस्तगत किया है।

अजातशत्रु — यह षडयन्त्र स्वयं कोसल-नरेश का था, क्या आप नहीं जानतीं?

मल्लिका — जानती हूँ, और यह भी जानती हूँ कि सब मृत्पिंड इसी मिट्टी में मिलेंगे।

अजातशत्रु — तब भी आपने उस अधम जीवन की रक्षा की ऐसी क्षमा आश्चर्य! यह देव-कर्त्तव्य...।

मल्लिका — नहीं राजकुमार, यह देवता का नहीं — मनुष्य का कर्त्तव्य है। उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं।

अजातशत्रु — क्षमा हो, देवि! मैं जाता हूँ — अब कोसल पर आक्रमण नहीं करूँगा। इच्छा थी कि इसी समय इस दुर्बल राष्ट्र को हस्तगत करूँ, किन्तु नहीं; अब लौट जाता हूँ।

मल्लिका — जाओ, गुरुजनों को सन्तुष्ट करो।

(अजात जाता है)

(दृश्यान्तर

अष्टम दृश्य

(श्रावस्ती का एक उपवन। श्यामा और शैलेन्द्र मद्यपान करते हुए)

शैलेन्द्र — प्रिये, यहाँ आकर मन बहल गया।

श्यामा — क्या वहाँ मन नहीं लगता था? क्या रूप-रस से तृप्ति हो गई?

शैलेन्द्र — नहीं श्यामा! तुम्हारे सौन्दर्य ने तो मुझे भुला दिया है कि मैं डाकू था। मैं स्वयं भूल गया हूँ कि मैं कौन था, मेरा

उद्देश्य क्या था, और तुम एक विचित्र पहेली हो। हिंस्र पशु को पालतू बना लिया, आलसपूर्ण सौन्दर्य की तृष्णा मुझे किस लोक में ले जा रही है तुम क्या हो, सुन्दरि? (पान करता है)

श्यामा — (गाती है)

निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाए बैठे थे तुम किए प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारों से ठगे हुए की ठुकराए की लाखों से,
किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखों से —
पलकें झुकी यवनिका-सी थीं अन्तस्तल के अभिनय में।
इधर वेदना श्रम-सीकर आँसू की बूँदें परिचय में।
फिर भी परिचय पूछ रहे हो, विपुल विश्व में किसको दूँ
चिनगारी श्वासों में उठती, रो लूँ, ठहरो दम ले लूँ
निर्जन कर दो क्षण भर कोने में, उस शीतल कोने में,
यह विश्राम सँभल जाएगा सहज व्यथा के सोने में।
बीती बेला, नील गगन तम, छिन्न विपंची, भूला प्यार,
क्षमा-सदृश छिपना है फिर तो परिचय देंगे आँसू-हार।

(शैलेन्द्र उसे पान कराता है)

शैलेन्द्र — ओह, मैं बेसुध हो चला हूँ-संगीत के साथ सौन्दर्य और सुरा ने मुझे अभिभूत कर लिया है। तब यही सही।

(दोनों पान करते हैं। श्यामा सो जाती है)

शैलेन्द्र — (स्वगत) काशी के उस संकीर्ण भवन में छिपकर रहते-रहते चित्त घबरा गया था। समुद्रदत्त के मारे जाने का मैं ही कारण था, इसीलिए प्रकाश्य रूप से अजातशत्रु से मिल कर कोई कार्य भी नहीं कर सकता था। इस पामरी की गोद में मुँह छिपा कर कितने दिन बिताऊँ? हमारे भावी कार्यों में अब यह विघ्नस्वरूप हो रही है। यह प्रेम दिखा कर मेरी स्वतन्त्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त्त में अब नहीं गिरा रहूँगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कण्टकों को कठोरता से-निर्दयता से — हटाना ही पड़ेगा। तब, आज से अच्छा समय कहाँ —

(श्यामा सोई हुई भयानक स्वप्न देख रही है। चौंककर उठती है)

श्यामा — शैलेन्द्र...

शैलेन्द्र — क्यों, प्रिये!

श्यामा — प्यास लगी है।

शैलेन्द्र — क्या पियोगी?

श्यामा — जल।

शैलेन्द्र — प्रिये! जल तो नहीं है। यह शीतल पेय है, पी लो।

श्यामा — विष! ओह सिर घूम रहा है। मैं बहुत पी चुकी हूँ। अब...जल...भयानक स्वप्न। क्या तुम मुझे जलते हुए हलाहल की मात्रा पिला दोगे?

(अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से देखती हुई।)

> अमृत हो जाएगा, विष भी पिला दो हाथ से अपने।
> पलक ये छक चुके हैं चेतना उनमें लगी कँपने॥
> विकल हैं इन्द्रियाँ, हाँ देखते इस रूप के सपने।
> जगत विस्मृत हृदय पुलकित लगा वह नाम है जपने॥

शैलेन्द्र — छिः! यह क्या कह रही हो कोई स्वप्न देख रही हो क्या लो, थोड़ी पी लो। (पिला देता है)

श्यामा — मैंने अपने जीवन-भर में तुम्हीं को प्यार किया है। तुम मुझे धोखा तो नहीं दोगे? ओह! कैसा भयानक स्थान है! उसी स्वप्न की तरह...

शैलेन्द्र — क्या बक रही हो! सो जाओ, वन-विहार से थकी हो।

श्यामा — (आँख बन्द किए हुए) क्यों यहाँ ले आए! क्या घर में सुख नहीं मिलता था?

शैलेन्द्र — कानन की हरी-भरी शोभा देखकर जी बहलाना चाहिए, क्यों तुम इस प्रकार बिछली जा रही हो?

श्यामा — नहीं-नहीं, मैं आँख न खोलूँगी, डर लगता है, तुम्हीं पर मेरा विश्वास है, यहीं रहो। (निद्रित होती है)

शैलेन्द्र — (स्वगत) सो गई! आह! हृदय में एक वेदना उठती है- ऐसी सुकुमार वस्तु! नहीं-नहीं! किन्तु विश्वास के बल पर ही इसने समुद्रदत्त के प्राण लिए! यह नागिन है, पलटते देर नहीं। मुझे अभी प्रतिशोध लेना है — दावाग्नि-सा बढ़ कर फैलना है, उसमें चाहे सुकुमार तृण-कुसुम हो अथवा विशाल शालवृक्ष; दावाग्नि या अन्धड़ छोटे-छोटे फूलों को बचा कर नहीं चलेगा। तो बस...

श्यामा — (जागकर) शैलेन्द्र! विश्वास! देखो कहीं...ओह भयानक... (आँख बन्द कर लेती है।)

शैलेन्द्र — तब देर क्या! कहीं कोई आ जाएगा। फिर...(श्यामा का गला घोटता है, वह क्रन्दन करके शिथिल हो जाती है।) बस चलें, पर नहीं, धन की भी आवश्यकता है... (आभूषण उतार ले जाता है)

(गौतम बुद्ध और आनन्द का प्रवेश)

आनन्द — भगवन्, देवदत्त ने तो अब बड़े उपद्रव मचाये। तथागत को कलंकित और अपमानित करने के लिए उसने कौन-से उपाय नहीं किए? उसे इसका फल मिलना चाहिए।

गौतम — यह मेरा काम नहीं — वेदना और संज्ञाओं का दुःख अनुभव करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है! हमें अपना कर्त्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है।

आनन्द — देखिए, अभी चिन्ता को लेकर उसने कितना बड़ा अपवाद लगाना चाहा था — केवल आपकी मर्यादा गिरा देने की इच्छा से।

गौतम — किन्तु सत्य-सूर्य को कहीं कोई छलनी से ढक लेगा? इस क्षणिक प्रवाह में सब विलीन हो जाएंगे मुझे अकार्य करने से क्या लाभ! चिन्ता को ही देखो, अब वह बात खुल गई कि उसे गर्भ नहीं है, वह केवल मुझे अपवाद लगाना चाहती थी। तभी उसकी कैसी दुर्गति हुई। शुद्धबुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करते रहना चाहिए। दूसरों की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की

पराकाष्ठा है। आनन्द, दूसरों का उपकार सोचने से अपना हृदय भी कलुषित होता है।

आनन्द — यथार्थ है प्रभु! (श्यामा के शव को देखकर) अरे, यह क्या! चलिए, गुरुदेव! यहाँ से शीघ्र हट चलिए। देखिए, अभी यहाँ कोई काण्ड घटित हुआ है।

गौतम — अरे, यह तो कोई स्त्री है, उठाओ आनन्द! इसे सहायता की आवश्यकता है।

आनन्द — तथागत आपके प्रतिद्वन्द्वी इससे बड़ा लाभ उठाएँगे। यह मृतक स्त्री विहार में ले जाकर क्या आप कलंकित होना चाहते हैं!

गौतम — क्या करुणा का आदेश कलंक के डर से भूल जाओगे? यदि हम लोगों की सेवा से वह कष्ट से मुक्त हो गई तब और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि यह मरी नहीं है। आनन्द, विलम्ब न करो। यदि यह यों ही पड़ी रही, तब भी तो विहार पीछे ही है। उस अपवाद से हम लोग कहाँ बचेंगे?

आनन्द — प्रभु, जैसी आज्ञा।

(उसे उठाकर दोनों ले जाते हैं)

(शैलेन्द्र का प्रवेश)

शैलेन्द्र — उसे कोई उठा ले गया। चलो, मैं भी उसके घर में जो कुछ था ले आया। अब कहाँ चलना चाहिए। श्रावस्ती तो अपनी राजधानी है; पर यहाँ अब एक क्षण भी मैं नहीं ठहरूँगा। माता से भेंट हो चुकी, इतना द्रव्य भी हाथ लगा। बस, कारायण से मिलता हुआ एक बार ही सीधे राजगृह। रहा अजात से मिलना; किन्तु अब कोई चिन्ता नहीं; कौन रहस्य खोलेगा? समुद्रदत्त के लिए मैं भी कोई बात बना दूँगा। तो चलूँ, इस संघाराम में कुछ भीड़-सी एकत्र हो रही है, यहाँ ठहरना अब ठीक नहीं। (जाता है)

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु — आश्चर्य! वह मृत स्त्री जी उठी और इतनी देर में दुष्टों ने कितना आतंक फैला दिया था। समग्र विहार मनुष्यों से भर गया था। दुष्ट जनता को उभाड़ने के लिए कह रहे थे कि पाखंडी गौतम ने ही उसे मार डाला। इस हत्या में गौतम की ही कोई बुरी इच्छा थी! किन्तु उसके स्वस्थ होते ही सबके मुँह में कालिख लग गई। और अब तो लोग कहते हैं कि 'धन्य हैं,

गौतम बड़े महात्मा हैं। उन्होंने मरी हुई स्त्री को जिला दिया!' मनुष्यों के मुख में भी तो साँपों की तरह दो जीभ हैं। चलूँ देखूँ कोई बुला रहा है । (जाता है)

(रानी शक्तिमती और कारायण का प्रवेश)

रानी — क्यों सेनापति, तुम तो इस पद से सन्तुष्ट होगे अपने मातुल की दशा तो अब तुम्हें भूल गई होगी?

कारायण — नहीं रानी! वह भी इस जन्म में भूलने की बात है! क्या करूँ, मल्लिका देवी की आज्ञा से मैंने यह पद ग्रहण किया है; किन्तु हृदय में बड़ी ज्वाला धधक रही है!

रानी — पर तुम्हें इसके लिए चेष्टा करनी चाहिए; स्त्रियों की तरह रोने से काम न चलेगा। विरुद्धक ने तुमसे भेंट की थी

कारायण — कुमार बड़े साहसी हैं — मुझसे कहने लगे कि 'अभी मैंने एक हत्या की है और उससे मुझे यह धन मिला है, सो तुम्हें गुप्त-सेना-संगठन के लिए देता हूँ। मैं फिर उद्योग में जाता हूँ। यदि तुमने धोखा दिया, तो स्मरण रखना-शैलेन्द्र किसी पर दया करना नहीं जानता।' उस समय मैं तो केवल बात ही सुनकर स्तब्ध रह गया। बस स्वीकार करते ही बना, रानी! उस युवक को देखकर मेरी आत्मा काँपती है।

रानी — अच्छा, तो प्रबन्ध ठीक करो। सहायता मैं दूँगी। पर यहाँ भी अच्छा खेल हुआ...।

कारायण — हम लोग भी तो उसी को देखने आए थे। आश्चर्य! क्या जाने कैसे वह स्त्री जी उठी! नहीं तो अभी ही गौतम का सब महात्मापन भूल जाता।

रानी — अच्छा, अब हम लोगों को शीघ्र चलना चाहिए, सब जनता नगर की ओर जा रही है। देखो, सावधान रहना, मेरा रथ भी बाहर खड़ा होगा।

कारायण — कुछ सेना अपनी निज की प्रस्तुत कर लेता हूँ, जो कि राजसेना से बराबर मिली-जुली रहेगी और काम के समय हमारी आज्ञा मानेगी।

रानी — और भी एक कहानी है-कौशाम्बी का दूत आया है। सम्भवतः कौशाम्बी और कोसल की सेना मिलकर अजात पर आक्रमण करेगी। उस समय तुम क्या करोगे?

कारायण — उस समय वीरों की तरह मगध पर आक्रमण करूँगा और सम्भवतः इस बार अवश्य अजात को बन्दी बनाऊँगा। अपने घर की बात अपने घर में ही निपटेगी।

रानी — (कुछ सोचकर) अच्छा।

(दोनों जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(कौशाम्बी का पथ में जीवक और वसन्तक)

वसन्तक — (हँसता हुआ) तब इसमें मेरा क्या दोष?

जीवक — जब तुम दिन-रात राजा के समीप रहते हो और उनके सहचर बनने का तुम्हें गर्व है, तब तुमने क्यों नहीं ऐसी चेष्टा की...

वसन्तक — कि राजा बिगड़ जाएँ?

जीवक — अरे बिगड़ जाएँ कि सुधर जाएँ। ऐसी बुद्धि को...

वसन्तक — धिक्कार है, जो इतना भी न समझे कि राजा पीछे चाहे स्वयं सुधर जाएँ, अभी तो हमसे बिगड़ जाएँगे।

जीवक — तब तुम क्या करते हो?

वसन्तक — दिन-रात सीधा किया करते हैं। बिजली की रेखा की तरह टेढ़ी जो राजशक्ति है, उसे दिन-रात सँवार कर, पुचकार कर,

भयभीत होकर, प्रशंसा करके सीधा करते हैं। नहीं तो न जाने किस पर वह गिरे! फिर महाराज! पृथ्वीनाथ! यथार्थ है! आश्चर्य! इत्यादि के क्वाथ से पुटपाक...।

जीवक — चुप रहो, बको मत, तुम्हारे ऐसे मूर्खों ने ही तो सभा को बिगाड़ रखा है! जब देखो परिहास!

वसन्तक — परिहास नहीं, अट्टहास! उसके बिना क्या लोगों का अन्न पचता है? क्या बल है तुम्हारी बूटी में? अरे! जो मैं सभा को बनाऊँ, तो क्या अपने को बिगाड़ूँ! और फिर झाड़ू लेकर पृथ्वी-देवता को मोरछल करता फिरूँ? देखो न अपना मुख आदर्श में-चले सभा बनाने, राजा को सुधारने! इस समय तो...

जीवक — तो इससे क्या, हम अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, दुःख से विचलित तो होते नहीं —

लोभ सुख का नहीं, न तो डर है
प्राण कर्त्तव्य पर निछावर है।

वसन्तक — तो इससे क्या? हम भी अपना पेट पालते हैं, अपनी मर्यादा बनाए रहते हैं, किसी और के दुःख से हम भी टस-से-मस नहीं होते-एक बाल-भर भी नहीं, समझे और काम कितना सम पर

और सुरीला करते हैं, सो भी जानते हो। जहाँ उन्होंने आज्ञा दी कि ’इसे मारो’, हम तत्काल ही सम पर बोलते हैं कि ’रोऽऽऽ’

जीवक — जाओ रोओ।

वसन्तक — क्या तुम्हारे नाम को? अरे रोएँ तुम्हारे-से परोपकारी, जो राजा को समझाना चाहते हैं। घंटों बकवाद करके उन्हें भी तंग करना और अपने मुख को भी कष्ट देना। जो जीभ अच्छा स्वाद लेने के लिए बनी है, उसे व्यर्थ हिलाना-डुलाना। अरे, यहाँ तो जब राजा ने एक लम्बी-चौड़ी आज्ञा सुनाई उसी समय ’यथार्थ है श्रीमन्’ कहकर विनीत होकर गर्दन झुका ली — बस इतिश्री। नहीं तो राजसभा में बैठने कौन देता है।

जीवक — तुम-जैसे चाटुकार लोगों का भी कैसा अधम जीवन है।

वसन्तक — और आप-जैसे लोगों का उत्तम कोई माने चाहे न माने-टाँग अड़ाये जाते हैं। मनुष्यता का ठेका लिए फिरते हैं।

जीवक — अच्छा भाई, तुम्हारा कहना ठीक है, जाओ, किसी प्रकार से पिंड छूटे।

वसन्तक — पद्मावती ने कहा कि आर्य जीवक से कह देना कि अजात का कोई अनिष्ट न होने पावेगा। केवल शिक्षा के लिए यह आयोजन है। और, माताजी से विनती से कह देंगे कि पद्मावती बहुत शीघ्र उनका दर्शन श्रावस्ती में करेंगी।

जीवक — अच्छा तो क्या युद्ध होना ध्रुव है?

वसन्तक — हाँ जी, प्रसेनजित् भी प्रस्तुत हैं। महाराज उदयन से मन्त्रणा ठीक हो गई है। आक्रमण हुआ ही चाहता है। महाराज बिम्बिसार की समुचित सेवा करने, अब वहाँ हम लोग आया ही चाहते हैं, पत्तल परसी रहे — समझे न?

जीवक — अरे पेटू, युद्ध में तो कौए-गिद्ध पेट भरते हैं।

वसन्तक — और इस आपस के युद्ध में ब्राह्मण भोजन करेंगे, ऐसी तो शास्त्र की आज्ञा ही है। क्योंकि युद्ध से तो प्रायश्चित लगता है। फिर बिना, ह-ह-ह-ह-।

जीवक — जाओ महाराज, दण्डवत।

(दोनों जाते है)

(दृश्यान्तर

दशम दृश्य

(मगध में छलना के प्रकोष्ठ में छलना और अजातशत्रु।

छलना — बस थोड़ी-सी सफलता मिलते ही अकर्मण्यता ने सन्तोष का मोदक खिला दिया। पेट भर गया। क्या तुम भूल गए कि 'सन्तुष्टश्च महीपतिः'?

अजातशत्रु — माँ, क्षमा हो। युद्ध में बड़ी भयानकता होती है; कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्त्वमय चित्र न जाने किस षड्यन्त्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव-वृत्ति दबी हुई रहती है उसी को इसमें उत्तेजना मिलती है। युद्ध-स्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।

छलना — कायर! आँखें बन्द कर ले! यदि ऐसा ही था, तो क्यों बूढ़े बाप को हटाकर सिंहासन पर बैठा?

अजातशत्रु — तुम्हारी आज्ञा से, माँ! मैं आज भी सिंहासन से हटकर पिता की सेवा करने को प्रस्तुत हूँ।

देवदत्त — (प्रवेश करके) किन्तु अब बहुत दूर तक बढ़ आए, लौटने का समय नहीं है। उधर देखो, कोसल और कौशाम्बी की सम्मिलित सेना मगध पर गरजती चली आ रही है।

छलना — यदि उसी समय कोसल पर आक्रमण हो जाता, तो आज इसका अवकाश ही न मिलता।

देवदत्त — समुद्रदत्त का मारा जाना आपको अधीर कर रहा है; किन्तु क्या समुद्रदत्त के ही भरोसे आप सम्राट् बने थे? वह निर्बोध विलासी-उसका ऐसा परिणाम तो होना ही था। पौरुष करने वाले को अपने बल पर विश्वास करना चाहिए।

छलना — बच्चे! मैंने बड़ा भरोसा किया था कि तुम्हें भरतखण्ड का सम्राट् देखूँगी और वीरप्रसू होकर एक बार गर्व से तुमसे चरण-वन्दना कराऊँगी, किन्तु आह! पति-सेवा से भी वंचित हुई और पुत्र का...

देवदत्त — नहीं-नहीं, राजमाता दुखी न हों, अजातशत्रु तुम्हारा अमूल्य वीर-रत्न है। रण की भयानकता देखकर तो क्षण भर के लिए वीर धनंजय का भी हृदय पिघल गया था!

(सहसा विरुद्धक का प्रवेश)

विरुद्धक — माता, वन्दना करता हूँ। भाई अजात! क्या तुम विश्वास करोगे — मैं साहसिक हो गया हूँ। किन्तु मैं भी राजपुत्र हूँ और हमारा-तुम्हारा ध्येय एक ही है।

अजातशत्रु — तुम्हें! कभी नहीं, तुम्हारे षडयन्त्र से समुद्रदत्त मारा गया, और...

विरुद्धक — और कोसल-नरेश को पाकर भी मेरे कहने से छोड़ दिया, क्यों यदि मेरी मन्त्रणा लेते, तो आज तुम मगध में सम्राट् होते और मैं कोसल में सिंहासन पर बैठकर सुख भोगता। किन्तु उस दुष्ट मल्लिका ने तुम्हें...

अजातशत्रु — हाँ, उसमें तो मेरा ही दोष था। किन्तु अब तो मगध और कोसल आपस में शत्रु हैं, फिर हम तुम पर विश्वास क्यों करें

विरुद्धक — केवल एक बात विश्वास करने की है। यही कि तुम कोसल नहीं चाहते और मैं काशी-सहित मगध नहीं चाहता। देखो, सेनापति कारायण ही कोसल की सेना का नेता है। वह मिला हुआ है, और विशाल सम्मिलित वाहिनी क्षुब्ध समुद्र के समान गर्जन कर रही है। मैं खड्ग लेकर शपथ करता हूँ कि कौशाम्बी की सेना पर आक्रमण करूँगा और दीर्घकारायण के कारण जो निर्बल कोसल सेना है उस पर तुम; जिसमें तुम्हें विश्वास बना रहे। यही समय है, विलम्ब ठीक नहीं।

छलना — कुमार विरुद्धक! क्या तुम अपने पिता के विरुद्ध खड़े होगे और किस विश्वास पर....

विरुद्धक — जब मैं पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूँ, तब मुझे अधिकार है कि सैनिक कार्य में किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि यही क्षत्रिय की धर्मसम्मत आजीविका है। हाँ, पिता

से मैं स्वयं नहीं लड़ूँगा। इसीलिए कौशाम्बी की सेना पर मैं आक्रमण करना चाहता हूँ।

छलना — अब अविश्वास का समय नहीं है। रणवाद्य समीप ही सुनाई पड़ते हैं।

अजातशत्रु — जैसी माता ही आज्ञा।

(छलना तिलक और आरती करती है)

(नेपथ्य में रणवाद्य। विरुद्धक और अजात की युद्ध-यात्रा)

(यवनिका)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(मगध के राजभवन में छलना और देवदत्त)

छलना — धूर्त्त! तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई। पुत्र बन्दी होकर विदेश चला गया और पति को मैंने स्वयं बन्दी बनाया। पाखण्डी, तूने ही यह चक्र रचा है।

देवदत्त — नारी! क्या तुझे राजशक्ति का घमण्ड हो गया है, जो परिव्राजकों से इस तरह बातें करती है! तेरी राजलिप्सा और महत्त्वाकांक्षा ने ही तुझसे सब कुछ कराया, तू दूसरे पर क्यों दोषारोपण करती है, क्या मुझे ही राज्य भोगना है?

छलना — पाखण्डी! जब तूने धर्म के नाम पर उत्तेजित करके मुझे कुशिक्षा दी, तब मैं भूल में थी। गौतम को कलंकित करने के लिए कौन श्रावस्ती गया था और किसने मतवाला हाथी दौड़ा कर उनके प्राण लेने की चेष्टा की थी? ओह! मैं किस भ्रान्ति में थी! जी चाहता है कि इस नर-पिशाच मूर्ति को अभी मिट्टी में मिला दूँ! प्रतिहारी!

प्रतिहारी — (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो! क्या आज्ञा है?

छलना — अभी इस मुड़िये को बन्दी बनाओ और वासवी को पकड़ लाओ!

(प्रतिहारी इंगित करता है। देवदत्त बन्दी होता है)

देवदत्त — इसका फल तुझे मिलेगा!

छलना — घायल बाघिनी को भय दिखाता है! वर्षा की पहाड़ी नदी को हाथों में रोक लेना चाहता है! देवदत्त! ध्यान रखना, इस अवस्था में नारी क्या नहीं कर सकती है! अब तेरा अभिशाप मुझे नहीं डरा सकता। तू अपने कर्म भोगने के लिए प्रस्तुत हो जा।

(वासवी का प्रवेश)

छलना — अब तो तुम्हारा हृदय सन्तुष्ट हुआ?

वासवी — क्या कहती हो, छलना? अजात बन्दी हो गया तो मुझे सुख मिला, यह बात कैसे तुम्हारे मुख से निकली! क्या वह मेरा पुत्र नहीं है?

छलना — मीठे मुँह की डायन! अब तेरी बातों से मैं ठण्डी नहीं होने की! ओह! इतना साहस, इतनी कूट-चातुरी! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूँगी, जिसमें यह सब भरा था। वासवी, सावधान! मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।

वासवी — छलना, उसका मुझे डर नहीं है। यदि तुम्हें इससे कोई सुख मिले, तो तुम करो। किन्तु एक बात और विचार लो — क्या कोसल के लोग जब मेरी यह अवस्था सुनेंगे, तो अजात को

और शीघ्र मुक्त कर देने के बदले कोई दूसरा काण्ड न उपस्थित करेंगे?

छलना — तब क्या होगा?

वासवी — जो होगा वह तो भविष्य के गर्भ में है, किन्तु मुझे एक बार कोसल अनिच्छापूर्वक भी जाना ही होगा और अजात को ले आने की चेष्टा करनी होगी।

छलना — यह और भी अच्छी रही — जो हाथ का है उसे भी जाने दूँ! क्यों वासवी! पद्मावती को पढ़ा रही हो!

वासवी — बहन छलना! मुझे तुम्हारी बुद्धि पर खेद होता है। क्या मैं अपने प्राणों के लिए डरती हूँ; या सुख-भोग के लिए जा रही हूँ? ऐसी अवस्था में आर्यपुत्र को मैं छोड़ कर चली जाऊँगी, ऐसा भी तुम्हें अब तक विश्वास है? मेरा उद्देश्य केवल विवाद मिटाने का है।

छलना — इसका प्रमाण?

वासवी — प्रमाण आर्यपुत्र हैं। छलना, चौंको मत। तुम भी उन्हीं की परिणीता पत्नी हो, तब भी तुम्हारे विश्वास के लिए मैं उन्हें तुम्हारी देख-रेख में छोड़ जाऊँगी। हाँ, इतनी प्रार्थना है कि उन्हें कोई कष्ट न होने पावे, और क्या कहूँ, वे ही तुम्हारे भी पति हैं।

हाँ, देवदत्त को मुक्त कर दो चाहे इसने कितना भी हम लोगों का अनिष्ट-चिन्तन किया हो, फिर भी परिव्राजक मार्जनीय है।

छलना — (प्रहरियों से) छोड़ दो इसको, फिर काला मुख मगध में न दिखावे।

(प्रहरी छोड़ते हैं। देवदत्त जाता है)

वासवी — देखो, राज्य में आतंक न फैलने पावे। दृढ़ होकर मगध का शासन करना! किसी को भी कष्ट न हो। और प्यारी छलना! यदि हो सके तो आर्यपुत्र की सेवा करके नारी-जन्म सार्थक कर लेना।

छलना — वासवी बहन! (रोने लगती है) – मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती, तो इस निष्ठुरता का स्वाँग न करती।

वासवी — रानी! यही जो जानती कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्‌गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है, तो पुरुषार्थ का ढोंग क्यों करती। रो मत बहन! मैं जाती हूँ, तू यही समझ कि कुणीक ननिहाल गया है।

छलना — तुम जानो।

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(कोसल के राजमहल से लगा हुआ बन्दीगृह। बाजिरा का प्रवेश)

बाजिरा — (आप-ही-आप) क्या विप्लव हो रहा है। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिए कितना प्रयास होता है! अन्धी जनता अँधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन कि सहज-प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को भी लोग खो बैठते हैं! भाई भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह कर रहा है, स्त्रियाँ पतियों पर शासन करना चाहती हैं! उनसे प्रेम नहीं। मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्रकला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं। राज-मन्दिर बन्दीगृह में बदल गए हैं! कभी सौहार्द से जिसका आतिथ्य कर

सकते थे, उसे बन्दी बनाकर रखा है। सुन्दर राजकुमार! कितनी सरलता और निर्भीकता इस विशाल भाल पर अंकित है! अहा! जीवन धन्य हो गया है। अन्तःकरण में एक नवीन स्फूर्ति आ गई है। एक नवीन संसार इसमें बन गया है। यही यदि प्रेम है तो अवश्य स्पृहणीय है, जीवन की सार्थकता है। कितनी सहानुभूति, कितनी कोमलता का आनन्द मिलने लगा है। (ठहरकर सोचती हुई) एक दिन पिताजी का पैर पकड़ कर प्रार्थना करूँगी कि इस बन्दी को छोड़ दो। किसी राष्ट्र का शासक होने के बदले इसे प्रेम के शासन में रहने से मैं प्रसन्न रहूँगी। मनोरम सुकुमार वृत्तियों का छायापूर्ण हृदय में आविर्भाव-तिरोभाव होते देखूँगी और आँख बन्द कर लूँगी। (गाती है)

हमारे जीवन का उल्लास हमारे जीवन का धन रोष।
हमारी करुणा के दो बूँद मिले एकत्र, हुआ संतोष॥
दृष्टि को कुछ भी रुकने दो, न यों चमक दो अपनी कान्ति।
देखने दो क्षण भर भी तो, मिले सौन्दर्य देखकर शान्ति॥
नहीं तो निष्ठुरता का अन्त, चला दो चपल नयन के बाण।
हृदय छिद जाए विकल बेहाल, वेदना से हो उसका त्राण॥

(खिड़की खुलती है, बन्दी अजातशत्रु दिखाई देता है)

अजातशत्रु — इस श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण-सी तुम कौन हो? सुन्दरी कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है। किन्तु नहीं, अब मुझे विश्वास हुआ है कि भगवान ने करुणा की मूर्ति मेरे लिए भेजी है और इस बन्दीगृह में भी कोई उसकी अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है।

बाजिरा — राजकुमार! मेरा परिचय पाने पर तुम घृणा करोगे और फिर मेरे आने पर मुँह फेर लोगे-तब मैं बड़ी व्यथित हूँगी। हम लोग इस तरह अपरिचित रहें। अभिलाषाएँ नए रूप बदलें, किन्तु वे नीरव रहें। उन्हें बोलने का अधिकार न हो! बस, तुम हमें एक करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणों पर चढ़ा कर चली जाया करूँ।

अजातशत्रु — सुन्दरि! यह अभिनय कई दिन हो चुका, अब धैर्य नहीं रुकता है। तुम्हें अपना परिचय देना ही होगा।

बाजिरा — राजकुमार! मेरा परिचय पाकर तुम सन्तुष्ट न होगे, नहीं तो मैं छिपाती क्यों?

अजातशत्रु — तुम चाहे प्रसेनजित् की ही कन्या क्यों न हो; किन्तु मैं तुमसे असन्तुष्ट न हूँगा; मेरी समस्त श्रद्धा अकारण तुम्हारे चरणों पर लोटने लगी है, सुन्दरि!

बाजिरा — मैं वही हूँ राजकुमार! कोसल की राजकुमारी। मेरा ही नाम बाजिरा है।

अजातशत्रु — सुनता था प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया। अब यदि कोसल-नरेश मुझे बन्दीगृह से छोड़ दें तब भी...।

बाजिरा — तब भी क्या?

अजातशत्रु — मैं कैसे जा सकूँगा?

बाजिरा — (ताली बजाकर जंगला खोलती है; अजात बाहर निकल आता है) अब तुम जा सकते हो। पिता की सारी झिड़कियाँ मैं सुन लूँगी। उनका समस्त क्रोध मैं अपने वक्ष पर वहन करूँगी। राजकुमार, अब तुम मुक्त हो जाओ!

अजातशत्रु — यह तो नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रतिफल में तुम्हें अपने पिता से तिरस्कार और भर्त्सना ही मिलेगी। शुभे! अब यह तुम्हारा चिर-बन्दी मुक्त होने की चेष्टा भी न करेगा।

बाजिरा — प्रिय राजकुमार! तुम्हारी इच्छा; किन्तु फिर मैं अपने को रोक न सकूँगी और हृदय की दुर्बलता या प्रेम की सबलता मुझे व्यथित करेगी।

अजातशत्रु — राजकुमारी! तो हम लोग एक-दूसरे को प्यार करने के अयोग्य हैं, ऐसा कोई मूर्ख भी न कहेगा।

बाजिरा — तब प्राणनाथ! मैं अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पण करती हूँ। (अपनी माला पहनाती है।)

अजातशत्रु — मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूँ, प्रिये! हम तुम अभिन्न हैं। यह जंगली हिरन इस स्वर्गीय संगीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है। अब यह तुम्हारे प्रेम-पाश में पूर्णरूप से बद्ध है। (अँगूठी पहनाता है।)

(कारायण का सहसा प्रवेश)

कारायण — यह क्या! बन्दीगृह में प्रेमलीला। राजकुमारी! तुम कैसे यहाँ आई हो? क्या राजनियम की कठोरता भूल गई हो?

बाजिरा — इसका उत्तर देने के लिए मैं बाध्य नहीं हूँ।

कारायण — किन्तु यह काण्ड एक उत्तर की आशा करता है। वह मुझे नहीं तो महाराज के समक्ष देना ही होगा। बन्दी, तुमने ऐसा क्यों किया?

अजातशत्रु — मैं तुमको उत्तर नहीं देना चाहता। तुम्हारे महाराज से मेरी प्रतिद्वन्द्विता है — उनके सेवकों से नहीं।

कारायण — राजकुमारी! मैं कठोर कर्त्तव्य के लिए बाध्य हूँ। इस बन्दी राजकुमार को ढिठाई की शिक्षा देनी ही होगी।

बाजिरा — क्यों बन्दी भाग तो गया नहीं, भागने का प्रयास भी उसने नहीं किया; फिर!

कारायण — फिर! आह! मेरी समस्त आशाओं पर तुमने पानी फेर दिया! भयानक प्रतिहिंसा मेरे हृदय में जल रही है; उस युद्ध में मैंने तुम्हारे लिए ही...

बाजिरा — सावधान! कारायण, अपनी जीभ सम्भालो!

अजातशत्रु — कारायण! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा हो तो मैं तुमको द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।

कारायण — मुझे स्वीकार है, यदि राजकुमारी की प्रतिष्ठा पर आँच न पहुँचे। क्योंकि मेरे हृदय में अभी भी स्थान है। क्यों राजकुमारी, क्या कहती हो?

अजातशत्रु — तब और किसी समय! मैं अपने स्थान पर जाता हूँ। जाओ राजनन्दिनी!

बाजिरा — किन्तु कारायण! मैं आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ।

कारायण — यहाँ तक! कोई चिन्ता नहीं। इस समय तो चलिए; क्योंकि महाराज आना ही चाहते हैं।

(अजात अपने जंगले में जाता है, एक ओर कारायण और राजकुमारी बाजिरा जाती है, दूसरी ओर से वासवी और प्रसेनजित् का प्रवेश)

प्रसेनजित् — क्यों कुणीक, अब क्या इच्छा है?

वासवी — न-न, भाई! खोल दो। इसे मैं इस तरह देखकर बात नहीं कर सकती। मेरा बच्चा कुणीक...

प्रसेनजित् — बहन! जैसा कहो। (खोल देता है, वासवी अंक में ले लेती है।)

अजातशत्रु — कौन! विमाता नहीं, तुम मेरी माँ हो! माँ! इतनी ठण्डी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया है। मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया है, माँ! क्या तुम क्षमा करोगी?

वासवी — वत्स कुणीक! वह अपमान भी अब क्या मुझे स्मरण है। तुम्हारी माता, तुम्हारी माँ नहीं है, मैं तुम्हारी माँ हूँ। वह तो डायन है, उसने मेरे सुकुमार बच्चे को बन्दीगृह भेज दिया! भाई, मैं इसे शीघ्र मगध के सिंहासन पर भेजना चाहती हूँ; तुम इसके जाने का प्रबन्ध कर दो।

अजातशत्रु — नहीं माँ, अब कुछ दिन उस विषैली वायु से अलग रहने दो। तुम्हारी शीतल छाया का विश्राम मुझसे अभी नहीं छोड़ा जाएगा। (घुटने टेक देता है, वासवी अभय का हाथ रखती है)

(दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

(कानन का प्रान्त)

विरुद्धक — आर्द्र हृदय में करुण-कल्पना के समान आकाश में कादम्बिनी घिरी आ रही है। पवन के उन्मत्त आलिंगन में तरुराजि सिहर उठती है। झुलसी हुई कामनाएँ मन में अंकुरित हो रही हैं। क्यों? जलदागमन से? आह!

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब!
बरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज कानन का संकोच,

अरे जलद में भी यह ज्वाला! झुके हुए क्यों किसका सोच?
किस निष्ठुर ठण्डे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान?
पिघल रहे हो किस गर्मी से! हे करुणा के जीवन-प्राण
चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप,
तारा आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप?
किस मानस-निधि में न बुझा था बड़वानल जिससे बन भाप,
प्रणय-प्रभाकर कर से चढ़ कर इस अनन्त का करते माप,
क्यों जुगनू का दीप जला, है पथ में पुष्प और आलोक?
किस समाधि पर बरसे आँसू, किसका है यह शीतल शोक।
थके प्रवासी बनजारों-से लौटे हो मन्थर गति से;
किस अतीत की प्रणय-पिपासा, जगती चपला-सी स्मृति से?

(मल्लिका का प्रवेश)

मल्लिका — तुम्हें सुखी देखकर मैं सन्तुष्ट हुई, कुमार!

विरुद्धक — मल्लिका! मैं तो आज टहलता-टहलता कुटी से इतनी दूर चला आया हूँ। अब तो मैं सबल हो गया, तुम्हारी इस सेवा से मैं जीवन भर उऋण नहीं हूँगा।

मल्लिका — अच्छा किया। तुम्हें स्वस्थ देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। अब तुम अपनी राजधानी लौट जा सकते हो।

विरुद्धक — मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। मेरे हृदय में बड़ी खलबली है। यह तो तुम्हें विदित था कि सेनापति बन्धुल को मैंने ही मारा है; और उसी की तुमने इतनी सेवा की! इससे क्या मैं समझूँ क्या मेरी शंका निर्मूल नहीं है कह दो, मल्लिका!

मल्लिका — विरुद्धक! तुम उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम मत करो। तुमने समझा होगा कि मल्लिका का हृदय कुछ विचलित है; छिः! तुम राजकुमार हो न, इसीलिए। अच्छी बात क्या तुम्हारे मस्तिष्क में कभी आई ही नहीं; मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है, जिसकी तुम समझते हो।

विरुद्धक — किन्तु मल्लिका! अतीत में तुम्हारे ही लिए मेरा वर्तमान बिगड़ा। पिता ने जब तुमसे मेरा ब्याह करना अस्वीकार किया, उसी समय से मैं पिता के विरुद्ध हुआ और उस विरोध का यह परिणाम हुआ।

मल्लिका — इसके लिए मैं कृतज्ञ नहीं हो सकती। राजकुमार! तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा। और यह मेरी विश्व-मैत्री की परीक्षा थी। जब इसमें मैं उत्तीर्ण हो गई तब मुझे अपने पर विश्वास हुआ। विरुद्धक, तुम्हारा रक्त-कलुषित हाथ मैं छू भी नहीं सकती। तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का, किसी की भूल पर, निर्दयता से वध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया; एक वीर को छल से मार डाला

और अपने देश के, जन्मभूमि के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण किया! तुम्हारे जैसा नीच और कौन होगा! किन्तु यह सब जान कर भी मैं तुम्हें रणक्षेत्र से सेवा के लिए उठा लाई।

विरुद्धक — तब क्यों नहीं मर जाने दिया? क्यों इस कलंकी जीवन को बचाया और अब...

मल्लिका — तुम इसलिए नहीं बचाए गए कि फिर भी एक विरक्त नारी पर बलात्कार और लम्पटता का अभिनय करो। जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित करो, अपने को सुधारो।

(श्यामा का प्रवेश)

श्यामा — और भी एक भयानक अभियोग है — इस नर-राक्षस पर! इसने एक विश्वास करने वाली स्त्री पर अत्याचार किया है, उसकी हत्या की है! शैलेन्द्र?

विरुद्धक — अरे श्यामा!

श्यामा — हाँ शैलेन्द्र, तुम्हारी नीचता का प्रत्यक्ष उदाहरण मैं अभी जीवित हूँ। निर्दय! चाण्डाल के समान क्रूर कर्म तुमने किया! ओह, जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया, अपने वैभव पर ठोकर

लगा दी, उसका ऐसा आचरण प्रतिहिंसा और पश्चात्ताप से सारा शरीर भस्म हो रहा है।

मल्लिका — विरुद्धक यह क्या, जो रमणी तुम्हें प्यार करती है, जिसने सर्वस्व तुम्हें अर्पण किया था, उसे भी तुम न चाह सके। तुम कितने क्षुद्र हो? तुम तो स्त्रियों की छाया भी छू सकने के योग्य नहीं हो।

विरुद्धक — मैं इसे वेश्या समझता था।

श्यामा — मैं तुम्हें डाकू समझने पर चाहने लगी थी। इतना तुम्हारे ऊपर मेरा विश्वास था। तब मैं नहीं जानती थी कि तुम कोसल के राजकुमार हो।

मल्लिका — यदि तुम प्रेम का प्रतिपादन नहीं जानते हो तो व्यर्थ एक सुकुमार नारी-हृदय को लेकर उसे पैरों से क्यों रौंदते हो विरुद्धक! क्षमा माँगो; यदि हो सके तो इसे अपनाओ!

श्यामा — नहीं देवि! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राजसुख मैं बहुत भोग चुकी हूँ। अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी।

विरुद्धक — श्यामा, अब मैं सब तरह से प्रस्तुत हूँ, और क्षमा भी माँगता हूँ।

श्यामा — अब तुम्हें तुम्हारा हृदय अभिशाप देगा, यदि मैं क्षमा भी कर दूँ। किन्तु नहीं, विरुद्धक! अभी मुझमें उतनी सहनशीलता नहीं है।

मल्लिका — राजकुमार! जाओ, कोसल लौट जाओ; और यदि तुम्हें अपने पिता के पास जाने में डर लगता हो, तो मैं तुम्हारी ओर से क्षमा माँगूँगी। मुझे विश्वास है कि महाराज मेरी बात मानेंगे।

विरुद्धक — उदारता की मूर्ति! मैं किस तरह तुमसे, तुम्हारी कृपा से अपने प्राण बचाऊँ! देवि! ऐसे भी जीव इसी संसार में हैं, तभी तो यह भ्रमपूर्ण संसार ठहरा है। (पैरों पर गिरता है) देवि! अधम का अपराध क्षमा करो।

मल्लिका — उठो राजकुमार! चलो, मैं भी श्रावस्ती चलती हूँ। महाराज प्रसेनजित् से तुम्हारे अपराधों को क्षमा करा दूँगी, फिर इस कोसल को छोड़ कर चली जाऊँगी। श्यामा, तब तक तुम इस कुटीर पर रहो, मैं आती हूँ। (दोनों जाते हैं।)

श्यामा — जैसी आज्ञा! (स्वगत) जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है। मागन्धी, धिक्कार है तुझे! (गाती है)

स्वर्ग है नहीं दूसरा और।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर॥

सुधा-सलिल से मानस, जिसका पूरित प्रेम-विभोर।
नित्य कुसुममय कल्पद्रुम की छाया है इस ओर॥

(दृश्यान्तर

चतुर्थ दृश्य

(प्रकोष्ठ में दीर्घकारायण और रानी शक्तिमती)

शक्तिमती — बाजिरा सपत्नी की कन्या है; मेरा तो कुछ वश नहीं, और तुम जानते हो कि मैं इस समय कोसल की कंकड़ी से भी गई-बीती हूँ। किन्तु कोसल के सेनापति कारायण का अपमान करे ऐसा तो...

कारायण — रानी! हम इधर से भी गए और उधर से भी गए! विरुद्धक को भी मुँह दिखाने लायक न रहे और बाजिरा भी न मिली।

शक्तिमती — तुम्हारी मूर्खता! जब मगध के युद्ध में मैंने तुम्हें सचेत किया था, तब तुम धर्मध्वज बन गए थे; और हमारे बच्चे

को धोखा दिया! अब सुनती हूँ कि वह उदयन के हाथ से घायल हुआ है। उसका पता भी नहीं है।

कारायण — मैं विश्वास दिलाता हूँ कि कुमार विरुद्धक अभी जीवित हैं। वह शीघ्र कोसल आवेंगे।

शक्तिमती — किन्तु तुम इतने डरपोक और सहनशील दास हो, मैं ऐसा नहीं समझती थी। जिसने तुम्हारे मातुल का वध किया, उसी की सेवा करके अपने को धन्य समझ रहे हो! तुम इतने कायर हो, यदि मैं पहले जानती...

कारायण — तब क्या करतीं? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनाती?

शक्तिमती — यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है तो स्त्रियाँ क्यों न करें? क्या उनके अन्तःकरण नहीं है? क्या स्त्रियाँ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं? क्या उनका जन्मसिद्ध कोई अधिकार नहीं है? क्या स्त्रियों का सब कुछ पुरुषों की कृपा से मिली हुई भिक्षा मात्र है? मुझे इस तरह पदच्युत करने का किसी को क्या अधिकार था?

कारायण — स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन है — जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं; किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा

सकती हैं उन मनुष्यों पर-जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया। वे मनुष्य पर राजरानी के समान एकाधिपत्य रख सकती हैं, तब उन्हें इस दुरभिसन्धि की क्या आवश्यकता है — जो केवल सदाचार और शान्ति को ही नहीं शिथिल करती, किन्तु उच्छृंखलता को भी आश्रय देती है?

शक्तिमती — फिर बार-बार यह अवहेलना कैसी? यह बहाना कैसा? हमारी असमर्थता सूचित करा कर हमें और भी निर्मूल आशंकाओं में छोड़ देने की कुटिलता क्यों है? क्या हम पुरुष के समान नहीं हो सकतीं? क्या चेष्टा करके हमारी स्वतन्त्रता नहीं पददलित की गई है? देखो, जब गौतम ने स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दी, तब क्या वे ही सुकुमार स्त्रियाँ परिव्राजिका के कठोर व्रत को अपनी सुकुमार देह पर नहीं उठाने का प्रयास करतीं?

कारायण — किन्तु यह साम्य और परिव्राजिका होने की विधि भी तो उन्हीं पुरुषों में से किसी ने फैलाई है। स्वार्थ-त्याग के कारण वे उसकी घोषणा करने में समर्थ हुए, किन्तु समाज भर में न तो स्वार्थी स्त्रियों की कमी है, न पुरुषों की; और सब एक हृदय के हैं भी नहीं, फिर पुरुषों पर ही आक्षेप क्यों? जितनी अन्तःकरण की वृत्तियों का विकास सदाचार का ध्यान करके होता है-उन्हीं को

जनता कर्त्तव्य का रूप देती है। मेरी प्रार्थना है कि तुम भी उन स्वार्थी मनुष्यों की कोटि में मिल कर बवण्डर न बनो।

शक्तिमती — तब क्या करूँ?

कारायण — विश्व भर में सब कर्म सबके लिए नहीं हैं, इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य। सूर्य अपना काम जलता-बलता हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों से परिवर्तन हो सकता है? मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय हस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूप स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़ कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़-धूप में क्यों पड़ती हो, देवि! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है-पुरुष और कोमलता का विशेषण है — स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है — जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिनके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है-रमणी का रूप। संगठन और आधार भी वैसे ही हैं।

उन्हें दुरुपयोग में न ले जाओ। क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा। फिर कैसी स्थिति होगी, यह कौन कह सकता है।

शक्तिमती — फिर क्या पदच्युत करके मैं अपमानित और पददलित नहीं की गई? क्या यह ठीक था?

कारायण — पदच्युत होने का अनुभव करना भी एक दम्भ मात्र है, देवि! एक स्वार्थी के लिए समाज दोषी नहीं हो सकता। क्या मल्लिका देवी का उदाहरण कहीं दूर है! वही लोलुप नर-पिशाच मेरा और आपका स्वामी, कोसल का सम्राट्, क्या-क्या उनके साथ कर चुका है, यह क्या आप नहीं जानतीं? फिर भी उनकी सती-सुलभ वास्तविकता देखिए और अपनी कृत्रिमता से तुलना कीजिए।

शक्तिमती — (सोचती हुई) कारायण, यहाँ तो मुझे सिर झुकाना ही पड़ेगा।

कारायण — देवि! मैं एक दिन में इस कोसल को उलट-पलट देता, छत्र-चमर लेकर हठात् विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देता; किन्तु मन के बिगाड़ने पर भी मल्लिका देवी का शासन मुझे सुमार्ग से नहीं हटा सका, और आप देखेंगी कि शीघ्र ही कोसल

के सिंहासन पर राजकुमार विरुद्धक बैठेंगे; परन्तु आपकी मन्त्रणा के प्रतिकूल।

(विरुद्धक और मल्लिका का प्रवेश)

शक्तिमती — आर्या मल्लिका को मैं अभिवादन करती हूँ।

कारायण — मैं नमस्कार करता हूँ। (विरुद्धक माता का चरण छूता है)

मल्लिका — शान्ति मिले, विश्व शीतल हो। बहिन, क्या तुम अब भी राजकुमार को उत्तेजित करके उसे मनुष्यता से गिराने की चेष्टा करोगी? तुम जानती हो, तुम्हारा प्रसन्न मातृ-भाव क्या तुम्हें इसीलिए उत्साहित करता है? क्या क्रूर विरुद्धक को देख कर तुम्हारी अन्तरात्मा लज्जित नहीं होती?

शक्तिमती — वह मेरी भूल थी, देवि! क्षमा करना। वह बर्बरता का उद्रेक था-पाशव-वृत्ति की उत्तेजना थी।

मल्लिका — चन्द्र-सूर्य, शीतल-उष्ण, क्रोध-करुणा, द्वेष-स्नेह का द्वन्द्व संसार का मनोहर दृश्य है। रानी! स्त्री और पुरुष भी उसी विलक्षण नाटक के अभिनेता हैं। स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि पाशव-वृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत

करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है — उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से सीखना होगा। हमारा यह कर्त्तव्य है। व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिए। चलो, आज अपने स्वामी से क्षमा माँगो। सुना जाता है कि अजात और बाजिरा का ब्याह होने वाला है, तुम भी उस उत्सव में अपने घर को सूना मत रखो।

शक्तिमती — आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, देवि!

कारायण — तो मैं भी आज्ञा चाहता हूँ, क्योंकि मुझे शीघ्र ही पहुँचना चाहिए। देखिए, वैतालिकों की वीणा बजने लगी। सम्भवतः महाराज शीघ्र सिंहासन पर आना चाहते हैं। (राजकुमार विरुद्धक से) राजकुमार, मैं आपसे भी क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि आप जिस विद्रोह के लिए मुझे आज्ञा दे गए थे, मैं उसे करने में असमर्थ था-अपने राष्ट्र के विरुद्ध यदि आप अस्त्र ग्रहण न करते, तो सम्भवतः मैं आपका अनुगामी हो जाता क्योंकि मेरे हृदय में भी प्रतिहिंसा थी। किन्तु वैसा न हो सका, उसमें मेरा अपराध नहीं।

विरुद्धक — उदार सेनापति, मैं हृदय से तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ और स्वयं तुमसे क्षमा माँगता हूँ।

कारायण — मैं सेवक हूँ, युवराज! (जाता है।)

(दृश्यान्तर

पंचम दृश्य

(कोसल की राजसभा। वर-वधू के वेश में अजातशत्रु और बाजिरा तथा प्रसेनजित्, शक्तिमती, मल्लिका, विरुद्धक, वासवी और कारायण का प्रवेश)

मल्लिका — बधाई है, महाराज! यह शुभ सम्बन्ध आनन्दमय हो!

प्रसेनजित् — देवि! आपकी असीम अनुकम्पा है, जो मुझ जैसे अधम व्यक्ति पर इतना स्नेह! पतितपावनी, तुम धन्य हो!

मल्लिका — किन्तु महाराज! मेरी एक प्रार्थना है।

प्रसेनजित् — आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, भगवती!

मल्लिका — आपकी इस पत्नी, परित्यक्ता शक्तिमती का क्या दोष है? इस शुभ अवसर पर यह विवाद उठाना यद्यपि ठीक नहीं है तो भी...

प्रसेनजित् — इसका प्रमाण तो वह स्वयं है। उसने क्या-क्या नहीं किया — यह क्या किसी से छिपा है?

मल्लिका — किन्तु इसके मूल कारण तो महाराज ही हैं। यह तो अनुकरण करती रही — यथा राजा तथा प्रजा — जन्म लेना तो इसके अधिकार में नहीं था, फिर आप इस अबला पर क्यों ऐसा दण्ड विधान करते हैं?

प्रसेनजित् — मैं इसका क्या उत्तर दूँ, देवि!

शक्तिमती — वह मेरा ही अपराध था, आर्यपुत्र! क्या उसके लिए क्षमा नहीं मिलेगी — मैं अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करती हूँ। अब मेरी सेवा मुझे मिले, उससे मैं वंचित न होऊँ, यह मेरी प्रार्थना है। (प्रसेनजित् मल्लिका का मुँह देखता है)

मल्लिका — क्षमा करना ही होगा, महाराज! और उसका बोझ मेरे सिर पर होगा। मुझे विश्वास है कि यह प्रार्थना निष्फल न होगी।

प्रसेनजित् — मैं उसे कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ! (शक्तिमती का हाथ पकड़कर उठाता है)

मल्लिका — मैं कृतज्ञ हुई, सम्राट्! क्षमा से बढ़ कर दण्ड नहीं है, और आपकी राष्ट्रनीति इसी का अवलम्बन करे, मैं यही आशीर्वाद देती हूँ। किन्तु एक बात और भी है।

प्रसेनजित् — वह क्या?

मल्लिका — मैं आज अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ, मेरा भी कुछ अभियोग है।

प्रसेनजित् — वह बड़ा भयानक है! देवि, उसे तो आप क्षमा कर चुकी हैं; अब?

मल्लिका — तब आप यह स्वीकार करते हैं कि भयानक अपराध भी क्षमा कराने का साहस मनुष्य को होता है?

प्रसेनजित् — विपन्न की यही आशा है। तब भी...

मल्लिका — तब भी ऐसा अपराध क्षमा किया जाता है, क्यों सम्राट्?

प्रसेनजित् — मैं क्या कहूँ? इसका उदाहरण तो मैं स्वयं हूँ।

मल्लिका — तब यह राजकुमार विरुद्धक भी क्षमा का अधिकारी है।

प्रसेनजित् — किन्तु वह राष्ट्र का द्रोही है, क्यों धर्माधिकारी, उसका क्या दण्ड है?

धर्माधिकारी — (सिर नीचा कर) महाराज!

मल्लिका — राजन्, विद्रोही बनाने के कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिन्तक हो सकता था। और इससे क्या, मैं तो स्वीकार करा चुकी हूँ कि भयानक अपराध भी मार्जनीय होते हैं।

प्रसेनजित् — तब विरुद्धक को क्षमा किया जाए।

विरुद्धक — पिता, मेरा अपराध कौन क्षमा करेगा? पितृद्रोही को कौन ठिकाना देगा? मेरी आँखें लज्जा से ऊपर नहीं उठतीं। मुझे राज्य नहीं चाहिए; चाहिए केवल आपकी क्षमा। पृथ्वी के साक्षात् देवता! मेरे पिता! मुझ अपराधी पुत्र को क्षमा कीजिए। (चरण पकड़ता है)

प्रसेनजित् — धर्माधिकारी! पिता का हृदय इतना सदय होता है कि कोई नियम उसे क्रूर नहीं बना सकता। मेरा पुत्र मुझसे क्षमा-भिक्षा चाहता है, धर्मशास्त्र के उस पत्र को उलट दो, मैं एक बार अवश्य क्षमा कर दूँगा। उसे न करने से मैं पिता नहीं रह सकता, मैं जीवित नहीं रह सकता।

धर्माधिकारी — किन्तु महाराज! व्यवस्था का भी कुछ मान रखना चाहिए।

प्रसेनजित् — यह मेरा त्याज्य पुत्र है। किन्तु अपराध का मृत्युदण्ड, नहीं-नहीं, वह किसी राक्षस पिता का काम है। वत्स विरुद्धक! उठो, मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। (विरुद्धक को उठाता है)

(गौतम बुद्ध का प्रवेश)

सब — भगवान के चरणों में प्रणाम।

गौतम — विनय और शील की रक्षा करने में सब दत्तचित्त रहें, जिससे प्रजा का कल्याण हो-करुणा की विजय हो। आज मुझे सन्तोष हुआ, कोसल-नरेश! तुमने अपराधी को क्षमा करना सीख लिया, यह राष्ट्र के लिए कल्याण की बात हुई। फिर भी तुम इसे त्याज्य पुत्र क्यों कह रहे हो?

प्रसेनजित् — महाराज, यह दासीपुत्र है, सिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता।

गौतम — यह दम्भ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है। क्यों राजन्! क्या दास-दासी मनुष्य नहीं हैं? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राजकुमारियों की ही सन्तान इस सिंहासन पर बैठी हैं या प्रतिज्ञा करोगे कि कई पीढ़ी आने वाली तक दासी-पुत्र इस पर न बैठने पावेंगे? यह छोटे-बड़े का भेद क्या अभी इस संकीर्ण हृदय में इस तरह घुसा है कि निकल नहीं सकता? क्या जीवन की वर्तमान स्थिति देख कर प्राचीन अन्धविश्वासों का, जो न जाने किस कारण होते आए हैं, तुम बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं हो? क्या इस क्षणिक भव में तुम अपनी स्वतन्त्र सत्ता अनन्त काल तक बनाए रखोगे? और भी, क्या उस आर्य-पद्धति को तुम भूल गए कि पिता से पुत्र की गणना होती है? राजन्, सावधान हो, इस अपनी सुयोग्य शक्ति को स्वयं कुंठित न बनाओ। यद्यपि

इसने कपिलवस्तु में निरीह प्राणियों का वध करके बड़ा अत्याचार किया है और कारणवश क्रूरता भी यह करने लगा था, किन्तु अब इसका हृदय, देवि मल्लिका की कृपा से शुद्ध हो गया है। इसे तुम युवराज बनाओ।

सब — धन्य है! धन्य है!!

प्रसेनजित् — तब जैसी आज्ञा-इस व्यवस्था का कौन अतिक्रमण कर सकता है, और यह मेरी प्रसन्नता का कारण भी होगा। प्रभु, आपकी कृपा से मैं आज सर्वसम्पन्न हुआ। और क्या आज्ञा है?

गौतम — कुछ नहीं। तुम लोग कर्त्तव्य के लिए सत्ता के अधिकारी बनाए गए हो, उसका दुरुपयोग न करो। भूमण्डल पर स्नेह का, करुणा का, क्षमा का शासन फैलाओ। प्राणिमात्र में सहानुभूति को विस्तृत करो। इन क्षुद्र विप्लवों से चौंक कर अपने कर्म-पद से च्युत न हो जाओ।

प्रसेनजित् — जो आज्ञा, वही होगा। (अजातशत्रु उठ कर विरुद्धक को गले लगाता है)

अजातशत्रु — भाई विरुद्धक, मैं तुमसे ईर्ष्या कर रहा हूँ।

विरुद्धक — और मैं वह दिन शीघ्र देखूँगा कि तुम भी इसी प्रकार अपने पिता से क्षमा किए गए।

अजातशत्रु — तुम्हारी वाणी सत्य हो।

बाजिरा — भाई विरुद्धक! मुझे क्या तुम भूल गए? क्या मेरा कोई अपराध है, जो मुझसे नहीं बोलते थे?

विरुद्धक — नहीं-नहीं, मैं तुमसे लज्जित हूँ। मैं तुम्हें सदैव द्वेष की दृष्टि से देखा करता था, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करो।

बाजिरा — नहीं भाई! यही तुम्हारा अत्याचार है।

(सब जाते हैं)

वासवी — (स्वगत) अहा! जो हृदय विकसित होने के लिए है, जो मुख हँसकर स्नेह-सहित बातें करने के लिए है, उसे लोग कैसा बिगाड़ लेते हैं! भाई प्रसेन, तुम अपने जीवन-भर में इतने प्रसन्न कभी न हुए होगे, जितने आज। कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवान्! क्या कभी वह भी दिन आएगा जब विश्व-भर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जाएगा और मानव-मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्भालेंगे? (जाती है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(पथ में वार्तालाप करते हुए दो नागरिक)

पहला — किसने शक्ति का ऐसा परिचय दिया है! सहनशीलता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण — ओह!

दूसरा — देवदत्त का शोचनीय परिणाम देख कर मुझे तो आश्चर्य हो गया। जो एक स्वतन्त्र संघ स्थापित करना चाहता था, उसकी यह दशा....

पहला — जब भगवान् से भिक्षुओं ने कहा कि देवदत्त आपका प्राण लेने आ रहा है, उसे रोकना चाहिए...

दूसरा — तब, तब?

पहला — तब उन्होंने केवल यही कहा कि घबराओ नहीं, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नहीं आ सकता; उसमें इतनी शक्ति नहीं क्योंकि उसमें द्वेष है।

दूसरा — फिर क्या हुआ?

पहला — यही कि देवदत्त समीप आने पर प्यास के कारण उस सरोवर में जल पीने उतरा। कहा नहीं जा सकता कि उसे क्या

हुआ — कोई ग्राह पकड़ ले गया या उसने लज्जा से डूब कर आत्महत्या कर ली। वह फिर न दिखाई पड़ा।

दूसरा — आश्चर्य! गौतम की अमोघ शक्ति हैः भाई, इतना त्याग तो आज तक देखा नहीं गया। केवल पर-दुःख-कातरता ने किस प्राणी से राज्य छुड़वाया है! अहा, वह शान्त मुखमण्डल, स्निग्ध गम्भीर दृष्टि, किसको नहीं आकर्षित करती। कैसा विलक्षण प्रभाव है!

पहला — तभी तो बड़े-बड़े सम्राट् लोग विनत होकर उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। देखो, यह भी कभी हो सकता था कि राजकुमार विरुद्धक पुनः युवराज बनाए जाते भगवान् ने समझा कर महाराज को ठीक कर ही दिया-और वे आनन्द से युवराज बना दिए गए।

दूसरा — हाँ जी, चलो, आज तो श्रावस्ती भर में महोत्सव है, हम लोग भी घूम-घूम कर आनन्द लें।

पहला — श्रावस्ती पर से आतंक-मेघ टल गया, अब तो आनन्द-ही-आनन्द है। इधर राजकुमारी का ब्याह भी मगधराज से हो गया है। अब युद्ध-विग्रह तो कुछ दिनों के लिए शान्त हुए। चलो, हम लोग भी महोत्सव में सम्मिलित हों।

(एक ओर से दोनों जाते हैं, दूसरी ओर से वसन्तक का प्रवेश)

वसन्तक — फटी हुई बाँसुरी भी कहीं बजती है! एक कहावत है कि रहे मोची-के-मोची। यह सब ग्रहों की गड़बड़ी है, ये एक बार ही इतना बड़ा काण्ड उपस्थित कर देते हैं! कहाँ साधारण ग्रामबाला — हो गई थी राजरानी! मैं देख आया — वही मागन्धी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है। ब्रह्मा भी कभी भोजन करने के पहले मेरी ही तरह भाँग पी लेते होंगे, तभी तो ऐसा उलटफेर...ऐं, किन्तु परन्तु तथापि, वही कहावत 'पुनर्मूषको भव!' एक चूहे को किसी ऋषि ने दया करके व्याघ्र बना दिया, वह उन्हीं पर गुर्राने लगा। जब झपटने लगा तो चट से बाबा जी बोले — 'पुनर्मूषको भव' – जा बच्चा, फिर चूहा बन जा। महादेवी वासवदत्ता को यह समाचार चल कर सुनाऊँगा। अरे, उसी के फेर में मुझे देर हो गई। महाराज ने वैवाहिक उपहार तो भेजे थे, सो अब तो मैं पिछड़ गया। लड्डू तो मिलेंगे। अजी बासी होंगे तो क्या — मिलेंगे तो। ओह, नगर में तो आलोकमाला दिखाई देती है! सम्भवतः वैवाहिक महोत्सव का अभी अन्त नहीं हुआ। तो चलूँ। (जाता है।)

(दृश्यान्तर

सप्तम दृश्य

(आम्र कानन में आम्रपाली — मागन्धी)

मागन्धी — (आप-ही-आप) वाह री नियति! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आए — कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठा कर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ! इस बुद्धिमत्ता का क्या ठिकाना है! वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई। अपनी परिस्थिति को संयत न रख कर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी-उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गए! जो अब केवल एक संकोचदायिनी स्मृति के रूप में अवशिष्ट रह गए। (गाती है)

स्वजन दीखता न विश्व में अब, न बात मन में समाय कोई।
पड़ी अकेली विकल रो रही, न दुःख में है सहाय कोई॥
पलट गए दिन स्नेह वाले, नहीं नशा, अब रही न गर्मी ।
न नींद सुख की, न रंगरलियाँ, न सेज उजला बिछाए सोई ॥
बनी न कुछ इस चपल चित्त की, बिखर गया झूठ गर्व जो।
था असीम चिन्ता चिता बनी है, विटप कँटीले लगाए रोई ॥
क्षणिक वेदना अनन्त सुख बस, समझ लिया शून्य में बसेरा ।
पवन पकड़कर पता बताने न लौट आया न जाए कोई॥

(बुद्ध का प्रवेश — घुटने टेककर हाथ जोड़ती है, सिर पर हाथ रखते हैं)

गौतम — करुणे, तेरी जय हो!

मागन्धी — (आँखें खोल कर और पैर पकड़ कर) प्रभु, आ गए! इस प्यासे हृदय की तृष्णा को अमृत-स्रोत ने अपनी गति परिवर्तित की — इस मरु-देश में पदार्पण किया!

गौतम — मागन्धी! तुम्हें शान्ति मिलेगी। जब तक तुम्हारा हृदय उस विशृंखलता में था, तभी तक यह विडम्बना थी।

मागन्धी — प्रभु! मैं अभागिनी नारी, केवल उस अवज्ञा की चोट से बहुत दिन भटकती रही। मुझे रूप का गर्व बहुत ऊँचे चढ़ा ले गया था, और अब उसने ही नीचे पटका।

गौतम — क्षणिक विश्व का यह कौतुक है, देवि! अब तुम अग्नि से तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गई हो। विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे। फिर तुमको पर-दुःख कातरता में ही आनन्द मिलेगा। विश्वमैत्री हो जाएगी — विश्व-भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टहास में परिणत हो सकती हैं।

मागन्धी — अन्त में मेरी विजय हुई, नाथ! मैंने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था। किन्तु वह समय ठीक भी नहीं था। आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को, अपना कर धन्य हो रही हूँ।

गौतम — मागन्धी! अब उन अतीत के विकारों को क्यों स्मरण करती है, निर्मल हो जा!

मागन्धी — प्रभु! मैं नारी हूँ, जीवन-भर असफल होती आई हूँ। मुझे उस विचार के सुख से न वंचित कीजिए। नाथ! जन्म-भर की

पराजय में भी आज मेरी ही विजय हुई। पतितपावन! यह उद्धार आपके लिए भी महत्त्व देने वाला है और मुझे तो सब कुछ।

गौतम — अच्छा, आम्रपाली! कुछ खिलाओगी

मागन्धी — (आम की टोकरी लाकर रखती हुई) प्रभु! अब इस आम्र-कानन की मुझे आवश्यकता नहीं, यह संघ को समर्पित है।

(संघ का प्रवेश)

संघ — जय हो, अमिताभ की जय हो! बुद्धं शरणं...

मागन्धी — गच्छामि।

गौतम — संघं शरणं गच्छामि।

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(प्रकोष्ठ में पद्मावती और छलना)

छलना — बेटी! तुम बड़ी हो, मैं बुद्धि में तुमसे छोटी हूँ। मैंने तुम्हारा अनादर करके तुम्हें भी दुःख दिया और भ्रान्त पथ पर चल कर स्वयं भी दुःखी हुई।

पद्मावती — माँ! मुझे लज्जित न करो! तुम क्या मेरी माँ नहीं हो! माँ, भाभी के बच्चा हुआ है — आहा कैसा सुन्दर नन्हा-सा बच्चा है!

छलना — पद्मा! तुम और अजात सहोदर भाई-बहिन हो, मैं तो सचमुच एक बवण्डर हूँ। बहन वासवी क्या मेरा अपराध क्षमा कर देगी?

(वासवी का प्रवेश)

छलना — (पैर पर गिर कर) कुणीक की तुम्हीं वास्तव में जननी हो, मुझे तो बोझ ढोना था।

पद्मावती — माँ! छोटी माँ पूछती है, क्या मेरा अपराध क्षम्य है?

वासवी — (मुस्कराकर) कभी नहीं, इसने कुणीक को उत्पन्न करके मुझे बड़ा सुख दिया, जिसका इस छोटे से हृदय से मैं उपभोग नहीं कर सकती। इसलिए मैं इसे क्षमा नहीं करूँगी।

छलना — (हँसकर) तब तो बहिन, मैं भी तुमसे लड़ाई करूँगी, क्योंकि मेरा दुःख हरण करके तुमने मुझे खोखली कर दिया है, हृदय हल्का होकर बेकाम हो गया है। अरे, सपत्नी का काम तो तुम्हीं ने कर दिखाया। पति को तो बस में किया ही था, मेरे पुत्र को भी गोद में लिया। मैं...

वासवी — छलना! तू नहीं जानती, मुझे एक बच्चे की आवश्यकता थी, इसलिए तुझे नौकर रख लिया था — अब तो तेरा काम नहीं है।

छलना — बहिन, इतना कठोर न हो जाओ।

वासवी — (हँसती हुई) अच्छा जा, मैंने तुझे अपने बच्चे की धात्री बना दिया। देख, अब अपना काम ठीक से करना, नहीं तो फिर...

छलना — (हाथ जोड़ कर) अच्छा, स्वामिनी।

पद्मावती — क्यों माँ, अजात तो यहाँ अभी नहीं आया! वह क्या छोटी माँ के पास नहीं आवेगा?

वासवी — पद्मा! जब उसे पुत्र हुआ, तब उससे कैसे रहा जाता। वह सीधे श्रावस्ती से महाराज के मन्दिर में गया है। सन्तान उत्पन्न होने पर अब उसे पिता के स्नेह का मोल समझ पड़ा है।

छलना — बेटी पद्मा! चल। इसी से कहते हैं कि काठ की सौत भी बुरी होती है — देखी निर्दयता — अजात को यहाँ न आने दिया।

वासवी — चल-चल, तुझे तेरा पति भी दिला दूँ और बच्चा भी। यहाँ बैठ कर मुझसे लड़ मत, कंगालिन!

(सब हँसती हुई जाती हैं)

(दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(कुटीर में विम्बिसार लेटे हुए हैं)

(नेपथ्य से गान)

चल बसन्त बाला अंचल से किस घातक सौरभ से मस्त,
आती मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त।
मधुकर से कर सन्धि, विचर कर उषा नदी के तट उस पार;

चूसा रस पत्तों-पत्तों से फूलों का दे लोभ अपार।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलों के,
अवयव थे शृंगार रहे तो वनबाला के झूलों के।
आशा देकर गले लगाया रुके न वे फिर रोके से,
उन्हें हिलाया बहकाया भी किधर उठाया झोंके से।
कुम्हलाये, सूखे, ऐंठे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्माहत होकर कुसुमाकर के कुन्तों से।
नवपल्लव का सृजन! तुच्छ है किया बात से वध जब क्रूर,
कौन फूल-सा हँसता देखे! वे अतीत से भी जब दूर।
लिखा हुआ उनकी नस-नस में इस निर्दयता का इतिहास,
तू अब 'आह' बनी घूमेगी उनके अवशेषों के पास।

बिम्बिसार — (उठ कर आप-ही-आप) सन्ध्या का समीर ऐसा चल रहा है — जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल निःश्वास छोड़ कर अपना प्राण धारण कर रहा हो। प्रकृति की शान्तिमयी मूर्ति निश्चल होकर भी मधुर झोंके से हिल जाती है। मनुष्य-हृदय भी रहस्य है, एक पहेली है। जिस पर क्रोध से भैरव हुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उन्माद! और क्या मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता नहीं ग्रहण कर सकता?

हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषायें बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है? क्या निर्मल-ज्योति तारागण की मधुर किरणों के सदृश सद्वृत्तियों का विकास तुझे नहीं रुचता! भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अन्तःकरण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है? जीवन की शान्तिमय सच्ची परिस्थिति को छोड़ कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा? यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती — पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता — तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता। उस अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिलाकर कितना सुखी होता! भगवन् असंख्य ठोकरें खाकर लुढ़कते हुए जड़ ग्रहपिण्डों से भी तो इस चेतन मानव की बुरी गति है। धक्के-पर-धक्के खाकर भी यह निर्लज्ज सभा से नहीं निकलना चाहता। कैसी विचित्रता है। अहा! वासवी भी नहीं हैं। कब तक आवेंगी?

जीवक — (प्रवेश करके) सम्राट्!

बिम्बिसार — चुप! यदि मेरा नाम न जानते हो, तो मनुष्य कहकर पुकारो। वह भयानक सम्बोधन मुझे न चाहिए!

जीवक — कई रथ द्वार पर आए हैं, और राजकुमार कुणीक भी आ रहे हैं।

बिम्बिसार — कुणीक कौन! मेरा पुत्र या मगध का सम्राट् अजातशत्रु?

अजातशत्रु — (प्रवेश करके) पिता, आपका पुत्र यह कुणीक सेवा में प्रस्तुत है। (पैर पकड़ता है।)

बिम्बिसार — नहीं-नहीं, मगधराज अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए। मेरे दुर्बल-चरण छोड़ दो।

अजातशत्रु — नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य अधिकार से वंचित किया। अबाध्य पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है?

बिम्बिसार — पिता। किन्तु, वह पुत्र को क्षमा करता है; सम्राट् को क्षमा करने का अधिकार पिता को कहाँ

अजातशत्रु — नहीं पिता, मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जंगलीपन की स्वतन्त्रता का अभिमान-अपने को विश्व-भर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा आत्मसम्मान।

बिम्बिसार — वह भी तो तुम्हारे गुरुजन की ही दी हुई शिक्षा थी। तुम्हारी माँ थी — राजमाता।

अजातशत्रु — वह केवल मेरी माँ थी — एक सम्पूर्ण अंग का आधा भाग; उसमें पिता की छाया न थी — पिता! इसलिए आधी शिक्षा अपूर्ण ही होगी।

छलना — (प्रवेश करके चरण पकड़ती है) नाथ! मुझे निश्चय हुआ कि वह मेरी उद्दण्डता थी। वह मेरी कूट-चातुरी थी, दम्भ का प्रकोप था। नारी-जीवन के स्वर्ण से मैं वंचित कर दी गई। ईंट-पत्थर के महल रूपी बन्दीगृह में मैं अपने को धन्य समझने लगी थी। दण्डनायक; मेरे शासक! क्यों न उसी समय शील और विनय के नियम-भंग करने के अपराध में मुझे आपने दण्ड दिया! क्षमा करके, सहन करके, जो आपने इस परिणाम की यन्त्रणा के गर्त में मुझे डाल दिया है, वह मैं भोग चुकी। अब उबारिये!

बिम्बिसार — छलना! दण्ड देना मेरी सामर्थ्य के बाहर था! अब देखूँ कि क्षमा करना भी मेरी सामर्थ्य में है कि नहीं!

वासवी — (प्रवेश करके) आर्यपुत्र! अब मैंने इसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व-पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दण्ड कम नहीं है; अब आपको क्षमा करना ही होगा।

बिम्बिसार — वासवी! तुम मानवी हो कि देवी?

वासवी — बता दूँ! मैं मगध के सम्राट् की राजमहिषी हूँ। और, यह छलना मगध के राजपौत्र की धाई है, और यह कुणीक मेरा बच्चा इस मगध का युवराज है और आपको भी...

बिम्बिसार — मैं अच्छी तरह अपने को जानता हूँ, वासवी!

वासवी — क्या?

बिम्बिसार — कि मैं मनुष्य हूँ और इन मायाविनी स्त्रियों के हाथ का खिलौना हूँ।

वासवी — तब तो महाराज! मैं जैसा कहती हूँ वैसा ही कीजिए; नहीं तो आपको लेकर मैं नहीं खेलूँगी।

बिम्बिसार — तो तुम्हारी विजय हुई, वासवी! क्यों अजात! पुत्र होने पर पिता के स्नेह का गौरव तुम्हें विदित हुआ — कैसी उल्टी बात हुई।

(कुणीक लज्जित होकर सिर झुका लेता है)

पद्मावती — (प्रवेश करके) पिताजी, मुझे बहुत दिनों से आपने कुछ नहीं दिया है, पौत्र होने के उपलक्ष्य में तो मुझे कुछ अभी दीजिए, नहीं तो मैं उपद्रव मचा कर इस कुटी को खोद डालूँगी।

बिम्बिसार — बेटी पद्मा! अहा तू भी आ गई

पद्मावती — हाँ पिताजी! बहू भी आ गई है। क्या मैं यहीं ले आऊँ?

वासवी — चल पगली! मेरी सोने-सी बहू इस तरह क्या जहाँ-तहाँ जाएगी — जिसे देखना हो, वहीं चले!

बिम्बिसार — तुम सबने तो आकर मुझे आश्चर्य में डाल दिया। प्रसन्नता से मेरा जी घबरा उठा है।

पद्मावती — तो फिर मुझे पुरस्कार दीजिए।

बिम्बिसार — क्या लोगी?

पद्मावती — पहले छोटी माँ को, भैया को, क्षमा कर दीजिए; क्योंकि इनकी याचना पहले की है; फिर...

बिम्बिसार — अच्छा री, पद्मा! देखूँगा तेरी दुष्टता। उठो वत्स अजात! जो पिता है वह क्या कभी भी पुत्र को क्षमा-केवल क्षमा-माँगने पर भी नहीं देगा। तुम्हारे लिए यह कोष सदैव खुला है। उठो छलना, तुम भी। (अजातशत्रु को गले लगाता है।)

पद्मावती — तब मेरी बारी!

बिम्बिसार — हाँ, कह भी...

पद्मावती — बस, चल कर मगध के नवीन राजकुमार को एक स्नेह-चुम्बन आशीर्वाद के साथ दीजिए।

बिम्बिसार — तो फिर शीघ्र चलो! (उठ कर गिर पड़ता है) ओह! इतना सुख एक साथ मैं सहन न कर सकूँगा! तुम सब बहुत विलम्ब करके आए! (काँपता है।)

(गौतम का प्रवेश, अभय का हाथ उठाते हैं)

(आलोक के साथ यवनिका-पतन)

एक घूँट

परिचय

अरुणाचल आश्रम — अरुणाचल पहाड़ी के समीप, एक हरे-भरे प्राकृतिक वन में कुछ लोगों ने मिलकर एक स्वास्थ्य-निवास बसा लिया है। कई परिवारों ने उसमें छोटे-छोटे स्वच्छ घर बना लिये है। उन लोगों की जीवन-यात्रा का अपना निराला ढंग है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की संधि है। उनका आदर्श है सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य।

कुंज — आश्रम का मंत्री। एक सुदक्ष् प्रबंधकार और उत्साही संचालक, सदा प्रसन्न रहने वाला अधेड़ मनुष्य।

रसाल — एक भावुक कवि। प्रकृति से और मनुष्यों से तथा उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिए सामग्री जुटाने में व्यस्त सरल प्राणी।

वनलता — रसाल कवि की स्त्री। अपने पति की भावुकता से असंतुष्ट। उसकी समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने में व्यस्त रहती है।

मुकुल — उत्साही तर्कशील युवक। कुतूहल से उसका मन सदैव उत्सुकताभरी प्रसन्नता में रहता है।

झाड़ूवाला — एक पढ़ा-लिखा किन्तु साधारण स्थिति का मनुष्य अपनी स्त्री की प्रेरणा से उस आश्रम में रहने लगता है; क्योंकि उस आश्रम में कोई साधारण काम करनेवाले को लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। सभी कुछ-न-कुछ करते थे। उसकी स्त्री के हृदय में स्त्री-जन-सुलभ लालसाएँ होती है; किन्तु पूर्ति का कोई उपाय नहीं।

चंदुला — एक विज्ञापन करने वाला विदूषक।

प्रेमलता — मुकुल की दूर से संबंध की बहन। एक कुतूहल से भरी कुमारी। उसके मन में प्रेम और जिज्ञासा भरी है।

आनन्द — एक स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक, घुमक्कड़ और सुंदर युवक। कई दिनों से आश्रम का अतिथि होकर मुकुल के यहाँ ठहरा है।

(अरुणाचल-आश्रम का एक सघन कुंज। श्रीफल, वट, आम, कदंब और मौलसिरी के बड़े-बड़े वृक्षों की झुरमुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है। उधर समीर के झोंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिलाकर, जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं। वसंत के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध, उस हरी-हरी छाया में कलोल कर रही है। वृक्षों के अंतराल के गुंजारपूर्ण नभखंड की नीलिमा में जैसे पक्षियों का कलरव साकार दिखाई देता है!

मौलसिरी के नीचे वेदी पर वनलता बैठी हुई, अपनी साड़ी के अंचल की बेल देख रही है। आश्रम में ही कहीं होते हुए संगीत को कभी सुन लेती है, कभी अनसुनी कर जाती हैं)

(नेपथ्य में गान)

खोल तू अब भी आँखें खोल!
जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठतीं लहरें लोल!
छवि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख से झिल जा तू।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल।
जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न! अह!

भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बंधन खोल।
खोल तू अब भी आँखें खोल।

(संगीत बंद होने पर कोकिल बोलने लगती है। वनलता अंचल छोड़कर खड़ी हो जाती है। उसकी तीखी आँखें जैसे कोकिल को खोजने लगती है। उसे न देखकर हताश-सी वनलता अपने-ही आप कहने लगती है)

कितनी टीस है, कितनी कसक है, कितनी प्यास है, निरंतर पंचम की पुकार! कोकिल! तेरा गला जल उठता होगा। विश्व-भर से निचोड़कर यदि डाल सकती तेरे सूखे गले में एक घूँट (कुछ सोचती है) किन्तु इस संगीत का– क्या अर्थ है– बंधनों को खोल देना, एक विशृंखलता फैलाना, परन्तु मेरे हृदय की पुकार क्या कह रही है। आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती? (रसाल को आते हुए देखकर) मेरी विश्व-यात्रा के संगी, मेरे स्वामी! तुम काल्पनिक विचारों के आनंद में अपनी सच्ची संगिनी को भूल– (रसाल चुपचाप वनलता की आँखें बंद कर लेता है, वह फिर कहने लगती है) कौन है? नीला, शीला,

प्रेमलता! बोलती भी नहीं; अच्छा, मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गयी हो न!

रसाल — (निश्वास लेकर हाथ हटाते हुए) इन लोगों के अतिरिक्त और कोई दूसरा तो हो ही नहीं सकता। इतने नाम लिये किन्तु– किन्तु एक मेरा ही स्मरण न आया। क्यों वनलता?

वनलता — (सिर पर साड़ी खींचती हुई) आप थे! मैं नहीं जान–

रसाल — (बात काटते हुए) जानोगी कैसे लता! मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न! अच्छा तो है तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिए स्मरण करने की वस्तु होगी। (निश्वास लेकर) अच्छा, चलती हो, आज मेरा व्याख्यान सुनने के लिए?

वनलता — (आश्चर्य से) व्याख्यान! तुम कब से देने लगे? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देना क्या जानो, और वह विषय कौन-सा होगा जिस पर तुम व्याख्यान दोगे? घड़ी-दो-घड़ी बोल सकोगे! छोटी-छोटी कल्पनाओं के उपासक! सुकुमार सुक्ति के संचालक! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे?

रसाल — तो मेरे इस भावी अपराध को तुम क्षमा न करोगी। आनंदजी के स्वागत में मुझे कुछ बोलने के लिए आश्रमवालों ने तंग कर दिया है। क्या करूँ वनलता!

वनलता — (मौलसिरी की एक डाल पकड़कर झुकाती हुई) आनंदजी का स्वागत! अब होगा! क्या कहते हो! उन्हें आये तो कई दिन हो गये!

रसाल — (सिर पकड़कर) ओह! मैं भूल गया था, स्वागत नहीं उनके परिचय-स्वरूप कुछ बोलना पड़ेगा।

वनलता — हाँ परिचय! अच्छा मुझे तो बताइये यह आनंदजी कौन है, क्यों आये है और कब! नहीं-नहीं, कहाँ रहते है?

रसाल — मनुष्य है, उनका कुछ निज का संदेश है, उसी का प्रचार करते है। कोई निश्चित निवास नहीं। (जैसे कुछ स्मरण करता हुआ) तुम भी चलो न! संगीत भी होगा। आनंदजी अरुणाचल पहाड़ी की तलहटी में घूमने गये हैं; यदि नदी की ओर भी चले गये हो तो कुछ विलंब लगेगा नहीं तो अब आते ही होगे। तो मैं चलता हूँ।

(रसाल जाने लगता है। वनलता चुप रहती है। फिर रसाल के कुछ दूर जाने पर उसे बुलाती है।)

वनलता — सुनो तो!

रसाल — (लौटते हुए) क्या?

वनलता — यह अभी-अभी जो संगीत हो रहा था (कुछ सोचकर) मुझे उसका पद स्मरण नहीं हो रहा है, वह–

रसाल — मेरी 'एक घूँट' नाम की कविता मधुमालती गाती रही होगी।

वनलता — क्या नाम बताया — 'एक घूँट'? उँहू! कोई दूसरा नाम होगा तुम भूल रहे हो; वैसा स्वर-विन्यास 'एक घूँट' नाम की कविता में हो ही नहीं सकता।

रसाल — तब ठीक है। दूसरी कविता रही होगी। तो मैं जाऊँ न!

वनलता — (स्मरण करके) ओहो, उसमें न जकड़े रहने के लिए, बंधन खोलने के लिए, और भी क्या-क्या ऐसी ही बातें थी। वह किसकी कविता है?

रसाल —(दूसरी ओर देखकर) तो, तो वह मेरी — हाँ-हाँ — मेरी ही कविता थी।

वनलता — (त्योरी चढ़ाकर) अच्छा, तो आप बंधन तोड़ने की चेष्टा में है आजकल! क्यों, कौन बंधन खोल रहा है?

रसाल — (हँसने की चेष्टा करता हुआ) यह अच्छी रही! किन्तु लता! यह क्या पुराने ढंग की साड़ी तुमने पहन ली है? यह तो

समय के अनुकूल नहीं; और मैं तो कहूँगा, सुरुचि के भी प्रतिकूल है।

वनलता — समय के अनुकूल बनने में मेरी बान नहीं, और सुरुचि के संबंध में मेरा निज का विचार है। उसमें किसी दूसरे की सम्मति की मुझे आवश्यकता नहीं.

रसाल — उस दिन जो नई साड़ी मैं ले आया था, उसे पहन आओ न! (जाने लगता है)

वनलता — अच्छा-अच्छा, तुम जाते कहाँ हो? व्याख्यान कहाँ होगा? ए कवि जी सुनूँ तो!

रसाल — यही तो मैं भी पूछने जा रहा था।

(वनलता दाहिने हाथ की तर्जनी से अपना अधर दबाये, बायें हाथ से दाहिनी कुहनी पकड़े हँसने लगती और रसाल उसकी मुद्रा साग्रह देखने लगता है, फिर चला जाता है:

वनलता — (दाँतों से ओंठ चबाते हुए) हूँ! निरीह, भावुक प्राणी! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते है। परन्तु मेरे आर्त्तनाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते। और मैंने ही –

(दूर से कुछ लोगों के बातचीत करते हुए आने का शब्द सुनाई पड़ता है। वनलता चुपचाप बैठ जाती है। प्रेमलता और आनंद का बात करते हुए प्रवेश। पीछे-पीछे और भी कई स्त्री-पुरुषों का आपस में संकेत से बातें करते हुए आना — वनलता जैसे उस ओर ध्यान ही नहीं देती)

आनन्द — (एक ढीला रेशमी कुरता पहने हुए है, जिसकी बाहें उसे बार-बार चढ़ानी पड़ती है, बीच-बीच में चदरा भी सम्हाल लेता है। पान को रूमाल से पोंछते हुए प्रेमलता की ओर गहरी दृष्टि से देखकर) जैसे उजली धूप सब को हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पँखडियों को गद्गद कर देती है, जैसे सुरभि की शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परिस्थिति होनी चाहिए।

प्रेमलता — किन्तु जीवन की झंझटे, आकांक्षाएँ, ऐसी अवसर आने दें तब न! बीच-बीच में ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते है। तब!

आनन्द — उन्हें पुचकार दो, सहला दो, तब भी न माने, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस में लड़ जायँ

और तब तुम तटस्थ दर्शक मात्र बन जाओ और खिलखिलाकर हँसते हुए वह दृश्य देख सको। देख सकोगी न!

प्रेमलता — असंभव! विचारों का आक्रमण तो सीधे मुझी पर होता है। फिर वे परस्पर कैसे लड़ने लगे? (स्वगत) अहा, कितना मधुर यह प्रभात है! यह मेरा मन जो गुदगुदी का अनुभव कर रहा है, उसका संघर्ष किससे करा दूँ।

(मुकुल भवों को चढ़ाकर अपनी एक हथेली पर तर्जनी से प्रहार करता है, जैसे उसकी समझ में प्रेमलता की बात बहुत सोच-विचार कर कही गई हो। आनंद दोनों को देखता है, फिर उसकी दृष्टि वनलता की ओर चली जाती है।)

आनन्द — (सँभलते हुए) जब तुम्हारे हृदय में एक कटु विचार आता है, उसके पहले क्या कोई मधुर भाव प्रस्तुत नहीं रहता? जिससे तुलना करके तुम कटुता का अनुभव करती हो।

प्रेमलता — हाँ, ऐसा ही समझ में आता है।

आनन्द — तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र मन-मंदिर में दो कटु, और मधुर — भावों का द्वंद्व चला करता है, और उन्हीं में से एक, दूसरे पर आतंक जमा लेता है।

प्रेमलता — लेता है किंतु, यह बात मेरी समझ में–.

आनन्द — (हँसकर) न आई होगी। किन्तु तुम उस द्वंद्व के प्रभास से मुक्त हो सकती हो। मान लो कि तुम किसी से स्नेह करती हो (ठहरकर प्रेमलता की ओर गूढ़ दृष्टि से देखकर) और तुम्हारे हृदय में इसे सूचित करने– व्यक्त करने के लिए इतनी व्याकुलता–

प्रेमलता — ठहरिये तो, मैं प्यार करती हू कि नहीं, पहले इस पर भी मुझे दृढ निश्चय कर लेना चाहिए।

आनन्द — (विरक्ति प्रकट करता हुआ) उँह, दृढ निश्चय को बीच में लाकर तुमने मेरी विचार-धारा दूसरी ओर बहा दी। दृढ निश्चय! एक बंधन है। प्रेम की स्वतंत्र आत्मा को बंदीगृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य,सौंदर्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।

प्रेमलता — ऐं! (और भी कई व्यक्ति आश्चर्य से) ऐं!

आनन्द — हाँ-हाँ, उस नियमबद्ध प्रेम-व्यापार का बड़ा ही स्वार्थपूर्ण विकृत रूप होगा। जीवन का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रेमलता — (आश्चर्य) और वह लक्ष्य क्या है?

आनन्द — विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य' है, क्योंकि आनंदमयी

प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ — अपने आत्मभाव से, निर्विशेष रूप से — रहने पर सफल हो सकती है। दृढ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी।

प्रेमलता — किन्तु अभी-अभी आपने नदी-तट पर जाल की कड़ियों को आपस में लड़ाते हुए मछुओं की बातें सुनी है। वे न जाने–

आनन्द — सुनी हैं। आनंद के संबंध में पहले एक बात मेरी सुन लो। आनंद का अंतरंग सरलता है, और बहिरंग सौंदर्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।

प्रेमलता — किन्तु आपकी ये बातें समझ में नहीं आती।

आनन्द — (हँसकर) तो इसमें मेरा आनंद नहीं। प्रायः न समझने के कारण मेरे इस कथन का अर्थ उलटा ही लगाया जायगा, यो तो पागल का प्रलाप समझा जायगा; किन्तु करूँ क्या, बात तो जैसी है वैसी ही कही जायगी न! उन मछुओ को सरलता और सौंदर्य दोनों का ज्ञान नहीं। फिर आनंद के नाम पर वे दुःख का नाम क्यों लें?

प्रेमलता — (उदास होकर) यदि हम लोगों की दृष्टि में उनके यहाँ सौंदर्य का अभाव हो, तो भी उनके पास सरलता नहीं है, मैं ऐसा नहीं मान सकती।

आनन्द — तुम्हारा न मानने का अधिकार मैं मानता हूँ, किंतु वे अपने भीतर ज्ञाता बनने का निश्चय करके, अपने स्वार्थों के लिए दृढ अधिकार प्रकट करते हुए, अपनी सरलता की हत्या कर रहे थे और सौंदर्य को मलिन बना रहे थे। काल्पनिक दुःखों को ठोस मानकर–

मुकुल — (बात काटते हुए) ठहरिये तो क्या फिर 'दुःख' नाम की वस्तु कोई हुई नहीं?

आनन्द — होगी कहीं! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

(वनलता चुपचाप तीव्र दृष्टि से दोनों को देखते हुई अपने बाल सँवारने लगती है और प्रेमलता आनन्द को देखती हुई अपने-आप सोचने लगती है)

प्रेमलता — (स्वगत) अहा! कितना सुन्दर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में

आनन्द है । आनन्द! आह! इनकी बातों में कितनी प्रफुल्लता है। हृदय को जैसे अपनी भूली हुई गति स्मरण हो रही है। (वह प्रसन्न नेत्रों से आनन्द को देखती हुई कह उठती है) और!

आनन्द — और दुःख की उपासना करते हुए एक-दूसरे के दुःख से दुःखी होकर परंपरागत सहानुभूति — नहीं-नहीं, यह शब्द उपयुक्त नहीं, हाँ — सहरोदन करना मूर्खता है प्रसन्नता की हत्या का रक्त पानी बन जाता है। पतला, शीतल! ऐसी संवेदनाएँ संसार में उपकार से अधिक अपकार ही करती है।

प्रेमलता — (स्वगत सोचने लगती है) सहानुभूति भी अपराध है? अरे यह कितना निर्दय! आनन्द! आनन्द! यह तुम क्या कह रहे हो? इस स्वच्छंद प्रेम से या तुमसे क्या आशा!

मुकुल — फिर संसार में इतना हाहाकार!

आनन्द — उँह, विश्व विकासपूर्ण है, है न? तब विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनन्द' ही है, अन्यथा यह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता।

मुकुल — और संसार में जो एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाते है, झगड़ते है!

आनन्द — दुःख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते है। तुम्हें हँसी के हल्के धक्के से उन्हें टाल देना चाहिए।

मुकुल — महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुन्दर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोमचा सड़कों ने उछल-कूदकर गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गये, उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलक पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

प्रेमलता — (आनन्द की ओर देख कर) क्यों?

आनन्द — ठीक वही बात! यही तो होना चाहिए। स्वच्छंद प्रेम को जकड़कर बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है। (मुस्कराने लगता है)

मुकुल — तब क्या सामाजिकता का मूल उद्गम — वैवाहिक प्रथा तोड़ देनी चाहिए? यह तो साफ-साफ दायित्व छोड़कर उद्भ्रांत जीवन बिताने की घोषणा होगी। परस्पर सुख-दुःख में गला

बाँधकर एक दूसरे पर विश्वास करते हुए, संतुष्ट दो प्राणियों की आशाजनक परिस्थिति क्या छोड़ देने की वस्तु है? फिर–

प्रेमलता — (स्वगत) यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है — (आनन्द को देखने लगती है)

आनन्द — (हताश होने की मुद्रा बनाकर) ओह! मनुष्य कभी न समझेगा। अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान वन जाता है।

मुकुल — मैंने देखा है कि मनुष्य एक ओर तो दूसरे से ठगा जाता है फिर भी दूसरे से कुछ ठग लेने के लिए सावधान और कुशल बनने का अभिनय करता रहता है।

प्रेमलता — ऐसा भी होता होगा!

आनन्द — यह मोह की भूख–

वनलता — (पास आकर) और पेट की हो भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती। हृदय को — (छाती पर हाथ रखकर) कभी इसको भी टटोलकर देखा है? इनकी भूख-प्यास का भी कभी अनुभव किया है? (आनन्द कौतुक से वनलता की ओर देखने लगता है। आश्रम के मंत्री कुंज के साथ रसाल का प्रवेश)

आनन्द — (मुस्कराकर) देवि, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न! तब भी हृदय भूखा और प्यासा! इसी से स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ।

वनलता — वही तो मैं समझ नहीं पाती, प्रतिकूलताएँ – (कहते-कहते रसाल को देखकर रुक जाती है, फिर प्रेमलता को देखकर) प्रेमलता! तुमने आज प्रश्न करने हम लोगों के अतिथि श्री आनन्द जी को अधिक समय तक थका दिया है। अच्छा होता कि कोई गान सुनाकर इन शुष्क तर्कों से उत्पन्न हुई हम लोगों की ग्लानि को दूर करती।

प्रेमलता — (सिर झुकाकर प्रसन्न होती हुई) अच्छा, सुनिए–

प्रेमलता — (गाती है)

जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोलम धारा —
बहती ले अनुराग तुम्हारा —
फिर भी प्यारा हृदय हमारा —
व्यथा घूमती मतवाली है।

हरित दलों के अंतराल से —
बचता-सा इस सघन जाल से —
यह समीर किस कुसुम-बाल से —
माँग रहा मधु की प्याली है।

एक घूँट का प्यासा जीवन —
निरख रहा सबको भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन —
कहाँ सजल वह हरियाली है।

(गान समाप्त होने पर एक प्रकार का सन्नाटा हो जाता है। संगीत की प्रतिध्वनि उस कुंज में अभी भी जैसे सब लोगों को मुग्ध किये है। वनलता सब लोगों से अलग कुंज से धीरे-धीरे कहती है)

वनलता — कुछ देखा आपने।

कुंज — क्या?

वनलता — हमारे आश्रम में एक प्रेमलता ही तो कुमारी है। और यह आनन्द जी भी कुमार ही है।

कुंज — तो इससे क्या?

वनलता — इससे! हाँ, यही तो देखना है कि क्या होता है? होगा कुछ अवश्य! देखूँ तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय! आपको–

कुंज — (चिंतित भाव से) मुझे तो इससे – जाने भी दो वह देखो रसाल जी कुछ कहना चाहते हैं क्या? मैं चलूँ।

(दोनों आनन्द जी के पास जाकर खड़े हो जाते हैं)

कुंज मंत्री — महोदय! मेरे मित्र श्री रसाल जी आपके परिचय स्वरूप एक भाषण देना चाहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके व्याख्यान के पहले ही —

आनन्द — (जैसे घबराकर) क्षमा कीजिए, मैं तो व्याख्यान देना नहीं चाहता; परन्तु श्री रसाल जी की रसीली वाणी अवश्य सुनूँगा। आप लोगों ने तो मेरा वक्तव्य सुन ही लिया । मैं वक्ता नहीं हूँ। जैसे सब लोग बातचीत करते है, कहते है, सुनते है, ठीक उसी तरह मैंने भी आप लोगों से वाग्विलास किया है। (रसाल को देखकर सविनय) हाँ, तो श्रीमान् रसाल जी!

प्रेमलता — किन्तु बैठने का प्रबंध तो कर लिया जाय!

वनलता — आनन्द जी इस वेदी पर बैठ जायँ और हम लोग इन वृक्षों की ठंडी छाया में बड़ी प्रसन्नता से यह गोष्ठी कर लेंगे।

आनन्द — हाँ-हाँ, ठीक तो है।

(सब लोग बैठ जाते है, और वनलता एक वृक्ष से टिक कर खड़ी हो जाती है। रसाल आनन्द के पास खड़ा होकर, व्याख्यान देने

की चेष्टा करता है। सब मुस्कराते है। फिर वह सम्हल कर कहने लगता है।)

रसाल — व्यक्ति का परिचय तो उसकी वाणी, उसके व्यवहार से वस्तुतः स्वयं हो जाता है; किन्तु यह प्रथा-सी चल पड़ी है कि–

वनलता — (सस्मित, बीच में ही बात काटकर) कि जो उस व्यक्ति के संबंध में भी कुछ नहीं जानते, उन्हीं के सिर पर परिचय देने का भार लाद दिया जाता है।

(सब लोग वनलता को असंतुष्ट होकर देखने लगते हैं और वह अपनी स्वाभाविक हँसी से सबका उत्तर देती है और कहती है) – अस्तु, कवि जी, आगे फिर– (सब हँस पड़ते है)

रसाल — अच्छा, मैं भी श्री आनन्द जी का परिचय न देकर आपके संदेश के संबंध में दो-एक बातें कहना चाहता हूँ, क्योंकि आपका संदेश हमारे आश्रम के लिए एक विशेष महत्त्व रखता है। आपका कहना है कि – (रुककर सोचने लगता है)

मुकुल — कहिए, कहिए!

रसाल — कि अरुणाचल-आश्रम इस देश की एक बड़ी सुंदर संस्था है, इसका उद्देश्य बड़ी ही स्फूर्तिदायक है। इसके आदर्श वाक्य, जिन्हें आप लोगों ने स्थान-स्थान पर लगा रक्खें है, बड़े ही उत्कृष्ट हैं; किन्तु उन तीनों में एक और जोड़ देने से आनंद जी का संदेश पूर्ण हो जाता है —

स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य में प्रेम को भी मिला देने से इन तीनों की प्राण-प्रतिष्ठा हो जायगी। इन विभूतियों का एकत्र होना — विश्व के लिए आनन्द का उत्स खुल जाना है।

प्रेमलता — किन्तु महोदय! मैं आपके विरुद्ध आप ही की एक कविता गाकर सुनाना चाहती हूँ।

मुकुल — ठहरो प्रेमलता!

वनलता — वाह! गाने न दीजिए! अब तो मैं समझती हूँ कि कविजी को जो कुछ कहना था, कह चुके।

(सब लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगते हैं, आनन्द सबको विचार-विमूढ-सा देखकर हँसने लगता है)

प्रेमलता - तो फिर क्या आज्ञा है?

आनन्द — हाँ-हाँ, बड़ी प्रसन्नता से, हम लोगों के तर्कों, विचारों और विवादों से अधिक संगीत से आनन्द की उपलब्धि होती है।

प्रेमलता — किन्तु यह दुःख का गान है। तब भी मैं गाती हूँ।

(गान)

जलधर की माला
घुमड़ रही जीवन-घाटी पर — जलधर की माला।
– आशा लतिका कंपती थरथर —
गिरे कामना-कुंड हहरकर
अंचल में है उपल रही भर — यह करुणा-बाला।
यौवन ले आलोक किरन की
डूब रही अभिलाषा मन की
क्रंदन चुंबित निठुर निघन की बनती बनमाला।
अंधकार गिरि-शिखर चूमती —
असफलता की लहर घूमती
क्षणिक सुखों पर सतत झूमती — शोकमयी ज्वाला।

(संगीत समाप्त होने पर एक-दूसरे का मुँह बड़ी गम्भीरता की मुद्रा से देखने-लगते हैं)

आनन्द — यह स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। ऐसी भावनाएँ हृदय को कायर बनाती है। रसाल जी, यह आपकी कविता है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि –

रसाल — मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी कल्पना की दुर्बलता है। मैं इससे बचने का प्रयत्न करूँगा। (सब लोगों की ओर देखकर) और आप लोग भी अनिश्चित जीवन की निराशा के गान भूल जाइये। प्रेम का प्रचार करके, परस्पर प्यार करके, दुःखमय विचारों को दूर भगाइये।

मुकुल — किन्तु प्रेम में क्या दुःख नहीं है?

रसाल — होता है, किन्तु वह दुःख मोह का है, जिसे प्रायः लोग प्रेम के सिर मढ़ देते है। आपका प्रेम, आनन्द जी के सिद्धान्त पर सबसे सम-भाव का होना चाहिए। भाई, पिता, माता और स्त्री को भी इन विशेष उपाधियों से मुक्त होकर प्यार करना सीखिए। सीखिए कि हम मानवता के नाते स्त्री से प्यार करते है। मानवता के नाम–

(सब लोग वनलता की ओर देख व्यंग्य से हँसने लगते हैं। रसाल जैसे अपनी भूल समझता हुआ चुप हो जाता है।)

वनलता — (भवें चढ़ाकर तीखेपन से) हाँ, मानवता के नाम पर, बात तो बड़ी अच्छी है। किन्तु मानवता आदान-प्रदान चाहती है, विशेष स्वार्थों के साथ। फिर क्यों न झरनों, चाँदनी रातों, कुंज और वनलताओं को ही प्यार किया जाय — जिनकी किसी से कुछ माँग नहीं। (ठहर कर) प्रेम की उपासना का एक केन्द्र होना चाहिए, एक अंतरंग साम्य होना चाहिए।

प्रेमलता — मानवता के नाम पर प्रेम की भीख देने में प्रत्येक व्यक्ति को बड़ा गर्व होगा। उसमें समर्पण का भाव कहाँ?

कुंज — सो तो ठीक है, किन्तु अंगरंग साम्यवाली बात पर मैं भी एक बात कहना चाहता हूँ। अभी कल ही मैंने 'मधुरा' में एक टिप्पणी देखी थी और उसके साथ कुछ चित्र भी थे, जिनमें दो व्यक्तियों की आकृति का साम्य था। एक वैज्ञानिक कहता कि प्रकृति जोड़े उत्पन्न करती है।

वनलता — (शीघ्रता से) और उसका उद्देश्य दो को परस्पर प्यार करने का संकेत करना है। क्यों, यही न? किन्तु प्यार करने के लिए हृदय का साम्य चाहिए, अंतर की समता चाहिए। वह कहाँ मिलती है? दो समान अंतःकरणों का चित्र भी तुमने देखा है? सो भी —

कुंज — एक स्त्री और एक पुरुष का, यही न! (मुँह बनाकर) ऐसा न देखने का अपराध करने के लिए मैं क्षमा माँगता हूँ)

(सब हँसने लगते हैं। ठीक उसी समय एक चंदुला, गले में विज्ञापन लटकाये आता है। उसकी चंदुली खोपड़ी पर बड़े अक्षरों में लिखा है 'एक घूँट' — और विज्ञापन में लिखा है, "पीते ही सौंदर्य चमकने लगेगा।" स्वास्थ्य के लिए सरलता से सुधारस मिला हुआ सुअवसर हाथ से न जाने दीजिए — पीजिए 'एक घूँट')

कुंज — (उसे देखकर आश्चर्य से) हमारे आश्रम के आदर्श शब्द! सरलता, स्वास्थ्य और सौंदर्य। वाह!

रसाल — और मेरी कविता का शीर्षक 'एक घूँट'!

चंदुला — (दाँत निकालकर) तब तो मैं भी आप ही लोगों की सेवा कर रहा हूँ। है न? आप लोग भी मेरी सहायता कीजिये। इसीलिए मैं यहाँ...

रसाल — (उसे रोककर) किन्तु तुमने अपनी खोपड़ी पर यह क्या भद्दापन अंकित कर लिया है?

चंदुला — (सिर झुकाकर दिखाते हुए) महोदय! प्रायः खोपड़ी में ऐसा ही भद्दापन भरा रहता है। मैं तो उसे निकाल बाहर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। आपको इससे सहमत होना चाहिए। यदि इस समय आप लोगों की कोई सभा, गोष्ठी या ऐसी की कोई

समिति इत्यादि हो रही हो तो गिन लीजिए, मेरे पक्ष में बहुमत होगा। होगा न?

रसाल — किन्तु यह अ-सुंदर है।

चंदुला — किन्तु मैं ऐसा करने के लिए बाध्य था। महोदया, और करता ही क्या?

रसाल — क्या?

चंदुला — मैंने खिड़की से एक दिन झाँककर देखा, एक गोरा-गोरा प्रभावशाली मुख, उसके साथ दो-तीन मनुष्य सीढ़ी और बड़े-बड़े कागज लिये मेरे मकान पर चढ़ाई कर रहे है। मैंने चिल्लाकर कहा - हँ-हँ-हँ-हँ, यह क्या?

रसाल — तब क्या हुआ?

चंदुला — उसने कहा, विज्ञापन चिपकेगा। मैंने बिगड़कर कहा — तुम उस पर लगा हुआ विज्ञापन स्वयं नहीं पढ़ रहे हो, तब तुम्हारा विज्ञापन दूसरा कौन पढ़ेगा। वह मेरी दीवार पर लिखा हुआ विज्ञापन पढ़ने लगा — 'यहाँ विज्ञापन चिपकाना मना है।' मैं मुँह बिचकाकर उसकी मूर्खता पर हँसने लगा था कि उसने डाँटकर कहा — "तुम नीचे आओ।"

रसाल — और तुम नीचे उतर आये, क्यों?

चंदुला — उतरना ही पड़ा — मैं चंदुला जो था। मेरा सिर सहला कर बोला — अरे तुम अपनी सब जगह बेकार रखते हो। इतनी बड़ी दीवार! उस पर विज्ञापन लगाना मना है! और इतना बढ़िया प्रमुख स्थान, जैसा किसी अच्छे पत्र में मिलना असंभव है। तुम्हारी खोपड़ी खाली! आश्चर्य! तुम अपनी मूर्खता से हानि उठा रहे हो। तुमको नहीं मालूम नही कि नंगी खोपड़ी पर प्रेत लोग चपत लगाते है।

वनलता — तो उसने भी चपत लगाया होगा?

चंदुला — नहीं-नहीं, (मुँह बनाकर) वह बड़ा भलामानुष था। उसने कहा — तुम लोग उपयोगिता का कुछ अर्थ नहीं जानते। मैं तुम्हें प्रतिदिन एक सोने का सिक्का दूँगा और तब मेरा विज्ञापन तुम्हारी चिकनी खोपड़ी पर खूब सजेगा। सोच लो।

रसाल — और तुम सोचने लगे?

चंदुला — हाँ, किन्तु मैंने सोचने का अवसर कहाँ पाया? ऊपर से वह बोली।

रसाल — ऊपर से कौन?

चंदुला — वही-वही, (दाँत से जीभ दबाकर) जिनका नाम धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुसार लिया ही नहीं जा सकता।

रसाल — कौन, तुम्हारी स्त्री?

चंदुला — (हँसकर) जी-ई-ई, उन्होंने तीखे स्वर से कहा — 'चुप क्यों हो, कह दो कि हाँ! अरे पंद्रह दिनों में एक बढ़िा हार! बड़े मूर्ख हो तुम!' मैंने देखा कि वह विज्ञापनवाला हँस रहा है। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं मूर्ख तो नहीं ही बनूँगा, और चाहे कुछ भी बन जाऊँ। तुरंत कह उठा — हाँ — ना नहीं निकला, क्योंकि जिसका कृपा से खोपड़ी चंदुला हो गई थी उसी का डर गला दबाये था।

रसाल — (निश्वास लेकर वनलता की ओर देखता हुआ) तब तुमने स्वीकार कर लिया?

चंदुला - हाँ, और लोगों के आनन्द के लिए।

आनन्द — (आश्चर्य से) आनन्द के लिए?

चंदुला — जी, मुझे देखकर सब लोग प्रसन्न होते है। सब तो होते है, एक आप ही का मुँह बिचका हुआ देख रहा हूँ। मुझे देखकर हँसिए तो! और यह भी कह देना चाहता हूँ कि उसी विज्ञापनदाता ने यह गुरु-भार अपने ऊपर लिया है — बीमा कर लिया है — कि कोई मुझे चपत नहीं लगा सकेगा। आप लोग समझ गये? यह मेरी कथा है।

आनन्द — किन्तु आनन्द के लिए तुमने यह सब किया! कैसे आश्चर्य की बात है? (वनलता को देखकर) यह सब स्वच्छंद प्रेम को सीमित करने का कुफल है, देखा न?

चंदुला — आश्चर्य क्यों होता है महोदय! माल लिया कि आपको मेरा विज्ञापन देखकर आनन्द नहीं मिला, न मिले; किन्तु इन्हीं पंद्रह दिनों में जब मेरी श्रीमती हार पहनकर अपने मोटे-मोटे अधरों की पगडंडी पर हँसी को धीरे-धीरे दौड़ावेगी और मेरी चंदुली खोपड़ी पर हल्की-सा चपत लगावेंगी तब क्या मैं आँख मूँदकर आनन्द न लूँगा — आप ही कहिये? आपने ब्याह किया है तो!

आनन्द — (डाँटते हुए) मैंने ब्याह नहीं किया है; किन्तु इतना मैं कह सकता हूँ कि आनन्द को इन गड़बड़-झाला में घोटना ठीक नहीं। अंतरात्मा के उस प्रसन्न-गम्भीर उल्लास को इस तरह कदर्थित करना अपराध है।

चंदुला — कदापि नहीं, एक घूँट सुधारस पान करके देखिए तो, वही भीतर की सुन्दर प्रेरणा आपकी आँखों में, कपोलों पर, सब जगह, चाँदनी-सी खिल जायगी। और संभवतः, आप ब्याह करने के लिए–

रसाल — (डाँटकर) अच्छा बस, अब जाइए।

चंदुला — (झुककर) जाता हूँ। किन्तु इस सेवक को न भूलिएगा। सुधारस भेजने के लिए शीघ्र ही पत्र लिखियेगा। मैं प्रतीक्षा करूँगा। (जाता है)

(कुछ लोग गंभीर होकर निश्वास लेते हैं जैसे प्राण बचा हो, और कुछ हँसने लगते हैं)

रसाल — (निश्वास लेकर) ओह! कितना पतन है? कितना वीभत्स! कितना निर्दय! मानवता! तूँ कहाँ है?

आनन्द — आनन्द में, मेरे कवि-मित्र! यह जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है उसका रहस्य क्या है? डर उत्पन्न करना! बिभिषिका फैलाना! जिससे स्निग्ध गंभीर जल में, अबोधगति से तैरनेवाली मछली-सी विश्व-सागर की मानवता चारों ओर जाल-ही-जाल देख, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे। सबसे भयभीत, सब से सशंक!

रसाल — अब मेरी समझ में आया!

वनलता — क्या?

रसाल — यही कि हम लोगों को शोक-संगीतों से अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये। आनंदातिरेक से आत्मा की साकारता ग्रहण करना ही जीवन है। उसे सफल बनाने के लिए स्वच्छंद प्रेम करना सीखना-सिखाना होगा।

वनलता — (आश्चर्य से) सीखना होगा और सिखाना होगा? क्या उसके लिए कोई पाठशाला खुलनी चाहिए?

आनन्द — नहीं; पाठशाला की कोई आवश्यकता इस शिक्षा के लिए नहीं है। हम लोग वस्तु या व्यक्ति विशेष से मोह करके और लोगों से द्वेष करना सीखते है न! उसे छोड़ देने ही से सब काम चल जायगा।

प्रेमलता — तो फिर हम लोग किसी प्रिय वस्तु पर अधिक आकर्षित न हों — आपका यही तात्पर्य है क्या?

(आनन्द कुछ बोलने की चेष्टा करता है कि आश्रम का झाड़ूवाला और उसकी स्त्री कलह करती हुई आ जाती है। सब लोग उनकी बातें सुनने लगते हैं)

झाड़ूवाला — (हाथ से झाड़ू को हिलाकर) तो तेरे लिए मैं दूसरे दिन उजली साड़ी कहाँ से लाऊँ? और कहाँ से उठा लाऊँ

सत्ताइस रुपये का सितार (सब लोगों की ओर देखकर) आप लोगों ने यह अच्छा रोग फैलाया।

मंत्री — क्या है जी?

झाड़ूवाला — (सिसकती हुई अपनी स्त्री को कुछ कहने से रोककर) आप लोगों ने स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य का ठेका ले लिया है; परन्तु मैं कहूँगा कि इन तीनों का गला घोंटकर आप लोगों ने इन्हें बन्दी बनाकर सड़ा डाला है, सड़ा; इन्हीं आश्रम की दीवारों के भीतर! उनकी अंत्येष्टि कब होगी?

रसाल — तुम क्या बक रहे हो?

झाड़ूवाला — हाँ, बक रहा हूँ! यह बकने का रोग उसी दिन से लगा जिस

दिन मैंने अपनी स्त्री से इस विष भरी बातों को सुना! और सुना अरुणाचल-आश्रम नाम के स्वास्थ्य-निवास का यश। स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य के त्रिदोष ने मुझे भी पागल बना दिया। विधाता ने मेरे जीवन को नये चक्कर में जुतने का संकेत किया। मैंने सोचा कि चलो इसी आश्रम में मैं झाड़ू लगाकर महीने में पंद्रह रुपये ले लूँगा और श्रीमतीजी सरलता का पाठ पढ़ंगी। किन्तु यहाँ तो–

झाड़ूवाले की स्त्री — अत्यंत कठोर अपमान! भयंकर आक्रमण! स्त्री होने के कारण मैं कितना सहती रहूँ। सत्ताइस रुपये के सितार के लिए कहना विष हो गया — विष! (कान छूती है) कानों के लिए फूल नहीं — (हाथों को दिखाकर) इनके लिए सोने की चूड़ियाँ नहीं माँगती, केवल संगीत सीखने के लिए एक सितार माँगने पर इतनी विडम्बना — (रोने लगती है)

सब लोग — (झाड़ूवाले से सक्रोध) यह तुम्हारा घोर अत्याचार है। तुम श्रीमतीजी से क्षमा माँगो। समझे?

झाड़ूवाला — (जैसे डरा हुआ) समझ गया। (अपनी स्त्री से) श्रीमतीजी, मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। और, कृपाकर अपने लिए, तुम इन लोगों से सितार के मूल्य की भीख माँगो। देखूँ तो ये लोग भी कुछ –

रसाल — (डाँटकर) तुम अपना कर्तव्य नहीं समझते और इतना उत्पात मचा रहे हो!

झाड़ूवाला — जी, मेरा कर्तव्य तो इस समय झाड़ू लगाने का है। किन्तु आप लोग यहाँ व्याख्यान झाड़ रहे है। फिर भला मैं क्या करूँ। अच्छा तो अब आप लोग यहाँ से पधारिये, मैं – (झाड़ू देने लगता है। सब रूमाल नाक से लगाते हुए एक स्वर से 'हैं-हैं-हैं' करने लगते हैं)

आनन्द — चलिये यहाँ से!

झाड़ूवाला — वायुसेवन का समय है। खुली सड़क पर, नदी के तट, पहाड़ी के नीचे या मैदानों में निकल जाइये। किन्तु — नहीं-नहीं, मैं सदा भूल करता आया हूँ। मुझे तो ऐसी जगहों में रोगी ही मिले है जिन्हें वैद्य ने बता दिया हो — मकरध्वज के साथ एक घंटा वायुसेवन। अच्छा, आप लोग व्याख्यान दीजिये। मैं चलता हूँ; चलिये श्रीमतीजी! उँहू आप तो सुनेंगी न! आप ठहरिये। (झाड़ू देना बन्द कर देता है)

आनन्द — मुझे भी आज आश्रम से विदा होना है। आप लोग आज्ञा दीजिए। किन्तु– नहीं, अब मैं उस विषय पर अधिक कुछ न कहकर केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि इस परिणाम से — स्वच्छंद प्रेम को बंधन में डालने के कुफल — आप लोग परिचित तो है; पर उसे टालते रहने का अब समय नहीं है।

(वनलता, झाड़ूवाला और उसकी स्त्री को छोड़कर सबका प्रस्थान)

वनलता — (झाड़ूवाले से) क्यों जी, तुम तो पढ़े-लिखे मनुष्य हो, समझदार हो?

झाड़ूवाला — हाँ, देवि, किन्तु समझदारी में एक दुर्गुण है। उस पर चाहे अन्य लोग कितने ही अत्याचार कर लें; परन्तु वह नहीं कर

सकता — ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देने पाता! (झाड़ू फटकार कर एक वृक्ष से टिका देता है)

वनलता — प्लेटो-अफलातून ने कहा है कि मनुष्य-जीवन के लिए संगीत और व्यायाम दोनों ही आवश्यक है। हृदय में संगीत और शरीर में व्यायाम नवजीवन की धारा बहाता रहता है। मनुष्य–

झाड़ूवाला — और पतंजलि ने कहा है कि जो मनुष्य — क्लेश, कर्म और विपाक इत्यादि से अर्थात् — रहित-तात्पर्य, वही-वही कुछ-कुछ सूना-सूना जो पुरुष मनुष्य हो, वही ईश्वर है।

वनलता — इससे क्या?

झाड़ूवाला — आपने प्लेटो को पुकारा, मैंने पतंजलि को बुलाया। आपने एक प्रमाण कहकर अपनी बातों का समर्थन किया और मैंने भी एक बड़े आदमी का नाम लिया। उन्होंने इन बातों को जिस रूप में समझा था वैसी मेरी और आपकी परिस्थिति नहीं — समय नहीं, हृदय नहीं। फिर मुझे तो अपनी स्त्री को समझाना है, और आपको अपने पति का हृदय समझना है।

वनलता — (चौंककर) मुझे समझना है और तुमको समझाना है! कहते क्या हो?

झाड़ूवाले की स्त्री — मैंने समझ लिया है कि मुझे सितार की आवश्यकता नहीं, क्योंकि —

झाड़ूवाला — क्योंकि हम लोग दीवार से घिरे हुए एक बड़े भारी कुंजवन में सुखी और संतुष्ट रहना सीखने के लिए बंदी बने हैं। जब जगत से, आकांक्षा और अभाव के संसार से, कामना और प्राप्ति के उपायों की क्रीड़ा से विरत होकर एक सुंदर जीवन, बिता देने के लोभ से मैंने झाड़ू लगाना स्वीकार किया है; विद्यालय की परीक्षा और उपाधि को भुला दिया है तब तुम मेरी स्त्री होकर –

झाड़ूवाले की स्त्री — बस-बस, मैं अब तुमसे कुछ न कहूँगी, मेरी भूल थी। अच्छा तो मैं जाती हूँ।

झाड़ूवाला — मैं भी चलता हूँ — (दोनों का प्रस्थान)

वनलता — यही तो, इसे कहते है झगड़ा, और यह कितना सुखद है, एक-दूसरे को समझकर जब समझौता करने के लिए, मनाने के लिए, उत्सुक होते है, तब जैसे स्वर्ग हँसने लगता है — हा, इस भीषण संसार में। मैं पागल हूँ। (सोचती हुई करुण मुख मुद्रा बनाती है, फिर धीरे-धीरे सिसकने लगती है) वेदना होती है। व्यथा कसकती है। प्यार के लिये। प्यार करने के लिये नहीं, प्रेम पाने के लिये। विश्व की इस अमूल्य संपत्ति में क्या मेरा अंश नहीं। इन असफलताओं के संकलन में मन को बहलाने के लिए, जीवन-यात्रा में थके हृदय के संतोष के लिए कोई अवलम्ब नहीं। मैं प्यार करती हूँ और प्यार करती रहूँ, किन्तु मुझे? मानवता के नाते– इसे सहने के लिए मैं कदापि प्रस्तुत नहीं। आह! कितना

तिरस्कार है। (वनलता सिर झुकाकर सिसकने लगती है। आनन्द का प्रवेश)

आनन्द — आप कुछ दुःखी हो रही है, क्यों?

वनलता — मान लीजिये कि हाँ मैं दुःखी हूँ।

आनन्द --- और वह दुःख ऐसा है कि आप रो रही है।

वनलता — (तीखेपन से) मुझे यह नहीं मालूम कि कितना दुःख हो तब रोना चाहिए। आपने इसका श्रेणी-विभाग किया होगा। मुझे तो यही दिखलाई देता है कि सब दुःखी है, सब विकल है, सबको एक — 'एक घूँट' की प्यास बनी है!

आनन्द — किन्तु मैं दुःख का अस्तित्व ही नहीं मानता। मेरे पास तो प्रेम रूपी अमूल्य चिंतामणि है।

वनलता — और मैं उसी के अभाव से दुःखी हूँ।

आनन्द — आश्चर्य। आपको प्रेम नहीं मिला। कल्याणी! प्रेम तो–

वनलता — हाँ, आश्चर्य क्यों होता है आपको! संसार में लेना तो सब चाहते है, कुछ देना ही तो कठिन काम है। गाली, देने की वस्तुओं में सुलभ है, किन्तु सम को वह भी देना नहीं आता। मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझे किसी ने अपना निश्छल प्रेम नहीं दिया, और बड़े दुःख के साथ इसे न देने का, संसार का, उपकार

मानती हूँ। (आँखों में जल भर लेती है, फिर जैसे अपने को सम्हालती हुई) क्षमा कीजिए, मेरी यह दुर्बलता थी।

आनन्द — नहीं श्रीमती! यही तो जीवन की परम आवश्यकता है। आह! कितने दुःख की बात है कि आपको–

वनलता — तो आप दुःख का अस्तित्व मानने लगे!

आनन्द — (विनम्रता से) अब मैं इस विवाद को न बढ़ाकर इतना मान लेता हूँ कि आपको प्रेम का आवश्यकता है। और आप दुःखी है। क्या आप मुझे प्यार करने की आज्ञा देंगी? क्योंकि–

वनलता — 'क्योंकि' न लगाइये; फिर प्यार करने में असुविधा होगी। 'क्योंकि' में एक कड़वी दुर्गन्धि है।

(रसाल चुपचाप आकर दोनों की बातें सुनता है और समय-समय पर उसकी मुख-मुद्रा में आश्चर्य, क्रोध और विरक्ति के चिन्ह झलकते हैं)

आनन्द — क्योंकि मैं किसी को प्यार नहीं करता, इसलिए आपसे प्रेम करता हूँ।

वनलता — (सक्रोध) वाग्जाल से क्या तात्पर्य?

आनन्द — मैं-मैं।

वनलता — हाँ आप ही का, क्या तात्पर्य है?

आनन्द — मेरा किसी से द्वेष नहीं, इसलिए मैं सबको प्यार कर सकता हूँ। प्रेम करने का अधिकारी हूँ।

वनलता — कदापि नहीं, इसलिए कि मैं आपको प्यार नहीं करती। फिर आपके प्रेम का मेरे लिये क्या मूल्य है?

आनन्द — तब! (ओंठ चाटने लगता है)

वनलता — तब यही कि (कुछ सोचती हुई) मैं जिसे प्यार करती हूँ वही — केवल वही व्यक्ति — मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को — जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है — सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक-एक घूँट वह पीता चले, मैं भी पिया करूँ। समझे! इसमें आपकी पोली दार्शनिकता या व्यर्थ के वाक्यों को स्थान नहीं।

आनन्द — (जैसे झेंप मिटाता हुआ) मैं तो पथिक हूँ और संसार ही पथ है। सब अपने-अपने पथ पर घसीटे जा रहे है, मैं अपने को ही क्यो कहूँ। एक क्षण, एक युग कहिये या एक जीवन कहिये; है वह एक ही क्षण, कहीं विश्राम किया और फिर चले। वैसा ही निर्मोह प्रेम संभव है। सबसे एक-एक घूँट पीते-पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना। यही तो मेरा संदेश है।

वनलता — शब्दावली की मधुर प्रवंचना से आप छले जा रहे है।

आनन्द — क्या मैं भ्रांत हूँ?

वनलता — अवश्य! असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चिर-परिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर एक घूँट पीना और पिलाना क्या समझे! प्रेम का 'एक घूँट'! बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आनन्द — (हताश होकर अंतिम आक्रमण करता हुआ) तो क्या आपने खोज लिया है — पहचान लिया है?

वनलता — मैंने तो पहचान लिया है। किन्तु वही!

आनन्द — (हताश होकर अंतिम आक्रमण करता हुआ) तो क्या आपने खोज लिया है — पहचान लिया है?

वनलता — मैंने तो पहचान लिया है किन्तु वही, मेरे जीवन-धन अभी नहीं पहचान सके। इसी का मुझे–

(रसाल आकर प्यार से वनलता का हाथ पकड़ता है और आनन्द को गूढ़ दृष्टि से देखता है)

आनन्द — अरे आप यहीं–

रसाल — जी.. (वनलता से) प्रिये! आज तक मैं भ्रांत था। मैंने आज पहचान लिया। यह कैसी भूल-भुलैया था।

आनन्द — तौ मैं चलूँ – (सिर खुजलाने लगता है)

वनलता — यही तो मेरे प्रियतम!

आनंद — (अलग खड़ा होकर) यह क्या! यही क्या मेरे संदेश का मेरी आकांक्षा का व्यक्ति रूप है! (वनलता और रसाल परस्पर स्निग्ध दृष्टि से देख रहे है। आनन्द उस सुन्दरता के देखकर धीरे-धीर मन में सोचता-सा असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चि– र.. प – रि– चि– त —

(रसाल और वनलता दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़े आनन्द की ओर देखकर हँसते हुए, चले जाते है; आनन्द उसी तरह चिंता में निमग्न अपने-आप कहने लगता है —)

चिर परिचित को खोज निकालना! कितनी असंभव बात! किन्तु– परन्तु– बिल्कुल ठीक– मिलते हैं — हाँ मिल ही जाते है, खोजने वाला चाहिए।

प्रेमलता — (सहसा हाथ में शर्बत लिये प्रवेश करके) खोजते-खोजते तो थक गयी। और शर्बत छलकते-छलकते कितना बचा, इसे आप ही देखिए। आप यहीं बैठे हौ और मैं कहाँ-कहाँ खोज रही आई।

आनन्द — मुझे आप खोज रही थी?

प्रेमलता — हाँ-हाँ, आप ही को (हँसती है)।

आनन्द — (रसाल और वनलता की बात मन-ही-मन स्मरण करता हुआ) सचमुच! बड़ा आश्चर्य है! (फिर कुछ सोचकर) अच्छा, क्यों? (प्रेमलता को गहरी दृष्टि से देखने लगता है।)

प्रेमलता — (जैसे खीझकर) आप ही ने कहा था न! कि मैं जा रहा हूँ। भोजन तो न करूँगा। हाँ, शर्बत या ठंडाई एक घूँट पी लूँगा। कहा था न? मीठी नारंगी का शर्बत ले आयी हूँ। पी लीजिए एक घूँट!

आनन्द — एक घूँट! मुझे पिलाने के लिये खोजने का आपने कष्ट उठाया है!

(विमूढ-सा सोचने लगता है और शर्बत लिये प्रेमलता जैसे कुछ लज्जा का अनुभव करती है)

प्रेमलता — आप मुझे लज्जित क्यों करते है?

आनन्द — (चौंककर) ऐ! आपको मैं लज्जित कर रहा हूँ! क्षमा कीजिये। मैं कुछ सोच रहा था।

प्रेमलता — यही आज न जाने की बात! वाह, तब तो अच्छा होगा। ठहरिये — दो-एक दिन!

आनन्द — नहीं प्रेमलता। आह! क्षमा कीजिये। मुझसे भूल हुई। मुझे इस तरह आपका नाम–

(हँसती हुई वनलता का प्रवेश)

वनलता — कान पकड़िये, बड़ी भूल हुई। क्यों आनंदजी, यह कौन है? आप बिना समझे-बूझे नाम जपने लगे।

(प्रेमलता लज्जित-सी सिर झुका लेती है। वनलता फिर अदृश्य हो जाती है। आनन्द प्रेमलता के मधुर मुख पर अनुराग की लाली को सतृष्ण देखने लगता है। और प्रेमलता कभी आनन्द को देखती है, कभी आँखें नीची कर लेती है)

आनन्द — प्रेमलता! प्रेमलता! तुम्हारी स्वच्छ आँखों में तो पहले इसका संकेत भी न था। यह कितना मादक है।

प्रेमलता — क्या! मैं किया क्या?

आनन्द — मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित संदेश में सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का

अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।

वनलता — (फिर हँसती हुई प्रवेश करके) मैं कहती थी न! खोजते-खोजते चिरपरिचित को पाकर एक घूँट पीना और पिलाना। कैसे पते की कही थी? हमारे आश्रम की एकमात्र सरला कुमारी प्रेमलता आपसे एक घूँट पीने का अनुरोध कर रही है तब भी–

आनन्द — क्षमा कीजिए श्रीमती! मैं अपनी मूर्खता पर विचार कर रहा हूँ। इतनी ममता कहाँ छिपी थी प्रेमलता? लाओ एक घूँट पी लूँ।

वनलता — (प्रेमलता के साथ) महाशय! आज से यही इस अरुणाचल-आश्रम का नियम होगा। उच्छृंखल प्रेम को बाँधने का। चलो प्रेमलता!

(वनलता के संकेत करने पर प्रेमलता सलज्ज अपने हाथों से आनन्द को पिलाती है — आश्रम की अन्य स्त्रियाँ पहुँचकर गाने लगती हैं, रसाल मुकुल और कुंज भी आकर फूल बरसाते है)

मधुर मिलन कुंज में —
जहाँ खो गया जगत का, सारा श्रम-संताप।
सुमन खिल रहे हो जहाँ, सुखद सरल निष्पाप॥

उसी मिलन कुंज में —

तरु लतिका मिलते गले, सकते कभी न छूट।

उसी स्निग्ध छाया तले... पी... लो... न... एक घूँट॥

(पटाक्षेप)

कल्याणी परिणय

पात्र परिचय

चाणक्य

चन्द्रगुप्त

इन्दुशर्मा

चण्डविक्रम

सिल्यूकस

मेगास्थनीज्

साइबर्टियस

दौवारिक

चर

कार्नेलिया (कल्याणी)

एलिस

तरलिका, चार नर्तकियाँ

प्रथम दृश्य

(सिन्धुतट-कानन । चाणक्य टहलता हुआ दिखाई देता है।)

चाणक्य — वाह! प्रभात का समय भी कैसा सुन्दर होता है, देखो।

(पद्य)

अंधकार हट रहा जगत जागृत हुआ।
रजनी का भी स्तब्ध भाव अपसृत हुआ॥
नीलाकाश प्रशांत स्वच्छ होने लगा।
दक्षिण-पवन-स्पर्श सुखद होने लगा॥
क्लांत निशा जो जगी रात भर मोद में।
चली लेटने आप नींद की गोद में॥
ऊषा का पट ओढ़ लिया अति चाव से।
अंतरिक्ष में सोने को शुचि भाव से॥
पर जीवों को जगा दिया कलनाद से।
जो तंद्रा-सुख भोग रहे आह्लाद से॥

(कुछ ठहर कर) पर मुझे भी दिन-रात राज-काज के झगड़ों ने दूसरा ही बना डाला। चाणक्य! तेरी वह शान्ति कहाँ गयी? इस क्रूर कार्य में क्यों तूने हाथ डाला? हाय, सब कहते है कि चाणक्य बड़ा ही दुष्ट है पर उन्हें यह ध्यान ही नहीं कि यह कार्य ही ऐसा है! संसार! संसार!! तेरी लीला अपरंपार है। मनुष्य को ध्यान भी नहीं रहता कि वह क्या से क्या हो गया। अनिर्वचनीय शक्ति तूने —

> छाया-सा अस्पष्ट चित्र दिखला दिया।
> भ्रममय अनुसंधान हमें सिखला दिया॥

नहीं तो कहाँ मैं और कहाँ यह दुस्तर कुहेलिका-समुद्र संसार!

(स्मरण करके गद्गद कण्ठ से आँखें बन्द किए हुए)

> आह!
> दूर छोड़ कर देश किस जगह आ गया।
> यात्री का पद कहो कहाँ से पा गया?
> नये-नये है साथ राह भी है नयी।
> नव विस्मृति के साथ व्यथा नव हो गयी॥
> सुख समुद्र के बीच प्रेम का द्वीप था।
> चन्द्रदेव का रजत-बिम्ब ही दीप था॥

पवन-सुरभि आनन्दपूर्ण सुख शीत था।
नव वसंत का राग शान्ति-संगीत था॥
चिर वसंत-मय काम्य कुसुम के कुंज थे।
जिनमें विहरणशील रसिक अलिपुंज थे॥
इतना था सौहार्द सभी हम एक थे।
करुणा का था राज्य, प्रेम ही धर्म था।
युद्धानन्द विनोद एक ही कर्म था॥
न था किसी से मोह, कभी न विवाद था।
मिलता अविरत स्वच्छ सुधा का स्वाद था॥
भीति शीत की भी, न मार्ग की यंत्रणा।
यह कुचक्र-मय चाल न थी, न कुमंत्रणा॥

सैनिक — (प्रवेश करते, स्वगत) रंग-ढंग तो आज निराला है, बाप रे बाप! किसके लिए कुमंत्रणा की चक्की तैयार हो रही है? किसका सिर पीसकर यंत्रणा दी जायगी? कह दें, साहस ही नहीं होता कि कह दे। अच्छा ठहर जायँ। —

चाणक्य — (निश्वास लेकर आँख खोलता हुआ)

तप्त हृदय की उष्ण नहीं निःश्वास था।
शुद्ध प्रेम-मय भाव सत्य विश्वास था॥

सैनिक — (जल्दी से) मन्त्रिवर! ग्रीक शिविर से एक ब्राह्मण आये हैं।

चाणक्य — (झिड़क कर) चला जा यहाँ से। तुझे किसने यहाँ आने को कहा है?

सैनिक — (घबरा कर काँपता हुआ) उसी ब्राह्मण ने...।

(जाने लगता)

चाणक्य — (रोककर) उसने अपना नाम भी कुछ बताया है (कुछ सोचकर) अच्छा, जाओ बुला लाओ। (सैनिक जाता है।)

इन्दुशर्मा — (प्रवेश कर) नमस्कार!

चाणक्य — नमस्कार! कहो जी क्या समाचार है?

इन्दुशर्मा — अमात्य! हमारा चन्द्रगुप्त के शिविर में आना आज यवनों पर विदित हो गया, आज मैं किसी तरह वहाँ से चला आया पर अब न जाऊँगा। (पुरजा देकर) यह लीजिये यह ग्रीक शिविर का पूरा विवरण इसी में लिख दिया है, इसे आप स्वस्थ होकर पढ़ लीजिये।

चाणक्य — मित्र! हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं। पर क्या एक बात जानने में तुम हमारी कुछ सहायता कर सकोगे? क्या यह बता सकते हो कि यवन शिविर में से कुछ स्त्रियाँ जो बाहर निकलकर घूमती थी, कौन थी?

इन्दुशर्मा — (कुछ सोचकर) वह तो यवन सम्राट सिल्यूकस की कन्या थी जिसे मैं पढ़ाया करता था।

चाणक्य — ठीक है। मुझे भी यही सन्देह था। अच्छा, अब विश्राम करें (इन्दुशर्मा जाता है। चाणक्य फिर टहलने लगता है। कुछ सोचकर) हूँ, तभी चन्द्रगुप्त की यह अवस्था है। अच्छा, पर क्या इतना परिश्रम व्यर्थ होगा। तलवार से नहीं, बुद्धि से नहीं, लक्ष्मी की झलक से नहीं, केवल एक क्षुद्र कटाक्ष से कौटिल्य का कूट-चक्र टूट जायगा। कभी नहीं, कभी नहीं। कोई कवि होता तो अवश्य कहता —

> कृष्ण केसर से भरे नव नील सरसीरुह अहो।
> देख कर किसका मधुप-मन धैर्य धरता है, कहो॥
> पड़ गयी माला गले जिसके सरस नलिनाक्ष की।
> कंटकों की है लड़ी तैयार कुटिल कटाक्ष की॥
> चुभ गये काँटे जिसे वह एक पग चलता नहीं।
> दलित अपने हृदय को निज हाथ से मलता वहीं॥

पर मुझे तो ऐसी कपोल कल्पनाएँ अच्छी नहीं लगती। चन्द्रगुप्त! क्या ठीक कुमारी के भोगे सुख ने तुझे भुला दिया कि तूने किस कठिनाई से राज्य पाया है। हूँ, मैं समझ गया। यवनों की एक चाल यह भी है। मछली फँसाने के लिए वंशी फेंक दी गयी है,

चारा भी मुँह में लग चुका है। पर अभी वारा-न्यारा नहीं हुआ। (हँसकर) अरे चाणक्य! तिमिंगल और वंसी सहित अहेरी खिंचा चला आये तब तो नाम, नहीं तो ये भी क्या जानेंगे। (घूमकर नेपथ्य की ओर देखकर) उधर देखो, चन्द्रगुप्त चला आ रहा है, मुखमंडल सन्ध्या के कमल-सा हो गया है, अहा! इसका मलिन मुख हमसे नहीं देखा जाता। संभवतः यह प्राभातिक वायु सेवन करके शिविर की ओर लौटा जा रहा है। मैं भी अपना आह्निक-कृत्य समाप्त कर चुका हूँ। चलूँ, अभी बहुत-सा कार्य करना है। प्रभात में जो थोड़ी शान्ति मिली थी, इन झंझट के कामों में वह फिर जाती रहेगी। (जाता है।)

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

(शिविर में चन्द्रगुप्त और चंडविक्रम)

चन्द्रगुप्त — अजी जाकर महामन्त्री से कह दो कि मैं अस्वस्थ हूँ, इससे थोड़ी देर में मंत्रणागृह में आऊँगा। (स्वगत) इन झंझटों से घड़ी भर भी अवकाश नहीं।

चंडविक्रम — किन्तु महाराज! ऐसे रण-प्रांगण में आप क्यों सुस्त हो रहे हैं कुछ समझ में नहीं आता? आज पाँच दिन से समस्त सैनिक लोग व्यग्रमुख से आप से आज्ञा की आशा कर रहे है।

चन्द्रगुप्त — व्यस्य चंडविक्रम। युद्ध कोई खिलवाड़ तो है नहीं, कि जब इच्छा हुई अकारण सैनिकों का नाश कर दिया जाय। यह तो शत्रु की विशेष गतिविधि पर ध्यान रखकर किया जाता है जिसमें अपनी हानि न हो।

चंडविक्रम — (धीरे से) पर मैं देख रहा हूँ कि महाराज के हृदय-पट पर कोई अलक्षित चित्रकार नया रंग भर रहा है।

चन्द्रगुप्त — (चौंककर) क्या कहा, क्या? तुम तो व्यर्थ ही शंका कर रहे हो।

चंडविक्रम — (हँसकर) महाराज! शंका किस लिये करूँ।

चन्द्रगुप्त — (छिपाते हुए) कुछ नहीं, हमने समझा कि तुम कुछ दूसरी बात समझ रहे हो।

चंडविक्रम — महाराज!

नव धन जल सींची जा चुकी जो धरा है।
हृदय सरस जिसका भाव ही से भरा है॥
वह प्रकट न वैसी आर्द्र देती लखाई।
तृण हरित बताते हो गयी है सिंचाई॥

चन्द्रगुप्त — इस कविता का भाव मेरी समझ में नहीं आया।

चंडविक्रम —

वसन्त के कानन में खिला जो।
मलिन्द से प्रेम भरा मिला जो॥
गुलाब वो गन्ध छिपा सके नहीं
समीर-निःश्वास कहे जहाँ तहीं॥

चन्द्रगुप्त — (मुस्कराकर) यह तो तुमने अच्छा मधवा का अर्थ बिड़ौजा किया।

चंडविक्रम — क्षमा कीजिये, अब मुझे प्रकट कहना पड़ा। अच्छा, कल आप मृगया खेलते-खेलते किधर चले गये थे? हम लोगों से जब आप अलग हुए तब मालूम होता है कि मृग तो आपके हाथ लगा नहीं वरन् आप ही किसी मृगनयनी की बरुनी के जाल में फँस गये। मैं तो यही समझ सका, आगे जो कुछ हो।

चन्द्रगुप्त — अब तुमसे क्या छिपायें, सुनो। जब मृग के पीछे मैं बहुत दूर निकल गया, तब मुझे मालूम हुआ का मैं जंगल की सीमा पर चला आया हूँ। अस्तु, मैं थोड़ी देर तक वहाँ ठहर गया क्योंकि मृग झाड़ी में छिप गया था और मैं भी शान्त हो गया था। अभी थोड़ी देर भी नहीं हुई थी मृग घोड़ों की टाप सुनकर झाड़ी में से निकलने लगा। मैंने भी अपना धनुष चढ़ाकर ज्यों ही तीर छोड़ना चाहा कि, हाय, मैं स्वयं घायल हो गया। (चुप हो जाता है।)

चंडविक्रम — हाँ, फिर क्या हुआ? कहिये न, इसी से तो मैं समझता हूँ कि आप छिपाना चाहते हैं।

चन्द्रगुप्त — क्या कहें! उसी समय मेरे सामने से सुन्दरियों का एक झुण्ड अपने घोड़ों को दौड़ाता हुआ निकल गया। चंडविक्रम! मैं तो अवाक्-सा रह गया। मुझे मालूम हुआ का नन्दनकानन में भूलकर अप्सराएँ इस घोर कानन में चली आयी हैं। अहा! उसका लावण्य तो मैं कह नहीं सकता जो सबके आगे काले घोड़े पर सवार होकर नीलधन की चपला को लजा रही थी।

(पद्य लावनी)

वे खुले अलक मारुत से क्रीड़ा करते।

मुखरूप-सिन्धु में लहरों को अनुहरते॥

था रुप मिला परिमल से प्रेम-भरा था।
वर्षा-कानन सा निर्मल हुआ हरा था॥
राका वसन्त-सा मधुर, तीक्ष्ण दिनकर-सा।
गम्भीर शान्ति-संगीत सुधामय स्वर-सा॥
आकर्षण था उस चन्द्रकान्त में ऐसा।
खिंच जाय हृदय लोहा का भी हो कैसा॥

अहा, वह नैसर्गिक सौन्दर्य क्या फिर कभी देखने को मिलेगा?

(नेपथ्य में कोलाहल। सैनिक का प्रवेश)

सैनिक — महाराज की जय हो। शत्रुओं ने अचानक आक्रमण कर दिया है। सेनापति सिंहनाद सेना लेकर अग्रसर हो रहे हैं।
चन्द्रगुप्त — (शीघ्रता से) जल्दी, घोड़ा खींचने के लिए कहो। चंडविक्रम! चलो देखे तो आज ग्रीक लोग कितने वीर हैं। शीघ्र प्रस्तुत हो।

(सैनिक और चंडविक्रम जाते हैं)

आवें लड़े ग्रीक, हम वीर निर्भीक,

प्रण में रहे ठीक, सब वीर मेरे।
देखे सबल हाथ, रण बीच कर साथ,
अर्पण करें माथ, पहुँचे न डेरे।
आवें लड़े ग्रीक, हम वीर निर्भीक।

(चन्द्रगुप्त जाता है। चाणक्य का प्रवेश। चाणक्य सीटी बजाता है, गुप्तचर का प्रवेश)

चर — क्या आज्ञा है?

चाणक्य — कठिन कार्य है। आज तुम्हारी कठिन परीक्षा है।

चाणक्य — यह तो मुझे दृढ विश्वास है कि चन्द्रगुप्त का पराक्रम ठीक है पर उस पराक्रम की अग्नि में घी डालने का काम तुम्हारा है। जिस समय चन्द्रगुप्त विजयी हो रहा हो उस समय तुमको उसके पास पहुँचकर यवनकुमारी का ध्यान दिलाना होगा और शिविर भी बतलाना होगा। यदि तुम कृतकार्य हुए तो समझ लेना कि चाणक्य तुम्हें यथेष्ट पुरस्कार देगा।

चर — जो आज्ञा! (जाता है)

(पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

(सिन्धु तट पर चन्द्रगुप्त की सेना)

(समवेतस्वर)

जय जय जय आदि भूमि, जय जय जय भरत भूमि।
जय जय जय जन्म भूमि, अपने सम प्यारी॥
निखिल-विश्व-गुरु समान, जिसका गौरव महान।
प्रति कण में निहित ज्ञान, प्राण देह धारी॥
हम सब है महाप्राण, भारत का शिरस्त्राण।
असि शरधनु धारी॥
हिमगिरी सम धीर रहें, सिन्धु सम गँभीर रहें।
जननी व्रतधारी॥

(चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

सेना — जय! महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की जया!

चन्द्रगुप्त — वीरगण! आज तो परिश्रम आप लोगों ने किया वह अकथनीय है। आज ही मुझ मालूम हुआ कि मैं अकेला नहीं हूँ। भारत के अगणित वीरपुत्र सच्चे हृदय से मेरा साथ दे रहे हैं।

सिंहनाद — सब महाराज के चरण का प्रभाव है।

चन्द्रगुप्त — वीरगण! तुम्हारे ऐसे कर्मण्य वीरों के शौर्य, मेरे साहस और ईश्वर की कृपा के मिल जाने से आज सिल्यूकस की विजयिनी ग्रीकवाहिनी को हम लोगों से पराजित होना पड़ा है।

सेना — जय, सम्राट चन्द्रगुप्त की जय!

(चर आकर चन्द्रगुप्त से कुछ धीरे से कहता है और इंगित पाकर चला जाता है।)

चन्द्रगुप्त — (सैनिकों से) वीरगण! हम लोगों को अभी और कुछ करना है। ग्रीक नरपशुओं को पवित्र भारतीय धरा से बाहर हाँक देना चाहिए। जिससे ये फिर से हमारी शस्य-श्यामला धरा की ओर लोलुप दृष्टि से न देखें।

सैनिक — जैसी महाराज का आज्ञा।

(चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य — विजयतां भारत सम्राटः।

चन्द्रगुप्त — आर्य! अभिनन्दन करता हूँ।

चाणक्य — वत्स! विजयलक्ष्मींलभस्व।

चन्द्रगुप्त — आर्य! इच्छा होती है कि ग्रीक शिविर पर अचानक आक्रमण करके कूट-युद्धकारी ग्रीकों को बता दें कि भारत को विजय करना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु और कुछ भी है।

चाणक्य — ग्रीक शिविर में, सेना और सेनापति दोनों को विशेष लाभ की सम्भावना है।

चन्द्रगुप्त — (प्रसन्न होकर) आर्य का आशीर्वाद सादर ग्रहण करता हूँ।

चाणक्य — अभीष्ट-सिद्धि हो।

(चन्द्रगुप्त आगे होता है और सैनिक पीछे-पीछे 'जय जय जय आर्य भूमि' इत्यादि गाते हुए जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

(राजकीय कानन)

कठिन कुहक कल्पनामयी, प्रतिक्षण-सी नित्य नयी।
कल-कल नाद सुनाती है यह मृग-मरीचिका-मयी॥
छायी-सी छोड़ती न छन भर ऐसी ढीठ, भयी।
अंक सदृश बढ़ती है, इसकी प्रतिभा प्रभा नयी॥

कार्नेलिया — पिता! वृद्ध पिता! तुम्हें आशा कब तक दौड़ाया करेगी? तुम्हारा पहला शासनविस्तार कम है जो इस पिशाची की छलना में पड़े लाखों जीवों का नाश करा रहे हो। अहा हा! इस शस्य श्यामला धरा को रक्तरंजित करनेवाले हिंस्र पशु नहीं तो क्या हैं? ये नर पशु ग्रीक-सैनिक मारी की तरह देश का नाश कर रहे हैं। भारत की पवित्र भूमि केवल हत्या, लूट, रक्त और युद्ध से वीभत्स बनायी जा रही है। वाह कैसा सुन्दर देश है! मुझे इस भूमि से जन्मभूमि का-सा प्रेम होता जा रहा है। जिधर देखो नया दृश्य —

श्यामल कुंज घने कानन ऊँचे शैलों की माला है।

सिन्धुधार बह रही स्वच्छ जैसे फूलों की माला है॥
सतत हिमावृत शृंग बहाते इसमें सरिता धारा है।
स्नेहमयी जननी के मन में जैसे करुण धारा है॥
सुखद सूर्य उत्ताप शीत में वर्षा में जल धारा है।
शरद गगन में रजत चन्द्रमा घनीभूत ज्यों पारा है॥
हरे भरे सब खेत, सरल मानव, सरला सब बाला है।
देव समाज उदार-वदन सब इनका ढंग निराला है॥

(एलिस का प्रवेश कार्नेलिया को देखकर)

एलिस — (स्वगत) वाह नया रंग है। पतंग बाढ़ पर है। (प्रगट) राजकुमारी!

कार्नेलिया — कौन? एलिस, तू आ गयी। देख इस दृश्य के देखने में मैं ऐसी तन्मय थी कि तेरा आना मुझे मालूम नहीं हुआ।

एलिस — कुमारी! सन्ध्या का दृश्य तो यों ही मनोहर होता है —

अस्त हुए दिन-नाथ पीत कर कान्ति को।
सरला सन्ध्या लगी बुलाने शान्ति को॥
सांसारिक कलनाद शान्त होन लगा।
विभु का विमल विनोद व्यक्त होने लगा॥

कार्नेलिया —

क्रमशः तारापुंज प्रकट होने लगे।
सुधा कन्द के बीच विमल बोने लगे॥
उज्ज्वल तारे शान्त गगन भी नील है।
प्रकृति ढाल में जड़े हीर के ली है॥

एलिस — किन्तु कुमारी समय का बी क्या ही प्रभाव है —

हुआ काकरव क्लान्त, कोकिला खुल पड़ी।
लगी बुलाने उसे आँख जिससे लड़ी॥
मलयानिल भी मधुर कथा का भार ले।
चला मचलता हुआ सुमन का सार ले॥

कार्नेलिया — (बात बदलते हुए) सखी, यह सब क्या दिखायी पड़ रहा है?

एलिस —

तरुश्रेणी में सौध सुशैल समा ये।
नागरिकों के हैं प्रमोद उद्यान ये॥
क्यारी में है कुसुम विटप मन भावने।
आरोपित है यथास्थान काट, बने॥

कार्नेलिया — क्यों सखी! क्या उनको काट-छाँट देने से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य बिगाड़ा नहीं जाता? क्या वे उसी तरह नहीं भले मालूम होते?

एलिस —

नागरिकों के हैं प्रमोद की वस्तु ये।
बढ़ सकते है नहीं यथेप्सित अस्तु ये॥
उल्लासित हो जिसने हाथ बढ़ा दिया।
यथास्थान रहने को वह काटा गया॥

कार्नेलिया — प्यारी सखी —

प्रकृति उदार करों से जो पाले गये।
नीरद से जल-बिन्दु जहाँ डाले गये॥
उन वर्धित तरुवृन्द प्रफुल्ल सुवास से।
कर सकते समता न अहो! ये दास से॥

एलिस — कुमारी! एक बात कहना तो मैं भूल ही गयी, अच्छा न कहूँगी।

कार्नेलिया — क्या-क्या? कह दे, तुझे कहना ही होगा।

एलिस — उस दिन सिन्धु तट के शिविर के बाहर जब हम लोग घूमने गयी थी तब वहाँ एक युवक दिखायी पड़ा था, जिसे तुम बहुत घूम-घूमकर देख रही थीं —

कार्नेलिया — (रोककर) मैं क्यों देखने लगी। तूने ही कहा कि कोई शत्रुपक्ष का सैनिक है। हम लोगों को बढ़ चलना चाहिये।

एलिस — (हँसकर) हाँ हाँ, तो फिर इतना क्रोध क्यों करती हो सुनो, वही भारतवर्ष का राजा चन्द्रगुप्त था, शिकार खेलते-खेलते उधर आ गया था।

कार्नेलिया — (अनमनी होकर) होगा। क्या कोई शिविर से दूत आया है?

एलिस — हाँ! कहता था कि शाहंशाह सिल्यूकस को कुछ चोट आ गयी है।

कार्नेलिया — हाय? सखी मैं बाबा को देखने शीघ्र जाऊँगी। तू भी चल।

एलिस — चलूँगी क्यों नहीं, अच्छा तैयारी करने की आज्ञा दे दें। (जाती है।)

(पटाक्षेप)

पाँचवाँ दृश्य

(सिल्यूकस का शिविर)

कार्नेलिया — बाबा! क्षमा करना। मेरा हृदय नहीं मानता था। युद्ध का समाचार सुनकर मैं ठहर न सकी, आपने मुझे क्यों हटा दिया था, अब मैं कहीं न जाऊँगी।

सिल्यूकस — बेटी! तू आ गयी, इससे मैं क्रोधित नहीं हूँ। मेरे हारे हुए हृदय को तुमसे ढाढ़स मिलेगी।

कार्नेलिया — बाबा! क्या विजेता सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त ने पराजित किया?

(सिल्यूकस चुप रह जाता है। नेपथ्य में कोलाहल। रणवाद्य)

सिल्यूकस — है! यह क्या?

कार्नेलिया — बाबा मैं बाहर देखती हूँ, क्या है। (जाती है)

(चन्द्रगुप्त के साथ सैनिकों का प्रवेश। सिल्यूकस को घेरकर तलवार छीन लेते है वह निश्चेष्ट खड़ा रह जाता है)

चन्द्रगुप्त — क्यों ग्रीक सम्राट! क्या युद्ध-पिपासा अभी नहीं मिटी? भारत को क्या आप लोगों ने मृगया खा स्थान समझ लिया है। यह नहीं जानते कि मृगेन्द्र भी उसी कानन में रहता है।

(सिल्यूकस चुप रह जाता है। कार्नेलिया का प्रवेश। दौड़कर वह सिल्यूकस से लिपट जाती है।)

चन्द्रगुप्त — (स्वगत) आह! यह तो वही सुन्दरी है। चर ने ठीक ही कहा था।

सिल्यूकस — बेटी! तू इन लोगों से मेरे लिए कुछ प्रार्थना मत करना। यह सदैव ध्यान रखना कि ग्रीक-रक्त तेरे अंग में है।

कार्नेलिया — बाबा! क्या मैं सिल्यूकस की कन्या नहीं हूँ! क्या आप वीरों की तरह मरना नहीं जानती? (चन्द्रगुप्त को देखकर) सुन्दर युवक!

चन्द्रगुप्त — (स्वगत) सिंह के योग्य सिंहिनी है। (प्रगट) मैं इसका परिणाम तुम्हारे ही ऊपर छोड़ता हूँ। ग्रीकसम्राट् क्या फिर आर्य वीरों से लड़ेंगे? आशा है कि तुम इसे बड़ी सरलता से हल कर सकती हो और तुम में से दो-एक दिन में उत्तर मिलेगा। (सिल्यूकस से) आप मुक्त है। अब मैं जाता हूँ।

(पटाक्षेप)

छठवाँ दृश्य

(दुर्ग का उद्यान। सिल्यूकस)

सिल्यूकस — आह! बड़ी वेदना! घोर अपमान! क्या इसका प्रतिशोध नहीं लिया जा सकता!

(साइबर्टियस और मेगस्थिनीज़ का प्रवेश)

साइबर्टियस — (अभिवादन करके) सम्राट! चन्द्रगुप्त की सेना ने चारों ओर से ऐसी व्यूह रचना की है कि इस दुर्ग को भी आप घिरा समझिये।

सिल्यूकस — क्यों? उसने तो हम लोगों को मुक्त कर दिया था। फिर अवरोध क्यों?

मेगस्थिनीज़ — यह उसके मन्त्री चाणक्य की चाल है। उसने प्रसिद्ध कर रखा है कि 'यह सेना आप लोगों को रोकने के लिए नहीं प्रत्युत आपकी रखवाली के लिये है।'

सिल्यूकस — उन लोगों का तात्पर्य क्या है? जब एक बार मैत्री हो गयी फिर ऐसा क्यो?

मेगस्थिनीज़ — सम्भव है कि वह कुछ नियम स्वीकार कराना चाहता हो।

सिल्यूकस — क्यों? क्या ग्रीक इतने कायर हो गये?

साइबर्टियस — आपको अपने उस रक्षित साम्राज्य का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिल्यूकस — क्या कोई नया समाचार उधर से आया है।

साइबर्टियस — आण्टिगोनस शीघ्र ही सीरिया पर चढ़ाई करना चाहता है। (पत्र देकर) इस पढ़ लीजिये। उसका ध्यान करके चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लेना ही ठीक होगा क्योंकि यह आपका प्रबल शत्रु है जो आपके समीप है।

सिल्यूकस — (पत्र पढ़कर) अच्छा मैं यह कार्य तुम दोनों आदमियों के ऊपर छोड़ता हूँ। इसे जैसा ठीक समझो, करो। (दोनो जाते है) कार्नेलिया से भी तो पूछूँ वह क्या कहती है। (जाता है)

(पटाक्षेप)

सातवाँ दृश्य

(प्रकोष्ठ — कार्नेलिया गाती है)

कार्नेलिया — (पद्य सोहनी)

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।

पड़ता है पतंग-सा इसमें, मन का ढंग निराला।

सान्ध्य गगन-सी रागमयी यह बड़ी कड़ी है हाला॥

काँटे छिपे गुँथे है इसमें फूलों की माला।

चुभने पर नहिं अलग हृदय से, मन होता मतवाला॥

शृंगार और वीर का कैसा सुन्दर समावेश है। अहा कैसी वीरत्व व्यंजक मुखाकृति है! वह एक बार, केवल एक बार देखकर भुलायी जा सकती थी। पर दूसरा दर्शन दुबारा खींची हुई मदिरा की तरह हृदय को उन्मत्त बनाये देता है। (ठहर कर) किन्तु बाबा को उसने पराजित किया। बन्दी बनाया। फिर मेरा हृदय क्यों उसकी ओर इतना आकर्षित होता है। कभी नहीं कभी नहीं। मैं अपने हृदय को उसकी ओर से फेरूँगी। (ऊपर देखकर) कौन, तू मुझे भुलाने आयी है क्या? वह मुक्त कर देना

याद दिलाती है, हाँ, हाँ, मैं उसे न भूलूँगी, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ, पर इसका परिणाम भी तो मेरे ऊपर छोड़ा गया है (ठहरकर) क्या करूँ? हाँ, क्या कहा था कि 'आप मुक्त है, अब मैं जाता हूँ।' अहा क्या ही सुरीला कण्ठस्वर था! कैसा उन शब्दों का प्रभाव था। (गाती है)

(पद्य विहाग)
जैसी मधुर मुरलिया श्याम की।
वैसी गूँज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की।
हुए चपल मृग नैन मोह वश बजी विपंची काम की॥
फैल रही है मधुर माधवी गन्ध अंग छविधाम की।
रूप सुधा के दो प्याले दृग ने ही मति बेकाम की॥

आह! आलोक! छाया! सौन्दर्य! संगीत! सुगन्ध! सब चन्द्रगुप्त! क्या करें वह नहीं हटा है, मेरी आँखों का तारा हो रहा है (बैठ जाती है। सिल्यूकस का प्रवेश। एक ओर खड़ा हो जाता है।)

कार्नेलिया — चन्द्रगुप्त! मैं ग्रीक सम्राट की कन्या, तुम हिन्दू राजकुमार। क्या किया जाय। बाबा! क्या तुम मेरा आन्तरिक भाव बिना कहे नहीं समझ सकते?

सिल्यूकस — (प्रकट होकर) क्या है बेटी, क्यों उदास हो, क्या मेरे सोच ने तुम्हें जगा रखा है, तेरा स्वास्थ्य तो ठीक है न?

कार्नेलिया — (घबराकर) नहीं बाबा! अब कब यहाँ से चलियेगा?

सिल्यूकस — शीघ्र चलूँ बेटी क्या तुम्हारी राय है कि मैं चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लूँ, जिस तरह वह कहे।

कार्नेलिया — हाँ बाबा। शीघ्र चलिये।

सिल्यूकस — जाओ सो रहो, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं मालूम होता।

(दोनों का प्रस्थान)

(पटाक्षेप)

आठवाँ दृश्य

(उद्यान में मेगस्थिनीज़ और सिल्यूकस)

सिल्यूकस — कोई अच्छा समाचार तुम ले आये होगे, शीघ्र कहो।

मेगस्थिनीज़ — सम्राट! सन्धि करने पर तो हिन्दू लोग प्रस्तुत है, पर नियम बड़े कड़े है। वे कहते है कि 'सिन्धु के उस तट के कुछ देश हम लोग लेंगे और –'

सिल्यूकस — चुप क्यों हो गये, कहो, वे नियम चाहे कितने ही कड़े हों पर मैं उन्हें ध्यान से सुनना चाहता हूँ।

मेगस्थिनीज़ — सुनिये, चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्री चाणक्य ब्राह्मण है, उसने कहा कि यदि सन्धिबन्धन-दृढ़ रखना चाहे तो ग्रीक सम्राट अपनी कन्या का विवाह महाराज चन्द्रगुप्त से कर दें। तब, सम्भव है कि महाराज चन्द्रगुप्त भी उपस्थित ग्रीस-विप्लव में तुम्हारी कुछ सहायता करें।

सिल्यूकस — क्या चन्द्रगुप्त को मालूम हो गया कि आण्टिगोनस से और हमसे शीघ्र कोई लड़ाई होने वाली है।

मेगस्थिनीज़ — इतना ही नहीं, उसका मन्त्री चाणक्य कहता था कि 'सिकन्दर' के साम्राज्य में जो भावी ग्रीस-विप्लव है, उसे मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ। ऐसी अवस्था में सिल्यूकस भारत की आशा छोड़े। उनको सीरिया मिलना भी कठिन हो जायगा। इस कारण ग्रीक-सम्राट यदि चन्द्रगुप्त को अपना बन्धु बनायेगे तो उनको बहुत-कुछ सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त इस विशाल भारत की सम्राज्ञी भी तो उन्हीं की कन्या होगी। मनुष्य सन्तान के लिए ही सब कुछ करता है, इस सम्बन्ध से भारत का साम्राज्य भी आपके प्रेम-बन्धन में बँधा रहेगा।

सिल्यूकस — मेगस्थिनीज़, इन हिन्दुओं में केवल बाहुबल की ही प्रधानता नहीं, बल्कि ये बड़े तीक्ष्ण बुद्धि भी होते है। (ठहर कर)

क्या इन भीमकाय हाथियों का झुण्ड सीरिया युद्ध में कुछ काम दे सकता है?

मेगस्थिनीज़ — सम्राट! मेरी समझ में तो ये अवश्य आपको विजय दिलायेंगे।

सिल्यूकस — किन्तु, दो भिन्न जातियों में विवाह किस प्रकार हो सकता है।

मेगस्थिनीज़ — क्या आप उस पारस-कुमारी का ध्यान भूल गये जो राजकुमारी की गर्भधारिणी थी।

सिल्यूकस — (स्वगत) बेटी की अनुमति तो एक प्रकार से मिल चुकी है। वह तो चन्द्रगुप्त पर अनुरक्त हुई है। (प्रगट) क्या तुम्हारी इच्छा है कि यह सन्धि जिस प्रकार हो अवश्य कर ली जाय।

मेगस्थिनीज़ — भारत-सम्राट से ग्रीक-सम्राट यदि सम्बन्ध रखें तो यह अच्छी बात है, क्योंकि यह सर्वथा उपयुक्त है।

सिल्यूकस — अच्छा।

(दोनों जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

नवाँ दृश्य

(चन्द्रगुप्त बैठा है। तरलिका पान ले आती है। दरबार)

चन्द्रगुप्त — तरलिके! आज पान तो बहुत ही अच्छा लगाया है बहुत दिनों से इधर ऐसा स्वाद पान का नहीं मिला था।

तरलिका — प्रभु की रुचि विचित्र है। मैं इतनी प्रशंसा के योग्य नहीं हूँ।

चन्द्रगुप्त — तरलिके! मैं सच कहता हूँ।

तरलिका — नाथ! जब चित्त को प्रसन्नता मिलती है तब बुरी वस्तु भी भली मालूम होती है।

चन्द्रगुप्त — तरलिके! मैं तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होता हूँ।

तरलिका — महाराज, बहुत दिनों के बाद आज मैं एक माला बनायी है, उसे आप स्वीकार करें।

(माला पहना देती है)

चन्द्रगुप्त — (हँसकर) इन फूलों का रस तो भँवरे ले चुके है।

तरलिका — (हँसकर) महाराज! यह तो भँवरों की ही धृष्टता है, कलियों का क्या दोष?

(गाती है — राग माँड़)

पाया जिसमें प्रेम-रस, सौरभ और सोहाग,

अली उसी ही कली से मिलता सह-अनुराग।

अली नहिं एक कली का है।

कुसुम धूलि से पूर हो चलता है उस पन्थ।

डरे न कण्टक को अली पढ़े प्रेम का ग्रन्थ।

अली नहिं एक गली का है।

रजनी में सुख केलि को किया कमलिनी पास।

भयी मुद्रिता तब तुरत अली चमेली पास।

पढ़े यह पाठ छली का है।

चाहे होय कुमोदिनी या मल्ली का पुंज।

अलि को केवल चाहिये सुखमय क्रीड़ा कुंज॥

सुप्रेमी रंगरली का है।

अली नहिं एक कली का है।

चन्द्रगुप्त — तरलिके! कविता नयी है।

तरलिका — (हँसकर) महाराज समय ही नया है।

चन्द्रगुप्त — तरलिके! मैं तुमसे इस समय बहुत प्रसन्न हुआ, अच्छा जाओ।

(तरलिका का प्रस्थान। दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक — महाराजाधिराज की जय हो। महामात्य चाणक्य जी आ रहे हैं।

(चाणक्य का प्रवेश। चन्द्रगुप्त उठकर उन्हें बिठाता है)

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव! सन्धि क्या स्वीकृत हो गई? (हँसकर) आपकी मन्त्रणा बड़ी गूढ़ होती है। कुछ समझ में नहीं आती।

चाणक्य — वत्स! तुम राजा ठहरे, तुम्हीं सोचो कि शत्रु का पाकर भी तुमने क्यों छोड़ दिया? यह भी क्या हमारी मन्त्रणा से किया गया था?

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव! एक बार ग्रीक-सम्राट ने महाराज पुरु के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था।

चाणक्य — अस्तु, अब तुम्हें मालूम हो जाता है — चाणक्य ने क्या किया।

(तूर्य्यनाद — दौवारिक के साथ सिल्यूकस, कार्नेलिया, साइबर्टियस और मेगस्थिनीज़ का प्रवेश। चाणक्य सबको यथास्थान बिठाता है।)

सिल्यूकस — महाराज चन्द्रगुप्त! आपके शौर्य से हम बहुत प्रसन्न है।

चन्द्रगुप्त — यह आपकी महानुभावता है।

सिल्यूकस — मैं आपसे सहर्ष मैत्री करूँगा!

मेगस्थिनीज़ — और यह बन्धन दृढ होवे इसलिए राजकुमारी का विवाह भी महाराज चन्द्रगुप्त से हो जाय तो अच्छा है।

चाणक्य — हाँ ठीक है। दो बालू के करारों को यथास्थान ठीक रखने के लिए एक सरला सरिता की आवश्यकता है।

चन्द्रगुप्त — (सलज्ज) जैसी गुरुवर की आज्ञा।

(सिल्यूकस — कार्नेलिया को साथ में लिये बढ़ता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त से कल्याणी का हाथ मिला देता है। दोनों साथ बैठते हैं, चन्द्रगुप्त उसे माला पहनाता है और वह सादर ग्रहण करती है)

सिल्यूकस —बेटी! इससे उपयुक्त वर तुम्हारे लिये मैं नहीं खोज सकता था। और पिता का कन्या के लिये यही प्रधान कर्तव्य है।

कल्याणी — जैसी पिता की आज्ञा।

सिल्यूकस — और तुम्हें उपहार स्वरूप मैं आरकोसिया और जैड्रोसिया आदि प्रदेश देता हूँ।

कल्याणी — बाबा! क्या आप मुझे यहाँ छोड़ देंगे।

सिल्यूकस — नहीं बेटी! मेगस्थिनीज़ बराबर यहाँ आया करेगा।

चाणक्य — तो क्या आप शीघ्र स्वदेश की ओर प्रस्थान कीजियेगा।

सिल्यूकस — मुझे अपने एक प्रबल शत्रु से सामना करना होगा।

चाणक्य — सेनानी चंडविक्रम एक बड़ी सेना हाथियों की लेकर आपकी सहायता को जायँगे।

सिल्यूकस — अच्छी बात है।

(नर्तकीगण आकर गाती हैं)

("पपीहा काहे" की धुन)

सखी सबकी विधि मंगल आज।
सब मिलके आनन्द मनावें अचल रहे यह राज!
अपने भुजबल से किया, अर्जित नव साम्राज।
ऐसे श्री सम्राट् का, अविचल हो यह राज॥
गौरव लक्ष्मी ग्रीस की, अर्द्धांगिनी सा वाम।
कल्याणी को देखकर पूर्ण हुआ मन काम॥

जिसके बल के सिन्धु में, गज सम थके अराति।
चन्द्रगुप्त-भुज वे सदा, सबल रहें सब भाँति॥
रहे आनन्दित राज समाज,
आवे गावें विमल कीर्ति सब देवांगना समाज।
जिसकी प्रतिभा नदी में, शत्रु-विघ्न द्रुम-मूल।
उन्मज्जित हो, सो जयति, विष्णुगुप्त अनुकूल॥
सुखी हो भारत विज्ञ समाज,
भारत की यह कथा विजयिनी रहे सदा सिरताज।
सखी सबही विधि मंगल आज।
जय महाराज श्री चन्द्रगुप्त की जय!!

(पटाक्षेप)

करुणालय

सूचना

यह दृश्यकाव्य गीति-काव्य के ढंग पर लिखा गया है। तुकान्त-विहीन मात्रिक छंद में वाक्यानुसार विराम-चिह्न दिया गया है। यद्यपि हिन्दी में इस ढंग की कविता का प्रचार नहीं है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत में कुलक, अंगरेजी में ब्लैंक वर्स, बँगला में अमित्राक्षर छन्द आदि। इसका उपयुक्त प्रचार है। हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभ-दायक होगा, इसी विचार के लिए आज यह काव्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।

~ इन्दु, कला 4, खंड 1, किरण 2

माघ, 1969.

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

हरिश्चन्द्र — अयोध्या के महाराज

रोहित — युवराज

वसिष्ठ -- ऋषि

विश्वामित्र — ऋषि

शुनःशेफ — अजीगर्त का पुत्र

शासित — वसिष्ठ का पुत्र

मधुच्छन्द — विश्वामित्र के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ

ज्योतिष्मान् — सेनापति

स्त्री-पात्र

तारिणी — अजीगर्त की स्त्री

सुव्रता — दासी रूप में विश्वामित्र की गन्धर्व-विवाहिता स्त्री

माँझी — मल्लाह

प्रथम दृश्य

(सरयू में नाव पर जल-विहार करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र का सहचर-जनों सहित प्रवेश)

हरिश्चन्द्र —

सान्ध्य नीलिमा फैल रही है, प्रान्त में —
सरिता के। निर्मल विधु बिम्ब विकाश है,
जो नभ में धीरे-धीरे है चढ़ रहा है,
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को।
मलयानिल-ताड़ित लहरों में प्रेम से
जल में ये शैवाल जाल है झूमते।
हरे शालि के खेत पुलिन में रम्य हैं
सुन्दर बने तरंगायित ये सिन्धु से,
लहराते जब वे मारुत-वश झूम को।
जल में उठती लहर बुलाती नाव को,
जो आती है उस पर कैसी नाचती।
अहा खिल रही विमल चाँदनी भी भली।
तारागण भी उस मस्तानी चाल को

देख रहे है, चलती जिससे नाव है।
वंशी-रव से होता पूर्ण दिगन्त है
जो परिमल-सा फैल रहा आकाश में।
प्रकृति चित्र-पट-सा दिखलाती है अहा,
कल-कल शब्द नदी से भिन्न न और का,
शान्ति! प्रेममय शान्ति भरी है विश्व में।
सुन्दर है अनुकूल-पवन, आनन्द में
झूम-झूमकर धीरे-धीरे चल रहा
प्रिये! प्रेम-मदिरा विह्वल-सा हो रहा
कर्णधार हो स्वयं चलाता नाव को।
नौके! धीरे, और जरा धीरे चलो,
आह, तुम्हें क्या जल्दी है उस ओर की।
कहीं नहीं उत्पात प्रभंजन का यहाँ।
मलयानिल अपने हाथों पर है धरे
तुम्हे लिये जाता है अच्छी चाल से
प्रकृति सहचरी-सी कैसी है साथ में
प्रेम-सुधामय चन्द्र तुम्हारा दीप है।
नौके! है अनुकूल पवन यह चल रहा,
और ठहरती, हाँ इठलाती ही चलो।

ज्योतिष्मान् —

महाराज! इस तट-कानन को देखिये,
कैसा है हो रहा सघन तरु-जाल से।
इसी तरह यह जनपद पहले था, प्रभो!
कानन-शैल भरे थे चारों ओर ही
हिंस्र जन्तु से पूर्ण, मनुज-पशु थे यहाँ।
आर्य्य-पूर्व-पुरुषों की ही यह कीर्ति है,
जो अब ये उद्यान सजे फल, फूल से,
बने मनोहर क्रीड़ा-कूट विचित्र ये।
इक्ष्वाकु-कुल भुजबल से निर्बीज ही
हुए दस्युदल, अब न कभी वे रोष से
आँख उठाते हम आर्य्यों को देख के।
आर्य-पताका है फहराती अरुण हो।

हरिश्चन्द्र —

आर्यों के अनुकूल देवगण है सदा
विश्व हमारा शासन अभिनय रंग है
हम पर है दायित्व सभी सुख-शांति का
सब विभूतियाँ और उपकरण गर्व के
आर्य्य जाति के चरणों में उपहार है।

(नेपथ्य में घोर गर्जन)

यह कैसा उत्पात! चलो जल्दी करो
माँझी! तट पर नाव ले चलो शीघ्र ही।

माँझी —

प्रभो! स्तब्ध है नाव; न हिलती है। अरे
देखो तो इसको क्या है, है हो गया!

(नेपथ्य में गर्जन के साथ)

मिथ्याभाषी यह राजा पाषण्ड है
इसने सुत बलि देना निश्चित था किया
जब वह पहिनेगा हिरण्यमय वर्म को।
राजकुमार हुआ है अब वलि-योग्य जब
तो फिर क्यों उसकी बलि यह करता नही?
बार-बार इसने हमको वंचित किया
उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह
जा सकता है नहीं कहीं भी नाव से।

हरिश्चन्द्र —

आह! देव यदि आप जानते समझते
कितनी ममता होती है सन्तान की
देव! जन्मदाता हूँ फिर भी अब नहीं
देर करूँगा, बलि देने में पुत्र की।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उसको भूल के
क्रोधित होने का अवसर दूँगा नहीं
हे समुद्र के देव! देव आकाश के,
शान्त हूजिए, क्षमा कीजिये, दीन को।

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

अच्छा जल्दी जाकर तू उद्योग में
तत्पर हो, कर यज्ञ पुत्र-बलिदान से।

हरिश्चन्द्र —

जो आज्ञा, मैं शीघ्र अभी जाके वहाँ
प्रथम करूँगा कार्य्य आपका भक्ति से।

(नौका चलने लगती है)

द्वितीय दृश्य

(कानन मे रोहित)

रोहित — (स्वगत)

पिता परमगुरु होता है; आदेश भी
उसका पालन करना हितकर धर्म है।
किन्तु निरर्थक करने की आज्ञा कड़ी
कैसे पालन करने के है योग्य यों।
वरुण, देव है या कि दैत्य! वह कौन है?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर
क्या वह इतनी सार्वजनिक सम्पत्ति है
नही, नहीं, 'वह मेरा है' यह स्वत्व है
हम जब थे अज्ञान, न थे कुछ जानते
सुख किसका है नाम, तरुणता वस्तु क्या,
प्रकृति प्रलोभन में न फँसे थे, पास की
वस्तु न यों आकर्षित करती थी हमें,
तभी क्यों न कर लिया क्रूर बलि-कर्म्म को।

अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि-रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,
नव प्रभात का दृश्य सुखद है सामने
उसे बदलना नील तमिस्रा रात्रि से
जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
प्रकृति मनोगत भाव सदृश जो गुप्त, यह
कैसा दुखदायक है? हाँ बस ठीक है।
देखेंगे परिवर्तनशीला प्रकृति को
घूमेंगे बस देश-देश स्वाधीन हो।
मृगया से आहार, जीव सहचर सभी
नव किसलय दल सेज सजी सब स्थान में
कहो रही क्या कभी सहायक चाप है।

(नेपथ्य से)

चलो सदा चलनी ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।
चले चलो, हाँ मत घबराना तनिक भी

धूल नहीं यह पैरों में लग रही

समझो, यही विभूति लिपटती है तुम्हें।

बढ़ो. बढ़ो, हाँ रुको नहीं इस भूमि में,

इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हें,

सारे श्रम उसको फूलों के हार से

लगते है, जो पाता ईप्सित वस्तु को।

चलो पवन की तरह, रुकावट है कहाँ.

बैठोगे, तो कहीं एक पग भी नहीं

स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार में।

सघन लतादल मिले जहाँ है प्रेम से

शीतल जल का स्रोत जहाँ है बह रहा

हिम के आसन् बिछे, पवन परिमल मिला

बहता है दिन-रात, वहाँ जाना तुम्हें!

सुनो ग्रीष्म के पथिक, न ठहरो फिर यहाँ;

बढ़ो, बढ़ो, वह रम्य भवन अति दूर है।

रोहित — (आकाश को देखकर)

अरे कौन यह? छाया-सी है इन्द्र की

कायरता का अरि, प्रतिमा पुरुषार्थ की

बड़ी कृपा आकाश-विहारी देव की
हुई,दीन करता प्रणाम है भक्ति से।
देव! आप यदि है प्रसन्न, तो भाग्य है;
प्रभो! सदा आदेश आपका ध्यान से
पालन करता रहे दास, वर दीजिए,
"रुके कर्म-पथ में न कभी यह भीत हो"

(नेपथ्य से)

हम प्रसन्न है, वत्स! करो निज कार्य्य को।

(रोहित जाता है।)

तृतीय दृश्य

(अजीगर्त के कुटीर में अजीगर्त और तारिणी)

अजीगर्त —

प्रिये! एक भी पशु न रहे अब पास में,

तीन पुत्र, भोजन का कौन प्रबन्ध हो?
यह अरण्य भी फल से खाली हो गया,
केवल सूखी डाल, पात फैले, अहो
नव वसन्त में जब वह कुसुमित था हुआ,
तब तो अलि, शुक और सारिका नीड़ में
कोमल कलरव सदा किया करते। अहो
जहाँ फैल कर लता चरण को चूमती
कोमल किसलय अधर मधुर से प्रेम से,
अब सूखे काँटे गड़ते हैं, हा! वहीं!
कानन की हरियाली ही सब भूख को
तुरन्त मिटाती थी देकर फल-फूल ही
वहाँ न छाया भी मिलती है धूम में।
कहो प्रिये, अब फिर क्या करना चाहिए?

तारिणी —

हाय! क्या कहें प्राणनाथ इस भूमि में,
अब तो रहना दुष्कर-सा है हो गया।

(नेपथ्य में रोहित —)

“घबराओ मत अजीगर्त। मैं आ गया।”

रोहित — (प्रवेश करके)

कहिये क्या है दुःख आपको जो अभी
इतने व्याकुल होकर यों किस बात को
सोच रहे थे। क्या पशुओं का दुःख है?

अजीगर्त —

तुम तो जैसे सत्य बात हो जानते
और दिखाई देते राजकुमार-से,
स्वर्णखचित यह शिरस्राण है कह रहा
वर्म बना बहुमूल्य बताता विभव को
किन्तु सकोगे समझ! मूख के दुःख को
और विकल पीड़ित अकाल से प्राण की
जीवन की आकुल आशा जब त्रस्त हो
एक-एक दाने का आश्रय खोजती
वह वीभत्स पिशाच खा लिया चाहता
जब अपनी ही मांस। अधीर विडम्बना
हँसती हो इन दुर्बल शब्दों पर, अजी
तब भी तुम कुछ दोगे मुझे सहायता?

रोहित —

एक बात यदि तुम भी मेरी मान लो

अजीगर्त —

मानूँगा कैसी ही निष्ठुर बात हो।

रोहित —

सौ दूँगा में गाय तुम्हें, जो दो मुझे
एक पुत्र अपना, उस पर सब सत्त्व हो
मेरा, उसको चाहे जो कुछ मैं करूँ।

तारिणी —

दूँगी नहीं कनिष्ट-पुत्र को मैं कभी

अजीगर्त —

और ज्येष्ठ को मैं भी दे सकता नहीं।

रोहित —

तो मध्यम सुत दे देना स्वीकार है —

वलि देने के एक एक नरनेध में?

(ऋषि-पत्नी मुँह ढाँप कर भीतर चली जाती है और अजीगर्त कुछ सोचने लगता है)

अजीगर्त —

हाँ हाँ! मुझको सब बातें स्वीकार है
चलो मुझे पहले गायें दे दो अभी।

रोहित —

अच्छा, उसको बुलाओ देख लें
हम भी; मध्यम पुत्र तुम्हारा है कहाँ?

अजीगर्त — (नेपथ्य की ओर मुख करके)

शुनःशेफ! ओ शुनःशेफ!! आ जा यहाँ।

(मार खाने के भय से, खेल छोड़कर शुनःशेफ भागता हुआ आता है)

शुनःशेफ —

क्या है बाबा, क्यों हो मुझे बुला रहे?
मैंने कोई भी न किया है दोष, जो
आप बुलाते मुझे मारने के लिए।

अजीगर्त —

चुप रह ओ मूर्ख! बोलना मत, यहाँ
खड़ा रह, (रोहित से) – यही मध्यम मेरा पुत्र है।

रोहित —

अच्छा है। बस चलो अभी तुम साथ में,
राज्य-केन्द्र में चलते है हम भी अभी,
उसी स्थान में मूल्य तुम्हें मिल जायगा,
और इसे हम ले जाते है संग ही।

(शुनःशेफ से)

चलो चलो जी साथ हमारे शीघ्र ही।
मेरे हाथ तुम्हारा विक्रय हो चुका।

(शुनःशेफ का अजीगर्त की ओर सकरुण देखते हुए रोहित के साथ प्रस्थान)

चतुर्थ दृश्य

(महाराज हरिश्चन्द्र सिंहासनासीन। शुनःशेफ को साथ लिये हुए रोहित का प्रवेश —)

रोहित —

हे नरेन्द्र हे पिता पुत्र यह आपका
रोहित सेवा में आ गया। विनम्र हो
करता अभिवादन है, अब कर दीजिये
क्षमा इसे। हूँ पशु लेकर आया यहाँ।

हरिश्चन्द्र —

रे पुत्राधम! तूने आज्ञा भंग की
मेरी, अब तू योग्य नहीं इस राज्य के

रोहित —

देव! दिया जाता वलि में जो मैं तभी
तो क्या पाता राज्य! न ऐसा कीजिए।
सुनिए, मैंने रक्षा की है धर्म्म की
नहीं आप होते अनुगामी निरय के।
पुत्र न रहता, तो क्या होता कौन फिर
देता पिण्ड तिलोदक। यह भी समझिये
कुल के पुण्य-पुरोहित देव वसिष्ठ से

(वसिष्ठ का प्रवेश, राजा अभ्युत्थान देता है)

वसिष्ठ —

राजन्! विजयी रहो। सुनी सब बात है,
यह तो अच्छा कार्य्य कुँवर ने है किया।
यदि पशु का है पिता; दे दिया सत्य ही
उसने बलि के लिए इसे, तो ठीक है।
राजपुत्र के बदले इसको दीजिये
वलि; तब देव प्रसन्न तुरन्त हो जायँगे
और आप भी सत्य-सत्य हो जायँगे।

(शुनःशेफ से)

क्यों जी! तुमको दिया पिता ने क्या इन्हें
मूल्य लिया है?

शुनःशेफ —

सत्य प्रभो! सब सत्य है।

वसिष्ठ —

फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?

शुनःशेफ —

जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म में।

वसिष्ठ —

अच्छा फिर सब यज्ञ-कार्य्य भी ठीक हो
और शीघ्र करना ही इसको उचित है।

हरिश्चन्द्र —

जो आज्ञा हो, मैं करता हूँ सब अभी।

(सबका प्रस्थान)

पंचम दृश्य

(यज्ञ-मण्डप में हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ, होता इत्यादि बैठे है। शुनःशेफ यूप में बँधा हुआ है। शक्ति उसे बध करने के लिए बढ़ता है, पर सहसा रुक जाता है)

वसिष्ठ —

> शक्ति, तुम्हारी शक्ति कहाँ है जो नही
> करता है बलि-कर्म, देर है हो रही।

शक्ति —

> पिता, आप इस पशु के निष्ठुर तात से
> भी कठोर है। जो आज्ञा यों दे रहे!

(शस्त्र फेंक कर —)

कर्म्म नहीं, यह मुझसे होगा घोर है।

(प्रस्थान। अजीगर्त का प्रवेश)

अजीगर्त —

और एक सौ गायें मुझको दीजिये,
मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।

वसिष्ठ —

अच्छा अच्छा, तुम्हें मिलेगी और भी
सौ गायें। लो पहले इसको तो करो।

(अजीगर्त शस्त्र उठा कर चलता है।)

शुनःशेफ — (आकाश की ओर देख कर)

हे हे करुणा-सिन्धु, नियन्ता विश्व के,
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के, सर्प के,
हाय, प्रभो! क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नहीं, दिखाता तो मुझ पर करुणा नहीं।
हे ज्योतिष्पथ-स्वामी! क्यों इस विश्व की

रजनी में, तारा प्रकाश देते नहीं
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुःख के गर्त बीच अति दीन हो
हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।
जगत्पिता! हे जगद्बन्धु, हे हे प्रभो,
तुम तो हो, फिर क्यों दुख होता है हमें?
त्राहि त्राहि करुणालय! करुणा-सद्म में
रखो, बला लो! विनती है पदपद्म में।

(आकाश में गर्जन, सब त्रस्त होते है। सब शक्तिहीन हो जाते है। विश्वामित्र का मधुच्छनदा प्रभृति अपने सौ पुत्रों के साथ प्रवेश)

विश्वामित्र — (वसिष्ठ से)

कहो कहो इक्ष्वाकु-वंश के पूज्य हे?
ओ महर्षि! कैसा होता यह काम है?
हाय! मचा रक्खा क्या यह अन्धेर है।
क्या इसमें है धर्म? यही क्या ठीक है?
किसी पुत्र को अपने वलि दोगे कभी?
नहीं! नहीं! फिर क्यों ऐसा उत्पात है?

(आकाश की ओर देखकर)

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
रे मनुष्य! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर कर्म्म। अरे तू क्षुद्र है —
क्या इतना? तुझ पर सब शासन कर सके
और धर्म की छाप लगाकर — मूढ तू!
फँसा आसुरी माया में, हिंसा जगी
अथवा अपने पुरोहिती के मान की
ऋषि वसिष्ठ को, कुलगुरु को, इस राज्य के।

(वसिष्ठ से)

तुम हो त्राता धर्म्म मनुज की शांति के
यह क्या है व्यापार चलाया? चाहिये
यदि मनुष्य के प्राण तुम्हारे देव को
ले लो (मधुच्छन्दा की ओर देखकर)
कितने लोगे ये सब सौ रहे

वसिष्ठ —

लज्जित हूँ, मुझमें यह साहस था नहीं
विश्वामित्र महर्षि तुम्हें हूँ मानता

(झपटी हुई एक राजकीय दासी का प्रवेश; जो राजा और अजीगर्त की ओर देखकर कहती)

दासी — (राजा से)

न्याय! न्याय! हे देव, न्याय कर दीजिये

(अजीगर्त से)

रे रे दुष्ट! बना है ऋषि के रूप में
निरा बधिक रे नीच! अरे चाण्डाल तू
भूल गया दुर्दैव सदृश उस बात को

(विश्वामित्र से —)

और न तुम भी मुझको हो पहचानते।
क्या वह नवल तमाल कुंज में प्रेम से

परिवर्तन वनमाला का विस्मृत हुआ
क्या वह सब थी केवल कुटिल प्रवंचना?
अहो न अब पहचान रहे निज पुत्र को
जो है परिचित शुनःशेफ के नाम से।

विश्वामित्र —

अरे! सुव्रता! तू है, सचमुच स्वप्न-सी
मुझको अब सब बातें आती ध्यान में,
मैं जब तप के लिए छोड़ असहाय ही
तुझे गया — फिर पड़ा अकाल। न था कही
क्षण भर को अवलम्ब तुम्हें यह भूल कर
मैं चिन्तित था धर्म और तप तत्त्व में
रे झूठे अभिमान तुझे धिक्कार है।
तुझे बहुत खोजा था मैंने ग्राम में।
जब जाता था हिमगिरि के वनकुंज में
सत्य; तुझे वंचित न कभी मेंने किया।
ईश-कृपा से आज अचानक पा गया।
प्रिये! तुम्हारा मुख, निज सुत को देख कर
पूर्ण हुआ आनन्दप्रद

(शुनःशेफ की ओर —)

ज्येष्ठ यह पुत्र है
मेरा; अब तुम सुत को लेकर साथ में
सुखी रहो।

(अजीगर्त से)

रे दुष्ट वधिक! अब क्यों नहीं
बतलाता है उसको अपना पुत्र तू।

(हरिश्चन्द्र से —)

राजन्! यह सुव्रता हमारी नारि है
इसे मुक्त दासीपन से कर दीजिये,
और नराधम को भी शासित कीजिये।
राजन्! सब तप और सत्य तुम कर चुके
यदि अपनी इस प्रजा-वृन्द का ध्यान हो
दुःख दूर करने का कुछ उद्यम करो।

हरिश्चन्द्र —

हे कौशिक ऋषिवर्य्य! इसे कर दीजिये
क्षमा; और सुव्रता स्वतन्त्रा हो ऋषे!
चरणों में राज्य आज उत्सर्ग है।

विश्वामित्र —

अस्तु। सुव्रते! कहो कहाँ फिर तुम रही
मेरे जाने बाद? –

सुव्रता —

प्रभो! उस ग्राम से
लाञ्छित करके देश-निकाला ही मिला,
क्योंकि गर्भिणी थी मैं। इससे घूमती
आयी मैं इस ऋषि के आश्रम के पास में।
प्रसव-समर्पण किया इसी की गोद में
और स्वयं अन्तःपुर में दासी बनी

वसिष्ठ —

धन्य सुव्रते! साधु! सुशीले! धन्य तू
पाया पति, सुत, फिर अपने सौभाग्य से।

विश्वामित्र —

करुणा करुणालय जगदीश दयानिधे।
सब यों ही आनन्द सहित सुख से रहे।

(सबकी ओर देख कर —)

जगन्नियन्ता का यह सच्चा राज्य है
सबका ही वह पिता; न देता दुःख है
कभी किसी को। उसने देखा सत्य को
हरिश्चन्द्र के, जिसने प्रण पूरा किया
उद्यत होकर करने में वलिकर्म्म के।
यह जो रोहित को बलि देते तो नहीं
वह बलि लेता; किन्तु मना करता इन्हें।
क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्य पथ है, दुस्तर अपराध है
वह प्रकाशमय देव, न देता दुःख है।
अस्तु, सभी तुम शक्तिहीन हो हो गये।
कहता हूँ उसको सुन लो सब ध्यान से—
समस्वर से करो स्तवन, उस देव का
जो परिपालक है इस पूरे विश्व का।

तुममें जब हो शक्ति और यह पुत्र भी
शुनःशेफ हो मुक्त आप, तब जान लो
यज्ञ कार्य्य पूरा होकर फल मिल गया।

(समवेत स्वर से —)

जय जय विश्व के आधार।
अगम महिमा सिन्धु-सी है कौन पावै पार।
जो प्रसव करता जगत को, तेज का आकार।
उसी के शुभ-ज्योति से हो सत्य पथ निर्धार।
छुटे सब यह विश्व-बन्धन हो प्रसन्न उदार।
विश्व प्राणी प्राण मे हो व्याप्त विगत विकार।
–जय जय विश्व के आधार॥

(आलोक के साथ वीणा-ध्वनि। शुनःशेफ का बन्धन आप-से-आप खुल जाता है, और सब शक्तिमान होकर खड़े हो जाते है। पुष्प-वृष्टि होती है।)

(आलोक के साथ पटाक्षेप)

कामना

पात्र

कामना

लीला

लालसा

करुणा

प्रमदा

वनलक्ष्मी

महत्त्वाकांक्षा

सन्तोष

विनोद

विलास

विवेक

शान्तिदेव

दम्भ

दुर्वृत्त

क्रूर

वृद्ध, युवा, बालक, नागरिक, सैनिक, आगन्तुक, द्वीपवासी, शिकारी, बन्दी, माता, बालिका, स्त्रियाँ आदि।

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(फूलों का द्वीप, समुद्र का किनारा, वृक्ष की छाया में लेटी हुई कामना)

कामना — उषा के अपांग में जागरण की लाली है। दक्षिण-पवन शुभ्र मेघमाला का अंचल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात

टहल रहा है। विशाल जल-राशि के शीतल अंक से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा सन्देश नहीं, केवल शान्ति का निरन्तर संगीत सुनाया करता है। सन्तोष! हृदय के समीप होने पर भी दूर है, सुन्दर है, केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है। परन्तु अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी? नहीं! इस समुद्र में इतना हाहाकार क्यों है? उँह, ये कोमल पत्ते तो बहुत शीघ्र तितर-बितर हो जाते है। (बिछे हुए पत्तों को बैठकर ठीक करती है) यह लो, इन डालों से छनकर आयी हुई किरणें इस समय ठीक मेरी आँखों पर पड़ेगी। अब दूसरा स्थान ठीक करूँ, बिछावन छाया में करूँ। (पत्तों को दूसरी ओर बटोरती है) घड़ी-भर चैन से बैठने में भी झंझट है।

(दो-चार फूल वृक्ष से चू पड़ते हैं — व्यग्र होकर वृक्ष की ओर सरोष देखने लगती है तीन स्त्रियाँ का कलसी लिये हुए प्रवेश)

पहली — क्यों बिगड़ रही हो कामना?

दूसरी — किस पर क्रोध है कामना?

तीसरी — कितनी देर से यहाँ हो कामना?

कामना — (स्वगत) क्यों उत्तर दूँ! सिर खाने के लिए यहाँ भी सब पहुँची!

(मुँह फिरा लेती है और बोलती नहीं)

पहली — क्यों कामना, क्या स्वस्थ नहीं हो?

दूसरी — आह! बेचारी कुम्हला गयी हैं!

तीसरी — धूप में क्यों देर से बैठी है। चलो —

कामना — मैं नहीं चाहती कि तुम लोग मुझे तंग करो। मैं अभी यहीं ठहरूँगी।

दूसरी — प्यारी कामना, तू क्यों नहीं घर चलती?

तीसरी — प्यारी कामना, तूम क्यों नहीं घर चलती?

पहली — काम जो करना होगा! (सँभल कर) अच्छा कामना, जब तक तेरा मन ठीक नहीं है, तेरा काम मैं कर दिया करूँगी।

दूसरी — तेरी कपास मैं ओट दिया करूँगी।

तीसरी — सूत मैं कात दिया करूँगी।

पहली — बुनना और पीने का जल भरना इत्यादि मैं कर दूँगी। तू अपना मन स्वस्थ कर चित्त को चैन दे। कामना तेरी-सी लड़की तो इस द्वीप-भर में कोई नहीं है।

कामना — क्या मैं रोगी हूँ जो तुम लोग ऐसा कह रही हो? मैं किसी का उपकार नहीं चाहती। तुम सब जाओ, मैं थोड़ी देर में आती हूँ।

(तीनों जाती हैं, कामना उठकर टहलती हैं।)

कामना — ये मुरझाये हुए फूल, उँह — कलियाँ चुनो उन्हें गूँथो और सजाओ तब कही पहनो। लो, इन्हें रूठने में भी देर नहीं लगती जब देखो, सिर झुका लेते है, सुगन्ध और रूचि के बदले इनमें से एक दबी हुई गर्म साँस निकलने लगती है।

(हार तोड़कर फेंकती है और कुछ कहना चाहती है, दो पुरुषों को आते देखकर चुप हो जाती है, वृक्ष की ओट में चली जाती है, एक हल और दूसरा फावड़ा लिए आता है।)

सन्तोष — भाई, आज धूप मालूम भी नहीं हुई।

विनोद — हमें तो प्यास लग रही है। अभी तो दिन भी नहीं चढ़ा।

सन्तोष — थोड़ी देर छाँह में बैठ जाय — बातें करें।

विनोद — काम तो हम लोगों का हो चुका, अब करना ही क्या हैं?

सन्तोष — अभी देव परिवार के लिए जो नयी भूमि तोड़ी जा रही है, उसमें सहायता के लिए चलना होगा।

विनोद — अपने खेतों में बहुत अच्छी उन्नति है। अन्न बहुत बचा रहेगा! उन लोगों को आवश्यकता होगी तो दूँगा।

सन्तोष — अरे, साल में बहुत सार्वजनिक काम आ पड़ते हैं, तो उनके लिये संग्रहालय में भी तो रखना चाहिये।

विनोद — हाँ जी, ठीक कहा। (समुद्र की ओर देखता है)

सन्तोष — क्यों जी, उसके पार क्या है?

विनोद — यही नहीं समझ में आता कि वह पार है या नहीं।

सन्तोष — ओह! जहाँ तक देखता हूँ, अखण्ड जलराशि।

विनोद — क्यों कभी इसमें चलकर देखने की इच्छा होती है?

सन्तोष — इच्छा तो होती है, पर लौटकर न आने के संदेह से साहस नहीं होता। ये हरे-भरे खेत, छोटी पहाड़ियों से ढुलकाते-मचलते हुए झरने, फूलों से लदे वृक्षों की पंक्ति, भोली गउओं और उनके प्यारे बच्चों के झुण्ड; इस बीहड़, पागल और कुछ न समझने वाले उन्मत्त समुद्र में कहाँ मिलेंगे। ऐसी धवल धूप, ऐसी तारों से जगमगाती रात वहाँ होगी?

विनोद — मुझे तो विश्वास है कि कदापि न होगी।

सन्तोष — तब जाने दो, उसकी चर्चा व्यर्थ है। क्यों जी, आज उपासना में वह कामना दिखाई पड़ी।

विनोद — क्या तुम उससे ब्याह किया चाहते हो?

सन्तोष — उसकी बातें, उसकी भाव-भंगिमा कुछ समझ में नहीं आती। मैं तो उससे अलग रहना चाहता हूँ।

विनोद — मेरी गृहस्थी तो ब्याह के बिना अधूरी जान पड़ती है। मैं तो लीला की सरलता पर प्रसन्न हूँ।

सन्तोष — तुम जानो। अच्छा होता यदि तुम उसी से ब्याह कर लेते?

विनोद — तुम — तुम!

सन्तोष — मैं सन्तुष्ट हूँ — मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।

विनोद — अच्छी बात है। चलो, अब घर चलें।

(दोनों जाते हैं, कामना आती हैं।)

कामना — हाँ, तुम हिचकते हो, और मैं तुमसे घृणा (जीभ दबाती है) – है यह क्या? इसके क्या अर्थ? मैं क्या इस देश की नहीं हूँ। क्या मुझमें कोई दूसरी शक्ति है, जो मुझे इनसे भिन्न रखना चाहती

है। कुछ मैं ही नहीं, ये लोग भी तो मुझको इसी दृष्टि से देखते हैं।

(लीला का प्रवेश)

लीला — बहन, क्या अभी घर न चलोगी?

कामना — तू भी आ गयी?

लीला — क्यों न आती?

कामना — आती, पर मुझ से यह प्रश्न क्यों करती हो?

लीला — बहन, तू कैसी होती जा रही है। तेरा चरखा चुपचाप मन मारे बैठा है। तेरी कलसी खाली पड़ी है। तेरा बुना हुआ कपड़ा अधूरा पड़ा है। तेरी —

कामना — मेरा कुछ नहीं है, तू जा। मैं चुप रहना चाहती हूँ, मेरा हृदय रिक्त है। मैं अपूर्ण हूँ।

लीला — बहन, मैंने कुछ नहीं समझा।

कामना — तू कुछ न समझ, बस, केवल चली आ। (लीला सिर झुकाकर चली जाती है) – मैं क्या चाहती हूँ? जो कुछ प्राप्त है, इससे भी महान। वह चाहे कोई वस्तु हो। हृदय की कोई करो रहा है। कुछ आकांक्षा है, पर क्या है? इसका किसी को विवरण

नहीं देना चाहती। केवल वह पूर्ण हो, और वहाँ तक, जहाँ तक कि उसकी सीमा हो। बस--

(दूर पर बंशी की ध्वनि, कामना इधर-उधर चौंककर देखने लगती है, समुद्र में एक छोटी सी नाव आती दिखायी पड़ती है। एक युवक बैठा डाँड़ चला रहा है, कामना आश्चर्य से देखती है। नाव तीर पर आकर लगती है।)

– है, यह कौन! मैं क्यों झुकी जा रही हूँ? और, सिर पर इसके क्या चमक रहा है, जो इसे बड़ा प्रभावशाली बनाये है। इसका व्यक्तित्व ऐसा है कि मैं इसके सामने अपने को तुच्छ बना दूँ, और अपने को समर्पित कर दूँ।

(कुछ सोचती है, युवक स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ बाँसुरी बजाता है, कामना उठती है और फूल इकट्ठे करती हैं। अकस्मात् उसके ऊपर बिखेर देती है, युवक पैर उठाता है कि नीचे उतरे, कामना उसका हाथ पकड़ कर नीचे ले आती है। युवक अपना स्वर्ण-पट खोलकर युवती कामना के सिर पर बाँधता है, और दोनों एक दूसरे को देखते हैं।)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(वृक्ष-कुंज में एक परिवार बैठा बातचीत कर रहा है।)

बालिका — माँ, कोई कहानी सुना।

बालक — नहीं माँ, तू बहन से कह दे, वह मेरे साथ दौड़े।

माता — थोड़ा-सा बुनना और है। कहानी भी सुनाऊँगी, और आज तुझे दौड़ाऊँगी भी। आज तूने कम खाया; क्या भूख नहीं थी!

बालिका — माँ, आज यह दौड़ न सका, इसी से —

माता — तो तूने इसे क्यों नहीं खेल खिलाया?

बालक — माँ, आज वहाँ लड़कों में कामना नहीं आयी। इससे बहुत कम खेल-कूद हुआ।

(एक स्त्री का प्रवेश)

स्त्री — अजी कहाँ हो बहन! कुछ सुना!

माता — क्यों बहन, क्या है? आओ, बैठो।

स्त्री — अरे, आज तो एक नयी बात हुई है।

माता — क्या?

स्त्री — समुद्र के उस पार से एक युवक आया है।

माता — सपना तो नहीं देख रही है।

स्त्री — क्या! मैं अभी देखती आ रही हूँ।

माता — कहाँ है। वह कहाँ बैठा है?

स्त्री — कामना के घर में उसी के साथ तो वह द्वीप में आया है।

माता — वह उसे क्यों ले आयी? क्या किसी ने रोका नहीं? उपासना-मन्दिर से क्या आदेश मिला कि वह नवीन मनुष्य इस देश में पैर रखने का अधिकारी हुआ, क्योंकि यह एक नयी घटना है।

स्त्री — आज-कल तो उपासना का नेतृत्व उसी कामना के हाथ में है, तब दूसरा कौन आदेश देगा?

बालक — वह कैसा है माँ?

बालिका — क्या हमीं लोगों के जैसा है?

स्त्री — और तो सब कुछ हमीं लोगों का-सा है केवल एक चमकीली वस्तु उसके सिर पर थी। कामना कहती है, अब उसने वह मुझे दे दी है। उसे सिर में बाँधकर कामना बड़ी इठलाती हुई सबसे बातें कर रही है।

(एक किशोरी बालिका का प्रवेश)

किशोरी — सब लोग चलो, आगन्तुक के लिए एक घर की आवश्यकता है। कामना ने सहायता के लिये बुलाया है।

(सब जाते हैं, लीला और सन्तोष का प्रवेश)

लीला — हाँ प्रियतम! इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जायँगे।

सन्तोष — परन्तु तुम्हारी सखी तो —

लीला — अरे सुना है, उसने भी वरण किया है।

सन्तोष — किसे? वह तो इससे अलग रहना चाहती है!

लीला — कोई समुद्र-पार से आया है।

सन्तोष — हाँ, आने का समाचार तो मैंने भी सुना है; पर उस नवागंतुक से क्या इस देश की कुमारी ब्याह करेगी?

लीला — क्यों, क्या ऐसा नहीं हो सकता?

सन्तोष — अभी तक तो नहीं सुना; क्या किसी पुरानी कहानी में तुमने ऐसा सुना है?

लीला — परन्तु कोई आया भी तो नहीं था।

सन्तोष — यह तो ठीक नहीं है। सुना है, उसका नाम विलास है।

लीला — ठीक तो नहीं है; पर होगा यही।

सन्तोष — यदि विरोध हुआ, तो तुम क्या करोगी?

लीला — मेरी सखी है। आज तक तो इस द्वीप में विरोध कभी नहीं हुआ!

सन्तोष — तो मैं विचार करूँगा। तुम्हारे पथ पर मैं चल सकूँगा?

लीला — (आश्चर्य से) क्या इसमें भी सन्देह है?

सन्तोष — हाँ लीला।

लीला — नहीं-नहीं, ऐसा न कहो —

(दोनों जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(कुंजवन में कामना के साथ बैठा हुआ विलास)

कामना — प्रिय, अब तो तुम हम लोगों की बातें अच्छी तरह समझने लगे। जो लोग मिलने आते है, उनसे बातें भी कर लेते हो।

विलास — हाँ, अब तो कोई बाधा नहीं होती प्रिये! तुम लोग कुछ गाती नहीं हो क्या?

कामना — गाती क्यों नहीं है, पर तुम्हें हमारे गाने अच्छे लगेंगे?

विलास — क्यों नहीं, सुनूँ तो।

(कामना गाती है और विलास बाँसुरी बजाता है)

सघन वन-वल्लरियों के नीचे
उषा और सन्ध्या-किरनों ने तार बीन के खींचे
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मीचे
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे

मानस-तरी भरी करुना-जल होती ऊपर-नीचे

विलास — कामना! कामना! तुम लोगों का ऐसा मधुर गान है! मैंने तो ऐसा गान कभी नहीं सुना!

कामना — (आश्चर्य से) क्या ऐसा गान कहीं नहीं होता?

विलास — इस लोक में तो नहीं।

कामना — तब तो बड़ी अच्छी बात हुई।

विलास — क्या?

कामना — मैं नित्य सुनाया करूँगी।

विलास — क्यों प्रिये, तुम्हारे देश के लोग मुझसे अप्रसन्न तो नहीं है? क्या — कामना — इसमें अप्रसन्न होने की तो कोई बात नहीं है। यह तो इस द्वीप का नियम है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष स्वतन्त्रता से जीवन-भर के लिए अपना साथी चुन ले।

विलास — क्या तुम्हें किसी का डर नहीं है?

कामना — (अल्हड़पन से) डर! डर क्या है?

विलास --- क्या तुम्हारे ऊपर किसी की आज्ञा नहीं है?

कामना - हाँ है, नियमों की। वह तुम्हारे लिए टूट नहीं रहा है। और,इस समय तो मैं ही द्वीप-भर की उपासना का नेतृत्व कर रही हूँ। मेरे लिए कुछ विशेष स्वतन्त्रता है।

विलास — क्या ऐसा सदैव रहेगा?

कामना — (चौंककर) क्या मेरे जीवन-भर? नहीं ऐसा तो नहीं है, और न हो सकता है।

विलास — (गम्भीरता से) क्यों नहीं हो सकता? मेरे देश में तो बराबर होता है।

कामना — (प्रसन्न घबराहट से) तो क्या मेरे लिये यहाँ भी यह सम्भव है?

विलास — उद्योग करने से होगा।

कामना — चलो, उस शिलाखण्ड पर अच्छी छाया है, वही बैठे।

(हाथ पकड़ कर उठाती है, दोनों वहाँ जाकर बैठते है)

विलास — कामना, तुम लोगों की कोई कहानी है?

कामना - है क्यों नहीं!

विलास — कुछ सुनाओ। इस द्वीप की कथा मैं सुनना चाहता हूँ।

कामना — (आकाश की ओर दिखाकर) हम लोग बड़ी दूर से आये है। जब विलोडित जलराशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की

डोरी के सहारे नीचे उतारे गये। इस द्वीप में अब तक तारा की ही सन्तानें बसती है।

विलास — क्यों यह जाति उतारी गयी?

कामना — वहाँ चुपचाप बैठने से यह सन्तुष्ट नहीं थी। पिता ने खेल के लिये यहाँ भेज दिया। इन तारा की सन्तानों का खेल एक बड़े छिद्र से पिता देखा करते है।

विलास — कौन-सा छिद्र?

कामना — वही, जिससे दिन हो जाता है। पिता का असीम प्रकाश उससे दिखायी पड़ता है, क्योंकि वह केवल आलोक हैं! वही रात को झँझरीदार परदा खींच लेता हैं, तब कहीं-कहीं से तारे चमकते हैं। यह सब उसी लोक का प्रकाश हैं।

विलास — अच्छा, तो वहाँ जाते कैसे हैं?

कामना — पिता की आज्ञा से कभी छोटी, कभी बड़ा एक राह खुलती है, और किसी दिन बिलकुल नहीं, उसे चन्द्रमा कहते है। अपने शीतल पथ से थकी हुई तारा की संतान अपने खेल समाप्त कर उसी से चली जाती है।

विलास — (आश्चर्य से) भला तारों की राह से क्यों भेजे जाते हैं?

कामना — यह खिलवाड़ी और मचलने वाली सन्तान थका देने के लिए भेजी जाती है। हमारे अत्यन्त प्राचीन आदेशों में तो यही मिलता है, ऐसा ही हम लोग जानते है।

(दूर एक बड़ा सुरीला पक्षी बोलता है, कामना घुटने टेक कर सिर झुका लेती है और चुपचाप उसका शब्द सुनती है)

विलास — कामना! यह क्या कर रही हो?

कामना — (उठकर) पिता का संदेश सुन रही था। मैं उपासना-गृह में जाती हूँ क्योंकि कोई नवीन घटना होने वाली है। तुम चाहे ठहरकर आना।

(चली जाती है)

विलास — आश्चर्य! कैसी प्रकृति से मिली हुई यह जाति है! महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं हैं। जैसे शैल-निवासिनी सरिता पथ के विषम ढोकों को, विघ्न-बाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति से ढँकती हुई बहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति, जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई, अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती हैं।

परन्तु ऐसे — (चुप होकर सोचने लगता है) उहूँ, करना होगा। ऐसी सीधी जाति पर भी यदि शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा। जान पड़ता है कि किसी गुप्त संदेश पर ये लोग प्राचीन प्रथा के अनुसार, केवल उपासना के लिए किसी के नेतृत्व का अनुसरण करते हैं। सम्भवतः जब तक लोग उसकी कोई अयोग्यता न देख लेंगे, तब तक उसी को नेता मानते रहेंगे। भाग्य से आज-कल कामना ही है; परन्तु मेरे कारण शीघ्र इसको अपने पद से हटना होगा। तो, जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच में अपना काम कर लेना होगा।

(दूर पर एक स्त्री की छाया दीख पड़ती है)

छाया — मूर्ख! अपने देश की दरिद्रता से विताड़ित और अपने कुकर्मों से निर्वासित साहसी! तू राजा बनना चाहता है? तो स्मरण रख, तुझे इस जाति को अपराधी बनाना होगा। जो जाति अपराध और पापों से पतित नहीं होती, वह विदेशी तो क्या, किसी अपने सजातीय शासक की भी आज्ञाओं का बोझ वहन नहीं करती। और, समझ ले कि बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली-भाली जाति को पतित नहीं बना सकता।

विलास — कौन, मेरी महत्वाकांक्षा! तुझे धन्यवाद! ठीक समय पर पहुँची।

(विलास जाता है, छाया अदृश्य हो जाती है)

(एक ओर से कामना, दूसरी ओर से विनोद का प्रवेश)

कामना — विनोद! तुम इधर से लीला से मिले थे? वह तुम्हें एक दिन खोज रही थी।

विनोद — सन्तोष के कारण मैं उससे नहीं मिलता। आज उसका ब्याह होने वाला था न!

कामना — वह सन्तोष से ब्याह न करेगी! चलो, फूलों का मुकुट पहनाकर तुम्हें ले चलूँ।

विनोद — मैं?

कामना — हाँ!

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(लीला अपने कुटीर के पुष्पमण्डप में)

लीला — आज मिलन-रात्रि है। आज दो अधूरे मिलेंगे, एक पूरा होगा। मधुर जीवन स्रोत को सन्तोष की शीतल छाया में बहा ले जाना आज से हमारा कर्तव्य होना चाहिए। परन्तु मुझे वैसी आशा नहीं। मेरा हृदय व्याकुल है, चंचल है, लालायित है, मेरा सब कुछ अपूर्ण है केवल उसी चमकीली वस्तु के लिये। मेरी सखी कामना! आह मुझे भी एक वैसी ही मिलनी चाहिये।

(वन-लक्ष्मी का प्रवेश)

लीला — तुम कौन हो?

वन-लक्ष्मी — मैं वन-लक्ष्मी हूँ।

लीला — क्यों आयी हो?

वन-लक्ष्मी — इस द्वीप के निवासियों में जब ब्याह होता है, तब मैं आशीर्वाद देने आती हूँ। परन्तु किसी के सामने नहीं।

लीला — फिर मेरे लिए ऐसी विशेषता क्यों?

वन-लक्ष्मी — अभिशाप देने के लिए।

लीला — हम 'तारा की सन्तान' है। हमें किसी के अभिशाप से क्या सम्बन्ध! और मैंने किया ही क्या है जो तुम अभिशाप कह कर चिल्लाती हो। इस द्वीप में आज तक किसी को अभिशाप नहीं मिला, तो मुझे ही क्यों मिले?

वन-लक्ष्मी — मैंने भूल की। अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो।

लीला — जो बात मैं समझती नहीं, उसी के लिये क्यों मुझे...

वन-लक्ष्मी — जो वस्तु कामना को अकस्मात् मिली है, उसी के लिए तुम ईर्ष्या कर रही हो, वैसी ही तुम भी चाहती हो।

लीला — तो ऐसा चाहना क्या कोई अभिशाप, ईर्ष्या या और क्या-क्या तुम कह रही हो, वही है?

वन-लक्ष्मी — आज तक इस द्वीप के लोग 'यथा-लाभ-सन्तुष्ट' रहते थे, कोई किसी का मत्सर नहीं करता था। परन्तु इस विष का...

लीला — बस करो, मैं तुम्हारे अभिशाप, ईर्ष्या और विष को नहीं समझ सकी! यदि मैं किसी अच्छी वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करूँ, तो उसकी गिनती तुम अपने इन्हीं शब्दों में करोगी, जिन्हें किसी ने सुना नहीं था। अभिशाप, मत्सर, ईर्ष्या और विष!

वन-लक्ष्मी — अच्छी वस्तु तो उतनी ही है, जितने की स्वाभाविक आवश्यकता है। तुम क्यों व्यर्थ अभावों की सृष्टि करके जीवन जटिल बना रही हो? जिस प्रकार ज्वालामुखियाँ पृथ्वी के नीचे दबा रक्खी गयी है, और शीतल स्रोत पृथ्वी के वक्षस्थल पर बहा दिये गये है, उसी प्रकार ये सब अभाव 'तारा की सन्तानों' के कल्याण के लिए गाड़ दिये गये है। यह ज्वाला सोने के रूप में सब के हाथों में खेलती और मदिरा के शीतल आवरण के कलेजे में उतर जाती है।

लीला — मदिरा! क्या कहा?

वन-लक्ष्मी — हाँ-हाँ, मदिरा, जो तुम्हारे उस पात्र में रक्खी है। (पात्र की ओर संकेत करती है)

लीला — क्या इसे कहती हो? (पात्र उठा लेती है) इसे तो सखी कामना ने ब्याह के उपलक्ष्य में भेजा है। और सोना क्या?

वन-लीला — वही, जिसके लिए लालायित हो।

लीला — तुम वन-लक्ष्मी हो, तभी...

वन-लक्ष्मी — क्या मैं भी उस चमकीली वस्तु के लिये शीतल हृदय में जलन उत्पन्न करूँ?

लीला — जलन तो है ही। तुम्हारे पास नहीं है, इसलिये मुझे भी उससे वंचित करना चाहती हो। कामना के पास है, और मैं उसे

पाने का प्रयास कर रही हूँ। इसे ही तो तुमसे कहा था मत्सर! और मैं पा जाऊँगी उद्योग करके, इसलिये तुम निषेघ करती हो। क्या यह मत्सर तुम्हारे शीतल हृदय की जलन नहीं है?

वन-लक्ष्मी — लीला! लीला! सावधान हो, हमारे द्वीप में लोहे का उपयोग सृष्टि की रक्षा के लिए है। उसे संहार के लिए मत बना। जो वस्तु खेती और हिंस्र पशुओं से सरल जीवों की रक्षा का साधन है, उसे नरक के हाथ, हिंसा की उँगलियाँ न बना दे। कामना को उस विदेशी युवक के साथ महार्णव में विसर्जन कर दे। उसे दूसरे देश में जाने के लिये भी कह दे, परन्तु...

लीला — वन-लक्ष्मी हो? क्या तुम ऐसा निष्ठुर निर्देश करती हो कि मैं अपनी सखी को...

वन-लक्ष्मी — हाँ! हाँ! उस अपनी सखी से दूर रह! केवल तू ही उस अग्नि का ईंधन बनकर विनाश न फैला। महार्णव से मिलती हुई तरंगिणी के जल में चुटकी लेता हुआ, शीतल और सुगन्धित पवन इस देश में बहने दे। इस देश के थके कृषकों को विनोद-पूर्ण बनाने के लिए, प्रत्येक पथिक पर — कल्याण के सदृश — यहाँ के वृक्षों को फूल बरसाने दे। आग, लोहे और रक्त की वर्षा की प्रस्तावना न कर। इस विश्वम्भरा को, इस जननी को, धातु निकाल कर, खोखली और निर्बल बनाने का समारम्भ होने से रोक। मेरी प्यारी लीला मान जो! कहे जाती हूँ, जिस दिन तूने उस

चमकीली वस्तु के लिए हाथ पसारा, उसी दिन इस देश की दुर्दशा का प्रारम्भ होगा। (चली जाती है)

लीला — (कुछ देर बाद) आश्चर्य! आज तक तो वन-लक्ष्मी किसी से नहीं मिली थी। अब मैं क्या करूँ? चलकर कामना से कहूँ; या उपासनागृह में ही सबके सामने कहूँ (सोचती है) नहीं, अलग ही कहना ठीक होगा। तो चलूँ, (रुककर) यह लो कामना तो स्वयं आ रही है।

(कामना का प्रवेश)

कामना — लीला, सखी, तू कैसी हो रही है?

लीला — मैं तो तेरे ही पास आ रही थी। बड़े आश्चर्य की बात है।

कामना — आश्चर्य की कई बातें आज कल इस द्वीप में हो रही है। पर उनसे क्या? पहले मेरी ही बात सुन ले। मैं विलास के साथ बातें कर रही थी कि पक्षियों का संकेत हुआ। मैं उपासनागृह में गयी। मुझे नियमानुसार यह विदित हुआ कि इस देश पर कोई आपत्ति शीघ्र आया चाहती हैं। पर मैं तनिक भी विचलित न हुई। मैं तो तेरे ब्याह का शृंगार करने आयी हूँ। तू कह...

लीला — आज वन-लक्ष्मी मुझसे न जाने कहाँ-कहाँ की कैसी-कैसी बातें कह गयी।

कामना — वन-लक्ष्मी! भला, वह तेरे सामने आयी! आश्चर्य! क्या कहा?

लीला — कहा कि कामना के हाथों से देश का विनाश होगा। तू उसका साथ न दे, और उस चमकीली वस्तु की चाह कभी न करना जैसी कामना के पास है, क्योंकि व ज्वाला है। और भी न जाने क्या-क्या कह गयी।

कामना — हूँ। तूने क्या कहा?

लीला — मैंने कहा कि वह मेरी सखी है, मैं उसे न छोड़ूँगी (आलिंगन करती हैं)

कामना — प्यारी लीला, वह मैं तुझे अवश्य दिलाऊँगी, अधीर न हो। तू जैसे भ्रान्त हो गयी है। वह पेया, जो मैंने भेजी है, कहाँ है? थोड़ी उसमें से पी ले।

लीला — ओह! उसे तो और भी मना किया है।

कामना — (हँसती हुई पात्र उठाकर) अरे ले भी, अभी थकावट दूर होती है। (लीला और कामना पीती हैं)

लीला — बहन, इसके पीते ही तो मन दूसरा हुआ जाता है।

कामना — बड़ी अच्छी वस्तु है।

लीला — ऐसी पेया तो नहीं पी थी। यह कहाँ से ले आयी?

कामना — एक दिन मैं और विलास, दोनों, नदी के किनारे से बहुत दूर निकल गये। फिर वहाँ प्यास लगी; परन्तु नदी तक लौटने में विलम्ब होता। एक तरबूज आधा पड़ा था, उसमें सूर्य की गरमी से तपा हुआ उसी का रस था। हम दोनों ने आधा-आधा पी लिया। बड़ा आनन्द आया। अब उसी रीति से बनाया करती हूँ।

लीला — (मद विह्वल होती है) कामना, तू वन-लक्ष्मी है। वह जो आयी थी, मुझे भुलाने आयी थी। तू क्या है, सुगन्ध की लहर। चाँदनी की शीतल चादर। अः (उठना चाहती है)

कामना — (लीला को बिठाकर) तू बैठ, आज मिलन-रात्रि है। विनोद के आने का समय हो गया।

लीला — विनोद! कौन! नहीं कामना! सन्तोष! मेरा प्यारा सन्तोष! तुमने तो ब्याह न करने का निश्चय किया है?

कामना — कैसी है तू! वह मेरा निर्वाचित है! मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा — समझी लीला! तेरे लिए तो विनोद ही उपयुक्त है। सन्तोष मुझसे डरता है तो मैं भी उससे सब को डराऊँगी — विनोद को मैं बुला आयी हूँ। वह तेरा परम अनुरक्त है।

(लीला अवाक होकर देखती है, फूलों के मुकुट से सजा हुआ विनोद आता है)

कामना — स्वागत!

लीला — विराजिये।

(सब बैठते है। कामना फूलों के हार दोनों को पहनाती है और पात्र लेकर दोनों को एक में पिलाती है। पीछे खड़ी होकर दोनों के सिर पर हाथ रखती है, तीनों के मुख पर तीव्र आलोक)

कामना — अखण्ड मिलन हो!

विनोद — उपासना गृह में भी तो चलना होगा।

लीला — यह तो नियम है।

कामना — थोड़ी और पी लो, तो चले। वहाँ सब लोग एकत्र रहेंगे। परन्तु देखो, जो मैं कहूँ, वहाँ वही करना।

लीला और विनोद — वही होगा।

(दोनों पात्र खाली करके जाते हैं)

कामना — मेरे भीतर का बाँकपन सीधा हो गया है। मेरा गर्व उसके पैरों में लोटने लगा। वह अतिथि होकर आया, आज स्वामी है। व्योम-शैल से गिरती हुई चन्द्रिका की धारा आकाश और पाताल एक कर रही है। आनन्द का स्रोत बहने लगा है। इस प्रपात के स्वच्छ कणों से कुहासे के समान सृष्टि में अन्धकार-मिश्रित आलोक फैल गया है अन्तःकरण के प्रत्येक कोने से असन्तोष-पूर्ण तृप्ति की स्वीकार-सूचनाएँ मिल रही है। विलास! तुम्हारे दर्शन ने सुख भोगने के नये-नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया है। क्लान्ति और श्रान्ति मिलने के लिए जैसे सकल इन्द्रियाँ परिश्रम करने लगी हैं — विलास!

(गाती है)

> घिरे सघन घन नींद न आयी, निर्दय भी न अभी आया!
> चपला ने इस अन्धकार में, क्यों आलोक न दिखलाया?
> बरस चुकी रस-बूँद सरस हो फिर भी यह मन कुम्हलाया?
> उमड़ चले आँखों के झरने, हृदय न शीतल हो पाया!

– चलूँ उपासना-गृह में — (जाती है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(उपासना-गृह में — सामने धूनी में जलती हुई अग्नि, बीच में कामना स्वर्णपट्ट बाँधे, दोनों ओर द्वीप के नागरिक, सबसे पीछे विलास)

कामना — पिता! हम सब तेरी सन्तान है (सब वही कहते हैं)

कामना — हमारी परस्पर की भिन्नता के अवकाश को तू पूर्ण बनाये रख, जिसमें हम सब एक हो रहें।

सब — हम सब एक हो रहें।

कामना — हमारे ज्ञान को इतना विस्तार न दे कि हम सब दूर-दूर हो जायँ। हम सब समीप रहें।

सब — हम सब समीप रहें।

कामना — हमारे विचारों को इतना संकुचित न कर दे कि हम अपने ही में सब कुछ समझ ले। सब में तेरी सत्ता का अनुभव हो।

सब — सब में तेरी सत्ता का अनुभव हो। (घुटने टेकते हैं)

कामना (उठकर) हम लोगों में आज एक नवीन मनुष्य है। वह आप लोगों को पिता का एक सन्देश सुनायेगा!

एक वृद्ध — पवित्र पक्षियों के सन्देश क्या अब बन्द होगे!

दूसरा — क्या मनुष्य से हम लोग सन्देश सुनेंगे!

तीसरा — कभी ऐसा नहीं हुआ।

विलास — शान्त होकर सुनिये। पवित्र उपासना-गृह में मन को एकाग्र करके, विनम्र होकर, सन्देश सुनिये। विरोध न कीजिये।

पहला वृद्ध — इस उपद्रव का अर्थ? विदेशी युवक, तुम यहाँ क्या किया चाहते हो? विरोध क्या?

विनोद — सुनने में बुराई क्या है?

लीला — हमारे ब्याह की उपासना यों उपद्रव में न समाप्त होनी चाहिये। आप लोग सुनते क्यों नहीं।

कामना — मैं आज्ञा देती हूँ कि अभी उपासना पूर्ण नहीं, इसलिये सब लोग सन्देश को सावधान होकर सुनें।

दो-चार वृद्ध — इस उन्मत्त कथा का कही अन्त होगा? कामना! आज तुम्हें क्या हुआ है? तुम केवल उपासना का नेतृत्व कर रही हो, आज्ञा कैसी? वह क्यों मानी जाय?

कई स्त्री पुरुष — हम लोगों को यहाँ से चलना चाहिये और कोई दूसरा व्यक्ति कल से उपासना का नेता होगा।

विलास — अनर्थ न करो, ईश्वर का कोप होगा।

(विलास के संकेत करने पर कामना अग्नि में राल डालती है)

विलास — ईश्वर है और वह सब के कर्म देखता है। अच्छे कार्यों का पारितोषिक और अपराधों का दण्ड देता है। वह न्याय करता है; अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा!

विवेक — परन्तु युवक, हम लोग आज तक उसे पिता समझते थे और हम लोग कोई अपराध नहीं करते। करते है केवल खेल। खेल का कोई दण्ड नहीं। यह न्याय और अन्याय क्या? अपराध और अच्छे कर्म क्या है, हम लोग नहीं जानते। हम खेलते है, और खेल में एक दूसरे के सहायक है, इसमें न्याय का कोई कार्य नही। पिता अपने बच्चों का खेल देखता है, फिर कोप क्यों?

विलास — तुम्हारी ज्ञान-सीमा संकुचित होने के कारण यह भ्रम है। तुम लोग पुण्य भी करते हो और पाप भी।

विवेक — पुण्य क्या?

विलास — दूसरों की सहायता करना इत्यादि और पाप है दूसरों को कष्ट देना, जो निषिद्ध है।

विवेक — परन्तु निषेध तो हमारे यहाँ कोई वस्तु नहीं है। हम वही करते हैं, जो जानते है, और जो जानते है वह सब हमारे लिये अच्छी बात है, केवल निषेध का घोर नाद करके तुम पाप क्यों प्रचारित कर रहे हो? वह हमारे लिये अज्ञात है। तुम इस ज्ञान को अपने लिए सुरक्षित रक्खो। यहाँ...।

कामना — दिव्य पुरुष से केवल शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

विनोद — हमा आपके आज्ञाकारी है। आपके नेतृत्व-काल में अपूर्व वस्तु देखने में आयी, और कभी न सुनी हुई बातें जानी गयी, आप धन्य हैं!

एक — हम लोग भी स्वीकार ही करेंगे। तो अब सब लोग जायँ?

विनोद — ब्याह का उपहार ग्रहण कर लीजिये।

कामना — यह ईश्वर की प्रसन्नता है। आप लोगों को उसे लेकर जाना चाहिए।

(विनोद और लीला सब को मदिरा पिलाते है)

कामना — है न यह उसकी प्रसन्नता?

दो-चार — अवश्य, यह तो बड़ी अच्छी पेया है।

(सब मोह में शिथिल होते है)

–ईश्वर से डरना चाहिये, सदैव सत्कर्म...।

एक — नहीं तो वह इस ज्वाला से समान अपने क्रोध को धधका देगा।

दूसरा — और हम लोगों को दण्ड देगा।

विवेक — परन्तु प्यारे बच्चो, वह पिता स्नेह करता है, यह हम लोग कैसे भूल जायँ, और उससे डरने लगें?

कामना — तुम्हें प्रमाण मिलेगा कि हम लोगों में अपराध है; उन्हीं अपराधों से हम लोग रोगी होते और उसके बाद इस द्वीप से निकाल दिये जाते है। उन अपराधों को हमें धीरे-धीरे छोड़ना होगा।

विवेक — तो फिर सब कर्म केवल अपराध ही हो जायँगे —

और सब — हम लोग अपराधों को जानेंगे और उनका त्याग करेंगे। रोग और निकाले जाने से बचेंगे।

विलास — सब का कल्याण होगा।

(एक दूसरे का आलिंगन करते हैं। मद्यपों की-सी प्रसन्नता प्रकट करते हुए जाते है)

विवेक — परिवर्तन! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से कुहू में बदल जायगी। बालकों के से शुभ्र हृदय छल की मेघमाला से ढँक जायँगे।

(सोचता है) – पिता! पिता! हम डरेंगे, तुमसे काँपेंगे? क्यों? हम अपराधी है। नहीं-नहीं, यह क्या अच्छी बात है। यह क्या है? अब खेल समाप्त होने पर तुम्हारी गोद में शीतल पथ से हम न जाने पावेंगे। तुम दण्ड दोगे। नहीं-नहीं — ओह! न्याय करोगे? भयानक न्याय — क्योंकि हम अपराध करेंगे, और तुम दण्ड दोगे — ओह! उसने कहा कि तुम निर्जीव बनकर इस द्वीप से निकाल दिये जाते हो, यही प्रमाण है कि तुम अपराधी हो। क्या हम अपराधी है? अपराध क्या पदार्थ हैं? क्षुद्र स्वार्थों से बने हुए कुछ नियमों का भंग करना अपराध होगा। यही न? परन्तु हमारे पास तो कोई नियम ऐसे नहीं थे, जो कभी तोड़े जाते रहे हों। फिर क्यों यह अपराध हम पर लादा जाता है? पिता! प्रेममय पिता! हमारे इस खेल में भी यह कठोरता, यह दण्ड का अभिशाप लगा दिया गया! हमारे फूलों के द्वीप में किस निर्दय ने काँटे बिखेर दिये? किसने हमारा प्रभात का स्वप्न भंग किया? स्वप्न — आ! कुदृश्यों से थकी हुई आँखों में चला आ — विश्राम! आ! मुझे शीतल अंक में ले! उँह! सो जाऊँ!

(सोने की चेष्टा करता है। स्वप्न में — स्वर्ग और नरक का दृश्य देखता हुआ अर्ध-निद्रित अवस्था में उठ खड़ा होता है)

–मैं क्या-क्या कह गया। ये सब अभूतपूर्व बातें कहाँ से हमारे हृदय में उठ रही है। परन्तु, नहीं — यह तो प्रत्यक्ष है, दिखलायी पड़ रहा है कि ज्वाला और उसके पहले विष से मिला हुआ धुआँ फैलने लगा है! जलाने वाली, अमृत होकर सुख भोग करने की इच्छा इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की कल्पना, इसे अवश्य नरक बनाकर छोड़ेंगी। हैं! नरक और स्वर्ग! कहाँ है? ये क्यों मेरे हृदय में घुसे पड़े हैं? काल्पनिक अत्यन्त उत्तमता, सुख-भोग की अनन्त कामना, स्वर्गीय इन्द्र-धनुष बनकर सामने आ गयी है, जिसने वास्तविक जीवन के लिये इस पृथ्वी की दबी हुई ज्वालामुखियों का मुख खोल दिया है। हमारे फूलों के द्वीप के बच्चों! रोओगे इन कोमल फूलों के लिये, इन शीतल झरनों के लिये। पिता के दुलारे पुत्रों! तुम अपराधी के समान बेत से काँपोगे। तुम गोद में नहीं जाने पाओगे। हा! मैं क्या करूँ — कहाँ जाऊँ?

(बड़बड़ाता हुआ जाता है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(कामना का नवीन मन्दिर, कामना और विलास)

विलास — बहुत-से लोग पेया माँगते है कामना!

कामना — तो कैसे बनेगी?

विलास — लीला स्वर्ण-पट्ट के लिये अत्यन्त उत्सुक है।

कामना — उसे तो देना ही होगा।

विलास — स्वर्ण तो मैंने एकत्र कर लिया है, अब उसे बनाना है।

कामना — फिर शीघ्रता करो।

विलास — जब तक तुम रानी नहीं हो जाती, तब तक मैं दूसरे को स्वर्ण-पट्ट नहीं पहनाऊँगा। केवल उपासना में प्रधान बनने से काम न चलेगा परन्तु रानी बनने में अभी देर है, क्योंकि अपराध अभी प्रकट नहीं है। उसका बीच सब के हृदयों में है

कामना — फिर क्या होना चाहिये?

विलास — आज सब को पिलाऊँगा। कुछ स्त्रियाँ भी रहेगी न?

कामना — क्यों नहीं।

विलास — कितनी देर में सब एकत्र होगे?

कामना — आते ही होगे। मुझे तो दिखलाओ, तुमने क्या बनाया है, और कैसे बनाया?

(कामना आश्चर्य से देखती है, पर्दा हटाकर शराब की भट्ठी और सुनार की धौंकनी दिखलाता है। गलाया हुआ बहुत-सा सोना रक्खा है, मंजूषा में से एक कंकण निकाल कर कामना को दिखाता है)

लीला — (सहसा प्रवेश करके) सब लोग आ रहे हैं।

(विलास सब बन्द कर लेता है, लीला की ओर क्रोध से देखता है। लीला संकुचित हो जाती हैं।)

विलास — जब कह दिया गया कि तुम्हें भी मिलेगा, तब इतनी उतावली क्यों है?

(विनोद भी आ जाता है)

कामना — विनोद और लीला हमारे अभिन्न है प्रिय विलास!

विलास — ईश्वर का यह ऐश्वर्य है, उसका अंग है। जब उसकी इच्छा होगी, तभी मिलेगा। जल्दी का काम नहीं। विनोद! तुम्हें भी इसकी ...

विनोद — मैंने भी बहुत-सी रेत इकट्ठी की है, परन्तु बना न सका — मुझे नहीं लीला को चाहिये।

विलास — (आश्चर्य और क्रोध प्रकट करते हुये) अच्छा, प्रतिज्ञा करो कि कामना जो कहेगी, यही तुम लोग करोगे, आज का रहस्य किसी से न कहोगे।

विनोद और लीला — हम दोनों दास है। किसी से न कहेंगे।

कामना — क्या कहा!

दोनों — दास है। आपके दास है।

कामना — नहीं-नहीं, तुम इतने दीन होकर ज्वाला की भीख मत लो। इस द्वीप के निवासी...

विलास — ठहरो कामना (विनोद से) तो तुम अपनी बात पर दृढ हो? झूठ नहीं बोलते?

लीला — झूठ क्या?

विलास — यही कि जो कहते हो, उसे फिर न कर सको।

कामना — ऐसा तो हम लोग कभी नहीं करते। क्यों विनोद!

विलास — मैं तुमसे नहीं पूछ रहा हूँ कामना।

विनोद — हाँ-हाँ, वही होगा।

(विलास एक छोटा-सा हार निकालकर लीला को पहनाता है। कामना क्षोभ से देखती है, विलास पर्दा खींचकर खड़ा हुआ मुस्कराता है। सब लोग आ जाते है। कामना सबका स्वागत करती है, युवक और युवतियों का झुण्ड बैठता हैं।)

विलास — आज आप लोग मेरे अतिथि है, यदि कोई अपराध हो तो क्षमा कीजियेगा।

एक युवक — अतिथि क्या?

विलास — यही कि मेरे घर पधारे हैं।

एक युवती — हम लोग तो इसे अपना ही घर समझते हैं।

विनोद — वास्तव में तो घर विलास जी का है।

विलास — ऐसा कहना तो शिष्टाचार-मात्र है। अच्छे लगो तो ऐसा कहते ही है।

युवक — क्या इस घर के आप ही सब कुछ है? हम लोग कुछ नहीं?

कामना — आप लोग जब आ गये हैं, तब तक आप लोग भी है परन्तु विलास जी की आज्ञानुसार।

विलास — (हँसकर) हमारे देख में इसको शिष्टाचार कहते है। यद्यपि आप लोगों का इस समय हमारे घर पर पूर्ण अधिकार है, परन्तु स्वत्व हमारा ही है; क्योंकि जब आप लोग यहाँ से चले जायँगे, तब तो मैं ही इसका उपभोग करूँगा।

लीला — कैसी सुन्दर बात है, कैसा ऊँचा विचार है!

(सब लोग आश्चर्य से एक-दूसरे का मुँह देखते हैं)

विलास — आप लोग कुछ थके होंगे, इसलिये थोड़ी-थोड़ी पेया पी लीजिये तब खेल होगा। देखिये, आप लोगों को आज एक नया खेल खेलाया जायगा। जो मैं कहूँ, वही करते चलिये।

युवक — ऐसा?

विलास — हाँ, आप लोग गाते हुए घूमते और नाचते भी तो है?

युवक और युवती — क्यों नहीं, परन्तु उसका समय दूसरा होता है।

विलास — आज हम जैसा कहे, वैसा करना होगा।

कामना — अच्छी बात है। नया खेल देखा जायगा।

(कामना और लीला मदिरा ले आती है। विलास सबको पंक्ति से बैठाता है और कामना को संकेत करता है, दोनों सबको मद्य पिलाती हैं। सब प्रसन्न होते है)

एक —(नशे में) अब खेल होना चाहिए।

सब — (मद्य-विह्वल होकर) हाँ-हाँ, होना चाहिये।

विलास — (एक सू पूछता है) क्यों, तुमको कौन स्त्री अच्छी लगती है? देखो उसके मुख पर कैसा प्रकाश है। (एक दूसरे की स्त्री को दिखाता है)

वह युवक — हाँ, इसमें तो कुछ विचित्र विशेषता है।

विलास — अच्छा तो इनमें से सब लोग इसी प्रकार एक-एक स्त्री को चुन लो।

(नशे में एक दूसरे की स्त्री को अच्छी समझते हुए उनका हाथ पकड़ते हैं। विलास सबको मण्डलाकार खड़ा करता है)

कामना — अब क्या होगा?

विलास — इस खेल में एक व्यक्ति बीच में रहेगा, जो सब की देख-रेख करेगा।

कामना — तुम्हीं रहो।

विलास — नहीं, मुझको तो आज अभी बताना पड़ेगा। आज तुम्हीं देखो। और तुम तो इन लोगों में मुख्य हो भी?

सब — ठीक कहा।

विलास — अच्छा, तो कामना! इस खेल की तुम रानी बनोगी। जब तुम कहोगी तभी यह खेल बन्द होगा — समझीं!

सब — अच्छी बात है।

(विलास चन्द्रहार और कंकण कामना को पहनाता है, सब आश्चर्य से देखते हैं)

विनोद — कामना रानी है।

विलास — सचमुच रानी है।

(कामना के संकेत करने पर नृत्य आरम्भ होता है, और विलास गाता है। सब उसका अनुकरण करते हैं)

पी ले प्रेम का प्याला
भर ले जीवन-पात्र में यह अमृतमयी हाला

सृष्टि विकासित हो आँखों में, मन हो मतवाला

मधुप पी रहे मधुर मधु, फूलों का सानन्द

तारा-मद्यप-मंडली चषक भरा यह चन्द

सजा अपानक निराला।

पी ले प्रेम का प्याला।

(सब उन्मत्त होकर नाचते-नाचते मद्यप की चेष्टा करते हैं, विवेक का प्रवेश, आश्चर्यचकित होकर देखता है)

विलास — कौन?

विवेक — यह नरक है या स्वर्ग?

विलास — बुड्ढे! इसे स्वर्ग कहते है। तुम कैसे जान गये?

विवेक — तो इसी स्वर्ग से नरक की सृष्टि होगी। भागो-भागो।

विलास — पागल है।

सब — पागल है! पागल है!

(विवेक क्षोभ से भागता है)

(यवनिका)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(जंगल में विलास, कामना, विनोद और लीला)

लीला — बहुत दूर चले आये। अब हम लोगों को लौटना चाहिये।

विलास — हाँ, इधर तो द्वीप के निवासी बहुत ही कम आते हैं।

विनोद — हम समझते है, अब इस द्वीप के मनुष्यों को और भूमि की आवश्यकता न होगी।

कामना — आवश्यकता तो होगी ही।

विलास — फिर इतना दुर्गम कान्तार अनाक्रान्त क्यों छोड़ दिया जाय? सम्भव है, कालान्तर में इधर ही बसना पड़े।

विनोद — तब इधर —

विलास — तुम्हारे पास तीर और धनुष क्यों है?

विनोद — आने वाले भय से रक्षा के लिये।

विलास — परन्तु, यदि तुम्हीं उनके लिए भय के कारण बन जाओ, तब?

विनोद — कैसे?

विलास — मूर्ख, दुर्दान्त पशु जब तुम्हारे ऊपर आक्रमण करते है, तब तुम अपने को बचाते हो। यदि तुम उन पर आक्रमण करने लगो तो वे स्वयं भागेंगे।

(चार युवक तीर और धनुष लिये आते हैं)

विलास — ये लोग भी आ गये।

कामना — हाँ, अब तो हम लोगों का एक अच्छा दल बन गया।

आगन्तुक — कहिये, आज यहाँ कौन-सा नया खेल है?

विलास — जो तुमको हानि पहुँचाने के लिये सदैव तत्पर है, उन्हें यदि तुम भयभीत कर सको, तो वे स्वयं कभी साहस न करेंगे, और साथ ही एक खेल भी होगा।

आगन्तुक — बात तो अच्छी है।

विलास — अच्छा, सब लोग भयानक चीत्कार करो, जिससे पशु निकलेंगे, और तब तुम होग उन पर तीर चलाना।

सब — (आश्चर्य से) ऐसा!

विलास — हाँ।

(सब चिल्लाते है और ताली पीटते है, पशुओं का झाड़ियों के भीतर दौड़ना, तीर लगना और छटपटाना)

सब — बड़ा विचित्र देख है।

विलास — खेल ही नहीं, व्यायाम भी है।

कामना — परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है, यहाँ का पवन भाराक्रान्त होकर दबे-पाँव चलने लगा है।

विलास — अभी तुमको अभ्यास नहीं है रानी! चलो विनोद, सबको लिवाकर तुम चलो।

(विलास और कामना को छोड़कर सब जाते हैं)

कामना — विलास!

विलास — रानी!

कामना — तुमने ब्याह नहीं किया।

विलास — किससे?

कामना — मुझी से, उपासना-गृह की प्रथा पूरी नहीं हुई।

विलास — परन्तु और तो कुछ अन्तर नहीं है। मेरा हृदय तो तुमसे अभिन्न ही है। मैं तुम्हारा हो चुका हूँ।

कामना — परन्तु (सिर झुका लेती है)।

विलास — कहो कामना! (ठुड्डी पकड़ कर उठाता है)

कामना — मैं अभी नहीं रह गयी हूँ प्रिय विलास! क्या कहूँ।

विलास — तुम मेरी हो। परन्तु सुनो, यदि इस विदेशी युवक से ब्याह करके कहीं तुम सुखी न होओ, या कभी मुझी को यहाँ से चला जाना पड़े?

कामना — (आश्चर्य से) नहीं विलास, ऐसा न कहो।

विलास — परन्तु अब तो तुम इस द्वीप की रानी हो। रानी को क्या ब्याह करके किसी बन्धन में पड़ना चाहिये।

कामना — तब तुमने मुझे रानी क्यों बनाया?

विलास — रानी, तुमको इसलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्त्तन करो। इस नियम-पूर्ण संसार में अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना क्या मूर्खता नहीं है? नियम अवश्य है — ऐसे नीले नभ में अनन्त उल्का-पिण्ड, उनका क्रम से उदय और अस्त होना, दिन के बाद नीरव निशीथ, पक्ष-पक्ष पर ज्योतिष्मती राका और कुहू,

ऋतुओं का चक्र, और निस्सन्देह शैशव के बाद उद्दाम यौवन, तब क्षोभ से भरी हुई जरा — ये सब क्या नियम नहीं हैं?

कामना — यदि ये नियम है, तो मैं कह सकती हूँ कि अच्छे नियम नहीं है। ये नियम न होकर नियति हो जाते है, असफलता की ग्लानि उत्पन्न करते हैं।

विलास — कामना! उदार प्रकृति बल, सौन्दर्य और स्फूर्ति के फुहारे छोड़ रही है। मनुष्यता यही है कि सहज-लब्ध विलासों का, अपने सुखों का संचय और उनका भोग करे। नियमों के भले बुरे, दोनों ही कर्तव्य होते है, प्रतिफल भी उन्हीं नियमों मे से एक है। कभी-कभी उसका रूप अत्यन्त भयानक होता है, उससे जी घबराता है। परन्तु मनुष्यों के कल्याण के लिए उसका उपयोग करना ही पड़ेगा, क्योंकि स्वयं प्रकृति वैसा करती है। देखो, यह सुन्दर फूल झड़कर गिर पड़ा। जिस मिट्टी से रस खींचकर फूला था, उसी में अपना रंग-रूप मिला रहा है। परन्तु विश्वम्भरा इस फूल के प्रत्येक केसर बीज को अलग-अलग वृक्ष बना देगी, और उन्हें सैकड़ों फूल देगी।

कामना — इसमें तो बड़ी आशा है।

विलास — इसी का अनुकरण, निग्रह-अनुग्रह की क्षमता का केन्द्र प्रतिफल की अमोघ शक्ति से यथाभाग सन्तुष्ट रखने का साधन, राजशक्ति है। इस देश के कल्याण के लिये उसी तन्त्र का

तुम्हारे द्वारा प्रचार किया गया है, और तुम बनायी गयी हो रानी, और रानी का पुरुष कौन होता है, जानती हो?

कामना — नहीं, बताओ।

विलास — राजा। परन्तु मैं तुम्हें ही इस द्वीप की एकच्छत्र अधिकारिणी देखना चाहता हूँ। उसमें हिस्सा नहीं बँटाना चाहता!

कामना — तब मेरा रानी होना व्यर्थ था।

विलास — परन्तु तुम्हारी सब सेवा के लिए मैं प्रस्तुत हूँ। कामना, तुम द्वीप भर में कुमारी ही बनी रह कर अपना प्रभाव विस्तृत करो। यही तुम्हारी रानी बनने के लिए पर्याप्त कारण हो जायगा।

कामना — यह क्या? झूठ!

विलास — मैं जो कहता हूँ। चलो, वे लोग दूर निकल गये होंगे। (दोनों जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(पथ में विवेक)

विवेक — डर लगता है। घृणा होती है। मुँह छिपा लेता हूँ। उनकी लाल आँखों में क्रूरता, निर्दयता और हिंसा दौड़ने लगी है। लोभ ने उन्हें भेड़ियों से भी भयानक बना रखा है। वे जलते-बलती आग में दौड़ने के लिये उत्सुक है। उनको चाहिये कठोर सोना और तरल मदिरा — देखो-देखो वे आ रहे है।

(अलग छिप जाता है)

(मद्यप की-सी अवस्थ में दो द्वीप वासियों का प्रवेश)

पहला — अहा! लीली की कैसी सुन्दर गढ़न है।

दूसरा — और जब वह हार पहन लेती है, तो जैसे सन्ध्या के गुलाबी आकाश में सुनहरा चाँद खिल जाता है।

पहला — देखो, तुम उसकी ओर न देखना।

दूसरा — क्यों, विनोद को छोड़कर तुम्हें भी जब यह अधिकार है, तब मैं ही क्यों वंचित रहूँ?

पहला — परन्तु फिर तुम्हारी प्रेयसी को...।

दूसरा — बस, बस, चुप रहो।

पहला — तब क्या किया जाय? वह मुझसे कंकणों के लिये कहती थी, इतना सोना मैं कहाँ से इकट्ठा करूँ?

दूसरा — नदी की रेत से।

पहला — बड़ा परिश्रम है।

दूसरा --तब तक उपाय है...।

पहला — क्या?

दूसरा — शान्तिदेव, इधर आनेवाला है। उसके पास बहुत-सा सोना है, वह ले लिया जाय। तीर और धनुष तो है न?

(विवेक का प्रवेश)

विवेक — क्यों, क्या सोचते हो युवक?

पहला — तुमसे क्यों कहूँ?

दूसरा — तुम पागल हो।

विवेक — उन्मत्त! व्यभिचारी!! पशु!!

पहला — चुप बूढ़े।

विवेक — व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री-सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है, और मदिरा उस पर रंग चढ़ाती है। क्यों, क्या यह

सौन्दर्य पहले कहीं छिपा था जो अब तुम लोग इतने लोलुप हो गये।

पहला — जा, जा पागल बूढ़े, तू इस आनन्द को क्या समझे?

विवेक — सौन्दर्य, इस शोभन प्रकृति का सौन्दर्य विस्मृत हो चला। हृदय का पवित्र सौन्दर्य नष्ट हो गया। यह कुत्सित, यह अपदार्थ ...।

दूसरा — मूर्ख है, अन्धा है। अरे मेरी आँखों से देख, तेरी आँखें खुल जायँगी, कुत्सित हृदय सौन्दर्य-पूर्ण हो जायगा — बूढ़े, परन्तु तुझे अब इन बातों से क्या काम? जा।

पहला — तुझे क्या, यदि उसकी भौंह में एक बल है, आँखों के डोरे में खिंचाव है, वक्षस्थल पर तनाव है, और अलकों में निराली उलझन है, चाल में लचीली लचक है? तू आँखें बन्द रख।

दूसरा — उस पर चमकते हुए सोने के कंकण-हारों से सुशोभित अम्लान आभूषण-परिपाटी मूर्ख...।

पहला — पागल है।

विवेक — मैं पागल हूँ! अच्छा बात है तो सज्ञान नहीं हूँ, इस वीभत्स कल्पना का आधार नहीं हूँ। हाय! हमारे फूलों के द्वीप के फूल अब मुरझाकर अपनी डाल से गिर पड़ते है। उन्हें कोई

छूता नहीं। उनके सौरभ से द्वीप-वासियों के घर अब नहीं भर जाते। हाय मेरे प्यारे फूलों! (जाता है)

दोनों — जा-जा! (छिप जाते हैः

(शान्तिदेव का प्रवेश)

शान्तिदेव — मैं इसे कहाँ रक्खूँ, किधर से चलूँ? है मुझे क्या हो गया! क्यों भयभीत हो रहा हूँ? इस द्वीप में तो यह बात नहीं थी परन्तु तब सोना भी तो नहीं था! अच्छा, इस पगडण्डी से निकल चलूँ।

(बगल से निकलना चाहता था कि दोनों छिपे हुये तीर चलाते है। शान्तिदेव गिर पड़ता है। दोनों आकर उसे दबा लेते है। सोना खोजते है)

(अकस्मात् शिकारियों के साथ कामना का प्रवेश)

कामना — यह क्या, तुम लोग क्या कर रहे हो?

लीला — हत्या —

विलास — घोर अपराध!

कामना — (शिकारियों से) बाँध लो इनको, ये हत्यारे है।

(सब दोनों को पकड़ लेते है। शान्तिदेव को उठाकर ले जाते है)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(कुटीर में विनोद और लीला)

लीला — मेरा स्वर्ण पट्ट?

विनोद — अभी तक तो आशा-ही आशा है।

लीला - आज तक आशा-ही आशा है।

विनोद — परन्तु अब सफलता भी होगी।

लीला — कैसे?

विनोद — अपराध होना आरम्भ हो गया है। अब तो एक दिन विचार भी होगा। देखो, कौन-कौन खेल होते है!

लीला — तुम उन दोनों को कहाँ रख आये?

विनोद — पहले विचार हुआ कि उपासना-गृह या संग्रहालय में रक्खे जाँ। फिर यह निश्चित हुआ कि नहीं, मित्र-कुटुम्ब के लिये जो नया घर बन रहा है, उसी में रखना चाहिए और उन शिकारियों को वहाँ रक्षक नियत किया गया है।

लीला — इस योजना से कुछ-न-कुछ तुम्हें मिलेगा।

विनोद — परन्तु लीला, हम लोग कहाँ चले जा रहे है, कुछ समझ रही हो? समझ में आने की ये बातें है?

लीला — अच्छी तरह। (मदिरा का पात्र भरती हुई) कही नीचे, कही बड़े अन्धकार में।

विनोद — फिर मुझे क्यों प्रोत्साहित कर रही हो?

(लीला पात्र मुँह में लगा देती है, विनोद पीता है)

लीला — आज तुम्हें गाना सुनाऊँगी।

विनोद — (मद-विह्वल होकर) सुनाओ प्रिये!

(लीला गाती है)

छटा कैसी सलोनी निराली है,

देखो आयी घटा मतवाली है।

आओ साजन मधु पिये, पहल फूल के हार

फूल-सदृश यौवन खिला, है फूल की बहार

भरी फूलों से बेले की डाली है॥

छटा कैसी सलोनी निराली है।

शीतल धरती हो गयी, शीतल पड़ी फुहार

शीतल छाती से लगो, शीतल चली बयार

सभी ओर नयी हरियाली है॥

छटा कैसी सलोनी निराली है।

(सहसा कामना का कई युवकों के साथ प्रवेश)

कामना — फूल के हार कहाँ लीला! तपा हुआ सोने का हार है। शीतलता कहाँ, ज्वाला धधक उठी है। यह आनन्द करने का समय नहीं है।

विनोद — क्या है रानी?

कामना — विनोद, ये शिकारी उन अपराधियों के रक्षक है, इन्हें दिन-रात वहाँ रहना चाहिये। तब इनके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध..।

विनोद — जैसी आज्ञा हो।

(विलास का प्रवेश)

विलास — वे शिकारी नहीं, सैनिक है, शान्ति-रक्षक है! सार्वजनिक संग्रहालय पर अधिकार करो। इनमें से कुछ उसकी रक्षा करेंगे, और बचे हुए कारागार की।

विनोद — कारागार क्या?

विलास — वही, जहाँ अपराधी रक्खे जाते है, जो शासन का मूल है, जो राज्य का अमोघ शस्त्र है।

लीला — (विनोद से) यह तो बड़ी अच्छी बात है।

कामना — विनोद, मैं तुम्हें सेनानी बनाती हूँ। देखो, प्रबन्ध करो। आतंक न फैलने पावे।

विलास — यह लो सेनापति का चिह्न।

(एक छोटा-सा स्वर्ण पट्ट पहनाता है। कामना तलवार हाथ में देती है। सब भय और आश्चर्य से देखते हैं)

कामना — (शिकारियों से) देखो, आज से जो लोग इनकी आज्ञा नहीं मानेंगे, उन्हें दण्ड मिलेगा।

(सब घटने टेकते है)

विलास — परन्तु सेनापति, स्मरण रखना, तुम इस राजमुकुट के अन्यतम सेवक हो। राजसेवा में प्राण तक दे देना तुम्हारा धर्म होगा।

विनोद — (घुटने टेककर) मैं अनुगृहीत हुआ।

लीला — (धीरे से) परन्तु यह तो बड़ा भयानक धर्म है।

कामना — हाँ विलास जी।

विलास — आज राजसभा होगी। उसी में कई पद प्रतिष्ठित किये जायँगे। वहीं सम्मान किया जाय।

कामना — अच्छी बात है।

(विनोद अपने सैनिकों से साथ परिक्रमण करता है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(पथ में सन्तोष और विवेक)

सन्तोष — यह क्या हो रहा है?

विवेक — इस देश के बच्चे दुर्बल, चिन्ताग्रस्त और झुके हुए दिखाई देते हैं! स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता-सहित और भी कैसे-कैसे कृत्रिम भावों का समावेश हो गया है! व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है!

सन्तोष — छिप कर बातें करना, कानों में मन्त्रणा करना, छूरों की चमक से आँखों में त्रास उत्पन्न करना, वीरता के नाम के किसी अद्‌भुत पदार्थ की ओर अन्धे होकर दौड़ना युवकों का कर्त्तव्य है रहा है। वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासिता के दास होकर गर्व से छाती फुलाये घूमते है। हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे है।

विवेक — सब बूढ़े मूर्ख और पुरानी लकीर पिटने वाले कहे जाते है।

सन्तोष — एक-एक पात्र मदिरा के लिये लालायित होकर ये दासता का बोझ गहन करते है — हृदय में व्याकुलता, मस्तिष्क में पाप-कल्पना भरी है।

विवेक — सोने का ढेर — छल और प्रवंचना से एकत्र करके — थोड़े-से ऐश्वर्यशाली मनुष्य द्वीप-भर को दास बनाये हुये है। और,

आशा से, कल स्वयं भी ऐश्वर्यवान होने की अभिलाषा में बचे हुए सीधे सरल व्यक्ति भी पतित होते जा रहे है।

सन्तोष — हत्या और पाप की दौड़ हो रही है, और धर्म की धूम है।

विवेक — चलो भाई, अब उपासना-गृह में शासन-सभा होगी वही उन हत्यारों का विचार भी होने वाला है। (देखता हुआ) उधर देखो, राना उपासना-गृह में जा रही है।

सन्तोष — भला यह रानी क्या वस्तु है?

विवेक — मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई महत्त्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान कि मिट्टी की मूर्ति।

सन्तोष — परन्तु है प्रभावशालिनी। भला हम लोग तो यह सब नहीं जानते थे। यह कहाँ से...।

विवेक — वही विदेशी, इन्द्रजाली युवक विलास। उसकी तीक्ष्ण आँखों में कौशल की लहर उठती है। मुस्कराहट में शीतल ज्वाला और बातों में भ्रम की बहिया है।

सन्तोष — परन्तु हम सब जानते हुए भी अजान हो रहे है।

विवेक — कोई उपाय नहीं। (जाता है)

(विलास का प्रवेश)

विलास — (स्वगत) यह बड़ा रमणीय देश है! भोले-भाले प्राणी थे, इनमें जिन भावों का प्रचार हुआ, वह उपयुक्त ही था। परन्तु सब करके क्या किया? अपने शाप-ग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की अत्याचार-ज्वाला से दग्ध होकर निकला। यहाँ शीतल छाया मिली, मैंने क्या किया?

सन्तोष — वह ज्वाला यहाँ भी फैला दी, यहाँ भी नवीन पापों की सृष्टि हुई। अब सब द्वीपवासी और उनके साथ तुम भी उसी मानसिक नीचता, पराधीनता, दासता, द्वन्द्व और दुःखों के अज्ञातचक्र में दग्ध हो रहे हो! आनन्द के लिए सब किया, वह कहाँ! जब मन में आनन्द नहीं, तब कहीं नहीं।

विलास — (देखकर) कौन? सन्तोष!तुम क्या जानोगे? भावुकता और कल्पना ही मनुष्य को कला की ओर प्रेरित करती है, इसी में उसके कल्याण का रहस्य है, पूर्णता है।

सन्तोष — विलास! तुम्हारे असंख्य साधन है। तह तक कहाँ तक? संसार की अनादि काल से की गई कल्पनाओं ने जगत को जटिल बना दिया, भावुकता गले का हार हो गयी, कितनी कविताओं के पुराने पत्र पतझड़ के पवन में कहाँ-के-कहाँ उड़ गये! तिस पर भी संसार में असंख्य मूक कवितायें हुई। चन्द्र-सूर्य की किरणों की तूलिका से अनन्त के आकाश के उज्ज्वल पट पर बहुत-से नेत्रों

ने दीप्तिमान रेखाचित्र बनाये; परन्तु उनका चिह्न भी नहीं है जिनके कोमल कण्ठ पर गला दे देना साधारण बात थी, उन्होंने तीसरे सप्तक की कितनी मर्मभेदी तानें लगायीं, किन्तु वे सर्वग्रासी आकाश के खोखले में विलीन हो गयी।

(सन्तोष जाता है, कामना का प्रवेश)

कामना — (विलास को देखकर, स्वगत) जैसे खुले हुए ऊँचे कदम्ब पर वर्षा के यौवन का एक सुनील मेघखण्ड छाया किये गो। कैसा मोहन रूप है। (प्रकट) क्यों विलास! यहाँ क्या कर रहे हो?

विलास — विचार कर रहा हूँ।

कामना — क्या?

विलास — जिस इच्छा के बीज का रोपण करता हूँ, हमारी महत्वाकांक्षी उसी के अंकुरों को सुरक्षित रखने के लिये — सूर्य के ताप से बचाने के लिये — अनन्त आकाश को मेघों से ढँक लेती है।

कामना — तब तो बड़ी अच्छी बात है!

विलास — परन्तु सन्देह है कि कही मधु-वर्षा के बदले करकापात न हो।

कामना — मीठी भावनायें करो। प्रिय विलास, मधुर कल्पनायें करो। सन्देह क्यों?

विलास — सामने देखो —वह समुद्र का यौवन, जलराशि का वैभव, परन्तु उसमें नीची-ऊँची लहरें है।

कामना — नहीं देखते हो, सीपी अपने चमकीले दाँतों से हँस रही है। चलो, उपासना-गृह चलें।

विलास — तुम चलो, अभी आता हूँ।

(कामना जाती है)

विलास — (स्वगत) कामना एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री है। उसने ब्याह का प्रस्ताव किया था। मैं भी ब्याह के पवित्र बन्धन में बँधकर राजा होकर सुखी होता, परन्तु मेरी मानसिक अव्यवस्था कैसे छाया-चित्र दिखलाती है! कोई अदृश्य शक्ति संकेत कर रही है — नहीं, कामना एक गर्वपूर्ण सरल हृदय की स्त्री है। रंगीन तो है, पर निरीह इन्द्रधनुष के समान उदय होकर विलीन होने वाली है। तेज तो है, पर वेदी पर धधकाने से जलने वाली ज्वाला है। मैं उसको अपना हृदय-समर्पण नहीं कर सकता। मुझको चाहिये बिजली के समान वक्र रेखाओं का सृजन करने वाली — आँखों को चौंधिया देने वाली

तीव्र और विचित्र ज्वाला, जिसके हृदय में ज्वालामुखी धधकती हो, जिसे ईंधन का काम न हो, वही दुर्दमनीय तेज ज्वाला। मैं उसी का अनुगत हूँगा। यह हृदय उसी का लोहा मानेगा। इस फूलों के द्वीप में मधुप के समान विहार करूँगा। मैं इस देश के अनिर्दिष्ट आकाश-पथ का धूमकेतु हूँ। चलूँ, मेरी महत्वाकांक्षा ने अवकाश और समय दोनों की सृष्टि कर दी है। उसमें पदार्थों के द्वारा नयी सृष्टि के साथ मैं भी कुहेलिका सागर में विलीन हो जाऊँ। (जाता है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(उपासना-गृह नवीन रूप में, विलास सब लोगों को समझा रहा है। सब लोगों को खड़े होकर अभिवादन करना सिखला रहा है। बीच में वेदी, सामने सिंहासन और दोनों ओर चौकियाँ है। राजदण्ड हाथ में लिए हुआ कामना रानी का प्रवेश। पीछे सेनापति विनोद और सैनिक)

कामना — (सिंहासन के नीचे वेदी के सामने खड़ी होकर) हे परमेश्वर! तुम सब से उत्तम हो, सब से महान हो, तुम्हारी जय हो।

सब — तुम्हारी जय हो।

विलास — आप आसन ग्रहण करें।

(कामना मंच पर बैठती है)

कामना — आप लोगों को सुशासन की आवश्यकता हो गयी है, क्योंकि इस देश में अपराधों की संख्या बहुत बढ़ती चली जा रही है। यह मेरे लिए गौरव की बात है कि मुझे आप लोगों ने इसके उपयुक्त समझा है। परन्तु आप लोगों ने मेरे और अपने बीच का सम्बन्ध तो अच्छी तरह समझ लिया होगा?

एक — नहीं!

विलास — (आश्चर्य से) नहीं समझा! अरे, तुमको इतना भी नहीं ज्ञान हुआ कि ये तुम्हारी रानी है और तुम इनकी प्रजा?

सब — हम प्रजा है।

विलास — देखो, ईश्वर असंख्य प्राणियों का, सारी सृष्टि का जिस प्रकार अधिपति है, उसी प्रकार तुम सब अपने कल्याण के लिये,

अपनी सुव्यवस्था के लिये, न्याय और दण्ड के लिये इनको अपना अधिपति मानते हो। जिस प्रकार एक वन्य पशु दूसरे को सता कर उसे खा जाता है, और उसे दण्ड देने के लिए मृगया के रूप में ईश्वर हम लोगों को आज्ञा देता है, उसी प्रकार हमारी इस जाति को एक-दूसरे के अपराधियों को दण्ड देने के लिए रानी का आवश्यकता हुआ। और वह हुई — ईश्वर की प्रतिनिधि! अब सब लोग उसकी आज्ञा और नियमों का पालन करें — क्योंकि उसने तुम्हारे कष्टों को मिटाने के लिये पवित्र कुमारी होने का कष्ट उठाया है। उसके संकल्प हमारे कल्याण के लिये होंगे।

विनोद — यथार्थ है। (तलवार सिर से लगाता है)

सब — हम अनुगत है। हमारी रक्षा करो।

कामना — तुम सब सुखी होगे। मेरे दो हाथ है, एक न्याय करेगा, दूसरा दण्ड देगा। दण्ड के लिए सेनापति नियुक्त है, परन्तु न्याय में सहायता के लिए एक मन्त्री की — परामर्शदाता की — आवश्यकता है, जिससे मैं सत्य और न्याय के बल से शासन कर सकूँ। तुम लोगों में से कौन इस पद को ग्रहण करना चाहता है?

(सब परस्पर मुँह देखते है)

कामना — मैं तो विलास को इस पद के लिए उपयुक्त समझती हूँ, क्योंकि इन्हीं की कृपा और परामर्शों से हम लोगों ने बहुत उन्नति कर ली है।

लीला — मेरी भी यही सम्पति है।

सब लोग — अवश्य।

(कामना एक स्वर्ण-पट्ट विलास को पहनाती है। एक ओर विलास, दूसरी ओर विनोद चौकियों पर बैठते है। धूनी जलती है)

कामना — (सैनिकों से) जाओ, उन्हें ले आओ।

(दो सैनिक एक-एक को बाँधे हुए ले आते है)

कामना — क्यों तुम लोगों ने शान्तिदेव की हत्या की है?

विलास — और तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो किय नहीं?

अपराधी 1 – हत्या किसे कहते है, यह मैं नहीं जानता। परन्तु जो वस्तु मेरे पास नहीं थी, उसी को लेने के लिए हम लोगों ने शान्तिदेव पर तीरों से वार किया।

अपराधी 2 – और इसीलिये कि उसे पास का सोना हम लोगों को मिल जाय।

कामना — देखो, तुम लोगों ने थोड़े-से सोने के लिए एक मनुष्य की हत्या कर डाली। यह घोर दुष्कर्म है।

विलास — और इसका दण्ड भी ऐसा होना चाहिए कि देखकर लोग काँप उठें, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करे।

विवेक — जिससे डरकर लोग तुम्हारा सोना न छुएँ!

कामना — कौन है यह?

विनोद — वही पागल!

विवेक — इसने उसी वस्तु को लेने का प्रयत्न किया है, जिसकी आवश्यकता इस समय समग्र द्वीपवासियों को है। फिर —

विलास — परन्तु इसका उद्योग अनुचित था।

विवेक — मैं पागल हूँ, क्या समझूँगा कि उचित उपाय क्या है। उपाय वही उचित होगा, जिसे आप नियम का रूप देंगे। परन्तु मैं पूछता हूँ, यहाँ इतने लोग खड़े है, इनमें कौन ऐसा है, जिसे सोना न चाहिये?

(कामना विलास का मुँह देखती है)

विवेक — वाह कैसा सुन्दर खेल है, खेलने के लिए बुलाते हो, और उसमें फँसा कर नचाते हो। स्वयं ज्वाला फैला दी है, अब पतंग गिरने लगे हैं, तो उनको भगाना चाहते हो?

विलास — न्याय में हस्तक्षेप करने वाले इस वृद्ध को निकाल दो। पागलपन की भी एक सीमा होती है।

(विवेक निकाला जाता है)

कामना — अच्छा, इन्हें बन्दीगृह में ले जाओ। अन्तिम दण्ड इनको फिर दिया जायगा।

(बन्दियों को सैनिक ले जाते है। विलास और कामना बातें करते हैं)

कामना — सेनापति, सभी उपस्थित पुरुषों को आज स्मरण-चिह्न लाकर दो।

(विनोद सबको स्वर्णमुद्रा देता है)

कामना — प्यारे देशवासियों, मेरी एकान्त इच्छा है कि हमारे द्वीप-भर के लोग स्वर्ण के आभूषणों से लद जायँ। उनकी प्रसन्नता के लिये में प्रचुर साधन एकत्र करूँगी। परन्तु उस काम में क्या आप लोग मेरा साथ देंगे?

सब — यदि सोना मिले, तो हम लोग सब कुछ करने के लिये प्रस्तुत है।

विलास — सबको मिलेगा, आप लोग रानी की आज्ञा मानते रहिये।

एक — अवश्य मानेंगे परन्तु न्याय क्या ऐसा ही होगा?

विलास — यह प्रश्न न करो।

विनोद — राजकीय आज्ञा की समालोचना करना पाप है।

विलास — दण्ड तो फिर दण्ड ही है। वह मीठी मदिरा नहीं है, जो गले में धीरे से उतार ली जाय।

सब — ठीक है। यथार्थ है।

विलास — देखो, अब से तुम लोग एक राष्ट्र में परिणत हो रहे हो। राष्ट्र के शरीर की आत्मा राजसत्ता है। उसका सदैव आज्ञा-पालन करना, सम्मान करना।

सब — हम लोग ऐसा ही करेंगे।

(विनोद घुटने टेकता है। सब वैसा ही करके जाते हैं)

षष्ठ दृश्य

(शान्तिदेव का घर)

लालसा — मेरा कोई नही है, साथी, जीवन का संगी और दुःख में सहायक कोई नहीं है। अब यह जीवन बोझ हो रहा है। क्या करूँ अकेली बैठी हूँ, इतना सोना है, परन्तु इसका भोग नहीं, इसका सुख नहीं। ओह! (उठती है और मदिरा का पात्र भरकर पीती है)। परन्तु यह जीवन, जिसके लिए अनन्त सुख-साधन है, रोकर बिता देने के लिए नहीं है। मैं सुखी हूँ, सब सुख की चेष्टा में है, फिर मैं ही क्यों कोने में बैठकर रुदन करूँ? देखो, कामना रानी है! वह भी तो इसी द्वीप की एक लड़की है। फिर कौन-सी बात ऐसी है, जो मेरे रानी होने में बाधक है? मैं भी रानी हो सकती हूँ, यदि विलास की क्यों नही। (अपने आभूषणों को देखती है, वेश-भूषा सँवारती और गाती है)

किसे नहीं चुभ जाय, नैनों के तीर नुकीले!
पलकों के प्याले रंगीले, अलकों के फन्दे गँवीले।
कौन देखूँ बच जाय, नैनों के तीर नुकीले

(विलास का प्रवेश)

विलास — लालसा! लालसा! यह कैसा संगीत है? यह अमृत-वर्षा! मुझे नहीं विदित था कि इस मरुभूमि में मीठे पानी का स्रोत छिपा हुआ बह रहा है। इधर से चला आ रहा था, अकस्मात् यह मनोहर ध्वनि सुनाई पड़ी। मैं आगे न जा सका, लौट आया।

लालसा — (बड़ी रुखाई से देखती हुई) आप कौन है? हाँ आप है! अच्छा, आ ही गये तो बैठ जाइये।

विलास — सुन्दरी! इतना निष्ठुर विभ्रम! इतनी अन्तरात्मा को मसलकर निचोड़ लेने वाली रुखाई! तभी तुम्हारे सामने हार मानने की इच्छा होती है।

लालसा — इच्छा होती है, हुआ करे, मैं किसी की इच्छा को रोक सकती हूँ?

विलास — परन्तु पूरी कर सकती हो।

लालसा — स्वयं रानी पर जिसका अधिकार है, उसकी कौन-सी इच्छा अपूर्ण होगी?

विलास — अब मुझी पर मेरा अधिकार नहीं रहा।

लालसा — देखती हूँ, बहुत-सी बातें भी आप से सीखी जा सकती है।

विलास — इसका मुझे गर्व था, परन्तु आज जाता रहा। मेरी जीवन-यात्रा में इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पायी, परन्तु वह झूठा गर्व था। आज —

लालसा — तो क्या मैं सचमुच सुन्दरी हूँ!

विलास — इसमें प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

लालसा — परन्तु मैं इसकी जाँच लूँगी, तब मानूँगी। दो-एक लोगों से पूछ लूँ। कही मुझे झूठा प्रलोभन तो नहीं दिया जा रहा है।

विलास — लालसा — मैं मानता हूँ (स्वगत) अब तो भाव और भाषा में कृत्रिमता आ चली।

लालसा — फिर किसी दिन मुझे अपना मूल्य लगा लेने दीजिये।

विलास — अच्छा, एक बार वही गान तो सुनो दो।

लालसा — जब मन्त्री महाशय की आज्ञा है, तब वह यही करनी ही पड़ेगी। अच्छा एक पात्र तो ले लीजिये।

(पिलाती है, गाती है — किसे नहीं चुभ जायँ — इत्यादि)

विलास — कोई नहीं, कोई नहीं, इस अस्त्र से कौन बच सकता है? अच्छा तो फिर किसी दिन।

(लालसा विचित्र भाव से सिर हिला देती है। विलास जाता है। लीला का प्रवेश)

लालसा — आओ सखी, बहुत दिनों पर दिखाई पड़ी।

लीला — नित्य आने-आने करती हूँ, परन्तु —

लालसा — परन्तु विनोद से छुट्टी नहीं मिलती।

लीला — विनोद, वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो उठा है। उसको मृगया से अवकाश नहीं।

लालसा — तब भी तुम्हारी तो चैन से कटती है।

(संकेत करती है)

लीला — चुप, तू भी वही —

लालसा — आह, यह लो!

लीला — मन नहीं लगा, तो तेरे पास चली आयी।

लालसा — तो मेरे पास मन लगाने की कौन-सी वस्तु है? अकेली बैठी हुई दिन बिताती हूँ, गाती हूँ, और सोती हूँ!

लीला — तेरे आभूषणों की तो द्वीप-भर में धूम है।

लालसा — परन्तु दुर्भाग्य की तो न कहोगी।

लीला — तू तो बात भी लम्बी-चौड़ी करने लगी। अभी-अभी तो देखा, विलास चले जा रहे है।

लालसा — और तू कहाँ से आ रही है, वह भी बताना पड़ेगा।

लीला — चुप, देख रानी आ रही है।

(रक्षकों के साथ रानी का प्रवेश। लालसा और लीला स्वागत करती है। संकेत करने पर सैनिक बाहर चले जाते हैं)

कामना — लालसा, तू लोगों से अब कम मिलती है, यह क्यों?

लालसा — रानी, जी नहीं चाहता।

कामना — इसी से तो मैं स्वयं चली आयी।

लालसा — यह आपकी कृपा है कि प्रजा पर इतना अनुग्रह है।

लीला — रानी, इसे बड़ा दुःख है!

कामना — मेरे राज्य में दुःख!

लालसा — हाँ रानी! मैं अकेली हूँ। अपने स्वर्ण के लिए दिन-रात भयभीत रहती हूँ।

कामना — लालसा, सब के पास जब आवश्यकतानुसार स्वर्ण हो जायगा, तभी यह अशान्ति दबेगी।

लालसा — रानी, यदि क्षमा मिले, तो एक उपाय बतलाऊँ।

रानी — हाँ-हाँ, कहो।

लालसा — यह तो सब को विदित है कि शान्तिदेव के पास बहुत सोना है। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि वह कहाँ से आया?

कामना — कहाँ से?

लालसा — नदी-पार के देश से। आज तक इधर के लोग न जाने कब से यही जानते थे कि 'उस पार न जाना — उधर अज्ञात प्रदेश है।' परन्तु शान्तिदेव ने साहस करके उधर की यात्रा की थी, वह बहुत-से पशुओं और असभ्य मनुष्यों से बचते हुए वहाँ से यह सोना ले आये। जब नदी के इस पार आये, तो लोगों ने देख लिया, और इसी से उनकी हत्या भी हुई।

कामना — हाँ! (आश्चर्य प्रकट करती है)

लालसा — हाँ रानी, और उन हत्यारों को आज तक दण्ड भी नहीं मिला।

लीला — रानी, उसमें तो व्यर्थ विलम्ब हो रहा है। अवश्य कोई कठोर दण्ड उन्हें मिलना चाहिये। बेचारा शान्तिदेव!

कामना — अच्छा, चलो आज मृगया का महोत्सव है, वही सब प्रबन्ध हो जायगा।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(जंगल में एक कुटी, वृक्ष के नीचे करुणा बैठी है)

सन्तोष — (प्रवेश करके) पतझड़ हो रहा है, पवन के चौंका देने वाली गति पकड़ ली है — इसे वसन्त का पवन कहते है — मालूम होता है कि कर्कश और शीर्ण पत्रों के बीच चलने में उसकी असुविधा का ध्यान करके प्रकृति ने कोमल पल्लवों का

सृजन करने का समारम्भ कर दिया है। विरल डालों में कहीं-कहीं दो फूल और कहीं हरे अंकुर झूलने लगे है — गोधूली में खेतों के बीच की पगडण्डियाँ निर्जन होने पर भी मनोहर हैं — दूर-दूर रहट चलने का शब्द क्रम और कृषकों का गान विशेष हो चला है। इसी वातावरण में हमारा देश बड़ा रमणीय था, परन्तु अब क्या हो रहा है, कौन कह सकता है। सब सुख स्वर्ण के अधीन हो गये, हृदय का सुख खो गया। पतझड़ हो रहा है।

करुणा — मानव-जीवन में कभी पतझड़ है, कभी वसन्त। वह स्वयं कभी पत्तियाँ झाड़कर एकान्त का सुख लेता है, कोलाहल से भागता है, और कभी-कभी फल-फूलों से लदकर नोचा-खसोटा जाता है।

संतोष — तुम कौन हो?

करुणा — इसी अभागे देश की एक बालिका, जहाँ जीवन के साधारण सुख धन के आश्रय में पलते है, जिसका अभाव दरिद्रता है।

सन्तोष — दरिद्रता! कैसी विकट समस्या! देवि, दरिद्रता सब पापों की जननी है, और लोभ उसकी सबसे बड़ी सन्तान है। उसका नाम न लो। देखो, अन्न के पके हुए खेतों में पवन के सर्राटे से लहर उठ रही है! दरिद्रता कैसी? कपड़े के लिये कपास बिखरे है। अभाव किसका? सुख तो मान लेने की वस्तु है। कोमल गद्दों पर

चाहे न मिले, परन्तु निर्जन मूक शिलाखण्ड से उसकी शत्रुता नहीं।

करुणा — हाँ, वसन्त की भी शोभा है और पतझड़ में भी एक श्री है। परन्तु वह सुख के संगीत अब इस देश में कहाँ सुनायी पड़ते है, जिनसे वृक्षों में — कुंजों में हलचल हो जाती थी और पत्थरों मे भी झनकार उठती थी। अब केवल एक क्षीण क्रन्दन उसके अट्टहास से बोलता है।

सन्तोष — देवि, तुम्हारे और कौन है?

करुणा — यह प्रश्न इस द्वीप में नहीं था। सब एक कुटुम्ब थे, परन्तु अब तो यही कहना पड़ेगा कि मैं शान्तिदेव की बहन हूँ। जब से उसकी हत्या हुई, मैं निस्सहाय हो गयी। लालसा ने सब धन अपना लिया और घर में भी मुझे न रहने दिया। वह कहती है कि इस घर और सम्पति पर केवल मेरा अधिकार है और रहेगा। मैं इस स्थान पर कुटीर बनाकर रहती हूँ। अकेली मैं अन्न नहीं उत्पन्न कर सकती, जंगली फलों पर निर्वाह करती हूँ। और कोई भी संसार के पदार्थ मैं नहीं पा सकती, क्योंकि सबके विनियम के लिये अब सोना चाहिये। प्राकृतिक अमूल्य पदार्थों का मूल्य हो गया — वस्तु के बदले आवश्यक वस्तु न मिलने से प्राकृतिक साधन भी दुर्लभ है। सोने के लिए सब पागल है। अकारण कोई बैठने नहीं देता। जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल

में अर्थ का प्राधान्य है। मैं दूर से उन धनियों के परिवार का दृश्य देखती हूँ। वे धन की आवश्यकता से इतने दरिद्र हो गये है कि उसके बिना उनके बच्चे उन्हें प्यारे नहीं लगते। धन का — अर्थ का उपभोग करने के लिए बच्चों की — सन्तानों की आवश्यकता होती है। मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर में पड़ी रहती हूँ।

सन्तोष — धन्य, तू बहन! आज से मैं तेरा भाई हूँ, मैं तेरे लिये हल चलाऊँगा, तू दुःख न कर, मैं तेरा सब काम करूँगा। जिसका कोई नहीं है, मैं उसी का होकर देखूँगा कि इसमें क्या सुख है। हाँ, नाम तो बताया ही नहीं!

करुणा — करुणा!

सन्तोष — और मेरा नाम सन्तोष है बहन!

करुणा — अच्छा भाई, चलो कुछ फल है खा लो।

(दोनों कुटीर में जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(जंगल में शिकारी लोग मांस भून रहे है। मद्य चल रहा है। नये शिकार की खोज हो रही है, एक ओर से विलास और विनोद का प्रवेश, दूसरी ओर से कामना, लालसा और लीला का आना।
विनोद तलवार निकालकर सिर से लगाता है। वैसा ही सब करते हैं)

सब — रानी की जय हो।

कामना - तुम लोगों का कल्याण हो।

विलास — रानी, तुम्हारी प्रजा तुम्हें आशीर्वाद देती है।

विनोद — उसके लिए वैभव और सुख का आयोजन होना चाहिये।

कामना — लालसा सोने की भूमि जानती है। वह तुम लोगों को बतायेगी। क्या उसे पाने के लिए तुम लोग प्रस्तुत हो?

सब — हम सब प्रस्तुत है।

लालसा — उसके लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा।

सब — हम सब उठायेंगे।

लालसा — अच्छा तो मैं बताती हूँ।

विनोद — और, इस प्रसन्नता में मैं पहले से आप लोगों को एक वनभोज के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

लीला — परन्तु लालसा की एक प्रार्थना है।

सब — अवश्य सुननी चाहिये।

लालसा — शान्तिदेव की हत्या का प्रतिशोध।

(सब एक दूसरे का मुँह देखते हैं। लालसा विलास की ओर आशा से देखती है)

विलास — अवश्य, उन हत्यारे बन्दियों को बुलाओ।

(चार सैनिक जाते हैं)

कामना — हाँ, तो तुम लोगों को उस भूमि पर अधिकार करना होगा। डरोगे तो नहीं? वह भूमि नदी के उस पार है।

एक — जिधर हम लोग आज तक नहीं गये?

विनोद — इसी कायरता के बल पर स्वर्ण का स्वप्न देखते हो?

सब — नहीं, नहीं सेनापति, आपने यह अनुचित कहा। हम सब वीर है।

विनोद — यदि वीर हो, तो चलो — वीरभोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो सबल पदाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।

कामना — लालसा को धन्यवाद देना चाहिये।

(बन्दी हत्यारों के साथ सैनिकों का प्रवेश)

लालसा — यही है, मेरे शान्तिदेव का हत्यारा!

कामना — तुम लोगों ने अपराध स्वीकार किया है?

विवेक — (प्रवेश करके) मैंने तो आज बहुत दिनों पर यह नयी सृष्टि देखी है। परन्तु जो देखता हूँ, वह अद्भुत है। इन्होंने सोने के लिये परन्तु तुम लोग उदर-पोषण के लिए सामूहिक रूप से आज निरीह प्राणियों की हत्या का महोत्सव मना रहे हो। कल इसी प्रकार मनुष्यों की हत्या का आयोजन होगा।

हत्यारे — हमने कोई अपराध नहीं किया।

लीला — हत्यारों को इतना बोलने का अधिकार नहीं।

लालसा — इन्हें इन्हीं शिकारियों से मरवाना चाहिये।

विलास — जिसमें सब भयभीत हो, वैसा ही दण्ड उपयुक्त होगा।

कामना — ठीक है। इसी वृक्ष से इन्हें बाँध दिया जाय। और सब लोग तीर मारें।

(मदिरोन्मत्त सैनिक वैसा ही करता है। कामना मुँह फेर लेती है)

विवेक — रानी, देखो अपना कठोर दण्ड देखो — और अपराध से अपराध परम्परा की सृष्टि को —

विलास — इस पागल को तुम लोग यहाँ क्यों आने देते हो।

विवेक — मेरी भी इसी खुली छाती पर दो-तीन तीर! रक्त की धारा वक्षस्थल में बहेगी, तो मैं समझूँगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझ उपहार में मिला है। रानी के मध्य राज्य का जय-घोष करूँगा। लोहू के प्यासे भेड़ियों, तुम जब बर्बर था, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे भी क्या विशेष असभ्य थे? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओं, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था!

कामना — यह बूढ़ा तो मुझे भी पागल कर देगा।

विनोद — हटाओ इसको।

(दो सैनिक उसे निकालते है)

विलास — तो लालसा कब बतायेंगी उस भूमि को।

लालसा — मैं साथ चलूँगी।

विलास — फिर उस देश पर आक्रमण की आयोजना होनी चाहिए।

कामना — सब सैनिक प्रस्तुत हो जायँ।

सब — जब आज्ञा हो।

विनोद — वन-भोज समाप्त करके।

(सैनिक घूमते है)

कामना — अच्छी बात है।

(सब स्त्री-पुरुष एकत्र बैठते है। मद्य-मांस का भोज। उन्मत्त होकर सब का एक विकट नृत्य)

विनोद — मेरा प्रस्ताव है

सब — कहिये।

विनोद — यदि रानी की आज्ञा हो।

कामना — हाँ, हाँ, कहो।

विनोद —ऐसी उपकारिणी लालसा के कष्टों का ध्यान कर सब लोगों को चाहिए कि उनसे ब्याह कर लेने की प्रार्थना की जाय। कृतज्ञता प्रकाश करने का यह अच्छा अवसर है।

कामना — परन्तु —

विलास — नहीं रानी, उसका जीवन अकेला है, और अकेली पवित्रता केवल आपके लिये —

कामना — हाँ, अच्छी बात है, परन्तु किसके साथ?

एक स्त्री — नाम तो लालसा को ही बताना पड़ेगा।

लालसा — मैं तो नहीं जानती। (लज्जित होती है)

लीला — तो मैं चाहती हूँ कि हम लोगों के परम उपकारी विलास जी ही इस प्रार्थना को स्वीकार करे! यह जोड़ी बड़ी अच्छी होगी।

सब — (एक स्वर से) बहुत ठीक है।

(विनोद लालसा का और लीला विलास का हाथ पकड़कर मिला देते है। कामना त्रस्त हो उस यूथ से अलग होकर खड़ी हो जाती है और आश्चर्य तथा करुणा से देखती है। स्त्रियाँ घेर कर नाचती हुई गाती है)

छिपाओगी कैसे — आँखें कहेगी।
बिथुरी अलक पकड़ लेती है,
प्रेम की आँख चुराओगी कैसे —
        आँखें कहेगी।
राग-रक्त होते कपोल है
लेते ही नाम बताओगी कैसे —
        आँखें कहेगी।

(यवनिका)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(नवीन नगर के एक भाग में आचार्य दम्भ का घर। क्रूर, दुर्वृत्त, प्रमदा और दम्भ)

दम्भ — निर्जन प्रान्तों के गन्दे झोंपड़े! बिना प्रमोद की रातें। दिन भर कड़ी धूप में परिश्रम करके मृतकों की-सी अवस्था में पड़े रहना। संस्कृति-विहीन, धर्म-विहीन जीवन! तुम लोगों का मन तो अवश्य ऊब गया होगा।

प्रमदा — आचार्य — कही मदिरा की गोष्ठी के उपयुक्त स्थान नहीं! संकेत-गृहों का भी अभाव! उजड़े कुंज, खुले मैदान और जंगल, शीत, वर्षा तथा ग्रीष्म की सुविधा का कोई साधन नहीं। कोई भी विलास-शील प्राणी कैसे सुख पावे।

दम्भ — इसीलिये तो नवीन नगर-निर्माण की मेरी योजना सफल हो चली है। झुण्ड-के-झुण्ड लोग इसमें आकर बसने लगे है। जैसे मधुमक्खियाँ अपने मधु की रक्षा के लिए मधुछत्त का सृजन करती है, वैसे ही इस नगर में धर्म और संस्कृति की रक्षा होगी। नवीन विचारों का यह केन्द्र होगा। धर्म-प्रचार में यहाँ से बड़ी सहायता मिलेगी।

दुर्वृत्त —बड़ा सुन्दर भविष्य है। सुन्दर महल, सार्वजनिक भोजनालय, संगीत-गृह और मदिरा-मन्दिर तो है ही, इससे धर्म-भावनाओं की भव्यता बड़ा प्रभाव उत्पन्न कर रही है। देहाती अर्धसभ्य मनुष्यों को ये विशेष रूप के आकर्षित करते है। इससे उनके मानसिक विकास में बड़ी सहायता मिलेगी।

क्रूर — यह तो ठीक है। यहाँ पर अधिक-से-अधिक सोने की आवश्यकता होगी। यहाँ व्यय की प्रचुरता नित्य अभाव का सृजन करेगी। और अन्य स्थानों की अच्छी वस्तु यहाँ एकत्र करने के लिये नये उद्योग-धन्धे निकालने होगे।

दम्भ — स्वर्ण के आश्रय से ही संस्कृति और धर्म बढ़ सकते है। उपाय जैसे भी हो, उससे सोना इकट्ठा करो, फिर उसका सदुपयोग करे हम प्रायश्चित कर लेंगे।

प्रमदा — स्त्रियाँ पुरुषों की दासता में जकड़ गयी है क्योंकि उन्हें ही स्वर्ण की अधिक आवश्यकता है। आभूषण उन्हीं के लिये है। मैंने स्त्रियों की स्वतन्त्रता का मन्दिर खोल दिया है। यहाँ वे नवीन वेश-भूषा से अद्भुत लावण्य का सृजन करेगी। पुरुष स्वयं अब उनके अनुगत होगे। मैं वैवाहिक जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हूँ। उन्हें धर्म-भवनों की देवदासी बनाऊँगी।

दुर्वृत्त — और यहाँ कौन उसे अच्छा समझता है। पर मैंने कुछ दूसरा ही उपाय सोच लिया है।

क्रूर — वह क्या?

दुर्वृत्त — इतने मनुष्यों के एकत्र रहने में सुव्यवस्था की आवश्यकता है। नियमों का प्रचार होना चाहिये। इसलिए धर्म-भवन से समय-समय पर व्यवस्थाएँ निकलेंगी। वे अधिकार उत्पन्न

करेगी और जब उनसे विवाद उत्पन्न होगा, तो हम लोगों का लाभ ही होगा — नियम न रहने से विशृंखला जो उत्पन्न होगी!

क्रूर — प्रमदा के प्रचार से विलास के परिणाम-स्वरूप रोग भी उत्पन्न होंगे। इधर अधिकारी को लेकर झगड़े भी होगे, मार-पीट होगी। तो फिर मैं औषधि और शस्य-चिकित्सा के द्वारा अधिक-से-अधिक सोना ले सकूँगा।

प्रमदा — परन्तु आचार्य की अनुमति क्या है?

दुर्वृत्त — आचार्य होगे व्यवस्थापक। फिर तो अवस्था देखकर ही व्यवस्था बनानी पड़ेगी।

दम्भ — संस्कृति का आन्दोलन हो रहा। उसकी कुछ लहरें ऊँची है और कुछ नीची। यह भेद अब फूलों के द्वीप में छिपा नहीं रहा। मनुष्य-मात्र के बराबर होने के कोरे असत्य पर अब विश्वास उठ चला है। उसी भेद-भाव को लेकर समाज अपना नवीन सृजन कर रहा है। मैं उसका संचालन करूँगा।

दुर्वृत्त — परोपकार और सहानुभूति के लिए समाज की अत्यन्त आवश्यकता है।

दम्भ — योग्यता और संस्कृति के अनुसार श्रेणी-भेद हो रहा है। जो समुन्नत विचार के लोग है, उन्हें विशिष्ट स्थान देना होगा। धर्म, संस्कृति और समाज की क्रमोन्नति के लिये अधिकारी चुने

जायेंगे। इससे समाज की उन्नति में बहुत-से केन्द्र बन जायँगे जो स्वतन्त्र रूप से इसकी सहायता करेंगे। उस समय हमारी जाति समृद्धि और आनन्द-पूर्ण होगी। इस नगर में रहकर हम लोग युद्ध और आक्रमणों से भी बचेंगे।

(विवेक का प्रवेश)

विवेक — बाबा! ये बड़े-बड़े महल तुम लोगों ने क्यों बना डाले? क्या अनन्त काल तक जीवित रहकर दुःख भोगने की तुम लोगों की बलवती इच्छा है?

दम्भ — गन्दा वस्त्र, असभ्य व्यवहार, यह कैसा पशु के समान मनुष्य है! इसको लज्जा नहीं आती?

विवेक — जो अपराध करता है, उसे लज्जा होती है। मैं क्यों लज्जित होऊँ। मुझे किसी स्त्री की ओर प्यासी आँखों से नहीं देखना है, और न तो कपड़ों के आडम्बर में अपनी नीचता छिपानी है।

दुर्वृत्त — बर्बर! तुझे बोलने का भी ढंग नहीं मालूम! जा, चला जा, नहीं तो मैं बता दूँगा कि नागरिक से कैसे व्यवहार किया जाता है।

विवेक — काँटे तो बिछ चुके थे, उनसे पैर बचाकर चलने में त्राण हो जाता, परन्तु तुम लोगों ने नगर बनाकर धोखे की टट्टियाँ और चालों का भी प्रस्तार किया है। तुम्हीं मुँह के बल गिरोगे। सम्हलो! लौट चलो उसे नैसर्गिक जीवन की ओर, क्यों कृत्रिमता के पीछे दौड़ रहे हो।

प्रमदा — जा बूढ़े, जा; कहीं से एक पात्र मदिरा माँग कर पी ले, और उसके आनन्द में कहीं जा पड़ा रह। क्यों अपना सिर खपाता है!

विवेक — ओह! शान्ति और सेवा की मूर्ति, स्त्री के मुख से यह क्या सुन रहा हूँ — फूलों के मुँह से वीभत्सता की ज्वाला निकलने लगी है। शिशिर-प्रभात के हिम-कण चिनगारियों बरसाने लगे है। पिता! इन्हें अपनी गोद में ले लो!

दम्भ — चुप! धर्म-शिक्षा देने का तुझे अधिकार नहीं — जा, अपनी माँद में घुस। अस्पृश्य, नीच।

विवेक — मैं भागूँगा, इस नगर-रूपी अपराधों के घोंसले से अवश्य भागूँगा — परन्तु तुम पर दया आती है। (जाता है)

दम्भ — गया — सिर दुखने लगा। इस बकवादी को किसी ने रोका भी नहीं।

दुर्वृत्त — जाने दो। कुछ मदिरा का प्रसंग चले। देखो, वे नागरिक आ रहे है।

(मद्यपात्र लिये हुए नागरिक और स्त्रियाँ आती हैं। सबका पान और नृत्य)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(स्कन्धावार के पटमण्डप में कामना रानी)

कामना — प्रकृति शान्त है, हृदय चंचल है। आज चाँदनी का समुद्र बिछा हुआ है। मन मछली के समान तैर रहा है, उसकी प्यास नहीं बुझती। अनन्त नक्षत्र-लोक से मधुर वंशी की झनकार निकल रही है; परन्तु कोई गाने वाला नहीं है। किसी का स्वर नहीं मिलता। दासी! प्यास —

(सन्तोष का प्रवेश)

कामना — कौन? सन्तोष!

सन्तोष — हाँ रानी!

कामना — बहुत दिनों पर दिखायी पड़े।

सन्तोष — हाँ रानी!

कामना — किधर भूल पड़े? अब क्या डर नहीं लगता?

सन्तोष — लगता है रानी!

कामना — (कुछ संकोच से) फिर भी किस साहस से यहाँ आये।

सन्तोष — (मुस्कराकर) देखने के लिये कि मेरी आवश्यकता अब भी है कि नहीं।

कामना — परिहास न करो सन्तोष!

सन्तोष — परिहास! कभी नहीं। जब हृदय ने पराभव स्वीकार करके विजय-माला तुम्हें पहना दी और तुम्हारे कपोलों पर उत्साह की लहर खेल रही थी, उस समय तुमने ठोकर लगाकर मेरी सुन्दर कल्पना को स्वप्न कर दिया। रमणी का रूप — कल्पना का प्रत्यक्ष — सम्भावना की साकारता और दूसरे अतीन्द्रिय रूप-लोक, जिसके सामने मानवीय महत् अहम्भाव लोटने लगता है, जिस पिच्छिल भूमि पर स्खलन विवेक बनकर खड़ा

होता है, जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनन्द-निकेतन करने लगती है, वही रमणी का --तुम्हारा — रूप देखा था — और यह नहीं कह सकता कि मैं झुक नहीं गया। परन्तु, मैंने देखा कि उस रूप में पूर्ण-चन्द्र के वैभव की चन्द्रिका-सी सबको नहला देनेवाली उच्छृंखल वासना, वह अपार यौवन-राशि समुद्र के जल-स्तूप के समान समुन्नत — उसमें गर्व से ऊँची रहस्य-पूर्ण कुतूहल की प्रेरणा थी। मैंने विचारा कि यह प्यास बुझाने का मधुर-स्रोत नहीं है, जो मल्लिका की मीठी छाँह में बहता है।

कामना — क्या यह सम्भव नहीं कि तुमने भूल की हो, उसे उजेले में न देखा हो! अँधेरे में अपनी वस्तु न पहचान सके हो!

सन्तोष — वह तमिस्रा न थी, और न तो अन्धकार था, प्रेम की गोधूली थी, सन्ध्या था, जब वृक्षों की पत्तियाँ सोने लगती है, जब प्रकृति विश्राम करने का संकेत करती है, पवन रुक कर सन्ध्या-सुन्दरी के सीमन्त में सूर्य का सिन्दूर रेखा लगाना देखने लगता है, पक्षियों का घर लौटने का मंगल गान होने लगता है, सृष्टि के उस रहस्यपूर्ण समय में जब न तो तीव्र, चौंका देने वाला आलोक था — न तो नेत्रों को ढँक लेने वाला तम था, तुम्हें देखने की — पहचानने की — चेष्टा की, और तुम्हें कुहक के रूप में देखा।

कामना — और देखते हुए भी आँखें बन्द थी।

सन्तोष — मेरे पास कौन सम्बल था कामना-रानी!

कामना — ओह! मेरा भ्रम था!

सन्तोष — क्या तुम्हें दुःख है कामना!

कामना — मेरे दुःखों को पूछकर और दुःखी न बनाओ।

सन्तोष — नहीं कामना, क्षमा करो। तुम्हारे कपोलों के ऊपर और भौंहों के नीचे एक श्याम मण्डल है, नीरव रोदन हृदय में और गम्भीरता ललाट में खेल रही है। और भी एक लज्जा नाम की नयी वस्तु पलकों के परदे में छिपी है, जो कुछ ऐसी मर्म की बातें जानती है, जिन्हें हम लोग पहले नहीं जानते थे।

कामना — जाने दो सन्तोष! तुम्हें अब इससे क्या! क्या तुम सुखी हो!

सन्तोष — सुखा। हाँ, मैं सुखी हूँ — मेरी एक ही अवस्था है। दुखों की बात उनसे पूछो, तुम्हारी राज्य-कल्पना से जिनकी मानसिक शुभेच्छा एक बार ही नष्ट हो गयी है। जिन पर कल्याण की मधु-वर्षा नहीं होती, उन अपनी प्रजाओं से पूछो, और पूछो अपने मन से।

कामना — जाओ सन्तोष, मुझे और दुखी न बनाओ। (सिर झुका लेती है)

सन्तोष — अच्छा रानी, मैं जाता हूँ (जाता है)

कामना - (कुछ देर बाद सिर उठाकर) क्या चला गया —

(दासी पात्र लिये आती है, और सखियाँ आती है)

पहली — रानी, मन कैसा है?

दूसरी — मैं बलिहारी यह उदासी क्यों है?

कामना — यह पूछकर तुम क्या करोगी?

पहली — फिर किससे कहोगी?

दूसरी — पगली! देखती नहीं! स्त्री होकर भी नहीं जानती, नहीं समझती।

पहली — रानी, देख में अन्य बहुत-से युवक है।

कामना — तो फिर?

दूसरी — ब्याह कर लो रानी!

कामना — चुप मूर्ख! मैं पवित्र कुमारी हूँ मैं सोने से लदी हुई, परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभिमान-साधना की कठिन तपस्या करूँगी। अपने हाथों से जो विडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशंसा, क्या इतना जीवन के लिए पर्याप्त नहीं है?

पहली — परन्तु —

दूसरी — जीवन का सुख, स्त्री होने का उच्चतम अधिकार कहाँ मिला? रानी, तुम किसी पुरुष को अपना नहीं बना सकी।

कामना — देखती हुई, तू बहुत बढ़ी चली जा रही है। क्या तुझे —

पहली — क्षमा हो, अपराध क्षमा हो।

दूसरी — रामी, चाहे तीरों से छिदवा दो; परन्तु मैं एक बात बिना कहे न मानूँगी। जब इस विदेशी विलास के तुम्हारे साथ देखती हूँ, तब मैं क्रोध से काँप उठती हूँ। कुछ वश नहीं चलता, इससे रोने लगती हूँ। बस, और क्या कहूँ!

कामना — प्यारी, तू उस बात को न सुना, उसे बधिरता के घने परदे में छिपा रहने दे। मेरे जीवन के निकटतम रहस्य को अमावस्या से काली चादर में छिपा रख। मैं रोना चाहती हूँ, पर रो नहीं सकती। हां —

दूसरी — अच्छा, मैं कुछ गाऊँ, जिससे मन बहले।

कामना — सखी —

(गान)

जाओ सखी, तुम जी न जलाओ,

हमें न सताओ जी।

पहली — तुम व्यर्थ रही बकती

कामना — तुम जान नहीं सकती,

मन की कथा है कहने की नहीं,

दूसरी — मत बात बनाओ जी।

पहली — समझोगी नहीं सजनी,

दूसरी — भव प्रेममय रजनी,

भर-नैन सुध छवि चाख गयी

अब क्या समझाओ जी।

(विलास का प्रवेश)

विलास — रानी!

कामना — (सम्हल कर) क्यों विलास! यह नगर कैसा बसाया जा रहा है?

विलास — आज भयानक युद्ध होगा। कल बताऊँगा।

कामना — अच्छा खेल होगा, सभ्यता का तांडव होगा। वीरता की तृष्णा बुझेगी, और हाथ लगेगा सोना!

विलास — व्यंग न करो रानी! विनोद आज मदिरा में उन्मत्त है, कोई सेनापति नहीं है।

कामना — तो मैं चलूँ?

विलास — मैं तो पूछ रहा हूँ।

कामना — अच्छी बात है, आज तुम्हीं सेनापति का काम करो। लीला और लालसा भी रणक्षेत्र में जायँगी कि नहीं?

(नेपथ्य में कोलाहल)

विलास — (बिगड़कर) स्त्रियों के पास और होता क्या है।

कामना — कुछ नहीं, अपना सब कुछ देकर ठोकरें खाना! उपहास का लक्ष्य बन जाना!

विलास — इस समय युद्ध के सिवा और कुछ नहीं! फिर किसी दिन उपालम्भ सुन लूँगा। (वेग से जाता है)

(लीला और लालसा के साथ मद्यप विनोद का प्रवेश)

विनोद — रानी, सब पागल है।

कामना — एक तुमको छोड़कर विनोद!

विनोद — मैं तो कहता हूँ, दस घड़े रक्त के न बहाकर यदि एक पात्र मदिरा पी लो, सब-कुछ हो गया।

लीला — रानी, देखो, यह सोने का जाल नया बनकर आया है।

कामना — बहुत अच्छा है।

लालसा — और वह सोने के तारों से बिनी हुई नयी साड़ी तो देखी ही नहीं। (दिखाती है)

कामना — वाह! कितनी सुन्दर शिल्पकला है!

विनोद — इस देश से खूब सोना घर भेजा जा रहा है। वहाँ नये-नये सौन्दर्य-साधन बनाये जा रहे है। रानी, लाल रक्त गिराने से पीला सोना मिलने लगा। कैसे अच्छा खेल है।

कामना — बहुत अच्छा।

लालसा — आज विलास सेनापति होकर आक्रमण करने गये हैं, तो विनोद, तुम्हीं मेरे पटमण्डप में चलो। मैं अकेली कैसे रहूँगी?

विनोद — हाँ, यह तो अत्यन्त खेद की बात है। परन्तु कोई चिन्ता नहीं। चलो। (दोनों जाते हैं)

लीला — रानी!

कामना — लीला!

लीला — यह सब क्या हो रहा है?

कामना — ऐश्वर्य और सभ्यता के परिणाम।

लीला — तुम रानी हो, रोको इसे।

कामना — मेरा स्वर्ण-पट्ट देखकर प्रथम तुम्हीं को इसकी चाह हुई, आकांक्षा हुई। अब क्या, देश में धनवान और निर्धन, शासकों का तीव्र तेज, दीनों की विनम्र-दयनीय दासता, सैनिक-बल का प्रचण्ड ताप, किसानों की भारवाही पशु की-सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर, सैनिक और किसान, शिल्पी और व्यापारी और इन सभी के ऊपर सभ्य व्यवस्थापक — सब कुछ तो है। नये-नये सन्देश, नये-नये उद्देश्य, नयी-नयी संस्थाओं का प्रचार, सब कुछ सोना और मदिरा के बल से हो रहा है। हम जागते में स्वप्न देख रहे हैं।

लीला — ओह! (जाती है)

(दो सैनिक एक स्त्री को बाँधकर लाते हैं)

कामना — यह कौन है?

सैनिक — युद्ध में यह बन्दिनी बनायी गयी है।

कामना — इसका अपराध?

सैनिक — सेनापति के आने पर वह स्वयं निवेदन करेंगे। हम लोगों को आज्ञा हो तो जायँ, युद्ध समाप्त होने के समीप है।

कामना — जाओ।

(दोनों जाते हैं)

स्त्री — तुम रानी हो?

कामना — हाँ।

स्त्री — रानी बनने की साध क्यों हुई? क्या आँखें इतनी रक्तधारा देखने को प्यासी थी? क्या इतनी भीषणता के साथ तुम्हारा ही जयघोष किया जाता है?

कामना — मेरे दुर्भाग्य से।

स्त्री — और तुम चुपचाप देखती हो?

कामना — तुम बन्दी हो, चुप रहो।

(रक्ताक्त-कलेवर विजयी विलास का प्रवेश)

विलास — जय! रानी की जय!

कामना — क्या शत्रु भाग गये?

विलास — हाँ रानी!

कामना — अच्छा विलास, बैठो, विश्राम करो।

विलास — (देखकर) आहा! यह अभी यही है। इसको मेरे पटमण्डप में न ले जाकर यहाँ किसने छोड़ दिया है?

कामना — वह सैनिक इसे यहीं पकड़ लाया। परन्तु कहो विलास, इसे क्यों पकड़ा?

विलास — तुमको रानी, राज्य करने से काम, इन पचड़ों में क्यों पड़ती हो? युद्ध में स्त्री और स्वर्ण, यही तो लूट के उपहार मिलते हैं। विजयी के लिए यही प्रसन्नता है। इसे मेरे यहाँ भेज दो।

कामना — विलास, तुमको क्या हो गया है? मैं रानी हूँ, तुम्हारी शैय्या सजाने की दासी नहीं।

स्त्री — दोहाई रानी की! तुम्हारे राज्य के बदले मुझे ऐसा पुरुष नहीं चाहिए। मुझे बचाओ, यह नरपिशाच! ओह — (मुँह ढाँकती है)

विलास — अच्छा जाता हूँ। (सरोष प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(पथ में लालसा)

लालसा — दारुण ज्वाला, अतृप्ति का भयानक अभिशाप! मेरे जीवन का संगी कौन है? मैं लालसा हूँ, जन्म भर जिसे सन्तोष नहीं हुआ! नगर से आ रही हूँ। प्रमदा के स्वतन्त्रता-भवन के आनन्द-विहार से भी जी नहीं भरा, कोई किसी को रोक नहीं सकता और न तो विहार की धारा में लौटने की बाधा है। उच्छृंखल उन्मत्त विलास — मदिरा की विस्मृति। विहार की श्रान्ति फिर भी लालसा! (देखकर) अरे मैं घूमती-घूमती किधर निकल आयी? कही बहुत दूर। यदि कोई शत्रु आ गया तो (ठहर कर सोचती है) क्या चिन्ता?

(एक शत्रु सैनिक का प्रवेश)

सैनिक — तुम कौन हो?

लालसा — मैं, मैं?

सैनिक — हाँ, तुम।

लालसा — सेनापति विलास की स्त्री।

सैनिक — जानती हो, कल तुम्हारे सेनापति ने मेरी स्त्री को पकड़ लिया है? आज तुमको यदि मैं पकड़ ले जाऊँ?

लालसा — (मुस्करा कर) कहाँ ले जाओगे?

सैनिक — यह क्या?

लालसा — कहाँ चलूँ, पूछती तो हूँ। तुम्हारे सदृश पुरुष के साथ चलने में किस सुन्दरी को शंका होगी?

सैनिक — इतना अधःपतन! हम लोगों ने तो समझा था कि तुम्हारे देश के लोग केवल स्वर्ण-लोलुप शृगाल ही है, परन्तु नहीं, तुम लोग तो पशुओं से भी गए-बीते हो, जाओ।

लालसा — तो क्या तुम चले जाओगे? मेरे ओर देखो।

सैनिक — छिः! देखने के लिये बहुत-सी उत्तम वस्तुएँ है। सरल शिशुओं की निर्मल हँसी, शरद का प्रसन्न आकाश-मण्डल, वसन्त का विकसित कानन, वर्षा की तरंगिणी-धारा, माता और सन्तानों का विनोद देखने से जिसे छुट्टी हो, वह तुम्हारी ओर देखे।

लालसा — तुम्हारे वाक्य मेरी कर्मेन्द्रियों का माँग रहे है। मैं कैसे छोड़ दूँ, कैसे न दूँ। ठहरो, मुझे इस सम्पूर्ण मनुष्यत्व को आँखों से देख लेने दो।

सैनिक — जाओ रमणी, लौट जाओ! तुम्हारा सेना-निवेश दूर है।

लालसा — फिर तुम्हें इतने रूप की क्या आवश्यकता थी, जब हृदय ही न थी?

(तिरस्कार से देखता हुआ सैनिक जाता है)

लालसा — (स्वगत) चला जायगा। यों नहीं (प्रकट) अच्छा तो सुनो। क्या तुम अपनी स्त्री को भी नहीं छुड़ाना चाहते?
सैनिक — (लौटकर) अवश्य छुड़ाना चाहता हूँ — प्राण भी देकर।
लालसा — तुम्हारे शिष्ट आचरण का प्रतिदान करूँगी। चलोगे, डरते तो नहीं?

(दोनों जाते है। विलास का प्रवेश)

विलास — यह उन्मत्त विलास — लालसा! वक्ष स्थल में प्रबल पीड़ा। ओह! अविश्वासिनी स्त्री, तूने मेरे पद की मर्यादा, वीरता का गौरव और ज्ञान की गरिमा सब डुबा दी! जी चाहता है, इस अतृप्त हृदय में छुरा डालकर नचा दूँ। (ठहर कर) परन्तु विलास! विलास! तुझे क्या हो गया है? तुझे इससे क्या? राज्य यदि करना है, तो इन छोटी-छोटी बातों पर क्यों ध्यान देता है? अपनी प्रतिभा से शासन कर!

(विवेक आता है)

विवेक — आहा! मन्त्री और सेनापति महाशय, नमस्कार परन्तु नहीं, जब मन्त्री और सेनापति दोनों पद-पदार्थ एक आधार में है तब राजा क्या कोई भिन्न वस्तु है। दोनों की सम्मिलित शक्ति ही तो राजशक्ति है। अतएव हे राज-मन्त्री सेनापति! हे दिक्काल पदार्थ! हे जन्म जीवन और मृत्यु! आपको नमस्कार!

विलास — (विवेक का हाथ पकड़ कर) बूढ़े, सच बता, तू पागल है या कोई बना हुआ चतुर व्यक्ति? यदि तुझे मार डालूँ।

विवेक — (हँसकर) अरे जिसे इतनी पहचान नही कि मैं पागल हूँ या स्वस्थ, वह राज-कार्य क्या करेगा?

विलास — अच्छा, तुम यहाँ क्या करने आये हो?

विवेक — लड़ाई कभी नहीं देखी थी, बड़ी लालसा था, उसी से —

विलास — तो तू ही वह व्यक्ति है, जिसने बहुत-से घायलों को पास की अमराई में इकट्ठा कर रखा है और उनकी सेवा करता है?

विवेक — यह भी यदि अपराध हो, तो दण्ड दीजिये, नहीं तो समझ लीजिये कि पागलपन है।

विलास — फिर विचार करूँगा, इस समय जाता हूँ।

विवेक — विचार करते जाइये, कलेजा फाड़ते जाइये, छुरे चलाते रहिये और विचार करते रहिये। विचार से न चूकिये, नहीं तो —

विलास — चुप —

विवेक — आहा, विचार और विवेक को कभी न छोड़िये, चाहे किसी के प्राण ले लीजिये, परन्तु विचार करके)

(विलास सरोष चला जाता है। विवेक दूसरी ओर जाता है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(खेत में करुणा की कुटी। सन्तोष अन्न की बालें एकत्र कर रहा है। दुर्वृत्त आता है)

दुर्वृत्त — क्यों जी इस खेत का तुम कितना कर देते हो?

सन्तोष — कर!

दुर्वृत्त — हाँ। रक्षा का कर।

सन्तोष — क्या इस मुक्त प्राकृतिक दान में भी किसी आपत्ति का डर है? और क्या उन आपत्तियों से तुम किसी प्रकार इनकी रक्षा भी कर सकते हो?

दुर्वृत्त — मुझे विवाद करने का समय नहीं है।

सन्तोष — तब तो मुझे भी छुट्टी दीजिये, बहुत काम करना है।

दुर्वृत्त — (क्रोध से देखता हुआ) अच्छा जाता हूँ।

(करुणा आती है)

करुणा — भाई, तुम्हें काम करते बहुत विलम्ब हुआ। थक गये होंगे — चलो, कुछ खा लो।

सन्तोष — बहन! इस गाँठ को भीतर धर दूँ, तो चलूँ।

(परिश्रम से थका हुआ सन्तोष बोझ उठाता है, गिर पड़ता है। उसके पैर में चोट आती है। करुणा उसे उठाकर भीतर ले जाती है)

(एक ओर से वन-लक्ष्मी, दूसरी ओर से महत्त्वाकांक्षा का प्रवेश)

वन-लक्ष्मी — देखो, तुम्हारी कर लेने की प्रवृत्ति ने अन्नों के सत्व को हल्का कर दिया, कृषक थकने लगे हैं, खेतों को सींचने की आवश्यकता हो गयी। उर्वरा पृथ्वी को भी कृत्रिम बनाया जाने लगा है।

महत्त्वाकांक्षा — विलास के लिए साधन कहाँ से आयेंगे? यह जंगलीपन है। अकर्मण्य होकर प्रकृति की पराधीनता क्यों भोग करें। जब शक्ति है, फिर अभाव क्यों रह जाय?

वन-लक्ष्मी — विलास की महत्त्वाकांक्षा! तुम्हारा कही अन्त भी है। कब तक और कहाँ तक तुम मानव-जाति को झगड़ते देखना चाहती हो?

महत्त्वाकांक्षा — प्रकृति अपनी सीमा क्यों नहीं बनाती। फूलों की कोमलता और उनका सौरभ एक ही प्रकार का रहने से भी तो काम चल जाता। फिर इतनी शिल्पकला, पंखड़ियों की विभिन्नता, रंग की सजावट क्यों? तब हम अनन्त साधनों से अपने सुख को अधिकाधिक सम्पूर्ण क्यों न बनायें।

वन-लक्ष्मी — दौड़ाओ काल्पनिक महत्त्व के लिए। अतृप्ति के कशाघात से उत्तेजित करो। परन्तु प्रकृति के कोष से अनावश्यक व्यय करने का किसको अधिकार है? यह ऋण है। इसे कभी भी कोई चुका सकेगा? प्राकृतिक पदार्थों का अपव्यय करके भावी जनता को दरिद्र ही नहीं बनाया जा रहा है, प्रत्युत उनकी वृत्ति

का उद्गम ही बन्द कर देने का उपक्रम है। वे अपने पूर्वजों के इस ऋण को चुकाने के लिए भूखों मरेंगे।

महत्त्वाकांक्षा — मरे; कौन निर्बलों का जीवन अच्छा समझता है! देखो यही न, सन्तोष और करुणा। इनकी क्या अवस्था है।

वन-लक्ष्मी — इन पर तुम्हें दया नहीं; ये सच्चे है, सृष्टि की अमूल्य सम्पत्ति हैं। इनकी रक्षा करो।

महत्त्वाकांक्षा — (हँसती है) तुम सरल हो।

वन-लक्ष्मी — तुम कुटिलता में ही सौन्दर्य देखती हो।

महत्त्वाकांक्षा — तरल जल की लहरें भी सरल नहीं। बाँकपना ही तो सौन्दर्य है। मैं उसी को मानती हूँ। करुणा और सन्तोष सृष्टि की दुर्बलताएँ है। मेरे पास उनके लिये सहानुभूति नहीं। (जाती है)

वन-लक्ष्मी — मेरा मृदुल कुटुम्ब! मेरा कोमल शृंगार! इस क्रूर महत्त्वाकांक्षा से झुलस रहा है। मैं उन्हें आलिंगित करूँगी। (खेत में बैठकर एक तृणकुसुम को देखती हुई) तू कुछ कह रहा है। तेरा कुछ सन्देश है। तेरी लघुता एक महान् रहस्य है। मैं तेरे साथ स्वर मिलाकर गाऊँगी। (गाती है)

पृथ्वी की श्यामल पुलकों में सात्विक स्वेद-बिन्दु रंगीन।

नृत्य कर रहा हिलता हूँ मैं मलयानिल से हो स्वाधीन॥
आँधी की बहिया बह जाती चिढ़ कर चल जाती चपला।
मैं यों ही हूँ, ये कोई भी मेरी हँसी न सकते छीन॥
तितली अपना गिरा और भूला-सा पंख समझती है।
मुझे छोड़ देती, मेरा मकरन्द मुझी में रहता लीन॥
मधु सौरभ वाले फल-फूलों को लुट जाने का डर हो।
मैं झूला झूलती रही हूँ — बनी हुई अम्लान नवीन॥
व्यथित विश्व का राग-रक्त क्षत हूँ मुझको पहचानो तो।
सुधा-भरी चाँदनी सुनाती मुझको अपनी जीवन-बीन॥

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(फूलों के द्वीप में एक नागरिक का घर)

पिता — बेटा, इतनी देर हुई, अभी तक सोते रहोगे, क्या आज खेतों में नहीं जायगा?

लड़का — (आँख मलता हुआ) पहले एक प्याली मदिरा, फिर दूसरी बात, (अँगड़ाई लेकर) ओह बड़ी पीड़ा है।

पिता लड़के! तुझे लज्जा नहीं आती! मुझसे मदिरा माँगता है?

लड़का तो माँ से कह दो, दे जाय।

(माता का प्रवेश)

माता — क्यों, आज भी सबेरा हो गया, अभी सुनार के यहाँ नहीं गये, हल पकड़े खड़े हो? इससे तो अच्छा होता कि बैलों के बदले तुम्हीं इसमें जुतते। आज के उत्सव में चार स्त्रियों के सामने क्या पहनकर जाऊँगी।

पिता — तो अच्छा बात है, सोने का गहना बैठकर खाना और चबाना मेरी सूखी हड्डियाँ! लड़के को चौपट कर डाला। वह मुझसे मदिरा माँगता है, और तुम माँगती हो आभूषण।

लड़का — (लेटा हुआ) तुम दोनों कैसे मूर्ख बकवादी हो। एक प्याली देने में इतनी देर! इतना झंझट!

माता — तुझ-सा निखट्टू पति मेरे ही भाग्य में बदा था! मैं यदि —

पिता — हाँ, हाँ कहो 'यदि' क्या? यही न कि दूसरे की स्त्री होती, तो गहनों से लद जाती, परन्तु उसके साथ पापों से भी —

लड़का — देखो, मुझे एक प्याला दे दो, और एक-एक तुम लोग — बस झगड़ा मिट जायगा। जो बैल होंगे, आप ही कुछ देर में खेत पर पहुँच जायँगे।

पिता — कुलांगार! यह धृष्टता मुझसे सही न जायगी।

लड़का — तो लो, मैं जाता हूँ। युद्ध में सैनिक बन कर आनन्द करूँगा। तुम दोनों के नित्य के झगड़े से तो छुट्टी मिल जायगी। (उठता है)

माता — यह बाप है कि हत्यारा? एक प्याला मदिरा नहीं दे देता। लड़के को मरने के लिये युद्ध में भेजना चाहता है। जान पड़ता है, इसने दूसरे बाल-बच्चे स्त्री आदि बना लिये है, अब हम लोगों की आवश्यकता नहीं रही। एक तो तो युद्ध में भेज दिया, दूसरे को भी —

पिता — वह तेरे लिए स्वर्ण लाने गया है। पिशाचिनी! तू माँ है? तुझे आभूषणों की इतनी आवश्यकता?

लड़का — अच्छा, तो फिर जाता हूँ (उठता और गिर पड़ता है। फिर माँ से कहता है) तू ही दे दे, इस खेतिहर गँवार को जाने दे।

(पिता क्रोध से चला जाता है)

माता — अच्छा लो, पर फिर न माँगना। (देती है)

लड़का — (लेटा हुआ) नहीं, आँख खुलने तक नहीं। अभी एक नींद सो लेने दो। (लेटता है)

माता — कैसा सीधा लड़का है। (हँसती है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(नवीन नगर की एक गली में नागरिकों का प्रवेश)

पहला नागरिक — सब ठीक है। कामना ने यदि इन विचार-प्रार्थियों के कहने से कुछ भी इन नगर पर अत्याचार किया तो हम लोग उसका प्रतिकार करेंगे।

दूसरा नागरिक — वह क्या?

पहला नागरिक — विलास को यहाँ का राजा बनावेंगे और कामना को बन्दी।

दूसरा नागरिक — यहाँ तक?

पहला नागरिक — बिना राजा के हम लोगों का काम नहीं चलेगा। यह तुच्छ स्त्री, कोमल हृदय की पुतली शासन का भेद क्या जानेगी।

दूसरा नागरिक — क्या और लोग भी इससे लिए प्रस्तुत है?

पहला — सब ठीक है, अवसर की प्रतीक्षा है। चलो, आज दम्भदेव के यहाँ उत्सव है। तुम चलोगे कि नहीं?

दूसरा — हाँ, हाँ चलूँगा। (दोनों जाते है)

(करुणा का सन्तोष को लिये हुये प्रवेश)

करुणा — किससे पूछूँ — भाई सन्तोष, थोड़ी देर यहीं बैठो, मैं क्रूर का घर पूछ आती हूँ। बड़ी पीड़ा होगी। आह! (सहलाती है)

सन्तोष — करुणे! मैं तुम्हारे अनुरोध से यहाँ चला आया हूँ। मुझे तो इस वैद्य के नाम से भी निर्वेद होता है।

करुणा — मेरे लिये भाई — मेरे लिये! बैठो मैं आती हूँ — (जाती है)

(एक नागरिक का प्रवेश)

नागरिक — (सन्तोष के देखकर) तुम कौन हो जी?

सन्तोष — मनुष्य — और दुखी मनुष्य।

नागरिक — तब यहाँ क्या है जो किसी के घर पर बिना पूछे बैठ गये?

सन्तोष — यह भी अपराध है? मैं पीड़ित हूँ, इसी से थोड़ा विश्राम करने के लिए बैठ गया हूँ।

नागरिक — अभी नगर-रक्षक तुम्हें पकड़कर ले जायगा। क्योंकि तुमने मेरे अधिकार में हस्तक्षेप किया है। बिना मेरी आज्ञा लिये यहाँ बैठ गये। क्या यह कोई धर्मशाला है?

सन्तोष — मैं तो प्रत्येक गृहस्थ के घर को धर्मशाला के रूप में देखना चाहता हूँ, क्योंकि इसे पापशाला करने में संकोच होता है।

नागरिक — देखो इस दुष्ट को। अपराध भी करता है और गालियाँ भी देता है। उठ जा यहाँ से, नहीं तो धक्के खायगा!

सन्तोष — हे पिता! तुम्हारी सन्तान इतनी बँट गयी है।

नागरिक — क्या हिस्सा भी लेगा? उठ-उठ — चल —

सन्तोष — भाई, मैं बिना किसी के अवलम्ब के चल नहीं सकता। मेरी बहन आती है तो मैं चला जाऊँगा।

नागरिक — क्या तेरी बहन!

सन्तोष — हाँ —

नागरिक — (स्वगत) आने दो, देखा जायगा।

(दौड़ती हुई करुणा का प्रवेश। पीछे मद्यप दुर्वृत्त)

दुर्वृत्त — ठहरो सुन्दरी! मुझे विश्वास है कि तुमको न्यायालय की शरण लेनी पड़ेगी — मैं व्यवस्था बतलाऊँगा, तुम्हारी सहायता करूँगा, तुम सुनो तो! हाँ — क्या अभियोग है? किसी ने तुम्हें — ऐं!

करुणा — (भयभीत) भाई सन्तोष! देखो यह मद्यप!

दुर्वृत्त — चलो, तुम्हें भी पिलाऊँगा। बिना इसके न्याय की बारीकियाँ नहीं सूझती --- हाँ, तो फिर एक चुम्बन भी लिया — यही न!

करुणा — नीच, दुराचारी!

सन्तोष — क्यों नागरिक! यही तुम्हारा सभ्य व्यवहार है?

दुर्वृत्त — अनधिकार चेष्टा — मूर्ख! तू भी न्यायालय से दण्ड पावेगा — तुम साक्षी रहना नागरिक!

नागरिक — (करुणा की ओर देखता हुआ) सुन्दर है! हाँ-हाँ, यह तो अनधिकार चेष्टा प्रारम्भ से ही कर रहा है, बिना मुझसे पूछे यहाँ बैठ गया और बात भी छीनता है।

सन्तोष — मैं चिकित्सा के लिए यहाँ आया हूँ। क्यों मुझे तुम लोग तंग कर रहे हो — चलो करुणा, हम लोग चलें।

दुर्वृत्त — वाह! चलो चलें! ए — तुम्हें परिचय देना होगा, तुम असभ्य बर्बर यहाँ किसी बुरी इच्छा से आये होंगे। नागरिक! बुलाओ शान्तिरक्षक को।

सन्तोष — (हँसकर) शान्ति तुम्हारे घर कही है भी जो तुम उसकी रक्षा करोगे? बाबा, हम लोग जाते है जाने दो।

दुर्वृत्त — परिचय देना होगा तब —

करुणा — परिचय देने में कोई आपत्ति नहीं है। मैं मृत शान्तिदेव की बहन हूँ।

(दुर्वृत्त आँख फाड़ कर देखता है)

नागरिक — तब यह तुम्हारा भाई कैसे? इसमें कुछ रहस्य है।

दुर्वृत्त — तुम क्या जानो, चुप रहो (करुणा से) हाँ, तुम्हारा तो बड़ा भारी अभियोग है, न्यायालय अवश्य तुम्हें सहायता देगा। क्यों, तुमने शान्तिदेव का धन कुछ पाया? अकेली लालसा उसे नहीं भोग सकती। तुम्हारा भी उसमें कुछ अंश है।

नागरिक — हाँ यह तो ठीक कहा —

करुणा — मुझे कुछ न चाहिये। मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।

दुर्वृत्त — नहीं, मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं हो सकता। तुम्हारा उचित प्राप्य, न्यायालय की सहायता से दिलाना मेरा कर्त्तव्य है। तुम व्यवहार लिखाओ।

सन्तोष — हम लोगों को कुछ न चाहिये।

(क्रूर का प्रवेश)

दुर्वृत्त — आओ नागरिक क्रूर! यह तुमसे चिकित्सा कराने बड़ी दूर से आया है।

क्रूर — (सन्तोष को देखता हुआ) यह! अरे इसकी तो टाँग सड़ गयी है, भयानक रोग है, इसको काटकर अलग कर देना होगा।

सन्तोष — हे देव! यह क्या लीला है! यह सब पिशाच है कि मनुष्य! मुझे चिकित्सा न चाहिये, मुझे जाने दो।

नागरिक — नगर का दुर्नाम होगा, ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें चिकित्सा करानी होगी। मैं शस्त्र ले आता हूँ। (जाता है)

(प्रमदा का सहेलियों के साथ नाचती हुई आना। दूसरी ओर से दम्भ का अपने दल के साथ प्रवेश)

दम्भ — क्यों दुर्वृत्त! क्रूर! तुम लोग अभी उत्सव में नहीं मिले।

क्रूर — कुछ कर्त्तव्य है आचार्य! यह पीड़ित है, इसकी चिकित्सा —

दम्भ — (सन्तोष के देखकर) छिः छिः! पवित्र देवकार्य के समय तुम अस्पृश्य को छुओगे? (सन्तोष से) जा रे, भाग!

दुर्वृत्त — (धीरे से) यह शान्तिदेव की बहन है। उसके पार अपार धन था। इसे न्यायालय में ले चलूँगा और क्रूर को भी इसकी चिकित्सा से कुछ मिलेगा। हम दोनों का लाभ है।

दम्भ — यह सब कल होगा। (नागरिक से) यह तुम्हारा घर है न?

नागरिक — हाँ।

दम्भ — आज इसे तुम अपने यहाँ रक्खो। कल इसकी चिकित्सा होगी। और प्रमदा! इस सुन्दरी के देवदासियों के दल में सम्मिलित कर लो। इसके लिए न्यायालय का प्रबन्ध कल किया जायगा। आज पवित्र दिन है, केवल उत्सव होना चाहिये।

(नागरिक सन्तोष को पकड़ता है और प्रमदा एक मद्यप के साथ करुणा को खींचती है। विवेक दौड़कर आता है)

विवेक — कौन इस पिशाच-लीला का नायक है?

(सब सहम जाते है। विवेक सबसे छुड़ाकर दोनों के लेकर हटता है)

दम्भ — तू कौन इस उत्सव में धूमकेतु-सा आ गया? छोड़कर चला जा, नहीं तो तुझे पृथ्वी के नीचे गड़वा दूँगा।

विवेक — मैं चला जाऊँगा। फूल के समान आया हूँ, सुगन्ध के सदृश जाऊँगा। तू बच, देख उधर।

(सब उसे पकड़ने को चंचल होता है। विवेक दोनों को लिये हटता है। भूकम्प से नगर का यह भाग उलट-पटल हो जाता है)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(आक्रांत देश का एक गाँव, एक बालिका और विवेक)

बालिका — आज तक तो हमारे ऊपर अत्याचार होता रहा है; परन्तु कोई इतनी मित्रता नहीं दिखलाना आया। तू आज छल करने आया है।

विवेक — नहीं माँ, जा बड़े-बूढ़ों को बुला ला।

बालिका — परन्तु —

विवेक — हाय रे पाप! इन निरीह बालकों में भी विश्वास का अभाव हो गया है। विश्वास करो माँ, बुला लो।

(बालिका जाती है। चार वृद्ध और युवक आते हैं)

विवेक — मैं उसी शापित देश का हूँ, जिसमें सोने की ज्वाला धधक उठी है, मदिरा को वन्या बाढ़ पर है। क्या मुझ पर विश्वास करोगे?

युवक — कहो, तुम्हारा प्रयोजन सुन लें।

विवेक — हमारे और तुम्हारे देश की सीमा में एक नया राज्य स्थापित हो गया है। यह हमारे देश के विद्रोहियों का एक घृणित संगठन है। उसने अत्याचार का ठेका ले लिया है। उससे क्या हम तुम लोग बचना चाहते है?

युवक — परन्तु उपाय क्या है?

विवेक — हम लोगों को भाई समझकर मित्र-भाव की स्थापना करो, और इनके अत्याचारों से रक्षा करो. हम परस्पर एक दूसरे के सहायक हों।

युवक — किस प्रकार?

विवेक — आज न्यायालय में विचार होने वाला है, और तुम्हारे देश के जो दो बन्दी हुए है, उन्हें दण्ड मिलेगा। हम लोगों में से बहुतेरे उसके विरुद्ध है, यदि तुम लोग भी सहायता करो, तो इस भीषण आतंक से सबकी रक्षा हो।

युवक — हम लोग ठीक समय पर पहुँचेंगे। परन्तु वहाँ तक जाने कैसे पावेंगे?

विवेक — हमारी सेवा से जितने आहत अच्छे हो चुके है उन्हीं लोगों के दल के साथ। और, इस अच्छे कर्म के लिए बहुत सहायक मिलेंगे।

युवक — अच्छा, तो हम जाते है।

विवेक — तुम्हारा कल्याण हो।

(युवक और उसके साथी जाते हैं, दूसरी ओर से वही बालिका दौड़ती हुई आती है। पीछे दो उन्मत्त मद्यप हैः

बालिका — दोहाई है, बचाओ! बचाओ!

मद्यप सैनिक — सुन्दरी, दौड़-धूप करने पर तो प्रेम का आनन्द नहीं रहता। माना कि यह भी एक भाव है, पर वह मुझे रुचिकर नहीं। सुन तो लो — (पकड़ता है)

बालिका — अरे, तुम क्या मनुष्यता को भी मदिरा के साथ घोलकर पी गये हो!

सैनिक — मदिरा के नाम से वही तो पीता हूँ।

विवेक — (आगे बढ़कर) क्यों, तुम वीर सैनिक हो न?

सैनिक — क्या इसमें भी सन्देह है?

विवेक — कायर! छोड़ दे नहीं तो दिखा दूँगा कि इन सूखी हड्डियों में कितना बल है!

सैनिक — जा पागल! तू क्यों मरना चाहता है?

विवेक — दूसरे की रक्षा में, पाप के विरोध और परोपकार करने में, प्राण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान् को होता है? नीच...! आ, देखूँ तो!

(सैनिक तलवार से प्रहार करने को उद्यत होता है। विवेक सामने तन कर खड़ा होता है और उसकी कलाई पकड़ लेता है)

सैनिक — अब छोड़ दो, हाथ टूटता है।

विवेक — (छोड़कर) इसी बल पर इतना अभिमान! जा अब सीधा हो जा। देश का कलंक धोने में हाथ बँटा, कल परीक्षा होगी।

सैनिक — पिता! क्षमा करो; जो आज्ञा होगी, मैं और मेरे साथी, सब वही करेंगे।

विवेक — स्मरण रखना।

(दोनों सिर झुकाकर जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(सैनिक न्यायालय में राना और सैनिक लोग बैठे हैं। एक ओर से विलास, दूसरी ओर से लालसा का प्रवेश)

विलास — रानी, यह बन्दिनी स्त्री बड़ा भयानक है। हमारी सेना के समाचार लेने आयी थी! इसको दण्ड देना चाहिये।

लालसा — और एक व्यक्ति मेरे मण्डप में भी है। यह भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। दोनों का साथ ही विचार हो।

(रानी के संकेत पर चार सैनिक जाते हैं और दोनों को ले आते हैं। शत्रु-सैनिक और स्त्री दोनों पर एक दूसरे को देख चीत्कार करते हैं)

विलास — यह स्त्री प्राण-दण्ड के योग्य है। इसने सेना का सब भेद जान लिया था। यदि यह पकड़ न ली जाती, तो उस दिन के युद्ध में हम लोगों को पराजित होना पड़ता।

लालसा — और सीमा पर मैं इस पुरुष से मिली। यदि मैं इसे भुलावा न देकर ले आती, तो यह मेरा बड़ा अपमान करता, जो इस जाति के लिये कलंक की बात होती।

रानी — विलास!

विलास — कुछ नहीं रानी, इन्हें प्राणदण्ड!

लालसा — इनसे पूछने की क्या आवश्यकता है? हम लोगों का कहना ही क्या इसके लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं है?

सब सैनिक — हाँ, हाँ सेनापति का अनुरोध अवश्य माना जाय।

कामना — तब मुझे कुछ कहना नहीं है।

विलास — (सैनिकों से) दोनों को इसी वृक्ष से बाँध दो, और तीर मारो।

स्त्री — क्यों शत्रु-सेनापति! स्त्री पर अत्याचार न कर पाने पर उसका प्राण लेना ही न्याय है? परन्तु प्राण तुम ले सकते हो, मेरा अमूल्य धन नहीं।

शत्रु-सैनिक — सुन्दरी लालसा, तुम स्त्री हो या पिशाचिनी?

लालसा — जा, जा मर।

(दोनों को बाँधकर तीर मारे जाते है। कई प्रार्थियों का प्रवेश)

सैनिक — रानी, द्वेष मे मुझे सोते में छुरा मारकर घायल किया है, न्याय कीजिये।

दूसरा — प्रमदा मेरे आभूषणों की पेटी लेकर दुर्वृत्त के साथ भाग गयी। उससे मेरे आभूषण दिला दिये जायँ।

तीसरा — रानी, मैं बड़ा दुखी हूँ। मेरा मदिरा का पात्र किसी ने चुरा लिया। मैं बड़े कष्ट से रात बिताता हूँ।

चौथा — नवीना मेरी विश्वासपात्र प्रेमिका बनकर गहने के लोभ से स्वर्णभूति के साथ जाने के लिए तैयार है, उसे समझा दिया जाय, अन्यथा मैं आत्महत्या करूँगा।

पाँचवाँ — रानी, मेरा लड़का सब धन बेचकर मदिरा पा जाता है, उससे मेरा सम्बन्ध छुड़ा दिया जाय।

एक स्त्री — मुझे विश्वास देकर, कौमार-भंग करके अब यह मद्यप मुझसे ब्याह नहीं करता।

एक दूत — (प्रवेश करके) जिस नवीन नगर की प्रतिष्ठा कुछ लोगों ने की थी, उसमें बहुत-से अपराधी जाकर छिपे थे, वह नगर भूकम्प में चला गया।

रानी — ठहरो। मुझे पागल न बनाओ। अपराधों की आँधी! चारों ओर कुकर्म! ओह!

(आठ वर्ष का एक बालक दौड़ा आता और दण्डितों के शवों पर गिर पड़ता है, कामना उठकर खड़ी हो जाती है)

कामना — बालक, तुम कौन हो?

बालक — (रोता हुआ) मेरी माँ मेरे पिता —

कामना — क्यों विलास, यह क्या हुआ।

लालसा — ठीक हुआ।

कामना — लालसा, चुप रहा। तुम न मन्त्री हो, और न सेनापति।

लालसा — हाँ, मैं कुछ नहीं हूँ — तो फिर —

विलास — उन्हें उपयुक्त दण्ड दिया गया।

कामना — यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा। (मुकुट उतारती हुई) यह लो, इस पाप-चिह्न का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ प्यारे देशवासियों, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिंचे हुये चमकीले स्वर्ण-वृक्ष की छाया से भागो। (सिंहासन से हटती है)

(विवेक का उन्मत्त भाव से प्रवेश। कामना बालक को गोद में लेती है)

विवेक —बहुत दिन हुए, जब मैंने कहा था कि 'भागो-भागो'। तब तुम्हीं सब लोगों ने कहा था कि 'पागल है' और मैं पागल बन गया। (देखकर) कामना, आहा मेरी पगली लड़की! आ मेरी गोद में आ — चल, हम लोग वृक्षों की शीतल छाया से लौट चलें।

(कामना दौड़कर विवेक से लिपट जाती है)

विनोद — मदिरा और स्वर्ग के द्वारा हम लोगों में नवीन अपराधों की सृष्टि हुई, और हुई एक महान माया-स्तूप की रचना। हमारे अपराधों ने राजतन्त्र की अवतारणा की। पिता की सदिच्छा, माता का स्नेह, शील का अनुरोध हम लोगों ने नहीं माना। तब अवश्य दण्ड के सामने सिर झुकाना पड़ेगा। कामना, हम सब तुम्हारे साथ है।

विलास — सज्जनों! सैनिकों! देश दरिद्र है, भूखा है। क्या तुम लोग इन देशद्रोहियों के पीछे चलोगे? यह भी क्या खेल है?

विवेक — खेल था, और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हँसकर। इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सब को एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है; होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व। तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा? हँसने का काम भूल गये। पशुता का आतंक हो गया। मनुष्यता की रक्षा के लिये, पाश्वी वृत्तियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गयी; परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। इसका उद्देश्य तब सफल होगा, जब वह अपना दायित्व कम करेगी — जनता को, व्यक्ति को, आत्मसंयम और

आत्मशासन सिखाकर विश्राम लेगी। जब अपराधों की मात्रा घटेगी और क्रमशः समूल नष्ट होगी, तब संघर्षमय शासन स्वयं तिरोहित होगा। आत्म-प्रतारको! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासितों और शासकों में भेद विलीन होकर विराट्-विश्व जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।

विनोद — आओ, हम सब उस मधुर-मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मंगल पाठ पढ़े। (अपना स्वर्णपट्ट और आभूषण उतार कर फेंकता है, लीला भी उसका अनुकरण करती है)

लीला — जितने भूले-भटके होगे, वे इन्ही पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।

(बहुत-से लोग अपने स्वर्ण-आभूषण और मदिरा के पात्र तोड़ते हैं। विलास और लालसा आश्चर्य के भाव से देखते हैं)

विलास — सैनिकों, तुम्हारी क्या इच्छा है? तुम वीर हो। क्या तुम इन्हीं का-सा दीन और निरीह जीवन बिताओगे? क्या फिर उसी

दुःखपूर्ण देश में जाओगे जहाँ न तो सोने के पानपात्र है, और न माणिक के रंग की मदिरा?

कुछ लोग — हम लोग यहीं नगर बसाकर रहेंगे।

एक — और तुम हमारे राजा बनो।

(वह गिरा हुआ मुकुट उसे पहनाता है। लालसा भी रानी का स्थान ग्रहण करने के लिए आगे बढ़ती है — 'ठहरो-ठहरो' कहते हुए दोनों ओर से सैनिकों के साथ सन्तोष का प्रवेश)

विवेक — सन्तोष! तुमने बहुत विलम्ब किया।

आगन्तुक सैनिक — क्या! यह हत्या? तुम हत्या करे भी यह साहस करते हो कि हम लोग तुम्हें अपना सर्वस्व मानें। यह ठीक है कि हम लोगों को विधि-निषेधात्मक एक सर्वमान्य सत्ता की अब आवश्यकता हो गयी है, परन्तु तुम कदापि इसके योग्य नहीं हो। सोने से लदी हुई लालसा रानी! और मदिरा से उन्मत्त विलास राजा!! आश्चर्य!!!

(विलास के साथी सैनिक भी स्वर्ण और अस्त्र रख देते हैं)

विलास — तब लालसा?

लालसा — अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में, कहीं तो स्थान मिलेगा — चलो विलास

(दोनों जाते हैं)

कामना — मेरे सन्तोष! प्रिय सन्तोष!!

सन्तोष — मेरी मधुर कामना — (कामना का हाथ पकड़ लेता है)

(परिवर्तित दृश्य, समुद्र में नौका पर विलास और लालसा। सब नागरिक उस पर स्वर्ण फेंकते हैं, नाव डगमगाती है। लालसा का क्रन्दन — 'सोने से नाव डूबी, अब नहीं बस,' तुमुल तरंग, परिवर्तित दृश्य में अन्धकार, दूसरी ओर आलोक, फूलों की वर्षा)

(समवेत स्वर से गान)

खेल लो नाथ, विश्व का खेल!
राजा बन कर अलग न बैठो, बनो नहीं अनमेल!
वही भाव फिर लेगी जनता, भूल जायगी सारी समता।
कहाँ रही प्यारी मानवता, बढ़ी फूट की बेल॥
रुदन, दु:ख, तम-निशा, निराशा इन द्वन्द्वों का मिटे तमाशा।

स्मित आनन्द उषा औ' आशा, एक रहें कर मेल॥
हम सब हैं हो चुके तुम्हारे, तुम भी अपने होकर प्यारे।
आओ, बैठो साथ हमारे, मिलकर खेलें खेल॥
खेल लो नाथ, विश्व का खेल!

(यवनिका)

चन्द्रगुप्त

प्रिय सुहृद्वर

राय कृष्णदास

को

प्रीति-उपहार

मौर्य वंश

प्राचीन आर्य नृपतिगण का साम्राज्य उस समय नहीं रह गया था। चन्द्र और सूर्यवंश की राजधानियाँ अयोध्या और हस्तिनापुर, विकृत रूप में भारत के वृक्षस्थल पर अपने साधारण अस्तित्व का परिचय दे रही थी। अन्य प्रचण्ड बर्बर जातियों की लगातार

चढ़ाइयों से पवित्र सप्तसिन्धु प्रदेश में आर्यों के सामगान का पवित्र स्वर मन्द हो गया था। पांचालों की लीला-भूमि तथा पंजाब मिश्रित जातियों से भर गया था। जाति, समाज और धर्म — सब में एक विचित्र मिश्रण और परिवर्तन-सा हो रहा था। कहीं आभीर कहीं ब्राह्मण — राजा बन बैठे थे। यह सब भारत भूमि की भावी दुर्दशा की सूचना क्यों थी? इसका उत्तर केवल यही आपको मिलेगा कि — धर्म सम्बन्धी महापरिवर्तन होने वाला था। वह बुद्ध से प्रचारित होने वाले बौद्धधर्म की ओर भारतीय आर्य लोगों का झुकाव था, जिसके लिये ये लोग प्रस्तुत हो रहे थे।

उस धर्मबीज को ग्रहण करने के लिए कपिल, कणाद आदि ने आर्यों का हृदय-क्षेत्र पहले ही से उर्वर कर दिया था, किन्तु यह मत सर्वसाधारण में अभी नहीं फैला था। वैदिक-कर्मकाण्ड की जटिलता से उपनिषद् तथा सांख्य आदि शास्त्र आर्य लोगों को सरल और सुगम प्रतीत होने लगे थे। ऐसे ही समय पार्श्वनाथ ने एक जीव-दयामय धर्म प्रचारित किया और वह धर्म बिना किसी शास्त्र-विशेष को, वेद तथा प्रमाण की उपेक्षा करते हुए फैलकर शीघ्रता के साथ सर्वसाधारण से सम्मान पाने लगा। आर्यों की राजसूय और अश्वमेध आदि शक्ति बढ़ाने वाली क्रियायें शून्य स्थान में ध्यानन और चिन्तन के रूप में परिवर्तित हो गयीं; अहिंसा का प्रचार हुआ। इससे भारत की उत्तरी सीमा में स्थित जातियों

को भारत में आकर उपनिवेश स्थापित करने का उत्साह हुआ। दार्शनिक मत के प्रबल प्रचार से भारत में धर्म, समाज और साम्राज्य, सब में विचित्र और अनिवार्य परिवर्तन हो रहा था। बुद्धदेव के दो-तीन शताब्दी पहले ही दार्शनिक मतों ने, उन विशेष बन्धनों को, जो उस समय के आर्यों को उद्विग्न कर रहे थे, तोड़ना आरम्भ किया। उस समय ब्राह्मण वल्कलधारी होकर काननों में रहना ही अच्छा न समझते वरन् वे भी राज्यलोलुप होकर स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्यों के अधिकारी बन बैठे। क्षत्रियगण राजदण्ड को बहुत भारी तथा अस्त्र-शस्त्रों को हिंसक समझ कर उसकी जगह जप-चक्र हाथ में रखने लगे। वैश्य लोग भी व्यापार आदि में मनोयोग न देकर धर्माचार्य की पदवी को सरल समझने लगे। और तो क्या भारत के प्राचीन दास भी अन्य देशों से आयी हुई जातियों के साथ मिलकर दस्यु-वृत्ति करने लगे।

वैदिक धर्म पर क्रमशः बहुत-से आघात हुए, जिनसे वह जर्जर हो गया। कहा जाता है कि उस समय धर्म की रक्षा करने में तत्पर ब्राह्मणों ने अर्बुदगिरि पर एक महान् यज्ञ करना आरम्भ किया और उस यज्ञ का प्रधान उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म तथा वेद की रक्षा करना था। चारों एर से दल-के-दल क्षत्रियगण — जिनका युद्ध ही आमोद था — जुटने लगे और वे ब्राह्मण धर्म को मानकर अपने आचार्यों को पूर्ववत् सम्मानित करने लगे। जिन जातियों को

अपने कुल की क्रमागत वंशमर्यादा भूल गयी थी, वे तपस्वी और पवित्र ब्राह्मणों के यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभाजित हुई। इनका नाम अग्निकुल हुआ। सम्भवतः इसी समय में तक्षक या नागवंशी भी क्षत्रियों की एक श्रेणी में गिने जाने लगे।

यह धर्म-क्रान्ति भारतवर्ष में उस समय हुई थी जब जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए, जिनका जन्म समय ईसा से 800 वर्ष पहले माना जाता है। जैन लोगों के मत से भी इस समय में विशेष अन्तर नहीं है। ईसा के आठ सौ पूर्व यह बड़ी घटना भारतवर्ष में हुई, जिसने भारतवर्ष में राजपूत जाति बनाने में बड़ी सहायता दी और समय-समय पर उन्हीं राजपूत क्षत्रियों ने बड़े-बड़े कार्य किये। उन राजपूतों की चार जातियों में प्रमुख परमार जाति थी और जहाँ तक इतिहास पता देता है — उन लोगों ने भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैलकर नवीन जनपद और अक्षय कीर्ति उपार्जित की। धीरे-धीरे भारत के श्रेष्ठ राजन्यवर्गों में उनकी गणना होने लगी। यद्यपि इस कुल की भिन्न-भिन्न पैंतीस शाखाएँ है, पर सब में प्रधान और लोक-विश्रुत मौर्य नाम की शाखा हुई। भारत का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं है, पर बौद्धों के बहुत-से शासन-सम्बन्धी लेख और उनकी धर्म-पुस्तकों से हमें बहुत सहायता मिलेगी, क्योंकि उस धर्म को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाला उसी

मौर्य-वंश का सम्राट् अशोक हुआ है। बौद्धों के विवरण से ज्ञात होता है, कि शैशुनाक-वंशी महानन्द के संकर-पुत्र महापद्म के पुत्र धननन्द से मगध का सिंहासन लेने वाला चन्द्रगुप्त मोरियों के नगर का राजकुमार था। यह मोरियों का नगर पिप्पिली-कानन था, और पिप्पिली-कानन के मौर्य-नृपति लोग भी बुद्ध के शरीर-भस्म में भाग लेने वालों में एक थे।

मौर्य लोगों की उस समय भारत में कोई दूसरी राजधानी न थी। यद्यपि इस बात का पता नहीं चलता, कि इस वंश के आदि पुरुषों में से किसने पिप्पिली-कानन में मौर्यों की पहली राजधानी स्थापित की, पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ईसा से 500 वर्ष या इससे पहले यह राजधानी स्थापित हुई और मौर्य-जाति, इतिहास-प्रसिद्ध कोई ऐसा कार्य तब तक नहीं कर सकी जब तक प्रतापी चन्द्रगुप्त उसमें न उत्पन्न हुआ। उसने मौर्य शब्द को, जो अब तक भारतवर्ष के एक कोने में पड़ा हुआ अपना जीवन अपरिचित रूप से बिता रहा था, केवल भारत ही नहीं वरन् ग्रीस आदि समस्त देशों में परिचित करा दिया। ग्रीक-इतिहास-लेखकों ने अपनी भ्रमपूर्ण लेखनी से इस चन्द्रगुप्त के बारे में कुछ तुच्छ बातें लिख दी है, जो कि बिल्कुल असम्बद्ध ही नहीं, वरन् उल्टी है। जैसे — चन्द्रगुप्त नाइन के पेट से पैदा हुआ महानन्दिन का लड़का था। पर यह बात पोरस ने महापद्म और धननन्द आदि के लिये कही

है और वही पीछे से चन्द्रगुप्त के लिए भ्रम से यूनानी ग्रन्थकारों ने लिख दी है। ग्रीक-इतिहास-लेकर Plutarch लिखता है कि चन्द्रगुप्त मगध-सिंहासन पर आरोहण करने के बाद कहता था कि सिकन्दर महापद्म को अवश्य जीत लेता, क्योंकि वह नीचजन्मा होने का कारण जन समाज में अपमानित तथा घृणित था। लिवानियस आदि लेखकों ने तो यहाँ तक भ्रम डाला है कि पोरस ही नापित से पैदा हुआ था। पोरस ने ही यह बात कही थी, इससे वही नापित-पुत्र समझा जाने लगा, तो क्या आश्चर्य है कि तक्षशिला में जब चन्द्रगुप्त ने यही बात कही थी, तो वही नापित पुत्र समझा जाने लगा हो। ग्रीकों के भ्रम से ही यह कलंक उसे लगाया गया है।

एक बात और भी उस समय तक निर्धारित नहीं हुई थी कि Sandrokottus और Xan भिन्न-भिन्न दो व्यक्तियों का या एक का ही नाम है। यह H. H. Wilson ने विष्णुपुराण आदि के सम्पादन-समय सण्ड्रोकोटस और चन्द्रगुप्त को एक में मिलाया। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि Xandramus ने बहुत सेना लेकर सिकन्दर से मुकाबला किया। उन्होंने उस प्राच्य देश के राजा Xandramus को, जो नन्द था, भूल से चन्द्रगुप्त समझ लिया — जो कि तक्षशिला में एक बार सिकन्दर से मिला था और बिगड़कर लौट आया था। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की भेंट हुई थी, इसलिए भ्रम

से वे लोग Sandrokottus और Xandramus को एक समझ कर नन्द की कथा को चन्द्रगुप्त के पीछे जोड़ने लगे।

चन्द्रगुप्त ने पिप्पिली-कानन के कोने से निकल कर पाटलिपुत्र पर अधिकार किया। मेगस्थिनीज़ ने इस नगर का वर्णन किया है और फारस की राजधानी से बढ़कर बतलाया है। अस्तु, मौर्यों की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र हुई।

पुराणों को देखने से ज्ञान होता है कि चन्द्रगुप्त के बाद नौ राजा उसके वंश में मगध के सिंहासन पर बैठे। उनमें अन्तिम राजा बृहद्रथ हुआ, जिसे मारकर पुष्यमित्र — जो शुंग-वंश का था — मगध के सिंहासन पर बैठा; किन्तु चीनी यात्री ह्नेन् त्सांग, जो हर्षवर्धन के समय में आया था, लिखता है --"मगध का अन्तिम अशोकवंशी राजा पूर्णवर्मा हुआ, जिसके समय में शशांकगुप्त ने बोधिद्रुम को सींचा, जिससे वह शीघ्र ही बढ़ गया।" यह बात प्रायः सब मानते हैं कि मौर्य-वंश के नौ राजाओं ने मगध के राज्यासन पर बैठकर उसके अधीन समस्त भू-भाग पर शासन किया। जब मगध के सिंहासन पर से मौर्यवंशीयों का अधाकर जाता रहा तब उन लोगों ने एक प्रादेशिक राजधानी को अपनी राजधानी बनाया। प्रबल प्रतापी चन्द्रगुप्त का राज्य चार प्रादेशिक शासकों से शासित होता था। अवन्ति, स्वर्णगिरि, तोषालि और तक्षशिला में अशोक के चार सूबेदार रहा करते थे। इनमें अवन्ति के सूबेदार प्रायः

राजवंश के होते थे। स्वयं अशोक उज्जैन का सूबेदार रह चुका था। सम्भव है कि मगध का शासन डाँवाडोल देखकर मगध के आठवें नृपति सोमशर्मा के किसी भी राजकुमार ने, जो कि अवन्ति का प्रादेशिक शासक रहा हो, अवन्ति को प्रधान राजनगर बना लिया हो, क्योंकि उनकी एक ही पीढ़ी के बाद मगध के सिंहासन पर शुंगवंशीयों का अधिकार हो गया। यह घटना सम्भवतः 175 ई. पू. में हुई होगी, क्योंकि 183 में सोमशर्मा मगध का राजा हुआ। भट्टियों के ग्रन्थों में लिखा है कि मौर्य-कुल के मूलवंश से उत्पन्न हुये परमार नृपतिगण ही उस समय भारी के चक्रवर्ती राजा थे; और वे लोग कभी-कभी उज्जयिनी में ही अपनी राजधानी स्थापित करते थे।

टॉड ने अपने राजस्थान में लिखा है कि जिस चन्द्रगुप्त की महान प्रतिष्ठा का वर्णन भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा है, उस चन्द्रगुप्त का जन्म पँवार कुल की मौर्य शाखा में हुआ है। सम्भव है कि विक्रम के सौ या कुछ वर्ष पहले जब मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र से हटी, तब इन लोगों ने उज्जयिनी को प्रधानता दी और यही पर अपने एक प्रादेशिक शासक की जगह राजा की तरह रहने लगे।

राजस्थान में पँवार-कुल के मौर्य-नृपतिगण ने इतिहास में प्रसिद्ध बड़े-बड़े कार्य किये, किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से लेकर 5 वीं

शताब्दी तक प्रायः उन्हें गुप्त-वंशी तथा अपर जातियों से युद्ध करना पड़ा। भट्टियों ने लिखा है कि उस समय मौर्य-कुल के परमार लोग कभी उज्जयिनी को और कभी राजस्थान की धारा को अपनी राजधानी बनाते थे।

इसी दीर्घकालीनव्यापिनी अस्थिरता से मौर्य लोग जिस तरह अपनी प्रभुता बनाये रहे, उस तरह किसी वीर और परिश्रमी जाति के सिवा दूसरा नहीं कर सकता। इसी जाति के महेश्वर नामक राजा ने विक्रम के 600 वर्ष बाद कीर्तवीर्यार्जुन की प्राचीन महिष्मती को, जो नर्मदा के तट पर थी, फिर से बसाया और उसका नाम महेश्वर रखा, उन्हीं को पौत्र भोज हुआ। चित्रांग मौर्य ने भी थोड़े समय के अन्तर में चित्रकूट (चित्तौर) का पवित्र दुर्ग बनवाया, जो भारत से स्मारक चिह्नों में एक अपूर्व वस्तु है। गुप्तवंशियों ने जब अवन्ति मौर्य लोगों से ले ली, उसके बाद वीर मौर्यों के उद्योग से कई नगरियाँ बनाई गयी और कितनी ही उन लोगों ने दूसरे राजाओं से ली। अर्बुदगिरि के प्राचीन भू-भाग पर उन्हीं का अधिकार था। उस समय के राजस्थान के तब अच्छे-अच्छे नगर प्रायः मौर्य-राजगण के अधिकार में थे। विक्रमीय संवत् 780 तक मौर्यों की प्रतिष्ठा राजस्थान में थी और उस अन्तिम प्रतिष्ठा का तो भारतवासी कभी न भूलेंगे जो चित्तौर-पति

मौर्यनरनाथ मानसिंह ने खलीफा वलीद को राजस्थान से विताड़ित करके प्राप्त की थी।

मानमौर्य के बनवाये हुए मानसरोवर में एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि — "महेश्वर को भोज नाम का पुत्र हुआ था, जो धारा और मालव का अधीश्वर था, उसी से मानमौर्य हुए।" इतिहास में 784 संवत् में बाप्पारावल का चित्तौर पर अधिकार करना लिखा है, तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यही मानमौर्य वाप्पारावल के द्वारा प्रवंचित हुआ।

महाराज मान प्रसिद्ध वाप्पादित्य के मातुम थे। वाप्पादित्य ने नागेन्द्र से भागकर मानमौर्य के यहाँ आश्रय लिया, उनके यहाँ सामन्त रूप से रहने लगे। धीरे-धीरे उनका अधिकार सब सामन्तों से बढ़ा, तब सब सामन्त उनसे डाह करने लगे। किन्तु वाप्पादित्य की सहायता से मानमौर्य ने यवनों को फिर पराजित किया। पर उन्हीं वाप्पादित्य की सहायता से मानमौर्य ने यवनों को फिर भी पराजित किया। पर उन्हीं वाप्पादित्य की दोधारी तलवार मानमौर्य के लिए कालभुजंगिनी और मौर्य कुल के लिए तो मानो प्रलय समुद्र की एक बड़ी लहर हुई। मान वाप्पादित्य के हाथ से मारे गये और राजस्थान में मौर्य-कुल का अब कोई राजा न रहा। यह घटना विक्रमीय संवत् 784 की है।

कोटा के कण्वाश्रम के शिवमन्दिर में एक शिलालेख संवत् 795 का पाया गया है। उससे मालूम होता है कि आठवीं शताब्दी के अन्त तक राजपूताना और मालवा पर मौर्य-नृपतियों का अधिकार रहा।

प्रसिद्ध मालवेश भोज की परमार वंश का था, जो 1035 में हुआ। इस प्रकार परमार और मौर्य-कुल पिछले काल के विवरणों में एक में मिलाये जाते है। इस बात की शंका हो सकती है कि मौर्य कुल की मूल शाखा परमार का नाम प्राचीन बौद्धों की पुस्तकों में क्यों नहीं मिलता। परन्तु यह देखा जाता है कि जब एक विशाल जाति से एक छोटा-सा कुल अलग होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता बना लेता है, तब प्रायः वह अपनी प्राचीन संज्ञा को छोड़कर नवीन नाम को अधिक प्रधानता देता है। जैसे इक्ष्वाकुवंशी होने पर भी बुद्ध, शाक्य नाम से पुकारे गये और, जब शिलालेखों में मानमौर्य और परमार भोज के हम एक ही वंश में होने का प्रमाण पाते है तब कोई सन्देह नहीं रह जाता। हो सकता है, मौर्यों के बौद्धयुग के बाद जब इस शाखा का हिन्दू धर्म की ओर अधिक झुकाव हुआ तो परमार नाम फिर से लिया जाने लगा हो, क्योंकि मौर्य लोग बौद्ध-धर्म के कारण अधिक कुख्यात हो चुके थे। बौद्ध-विद्वेष के कारण अशोक के वंश को अक्षत्रिय और नीच कुल का प्रमाणित करने के लिए मध्यकाल में अधिक

उत्सुकता देखी जाती है, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि प्रसिद्ध परमार-कुल और मौर्य-वंश परस्पर सम्बद्ध है।

इस प्रकार अज्ञान पिप्पिली-कानन के एक कोने से निकलकर विक्रम-संवत् के 264 वर्ष पहले से 684 वर्ष बाद तक मौर्य लोगों ने पाटलिपुत्र, उज्जैन, धारा, महेश्वर, चित्तौर (चित्रकूट) और अर्बुदगिरि आदि में अलग-अलग अपनी राजधानियाँ स्थापित की और लगभग 1050 वर्ष तक वे लोग मौर्य-नरपति कहकर पुकार गये।

पिप्पिली-कानन के मौर्य

मौर्य-कुल का सबसे प्राचीन स्थान पिप्पिली-कानन था। चन्द्रगुप्त के आदि-पुरुष मौर्य इसी स्थान के अधिपति थे और यह राजवंश गौतम बुद्ध के समय में प्रतिष्ठित गिना जाता था, क्योंकि बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के शरीर-भस्म का एक भाग पाने के वालों में पिप्पिली-कानन के मौर्यों का उल्लेख किया है। पिप्पिली-कानन बस्ती जिले में नेपाल की सीमा पर है। यहाँ ढूह और स्तूप है, इसे अब पिपरहियाकोट कहते है। फाहियान ने स्तूप आदि

देखकर भ्रमवंश इसी को पहले कपिलवस्तु समझा था। मि. पीपी ने इसी स्थान को पहले खुदवाया और बुद्धदेव की धातु तथा और जो वस्तुएँ मिली, उन्हें गवर्नमेंट को अर्पित किया था तथा धातु का प्रधान अंश सरकार ने स्याम के राजा को दिया।

इसी पिप्पिली-कानन में मौर्य लोग अपना छोटा-सा राज्य स्वतन्त्रता से संचालित करते थे, और ये क्षत्रिय थे, जैसा कि महावंश के इस अवतरण से सिद्धि होता है — "मौरियानं खत्तियानं वंसजातं सिरीधर। चन्द्रगुत्तो सिपंज्जतं चाणक्को ब्राह्मणेततौ।" हिन्दू नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को प्रायः वृषल कहकर सम्बोधित कराया है, इसमें उस हिन्दू-काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुतः वृषल शब्द से तो उसका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है क्योंकि —

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्।

से यही मालूम होता है कि जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओं से उदासीन हो जाते थे, उन्हें धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व प्राप्त होता था। वस्तुतः वे जाति से क्षत्रिय थे। स्वयं अशोक मौर्य अपने को क्षत्रिय कहता था।

यह प्रवाद भी अधिकता से प्रचलित है कि मौर्य-वंश मुरा नाम की शूद्रा से चला है और चन्द्रगुप्त उसका पुत्र था। यह भी कहा

जाता है चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्रा मुरा से उत्पन्न हुआ नन्द का ही पुत्र था। किन्तु V. A. Smith लिखते है — "But it is perhaps more probable that the dynastics of Mouryas and Nandas were not connected by blood." तात्पर्य यह कि यह अधिक सम्भव है कि नन्दों और मौर्यों का कोई रक्त-सम्बन्ध न था।

Maxmuller भी लिखते है — "The statement of Wilford that Mourya meant in the Sanskrit the offspring of a barber and Sudra woman has never been proved."

मुरा शुद्रा तक ही नहीं रही, एक नापित भी आ गया। मौर्य शब्द की व्याख्या करने जाने कैसा भ्रम फैलाया गया है। मुरा से मौर और मौरेय बन सकता है न कि मौर्य। कुछ लोगों का अनुमान है कि शुद्ध शब्द मौरिय है, उससे संस्कृत शब्द मौर्य बना है; परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि अशोक के कुछ ही समय बाद के पतंजलि ने स्पष्ट मौर्य शब्द का उल्लेख किया है — "मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाप्रकल्पिताः" (भाष्य 5, 3-99)। इसलिये मौर्य शब्द अपने शुद्ध रूप में संस्कृत का है न कि कहीं से लेकर संस्कार किया गया है। तब तो यह स्पष्ट है कि मौर्य शब्द अपनी संस्कृत-व्युत्पत्ति के द्वारा मुरा का पुत्र वाला अर्थ नहीं प्रकट करता। यह वास्तव में कपोल-कल्पना है और यह भ्रम यूनानी लेखकों से प्रचारित किया गया है; जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। अर्थ-कथा में मौर्य शब्द की एक और व्याख्या

मिलती है। शाक्य लोगों में आपस में बुद्ध के जीवन-काल में ही एक झगड़ा हुआ और कुछ लोग हिमवान् पिप्पिली-कानन प्रदेश में अपना नगर बसाकर रहने लगे। उस नगर के सुन्दर घरों पर क्रौश्च और मोर पक्षी के चित्र अंकित थे, इसलिये वहाँ के शाक्य लोग मोरिय कहलाये। कुछ सिक्के बिहार में ऐसे भी मिले है, जिनपर मयूर का चिह्न अंकित है। इससे अनुमान किया जाता है कि वे मौर्य-काल के सिक्के हैं। किन्तु इससे भी उनके क्षत्रिय होने का ही प्रमाण मिलता है।

हिन्दी 'मुद्राराक्षस' की भूमिका में भारतेन्दुजी लिखते है कि — "महानन्द, जो नन्दवंश का था, उससे नौ पुत्र उत्पन्न हुये। बड़ी रानी के आठ और मुरा नाम्नी नापित-कन्या से नवाँ चन्द्रगुप्त। महानन्द से और उसके मन्त्री शकटार से वैमनस्य हो गया, इस कारण मन्त्री ने चाणक्य द्वारा महानन्द को मरवा डाला और चन्द्रगुप्त को चाणक्य ने राज्य पर बिठाया, जिसकी कथा 'मुद्राराक्षस' में प्रसिद्ध है।" – किन्तु यह भूमिका जिसके आधार पर लिखी हुई है, वह मूल संस्कृत मुद्राराक्षस के टीकाकार का लिखा हुआ उपोद्घात है। भारतेन्दुजी ने उसे भी अविकल ठीक न मानकर 'कथा-सरित्सागर' के आधार पर उसका बहुत-सा संशोधन किया है। कहीं-कहीं उन्होंने कई कथाओं का उलट-भेर भी कर दिया है। जैसे हिरण्यगुप्त के रहस्य के बतलाने पर राजा के फिर

शकटार से प्रसन्न होने की जगह विचक्षणा के उत्तर से प्रसन्न होकर शकटार को छोड़ देना तथा चाणक्य के द्वारा अभिचार से मारे जाने की जगह महानन्द का विचक्षणा के दिये हुए विष से मारा जाना इत्यादि।

ढुण्ढि लिखते है कि — "कलि के आदि में नन्द नाम का एक राजवंश था उसमें सर्वार्थसिद्धि मुख्य था। उसकी दो रानियाँ थी — एक सुनन्दा, दूसरी वृषला मुरा। सुनन्दा को एक मांसपिण्ड और मुरा को मौर्य उत्पन्न हुआ। मौर्य से नौ पुत्र उत्पन्न हुये। मन्त्री राक्षस ने उस मांसपिण्ड को जल में नौ टुकड़े करके रक्खा, जिससे नौ पुत्र हुये। सर्वार्थसिद्धि अपने उन नौ लड़कों को राज्य देकर तपस्या करने चला गया। उन नौ नन्दों ने मौर्य और उसे लड़के को मार डाला। केवल एक चन्द्रगुप्त प्राण बचाकर भागा; जो चाणक्य की सहायता से नन्दों का नाश करके, मगध का राजा बना।"

कथा-सरित्सागर के कथापीठ लम्बक में चन्द्रगुप्त के विषय में एक विचित्र कथा है। उसमें लिखा है कि — "नन्द के मर जाने पर इन्द्रदत्त (जो कि उसके पास गुरुदक्षिणा के लिए द्रव्य माँगने गया था) ने अपनी आत्मा को योगबल से राजा के शरीर में डाला, और आप राज्य करने लगा। जब उसने अपने साथी वररुचि को एक करोड़ रुपया देने के लिए कहा, तब मन्त्री शकटार ने,

जिसको राजा के मरकर फिर से जी उठने पर पहले ही से शंका थी, विरोध किया। तब उसे योगनन्द राजा ने चिढ़कर कैद कर लिया और वररुचि को अपना मन्त्री बनाया। योगनन्द बहुत विलासी हुआ, उसने सब राज्य-भार मन्त्री पर छोड़ दिया। उसकी ऐसी दशा देखकर वररुचि ने शकटार को छुड़ाया और दोनों मिलकर राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन योगनन्द की रानी के चित्र में उसकी जाँघ पर एक तिल बना देने से राजा ने वररुचि पर शंका करके शकटार को उसके मार डालने की आज्ञा दी। पर शकटार ने अपने उपकारी को छिपा रक्खा।

"योगनन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त ने जंगल में अपने मित्र रीछ से विश्वासघात किया। इससे वह पागल और गूँगा हो गया। राजा ने कहा — 'यदि वररुचि होता, तो इसका कुछ उपाय करता।' अनुकूल समय देखकर शकटार को प्रकट किया। वररुचि ने हिरण्यगुप्त का सब रहस्य सुनाया और उसे निरोग किया। इस पर योगनन्द ने पूछा कि तुम्हें यह बात कैसे ज्ञात हुई? वररुचि ने उत्तर दिया — 'योगबल-से; जैसे रानी के जाँघ का तिल।' राजा उस पर बहुत प्रसन्न हुआ; पर वह फिर न ठहरा और जंगल में चला गया। शकटार ने समय ठीक देखकर चाणक्य द्वारा योगनन्द को मरवा डाला और चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाया।"

ढुण्ढि ने भी नाटक में वृषल और मौर्य शब्द का प्रयोग देखकर चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र लिखा है; पर पुराणों में कहीं भी चन्द्रगुप्त को वृषल या शूद्र नहीं लिखा है। पुराणों में जो शूद्र शब्द का प्रयोग हुआ है, वह शूद्राजात महापद्म के वंश के लिए है, यह नीचे लिखे हुए विष्णु-पुराण के उद्धृत अंश पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाएगा —

ततो महानन्दी इत्येते शैशुनाकादशभूमिपालास्त्रीणिवर्ष शतानि द्विषष्ट्यधिकानि भविष्यन्ति॥3॥ महानन्दि सुतः शूद्रागर्भोद्भवोऽति लुब्धो महापद्मो नन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविता॥4॥ ततः प्रभृति शूद्राभूमिपाला भविष्यन्ति सचैकच्छत्रामनुल्लंधित शासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यिन्ति॥5॥ तस्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारः तस्य च महापद्मस्यानुपृथिवीं भोक्ष्यन्ति महापद्मः तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतमयनी पतयो भविष्यन्ति ततश्च नवचैतान् नंदान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति॥6॥ तेषामभावे मौर्य्याश्च पृथिवींभोक्ष्यन्ति कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्योभिषेक्ष्यति॥7॥ (चतुर्थ अंश अध्याय 24)

इससे यह मालूम होता है कि महानन्द के पुत्र महापद्म ने जो शूद्राजात था — अपने पिता के बाद राज्य किया और उसके बाद सुमाल्य आदि आठ लड़कों ने राज्य किया और

इन सबने मिलकर महानन्द के बाद 100 वर्ष तक राज्य किया। इनके बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला।

अब यह देखना चाहिए कि चन्द्रगुप्त को जो लोग महानन्द का पुत्र बताते है उन्हें कितना भ्रम है; क्योंकि उन लोगों ने लिखा है कि — "महानन्द को मारकर चन्द्रगुप्त ने राज्य किया।" पर ऊपर लिखी हुई वंशावली से यह प्रकट हो जाता है कि महानन्द के बाद 100 वर्ष तक महापद्म और उसके लड़कों ने राज्य किया। तब चन्द्रगुप्त की कितनी आयु मानी जाय कि महानन्द के बाद महापद्मादि के 100 वर्ष राज्य कर लेने पर भी उसने 24 वर्ष शासन किया?

यह एक विलक्षण बात होगी यदि 'नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्' के अनुसार शूद्राजात महापद्म और उसके लड़के तो क्षत्रिय मान लिये जायँ और — 'अतः परं शूद्राः पृथिवी भोक्ष्यन्ति' के अनुसार शूद्रता चन्द्रगुप्त से आरम्भ की जाय। महानन्द को जब शूद्रा से एक ही लड़का महापद्म था, तब दूसरा चन्द्रगुप्त कहाँ से आया? पुराणों में चन्द्रगुप्त को कही भी महानन्द का पुत्र नहीं लिखा है। यदि सचमुच अन्तिम नन्द का ही नाम ग्रीकों ने Xandramus रक्खा था, तो अवश्य ही हम कहेंगे कि विष्ण-पुराण की महापद्म वाली कथा ग्रीकों से ठीक मिल जाती है।

यह अनुमान होता है कि महापद्म वाली कथा, पीछे से बौद्ध-द्वेषी लोगों के द्वारा चन्द्रगुप्त की कथा में जोड़ी गयी है, क्योंकि उसी का पौत्र अशोक बौद्धधर्म का प्रधान प्रचारक था।

ढुण्ढि के उपोद्घात से एक बात का और पता लगता है कि चन्द्रगुप्त महानन्द का पुत्र नहीं, किन्तु मौर्य सेनापति का पुत्र था। महापद्मादि शूद्रागर्भोद्भूत होने पर भी नन्दवंशी कहाये, तब चन्द्रगुप्त मुरा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण नन्दवंशी होने से क्यों वंचित किया जाता है। इसलिए मानना पड़ेगा कि नन्दवंश और मौर्यवंश भिन्न है। मौर्यवंश अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, जिसका उल्लेख पुराण, वृहत्कथा, कामन्दकीय इत्यादि में मिलता है और पिछले काल के चित्तौर आदि शिलालेखों में भी इसका उल्लेख है। इसी मौर्यवंश में चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ।

चन्द्रगुप्त का बाल्य-जीवन

अर्थकथा, स्थविरावली, कथासरित्सागर और ढुण्ढि के आधार पर चन्द्रगुप्त के जीवन की प्राथमिक घटनाओं का पता चलता है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र, शोण और गंगा से संगम पर थी। राजमन्दिर, दुर्ग, लम्बी-चौड़ी पण्य-वीथिका, प्रशस्त राजमार्ग इत्यादि रहे, राजधानी के उपयोगी किसी वस्तु का अभाव नह था। खाँई, सेना, रणतरी इत्यादि से वह सुरक्षित भी थी। उस समय महापद्म का वहाँ राज्य था।

पुराण में वर्णित अखिल क्षत्रिय-निधनकारी महापद्म नन्द, या कालाशोक के लड़कों में सबसे बड़ा पुत्र एक नीच स्त्री से उत्पन्न हुआ था, जो मगध छोड़ कर किसी अन्य प्रदेश में रहता था। उस समय किसी डाकू से उसकी भेंट हो गयी और वह अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए उन्हीं डाकुओं के दल में मिल गया। जब उसका सरदार एक लड़ाई से मारा गया, तो वहीं राजकुमार उन सबों का नेता बन गया और उसने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। उग्रसेन के नाम से उसने थोड़े दिनों के लिए पाटलिपुत्र का अधिकार छीन लिया, इसके बाद उसके आठ भाइयों ने कई वर्ष तक राज्य किया।

नवें नन्द का नाम धननन्द था। उसने गंगा के घाट बनवाये और उसके प्रवाह को कुछ दिन के लिये हटाकर उसी जगर अपना भारी खजाना गाड़ दिया। उसे लोग धननन्द कहने लगे। धननन्द के अन्नक्षेत्र में एक दिन तक्षशिला प्रवासी चाणक्य ब्राह्मण आया और सबसे उच्च आसन पर बैठ गया, जिसे देखकर धननन्द चिढ़ गया और उसे अपमानित करके निकाल दिया। चाणक्य ने धननन्द का नाश करने की प्रतिज्ञा की।

कहते हैं कि जब नन्द बहुत विलासी हुआ, तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ गयी — प्राचीन मन्त्री शकटार के बन्दी करके उसने वररुचि नामक ब्राह्मण को अपना मन्त्री बनाया। मगध-निवासी

उपवर्ष के दो शिष्य थे, जिनसे से पाणिनि तक्षशिला में विद्याभ्यास करने गया था, किन्तु वररुचि, जिसकी राक्षस से मैत्री थी, नन्द का मन्त्री बना। शकटार जब बन्दी हुआ तब वररुचि ने उसे छुडाया, और एक दिन वही दशा मन्त्री वररुचि की भी हुई। इनका नाम कात्यायन भी था। बौद्ध लोग इन्हें 'मग्धदेशीय ब्रह्मबन्धु' लिखते है और पाणिनि के सूत्रों के यही वार्तिककार कात्यायन है। (कितने लोगों का मत है कि कात्यायन और वररुचि भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे)

शकटार ने अपने वैर का समय पाया, और वह विष-प्रयोग द्वारा तथा एक दूसरे को लड़ाकर नन्दों में आन्तरिक द्वेष फैलाकर एक के बाद दूसरे को राजा बनाने लगा। धीरे-धीरे नन्दवंश का नाश हुआ, और केवल अन्तिम नन्द बचा। उसने सावधानी से अपना राज्य सँभाला और वररुचि को फिर मन्त्री बनाया। शकटार ने प्रसिद्ध चाणक्य को, जो कि नीति-शास्त्र विशारद होकर गार्हस्थ्व जीवन में प्रवेश के लिये राजधानी में आया था, नन्द का विरोधी बना दिया। वह क्रुद्ध ब्राह्मण अपनी प्रतिहिंसा पूरी करने के लिए सहायक ढूँढने लगा।

पाटलिपुत्र के नगर-प्रान्त में पिप्पिली-कानन के मौर्य-सेनापति का एक विभवहीन गृह था। महापद्म नन्द के और उनके पुत्रों के अत्याचार से मगध काँप रहा था। मौर्य सेनापति के बन्दी हो

जाने के कारण उसके कुटुम्ब का जीवन किसी प्रकार कष्ट से बीत रहा था।

एक बालक उसी घर के सामने खेल रहा था। कई लड़के उसकी प्रजा बने थे और वह था उनका राजा। उन्हीं लड़कों में से वह किसी को घोड़ा और किसी को हाथी बनाकर चढ़ता और दण्ड तथा पुरस्कार आदि देने का राजकीय अभिनय कर रहा था। उसी ओर से चाणक्य जा रहे थे। उन्होंने उस बालक की राज-क्रीड़ा बड़े ध्यान से देखी। उसके मन में कुतूहल हुआ और कुछ विनोद भी। उन्होंने ठीक-ठीक ब्राह्मण की तरह उस बालक राजा के पास जाकर याचना की — "राजन्, मुझे दूध पीने के लिए गऊ चाहिये।" बालक ने राजोचित उदारता का अभिनय करते हुए सामने चरती हुई गौओं को दिखलाकर कहा — "इनमें से जितनी इच्छा हो, तुम ले लो।"

ब्राह्मण ने हँसकर कहा — "राजन्, ये जिनकी गायें हैं, वह मारने लगे तो?"

बालक ने सगर्व छाती फुलाकर कहा — "किसका साहस है जो मेरे शासन को न मानो? जब मैं राजा हूँ, तब मेरी आज्ञा अवश्य मानी जायगी।"

ब्राह्मण ने आश्चर्य पूर्वक बालक से पूछा — "राजन् आपका शुभ नाम क्या है?"

तब तक बालक की माँ वहाँ आ गयी और ब्राह्मण से हाथ जोड़कर बोली — "महाराज, यह बड़ा धृष्ट लड़का है, इसके किसी अपराध पर ध्यान न दीजियेगा।"

चाणक्य ने कहा — "कोई चिन्ता नहीं, यह बड़ा होनहार बालक है। इसकी मानसिक उन्नति के लिए तुम इसे किसी राजकुल में भेजा करो।"

उसकी माँ रोने लगी। बोली — "हम लोगों पर राजकोप है, और हमारे पति राजा की आज्ञा से बन्दी किये गये है।"

ब्राह्मण ने कहा — "बालक का कुछ अनिष्ठ न होगा, तुम इसे अवश्य राजकुल ले जाओ!"

इतना कह, वह बालक को आशीर्वाद देकर चाणक्य चले गये।

बालक की माँ डरते-डरते एक दिन, अपने चंचल और साहसी लड़के को लेकर राजसभा में पहुँची।

नन्द एक निष्ठुर, मूर्ख और त्रासजनक राजा था। उसकी राजसभा बड़े-बड़े चापलूस मूर्खों से भरी रहती थी।

पहले के राजा लोग एक दूसरे के बल, बुद्धि और वैभव की परीक्षा लिया करते थे औ इसके लिए वे तरह-तरह के उपाय करते थे। जब बालक माँ के साथ राजसभा में पहुँचा, उसी समय किसी राजा के यहाँ से नन्द की राजसभा की बुद्धि का अनुमान

करने के लिए, लोहे के बन्द पिंजड़े में मोम का सिंह बनाकर भेजा गया था और उसके साथ यह कहलाया गया कि पिंजड़े को खोले बिना ही सिंह को निकाल लीजिए।

सारी राजसभा इस पर विचार करने लगी, पर उन चाटुकार मूर्ख-सभासदों को कोई उपाय न सूझा। अपनी माता के साथ वह बालक यह लीला देख रहा था। वह भला कब मानने वाला था? उसने कहा — "मैं निकल दूँगा।"

सब लोग हँस पड़े। बालक की ढिठाई भी कम न थी। राजा को भी आश्चर्य हुआ।

नन्द ने कहा — "यह कौन है?"

म◌ालूम हुआ कि राजबन्दी मौर्य-सेनापति का यह लड़का है। फिर क्या, नन्द की मूर्खता की अग्नि में एक और आहुति पड़ी। क्रोधित होकर वह बोला — "यदि तू इसे निकाल न सका, तो तू भी इस पिंजड़े में बन्द कर दिया जायगा।"

उसकी माता ने देखा कि यह भी कहाँ से विपत्ति आयी; परन्तु बालक निर्भीकता से आगे बढ़ा और पिंजड़े के पास जाकर उसको भली भाँति देखा। फिर लोहे की शलाकाओं को गरम करके उस सिंह को गलाकर पिंजड़े को खाली कर दिया।

सब लोग चकित रह गये।

नन्द ने कहा — "तुम्हारा नाम क्या है?"

बालक ने कहा — "चन्द्रगुप्त।"

ऊपर के विवरण से पता चलता है चन्द्रगुप्त किशोरावस्था में नन्दों की सभा में रहता था। वहाँ उसने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया।

पिप्पिली-कानन के मौर्य लोग नन्दों के क्षत्रिय-नाशकारी शासन से पीड़ित थे, प्रायः सब दबाये जा चुके थे। उस समय ये क्षत्रिय राजकुल नन्दों की प्रधान शक्ति से आक्रान्त थे। मौर्य भी नन्दों की विशाल वाहिनी में सेनापति का काम करते थे। सम्भवतः वे किसी कारण से राजकोप में पड़े थे और उनका पुत्र चन्द्रगुप्त नन्दों की राजसभा से अपना समय बिताता था। उसके हृदय में नन्दों के प्रति घृणा का होना स्वाभाविक था। जस्टिनस ने लिखा है —

When by his insolent behaviour he has offended Nandas, and was ordered by king to be put to death, he ought safety by a spedy flight (Justinus: X.V)

चन्द्रगुप्त ने किसी वाद-विवाद या अनबन के कारण नन्द को क्रुद्ध कर दिया और इस बात में बौद्ध लोगों का विवरण, ढुण्ढि का उपोद्घात तथा ग्रीक इतिहास लेखक सभी सहमत हैं कि उसे राज-क्रोध के कारण पाटलिपुत्र छोड़ना पड़ा।

शकटार और वररुचि के सम्बन्ध की कथाएँ जो कथा-सरित्सागर में मिलती है, इस बात का संकेत करती है कि महापद्म के पुत्र बड़े उच्छृंखल और क्रूर शासक थे। गुप्त-षड्यन्त्रों से मगध पीड़ित था। राजकुल में भी नित्य नये उपद्रव, विरोध और द्वन्द्व चला करते थे, उन्हीं कारणों से चन्द्रगुप्त को भी कोई स्वतंत्र परिस्थिति उसे भावी नियति की ओर अग्रसर कर रही थी। चाणक्य की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त ने सीमा प्रान्त की ओर प्रस्थान किया।

महावंश के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के 140 वर्ष बाद अन्तिम नन्द को राज्य मिला, जिसने 21 वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला। यदि बुद्ध का निर्वाण 543 ई. पूर्व में मान लिया जाय, तो उसमें से नन्द राज्य तक का समय 162 वर्ष घटा देने से 381 ई. पूर्व में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि मानी जायगी। पर यह सर्वथा भ्रमात्मक है, क्योंकि ग्रीक इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि "तक्षशिला में जब 326 ई. पूर्व में सिकन्दर से चन्द्रगुप्त ने भेंट की थी, तब वह युवक राजकुमार था। अस्तु, यदि हम उसकी अवस्था उस समय 20 वर्ष के लगभग मान लें, जो कि असंगत न होगी, तो उसका जन्म 346 ई. पूर्व के लगभग होगा। मगध के राजविद्रोहकाल में वह 10 या 20 वर्ष का रहा होगा।"

मगध से चन्द्रगुप्त के निकलने की तिथि ई. पूर्व 327 वा 329 निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि 326 में तो वह सिकन्दर के तक्षशिला में मिला ही था। उसके प्रवास की कथा बड़ी रोचक है। सिकन्दर जिस समय भारतवर्ष में पदार्पण कर रहा था और भारतीय जनता के सर्वनाश का उपक्रम तक्षशिलाधीश्वर ने करना विचार लिया था — वह समय भारत के इतिहास में स्मरणीय है, तक्षशिला नगरी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। यहाँ का विश्वविद्यालय पाणिनि और जीवक ऐसे छात्रों का शिक्षक हो चुका था — वही तक्षशिला अपनी स्वतन्त्रता पद-दलित कराने की आकांक्षा में आकुल थी और उसका उपक्रम भी हो चुका था। कूटनीति-चतुर सिकन्दर ने, जैसा कि ग्रीक लोग कहते हैं, 1,00 टेलेंट (प्रायः 38,70,000 रुपया) देकर लोलुप देशद्रोही तक्षशिलाधीश को अपना मित्र बनाया। उसने प्रसन्न मन से अपनी कायरता का मार्ग खोल दिया और बिना बाधा सिकन्दर को भारत में आने दिया। ग्रीक ग्रन्थकारों के द्वारा हम यह पता पाते है कि (ई. पूर्व 326 में) उसी समय चन्द्रगुप्त शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट मार्ग में झेलते-झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुँचा था। तक्षशिला के राजा ने भी महाराज पुरु से अपना बदला लेने के लिए भारत का द्वार मुक्त कर दिया था। उन्हीं ग्रीक ग्रन्थकारों के द्वारा यह पता चलता है

कि चन्द्रगुप्त ने एक सप्ताह भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बनाए रखा और वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला आया। जस्टिनस लिखता है कि उसने अपनी असहनशीलता के कारण सिकन्दर को असंतुष्ट किया। वह सिकन्दर का पूरा विरोधी बन गया —

For having offended Allexander by his impertinent language he was ordered to be put to death, and escaped only by fight.
– Justinus (In History of A. S. Literature)

सिकन्दर और चन्द्रगुप्त पंजाब में

सिकन्दर ने तक्षशिलाधीश की सहायता से जेहलम को पार करके पोरस के साथ युद्ध किया। उस युद्ध में क्षत्रिय महाराज (पर्वतेश्वर) पुरु किस तरह लड़े और वह कैसा भयंकर युद्ध हुआ, यह केवल इससे ज्ञात होता है कि स्वयं जगद्विजयी सिकन्दर को कहना पड़ा — "आज हमको अपनी बराबरी की भीम-पराक्रम शत्रु मिला और यूनानियों को तुल्य-बल से आज युद्ध करना पड़ा। इतना ही नहीं, सिकन्दर का प्रसिद्ध अश्व 'बूफाफेलस' इसी युद्ध मे हत हुआ और सिकन्दर स्वयं भी आहत हुआ।"
यह अनिश्चित है कि सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने को उत्तेजित करने के लिए ही चन्द्रगुप्त उसके पास गया था, अथवा

ग्रीक-युद्ध की शिक्षापद्धति सीखने के लिए वहाँ गया था। उसने सिकन्दर से तक्षशिला में अवश्य भेंट की। यद्यपि उसका कोई कार्य वहाँ नहीं हुआ, पर उसे ग्रीकवाहिनी की रणचर्या अवश्य ज्ञात हुई; जिससे कि उसने पार्वत्य-सेना से मगध-राज्य का ध्वंस किया। क्रमशः वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ सिकन्दर विपाशा-तट तक आया और फिर मगध राज्य का प्रचण्ड प्रताप सुनकर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और 325 ई. पूर्व में फिलिप नामक पुरुष को क्षत्रप बनाकर आप काबुल की ओर चला गया। दो वर्ष के बीच में चन्द्रगुप्त उसी प्रान्त में घूमता रहा और जब वह सिकन्दर का विरोधी बन गया था, तो उसी ने पार्वत्य जातियों को सिकन्दर से लड़ने के लिए उत्तेजित किया और जिनके कारण सिकन्दर को इरावती से पाटण तक पहुँचने में दस मास समय लग गया और इस बीच में इन आक्रमणकारियों से सिकन्दर की बहुत क्षति हुई। इस मार्ग में सिकन्दर को मालव-जाति से युद्ध करने में बड़ी हानि उठानी पड़ी। एक दुर्ग के युद्ध में तो उसे ऐसा अस्त्राघात मिला कि यह महीनों तक कड़ी बीमारी झेलता रहा। जल-मार्ग से जाने वाले सिपाहियों को निश्चय हो गया था कि सिकन्दर मर गया। किसी-किसी का मत है कि सिकन्दर की मृत्यु का कारण यही घाव था।

सिकन्दर भारतवर्ष लूटने आया था, पर जाते समय उसकी यह अवस्था हुई कि अर्थाभाव से अपने सेक्रेटरी यूडेमिस से उसने कुछ द्रव्य माँगा और न पाने पर उसका कैम्प फुँकवा दिया। सिकन्दर के भारतवर्ष में रहने के ही समय में चन्द्रगुप्त द्वारा प्रचारित सिकन्दर-द्रोह पूर्ण रूप से फैल गया था और इसी समय कुछ पार्वत्य राजा चन्द्रगुप्त के विशेष अनुगत हो गये थे। उनको रण-चतुर बनाकर चन्द्रगुप्त ने एक अच्छी शिक्षित सेना प्रस्तुत कर ली थी और जिसकी परीक्षा प्रथमतः ग्रीक सैनिकों ने ली। इसी गड़बड़ में फिलिप मारा गया और उस प्रदेश के लोग पूर्णरूप से स्वतन्त्र बन गये। चन्द्रगुप्त को पर्वतीय सैनिकों से बड़ा सहायता मिली और वे उसके मित्र बन गये। विदेशी शत्रुओं के साथ भारतवासियों का युद्ध देखकर चन्द्रगुप्त एक रण-चतुर नेता बन गया। धीरे-धीरे उसने सीमावासी पर्वतीय लोगों को एक में मिला लिया। चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर विजय के हिस्सेदारी हुए और सम्मिलित शक्ति से मगध-राज्य विजय करने के लिए चल पड़े। अब यह देखना चाहिये कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सहायक सेना में कौन-कौन देश की सेनायें थीं और वे कब पंजाब से चले।

बहुत-से विद्वानों का मत है कि जो सेना चन्द्रगुप्त के साथ थी, वह ग्रीकों की थी। यह बात बिल्कुल असंगत नहीं प्रतीत होती। जब

फिलिप तक्षशिला के समीप मारा गया, तो सम्भव है कि बिना सरदार की सेना में से किसी प्रकार पर्वतेश्वर ने कुछ ग्रीकों की सेना को अपनी ओर मिला लिया हो जो कि केवल धन के लालच से ग्रीस छोड़कर भारतभूमि तक आये थे। उस सम्मानित आक्रमणकारी सेना में कुछ ग्रीकों का होना असम्भव नहीं है, क्योंकि मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढि लिखते है —

नन्दराज्यार्धपणनात्समुत्थाप्य महाबलम्।
पर्वतेन्द्रो म्लेच्छबलं न्यरुन्धत्कुसुमंपुरम्॥

तैलंग महाशय लिखते है — "The Yavanas referred in our play Mudrarakakshasa were probably some of frontier tribes." – कुछ तो उस सम्मिलित सेना के नीचे लिखे हुए नाम है, जिन्हें कि महाशय तैलंग ने लिखा है —

मुद्राराक्षस —	तैलंग —
शक	सीदियन
यवन (ग्रीक?)	अफगान
किरात	सेवेज ट्राइव
पारसीक	परशियन

वाल्हीक बैक्ट्रियन

इस सूची को देखने से ज्ञात होता है कि ये सब जातियाँ प्रायः भारत की उत्तर पश्चिम सीमा में स्थित है। इस सेना में उपर्युक्त जातियाँ प्रायः सम्मानित रही हों तो असम्भव नहीं है। चन्द्रगुप्त ने असभ्य सेनाओं की ग्रीक-प्रणाली से शिक्षित करके उन्हें अपने कार्य-योग्य बनाया। मेरा अनुमान है कि यह घटना 323 ई. पूर्व में हुई, क्योंकि वही समय सिकन्दर के मरने का है। उसी समय यूडेमिस नामक ग्रीक कर्मचारी और तक्षशिलाधीश के कुचक्र से फिलिप के द्वारा पुरु (पर्वतेश्वर) की हत्या हुई थी। अस्तु, पंजाब प्रान्त एक प्रकार से अराजक हो गया और 322 ई. पूर्व में इन सबों को स्वतंत्र बनाने हुए 321 ई. पूर्व में मगध-राजधानी पाटलिपुत्र को चन्द्रगुप्त ने जा घेरा।

मगध में चन्द्रगुप्त

अपमानित चन्द्रगुप्त बदला लेने के लिए खड़ा था; मगध राज्य दी दशा बड़ी शोचनीय थी। नन्द आन्तरिक विग्रह के कारण जर्जरित हो गया था, चाणक्य-चालित म्लेच्छ सेना कुसुमपुर को

चारों ओर से घेरे थी। चन्द्रगुप्त अपनी शिक्षित सेना को बराबर उत्साहित करता हुआ चतुर रण-सेनापति का कार्य करने लगा। पन्द्रह दिन तक कुसुमपुर को बराबर घेरे रहने के कारण और बार-बार खण्ड-युद्ध में विजयी होने के कारण चन्द्रगुप्त एक प्रकार से मगधविजयी हो गया। नन्द ने, जो कि पूर्वकृत पापों से भीत और आतुर हो गया था, नगर से निकलकर चले जाने की आज्ञा माँगी। चन्द्रगुप्त इस बात से सहमत हो गया कि धननन्द अपने साथ जो कुछ ले जा सके ले जाय, पर चाणक्य की एक चाल यह भी थी, क्योंकि उसे मगध की प्रजा पर शासन करना था। इसलिए यदि धननन्द मारा जाता तो प्रजा के और विद्रोह की सम्भावना थी। इसमें स्थविरावली तथा ढुण्ढि के विवरण में मतभेद है, क्योंकि स्थविरावलीकार लिखते है कि चाणक्य ने धननन्द को चले जाने की आज्ञा दी, पर ढुण्ढि कहते है कि चाणक्य के द्वारा शस्त्र से धननन्द निहत हुआ। मुद्राराक्षस से जाना जाता है कि वह विष-प्रयोग से मारा गया। पर यह बात पहले नन्दों के लिए सम्भव प्रतीत होती है। चाणक्य की नीति की ओर दृष्टि डालने से यही ज्ञात होता है कि जानबूझकर नन्द को अवसर दिया गया, और इसके बाद किसी गुप्त प्रकार से उसकी हत्या हुई।

कई लोगों का मत है कि पर्वतेश्वर की हत्या बिना अपराध चाणक्य ने की! पर जहाँ तक सम्भव है, पर्वतेश्वर को कात्यायन के साथ मिला हुआ जान कर ही चाणक्य के द्वारा विषकन्या पर्वतेश्वर को मिली और यही मत भारतेन्दु जी का भी है। मुद्राराक्षस को देखने से यही ज्ञात भी होता है कि राक्षस पीछे पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु से मिल गया था। सम्भव है कि उसका पिता भी वररुचि की ओर पहले मिल गया हो और इसी बात को जान लेने पर चन्द्रगुप्त की हानि की सम्भावना देखकर किसी उपाय से पर्वतेश्वर की हत्या हुई हो।

तात्कालिक स्फुट विवरणों से ज्ञात होता है कि मगध की प्रजा और समीतवर्ती जातियाँ चन्द्रगुप्त के प्रतिपक्ष में खड़ी हुई। उस लड़ाई में भी अपनी कूटनीति द्वारा चाणक्य ने आपस में भेद करा दिया। प्रबल उत्साह के कारण, अविराम परिश्रम और अध्यवसाय से, अपने बाहुबल और चाणक्यय के बुद्धिबल से, सामन्य भू-स्वामी चन्द्रगुप्त, मगध साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा।

बौद्धों की पहली सभा कालाशोक या महापद्म के समय हुई। बुद्ध के 90 वर्ष बाद वह गद्दी पर बैठा और इसके राज्य के दस वर्ष बाद सभा हुई; उसके बाद उसने 18 वर्ष राज्य किया। यह 118 वर्ष का समय, बुद्ध के निर्वाण से कालाशोक के राजस्व-काल तक है। कालाशोक का पुत्र 22 वर्ष तक राज्य करता रहा, उसके बाद

22 वर्ष नन्द; उसके बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला (118 + 22 + 22 = 162) युद्धनिर्वाण के 162 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला। बुद्ध का समय यदि 542 ई. पूर्व माना जाय, तब तो 534 – 163 = 381 ई. पू. में ही चन्द्रगुप्त का राज्यरोहण निर्धारित होता है। दूसरा उक्त मैक्समूलर आदि विद्वानों का है कि बुद्ध-निर्वाण 477 ई. पू. मे हुआ! इस प्रकार उक्त राज्यारोहण का समय 315 ई. पूर्व निकलता है। इससे ग्रीक समय का मिलान करने से तो एक तो 40 वर्ष बढ़ जाता है, दूसरा 5 या 6 वर्ष घट जाता है।

महावीर स्वामी के निर्वाण से 155 वर्ष बाद, चन्द्रगुप्त जैनियों के मत से राज्य पर बैठा, ऐसा मालूम होता है। आर्य-विद्या-सुधाकर के अनुसार 470 विक्रम पू. में महावीर स्वामी होना पाया जाता है। इससे यदि 520 ई. पूर्व में महावीर स्वामी का निर्वाण मान ले, तो उसमें से 155 घटा देने से 365 ई. पूर्व में चन्द्रगुप्त राज्यरोहण का समय होता है, जो सर्वथा असम्भव है। यह भी बहुत भ्रमपूर्ण है।

पण्डित रामचन्द्र दी शुक्ल ने मेगस्थनीज की भूमिका में लिखा है कि 316 ई. पूर्व में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा और 292 ई. पूर्व तक उसने 24 राज्य किया।

पण्डितजी ने जो पाश्चात्य लेखकों के आधार पर चन्द्रगुप्त का राज्यरोहण-समय लिखा है, वह भी भ्रम से रहित नहीं है, क्योंकि स्ट्रावो के मतानुसार 296 से Deimachos का मिशन बिन्दुसार के

समय में आया था, यदि 292 तक चन्द्रगुप्त का राज्य-काल मान लिया जाय, तो टिकामस, चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल में ही आया था, ऐसा प्रतीत होगा, क्योंकि शुक्लजी के मत में 316 ई. पूर्व से 292 ई. पूर्व तक चन्द्रगुप्त का राजत्व-काल है; डिमाकस के 'मिशन' का समय 296 ई. पूर्व जिसके अन्तर्गत हो जाता है। यदि हम चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण 321 ई. पूर्व में माने, तो उसमें से उसका राजत्व-काल 24 वर्ष घटा देने से 297 ई. पूर्व तक उसका राजत्व-काल और 286 ई. पूर्व में बिन्दुसार का राज्यारोहण और डिमाकस के 'मिशन' का समय ठीक हो जाता है। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि 25 वर्ष की अवस्था में चन्द्रगुप्त गद्दी में बैठा यह भी ठीक हो जाता है। क्योंकि पूर्व-निर्धारित चन्द्रगुप्त के जन्म समय 346 ई. पू. से 25 वर्ष घटा देने से भी 321 ई. पू. ही बचता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र में मगध-राज्य के सिंहासन पर 321 ई. पूर्व में आसीन हुआ।

विजय

उस समय गंगा के तट पर दो विस्तृत राज्य थे, जैसा कि मेगास्थनीज़ लिखता है, एक प्राच्य (Prassi) और दूसरा गंगारिडीज़ (Gangarideas)। प्राच्य राज्य में अवन्ति, कोसल, मगध, वाराणासी,

बिहार आदि देश थे और दूसरा गंगारिडीज़ गंगा के उस भाग के तट पर था, जो कि समुद्र के समीप था, वह बंगाल का था। गंगारिडीज़ और गौड़ एक ही देश का नाम प्रतीत होता है। गौड़ राज्य का राजा, नन्द के अधीन था। अवन्ति में भी एक मध्य प्रदेश की राजधानी थी, वह भी नन्दाधीन थी। बौद्धों के विवरण से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति जिसे अब तमलुक कहते है, मिदनापुर जिले में उस समय समुद्र-तट पर अवस्थित गंगारिड़ीज़ की राजधानी पार्थिलीस थी। डाक्टर श्यानवक का मत है कि सम्भवतः यह वर्धमान ही था, जिसे ग्रीक लोग पार्थिलीस कहते थे। इसमें विवाद करने का अवसर नहीं है, क्योंकि वर्धमान गौड़ देश के प्राचीन नगरों में है और यह राजधानी के योग्य भूमि पर बसा हुआ है।

केवल नन्द को ही पराजित करने से, चन्द्रगुप्त को एक बड़ा विस्तृत राज्य मिला, जो आसाम से लेकर मध्यप्रदेश तक व्याप्त था।

अशोक के जीवनीकार लिखते है कि अशोक का राज्य चार प्रादेशिक शासकों से शासित होता था। तक्षशिला — पंजाब और अफगानिस्तान की राजधानी थी; तोषली कलिंग की, अवन्ति मध्यप्रदेश की और स्वर्णगिरि — भारतवर्ष के दक्षिण भाग की राजधानी थी। अशोक की जीवनी से ज्ञात होता है कि उसने

केवल कलिंग ही विजय किया था। बिन्दुसार की विजयों की गाथा कहीं नहीं मिलती। मि. स्मिथ ने लिखा है — "It is more probable that the conquest of the south was work of Bindusar." परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

प्रायद्वीप खण्ड को जीतकर चन्द्रगुप्त ने स्वर्णगिरि में उसका शासक रखा और सम्भवतः यह घटना उस समय की है, जब विजेता सिल्यूकस एक विशाल साम्राज्य की नींव सीरिया प्रदेश में डाल रहा था। वह घटना 316 ई. पूर्व में हुई।

इस समय चन्द्रगुप्त का शासन भारतवर्ष में प्रधान था और छोटे-छोटे राज्य यद्यपि स्वतन्त्र थे; पर वे भी चन्द्रगुप्त के शासन से सदा भयभीत होकर मित्रभाव का बर्ताव रखते थे। उसका राज्य पाडुचेर और कनानूर से हिमालय की तराई तक तथा सतलज से आसाम तक था। केवल कुछ राज्य दक्षिण में, जैसे — केरल इत्यादि और पंजाब में वे प्रदेश, जिन्हें सिकन्दर ने विजय किया था, स्वतन्त्र थे; किन्तु चन्द्रगुप्त पर ईश्वर की अपार कृपा थी, जिसने उसे ऐसा सुयोग दिया कि वह भी ग्रीस इत्यादि विदेशों में अपना आतंक फैलावे।

सिकन्दर के मर जाने के बाद ग्रीक जनरलों में बड़ी स्वतन्त्रता-अराजकता फैली। ई. पूर्व 323 में सिकन्दर मरा। उसके प्रतिनिधि-स्वरूप पर्दिकस शासन करने लगा; किन्तु इसमें भी असन्तोष हुआ,

सब जनरलों और प्रधान कर्मचारियों ने मिलकर एक सभा की। ई. पूर्व 312 में सभा हुई और सिल्यूकस बेबीलोन की गद्दी पर बैठाया गया। टालेमी आदि मिश्र के राजा समझे जाने लगे; आंटिगोनस, जो कि पूर्वी एशिया का क्षत्रप था, अपने बल को बढ़ाने लगा और इसी कारण सब जनरल उसके विरुद्ध हो गये, यहाँ तक कि ग्रीक-साम्राज्य से अलग होकर सिल्यूकस ने 312 ई. पूर्व में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित किया। बहुत-सी लड़ाइयों के बाद सन्धि हुई और सीरिया इत्यादि प्रदेशों का आंटिगोनस स्वतन्त्र राजा हुआ। थ्रेस में लिरीमाकस, मिस्र में टालेमी और बेबीलोन के समीम के प्रदेश में सिल्यूकस का आधिपत्य रहा। यह सन्धि 319 ई. पूर्व में हुई। सिल्यूकस ने उधर के विग्रहों को कुछ शान्त करके भारत की ओर देखा।

इसे भी वह ग्रीक साम्राज्य का अंश समझता था। आराकोशिया, बैक्ट्रिया, जेड्रोशिया आदि विजय करते हुए उसने 306 ई. पूर्व में भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त उसी समय दिग्विजय करता हुआ पंजाब की ओर आ रहा था और उसने जब सुना कि ग्रीक लोग फिर भारत पर चढ़ाई कर रहे हैं, वह भी उन्हीं को ओर चल पड़ा। इस यात्रा में, ग्रीक लोग लिखते है कि उसके पास 6,00,000 सैनिक थे, जिसमें 30,000 घोड़े और 9,00 हाथी, बाकी

पैदल थे। इतिहासों से पता चलता है कि सिन्धु-तट पर यह युद्ध हुआ।

सिल्यूकस सिन्धु के उस तीर पर आ गया, मौर्य-सम्राट इस आक्रमण से अनभिज्ञ न था। उसके प्रादेशिक शासक, जो कि उत्तर-पश्चिम प्रान्त के थे, बराबर सिल्यूकस का गतिरोध करने के लिए प्रस्तुत रहते थे; पर अनेक उद्योग करने पर भी कपिशा आदि दुर्ग सिल्यूकस के हस्तगत हो ही गये। चन्द्रगुप्त, जो कि सतलज के समीप से उसी ओर बराबर बढ़ रहा था, सिल्यूकस की क्षुद्र विजयों के घबड़ा कर बहुत शीघ्रता से तक्षशिला की ओर चल पड़ा। चन्द्रगुप्त के बहुत थोड़े समय पहले ही सिल्यूकस सिन्धु के इस पार उतर आया और तक्षशिला के दुर्ग पर चढ़ाई करने के उद्योग में था। तक्षशिला की सूबेदारी बहुत बड़ी थी। उस पर विजय कर लेना सहज कार्य न था। सिल्यूकस अपनी रक्षा के लिए मिट्टी की खाई बनवाने लगा।

चन्द्रगुप्त अपनी विजययिनी सेना लेकर तक्षशिला में पहुँचा और मौर्य-पताका तक्षशिला-दुर्ग पर फहराकर महाराज चन्द्रगुप्त के आगमन की सूचना देने लगा। मौर्य-सेना ने आक्रमण करके ग्रीकों की मिट्टी की परिखा और उनका व्यूह नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। मौर्यों का भयानक आक्रमण उन लोगों ने बड़ी वीरता से सहन किया, ग्रीकों का कृत्रिम दुर्ग उनकी रक्षा कर रहा था; पर

कब तक? चारों ओर से असंख्य मौर्य-सेना उस दुर्ग को घेरे थी। आपाततः उन्हें कृत्रिम-दुर्ग छोड़ना पड़ा। इस बार भयानक लड़ाई आरम्भ हुई। मौर्य सेना का चन्द्रगुप्त स्वयं नायक था। असीम उत्साह से मौर्यों ने आक्रमण करके ग्रीक-सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। लौटने की राह में बड़ी बाधा-स्वरूप सिन्धु नदी थी, इसलिये अपनी टूटी हुई सेना को एक जगह उन्हें एकत्र करना पड़ा। चन्द्रगुप्त की विजय हुई। इसी समय ग्रीक जनरलों में फिर खलबली मची हुई थी। इस कारण सिल्यूकस शीघ्र ही सन्धि कर लेने पर बाध्य हुआ। इस सन्धि में ग्रीक लोगों को चन्द्रगुप्त और चाणक्य से सब ओर दबना पड़ा।

इस सन्धि के समय में कुछ मतभेद है। किसी का मत है कि यह सन्धि 305 ई. पूर्व में हुई और कुछ लोग कहते है 303 ई. पूर्व में । सिल्यूकस ने जो ग्रीक-सन्धि की थी, वह 311 ई. पूर्व की थी; उसके बाद ही वह युद्ध यात्रा के लिए चल पड़ा। अस्तु, आराकोशिया, जेड्रोशिया, बैक्ट्रिया आदि विजय करते हुए भारत तक आने में पाँच वर्ष से विशेष समय नहीं लग सकता और इसी से उस युद्ध का समय, जो चन्द्रगुप्त से हुआ था, 306 ई. पूर्व माना गया। तब 305 ई. पूर्व में सन्धि का होना ठीक-सा जँचता है। सन्धि में चन्द्रगुप्त भारतीय प्रदेशों के स्वामी हुये। अफगानिस्तान और मकराना भी चन्द्रगुप्त को मिला और उसके साथ-ही-साथ

कुल पंजाब और सौराष्ट्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया। सिल्यूकस बहुत शीघ्र लौटने वाला था। 301 ई. पूर्व में होने वाले युद्ध के लिए, उसे तैयार होना था, जिसमें कि Ipsus के मैदान में उसने अपने चिरशत्रु आंटिगोनस को मारा था। चन्द्रगुप्त को इस ग्रीक-विप्लव ने बहुत सहायता की और उसने इसी कारण मनमाने नियमों के सन्धि करने लिए सिल्यूकस को बाध्य किया।

पाटण आदि बन्दर भी चन्द्रगुप्त के अधीन हुए तथा काबुल में सिल्यूकस की ओर से एक राजदूत का रहना स्थिर हुआ। मेगास्थनीज़ ही प्रथम राजदूत नियत हुआ। यह तो सब हुआ, पर नीति-चतुर सिल्यूकस ने एक और बुद्धिमानी का कार्य यह किया कि चन्द्रगुप्त से अपनी सुन्दरी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया, जिसे चन्द्रगुप्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों राज्य एक सम्बन्ध-सूत्र में बँध गये जिस पर संतुष्ट होकर चन्द्रगुप्त ने 500 हाथियों की एक सेना सिल्यूकस दो दी और अब चन्द्रगुप्त का राज्य भारतवर्ष में सर्वत्र हो गया। रुद्रदामा के लेख से ज्ञात होता है कि कि पुष्पगुप्त उस प्रदेश का शासक नियत किया गया था जो सौराष्ट्र और सिन्ध तथा राजपूताना तक था। अब चन्द्रगुप्त के अधीन दो प्रादेशिक और हुए, एक तक्षशिला में, दूसरा सौराष्ट्र में। इस तरह से अध्यवसाय का अवतार चन्द्रगुप्त प्रबल पराक्रान्ता

राजा माना जाने लगा और ग्रीस, मिस्र, सीरिया इत्यादि के नरेश उसकी मित्रता में अपना गौरव समझते थे।

उत्तर में हिन्दुकुश, दक्षिण में पाडुचेरी और कनानूर, पूर्व में आसाम और पश्चिम में सौराष्ट्र-समुद्र तथा वाल्हीक तक चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

चन्द्रगुप्त का शासन

गंगा और शोण के तट पर मौर्य-राजधानी पाटलिपुत्र बसा था। दुर्ग पत्थर, ईंट और लकड़ी के बने हुए सुदृढ प्राचीर से परिवेष्टित था। नगर 80 स्टेडिया लम्बा और 20 स्टेडिया चौड़ा था। दुर्ग में 64 द्वार तथा 570 बुर्ज थे। सौध-श्रेणी, राजमार्ग, सुविस्तृत पण्य-वीथिका से नगर पूर्ण था और व्यापारियों की दुकानें अच्छी प्रकार सुशोभित और सुसज्जित रहती थी। भारतवर्ष की केन्द्र-नगरी कुसुमपुरी वास्तव में कुसुमपूर्ण रहती था थी। सुसज्जित तुरंगों पर धनाढ्य लोग प्रायः राजमार्ग में यातायात किया करते थे। गंगा के कूल में बने हुये सुन्दर राज-मन्दिर में चन्द्रगुप्त रहता और केवल तीन कामों के लिए महल के बाहर आता —

पहला, प्रजाओं का आवेदन सुनना, जिसके लिए प्रतिदिन एक बार चन्द्रगुप्त को विचारक का आसन ग्रहण करना पड़ता था। उस समय प्रायः तुरंग पर, जो आभूषणों से सजा हुआ रहता था, चन्द्रगुप्त आरोहण करता और प्रतिदिन न्याय से प्रजा का शासन करता था।

दूसरा, धर्मानुष्ठान बलि प्रदान करने के लिए, जो पर्व और उत्सव के उपलक्ष्यों पर होते थे। मुक्तागुच्छ-शोभित कारु-कार्य खंचित शिविका पर (जो की सम्भवतः खुली हुई होती थी) चन्द्रगुप्त आरोहण करता। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त वैदिक धर्मावलम्बी था; क्योंकि बौद्ध और जैन, ये ही धर्म उस समय वैदिक धर्म के प्रतिकूल प्रचलित थे। बलिप्रदानादिक कर्म वैदिक ही होता रहा होगा।

तीसरा, मृगया खेलने के समय कुंज पर सवारी निकलती। उस समय चन्द्रगुप्त स्त्री-गण से घिरा रहता था, जो धनुर्बाण आदि लिये उसके शरीर की रक्षा करता था।

उस समय राज-मार्ग डोरी से घिरा रहता था और कोई उसके भीतर नहीं जाने पाता था।

चन्द्रगुप्त राजसभा में बैठता तो चार सेवक आबनूस के वेलन से उसका अंग संवाहन करते थे। यद्यपि चन्द्रगुप्त प्रबल प्रतापी राजा था, पर वह षडयन्त्रों से शंकित होकर एक स्थान पर सदा नहीं

रहता था, जिसका कि मुद्राराक्षस में कुछ आभास मिलता है, और यह मेगास्थनीज़ ने भी लिखा है।

हाथी, पहलवान, मेढ़ा और गैड़ों की लड़ाई भी होती थी, जिसे राजा और प्रजा दोनों चाव से देखते थे। बहुत-से उत्सव भी नगर में हुआ करते थे।

प्रहरी स्त्रियाँ,जो कि मोल ली जाती थीं, राजा के शरीर की सदा रक्षा करती थी। वे रथों, घोड़ों और हाथियों पर राजा के साथ चलती थीं, राजदरबार बहुत आडम्बर से सजा रहता था, जो कि दर्शनीय रहता था, मेगास्थनीज़ इत्यादि ने इसका विवरण विस्तृत रूप से लिखा है। पाटलिपुत्र नगर मौर्य-राजधानी होने से बहुत उन्नत अवस्था में था।

राजधानी में नगर का शासन-प्रबन्ध भी छः विभागों में विभक्त था और उनके द्वारा पूर्णरूप से नगर का प्रबन्ध होता था।
मेगास्थनीज़ लिखता है कि प्रथम विभाग उन कर्मचारियों का था, जो विक्रेय वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण और श्रमजीवियों का वेतन तथा शिल्पियों का शुल्क निर्धारण तथा निरीक्षण करता था।
किसी शिल्पी के अंग-भंग करने से वही विभाग उन लोगों को दण्ड देता था। सम्भवतः यह विभाग म्युनिसिपैलिटी के बराबर था, जो कि पाँच सदस्यों से कार्य-निर्वाह करता था।

द्वितीय विभाग विदेशियों के व्यवहार पर ध्यान रखता था। पीड़ित विदेशियों की सेवा करता था, उनके जाने के लिये वाहन आदि का आयोजन करना, उनके मरने पर उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना और उन्हें जो हानि पहुँचाये उसको कठोर दण्ड से दण्डित करना उसका कार्य था। इससे ज्ञात होता है कि व्यापार अथवा अन्य कार्यों के लिए बहुत-से विदेशी कुसुमपुर में आया करते थे।

तृतीय विभाग प्रजा के मरण और जन्म की गणना करता था और उन पर कर निर्धारित करता था।

चतुर्थ विभाग व्यापार का निरीक्षण करता और तुला तथा नाप का प्रबन्ध करता था।

पंचम विभाग राजकीय कोष का था, जहाँ द्रव्य बनाये जाते और रक्षित रहते थे।

छठा विभाग राजकीय कर का था, जिसमें व्यापारियों के लाभ से दशमांश लिया जाता था और उन्हें खूब सावधानी से कार्य करना होता था। जो उस कर को न देता, वह कठोर दण्ड से दण्डित होता था।

राज्य के कर्मचारी लोग भूमि का नाम और उस पर कर निर्धारित करते थे और जल की नहरों का समुचित प्रबन्ध करते थे, जिससे सब कृषकों को सरलता होती थी। रुद्रदामा के गिरनार वाले

लेख से प्रतीत होता है कि सुदर्शन हृदय महाराज चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल में बना था। इससे ज्ञात होता है कि राज्य मे सर्वत्र जल का प्रबन्ध रहता था तथा कृषकों के लाभ पर विशेष ध्यान रहता था।

राज्य के प्रत्येक प्रान्त मे समाचार संग्रह करने वाले थे, जो सत्य समाचार चन्द्रगुप्त को देते थे। चाणक्य-सा बुद्धिमान मन्त्री चन्द्रगुप्त को बड़े भाग्य से मिला था और उसकी विद्वत्ता ऊपर लिखित प्रबन्धों से ज्ञात होती है। युद्धादि के समय में भी भूमि बराबर जोती जाती थी, उसके लिए कोई बाधा नहीं थी।

राजकीय सेना में, जिसे राजा अपने व्यय से रखते थे, रणतरी 2,000 थी। 8,000 रथ, जो चार घोड़ों से जुते रहते थे, जिस पर एक रथी और दो योद्धा रहते थे। 4,00,000 पैदल असिचर्मधारी, धनुर्बाणधारी। 30,000 अश्वारोही। 90,000 रण-कुंजर, जिन पर महावत लेकर 4 योद्धा रहते थे और युद्ध के भारवाही, अश्व के सेवक तथा अन्य सामग्री ढोनेवालों को मिलाकार 6,00,000 मनुष्यों की भीड़भाड़ उस सेना में थी और उस सेना विभाग के प्रत्येक 6 विभागों में 5 सदस्य रहते थे।

प्रथम विभाग नौसेना का था। दूसरा विभाग युद्ध-सम्बन्धी भोजन, वस्त्र, कपड़े, बाजा, सेवक और जानवरों के चारे का प्रबन्ध करता था। तीसरे वर्ग के अधीन पैदल सैनिक रहते थे। चौथा विभाग

अश्वारोहियों का था। पाँचवाँ, युद्ध रथ की देखभाल करता था। छठा युद्ध के हाथियों का प्रबन्ध करता था।

इस प्रकार सुरक्षित सेना और अत्युत्तम प्रबन्ध से चन्द्रगुप्त ने 24 वर्ष तक भारतभूमि का शासन किया। भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य-युग का एक स्मरणीय समय छोड़ 297 ई. पू. में मानव-लीला संवरण करके चन्द्रगुप्त ने अपने सुयोग्य पुत्र के हाथ में राज-सिंहासन दिया

सम्राट् चन्द्रगुप्त दृढ शासक, विनीत, व्यवहार-चतुर, मेधावी, उदार, नैतिक, सद्गुण सम्पन्न तथा भारतभूमि के सपूतों में से एक रत्न था। बौद्ध ग्रन्थ, अर्थकथा और वायुपुराण से चन्द्रगुप्त का शासन 24 वर्ष का ज्ञात होता है जो 321 ई. पू. से 297 ई. पू. तक ठीक प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त के समय का भारतवर्ष

भारतभूमि अतीव उर्वरा थी, कृत्रिम जल-स्रोत, जो कि राजकीय प्रबन्ध से बने थे, खेती के लिये बहुत लाभदायक थे। प्राकृतिक बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने तट के भू-भाग को सदैव उर्वर बनाती थी। एक वर्ष में दो बार अन्न काटे जाते थे। यदि किसी कारण

से एक फसल ठीक न हुई, तो दूसरी अवश्य इतनी होती कि भारतवर्ष को अकाल का समाना नहीं करना पड़ता था। कृषक लोग बहुत शान्तिप्रिय होते थे। युद्ध आदि के समय में भी कृषक लोग आनन्द से हल चलाते थे। उत्पन्न हुए अन्न का चतुर्थांश राजकोष में जाता था। खेती की उन्नति की ओर राजा का भी विशेष ध्यान रहता था। कृषक लोग आनन्द में अपना जीवन व्यतीत करते थे।

दलदलों में अथवा नदियों के तटस्थ भू-भाग में, फल-फूल भी बहुतायत से उगते थे और वे सुस्वादु तथा गुणदायक होते थे। जानवर भी यहाँ अनेक प्रकार के यूनानियों ने देखे थे। वे कहते हैं कि चौपाये यहाँ जितने सुन्दर और बलिष्ठ होते थे, वैसे अन्यत्र नहीं। यहाँ के सुन्दर बैलों को सिकन्दर ने यूनान भेजा था। जानवरों ने जंगली और पालतू सब प्रकार के यहाँ मिलते थे। पक्षी भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बहुत प्रकार के थे, जो अपने घोसलों में बैठकर भारत के सुस्वादु फल खाकर कमनीय कण्ठ से उसकी जय मनाते थे। धातु भी यहाँ प्रायः सब उत्पन्न होते थे। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और जस्ता इत्यादि यहाँ की खानों में से निकलते और उनसे अनेक प्रकार के उपयोगी अस्त्र-शस्त्र, साज-आभूषण इत्यादि प्रस्तुत होते थे। शिल्प यहाँ का बहुत उन्नत अवस्था में था; क्योंकि उसके व्यवसायी सब प्रकार के कर से

मुक्त होते थे। यही नहीं, उनको राजा से सहायता भी मिलती थी जिससे कि वे स्वच्छंद होकर अपना कार्य करें। क्या विधिविडम्बना है उसी भारत के शिल्प की, जहाँ के बनाये आडम्बर तथा शिल्प की वस्तुओं को देखकर यूनानियों ने कहा था कि 'भारत की राजधानी पाटलिपुत्र को देखकर फारस की राजधानी कुछ भी नहीं प्रतीत होती।'

शिल्पकार राज-कर से मुक्त होने के कारण राजा और प्रजा दोनों के हितकारी यन्त्र बनाता था; जिससे कार्यों में सुगमता होती थी।

प्लिनी का कहना है कि 'भारतवर्ष में मनुष्य पाँच वर्ग के है — एक, जो लोग राजसभा में कार्य करते है, दूसरे सिपाही, तीसरे व्यापारी, चौथे कृषक और पाँचवाँ वर्ग भी है जो दार्शनिक कहलाता है।'

पहले वर्ग के लोग सम्भवतः ब्राह्मण थे जो कि नीतिज्ञ होकर राजसभा में धर्माधिकार का कार्य करते थे।

और सिपाही लोग अवश्य क्षत्रिय ही थे। व्यापारियों का वणिक सम्प्रदाय था। कृषक लोग शूद्र या दास थे; पर वह दासत्व सुसभ्य लोगों की गुलामी नहीं थी।

पाँचवाँ वर्ग उन ब्राह्मणों का था, जो संसार में एक प्रकार से अलग होकर ईश्वराराधना में अपना दिन बिताते तथा सदुपयोग

देकर संसारी लोगों को आनन्दित करते थे। वे स्वयं यज्ञ करते थे और दूसरे का यज्ञ कराते थे, सम्भवतः वे ही मनुष्यों का भविष्य कहते थे और यदि उनका भविष्य कहना सत्य न होता तो वे फिर उस सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे।

भारतवासियों का व्यवहार बहुत सरल था। यज्ञ को छोड़कर वे मदिरा और कभी नहीं पीते थे। लोगों का व्यय इतना परिमित था कि वे सूद पर ऋण कभी नहीं लेते थे। भोजन वे लोग नियत समय में तथा अकेले ही करते थे। व्यवहार के वे लोग बहुत सच्चे होते थे; झूठ से उन लोगों को घृणा थी। बारीक मलमल के कामदार कपड़े पहनकर वे चलते थे। उन्हें सौन्दर्य का इतना ध्यान रहता था कि नौकर उन्हें छाता लगाकर चलता था। आपस में मुकदमें बहुत कम होते थे।

विवाह एक जोड़ी बैल देकर होता था और विशेष उत्सव में आडम्बर से कार्य करते थे। तात्पर्य यह है कि महाराज चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त के शासन में प्रजा शान्तिपूर्वक निवास करती थी। और सब लोग आनन्द से अपना जीवन व्यतीत करते थे।

शिल्प-वाणिज्य की अच्छी उन्नति थी। राजा और प्रजा में विशेष सद्भाव था, राजा अपनी प्रजा के हित-साधन में सदैव तत्पर रहता था। प्रजा भी अपनी भक्ति से राजा को सन्तुष्ट रखती थी। चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त का शासनकाल भारत का स्वर्णयुग था।

चाणक्य

इनके बहुत-से नाम मिलते है। विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य, वात्सायन, द्रामिल इत्यादि इनके प्रसिद्ध नाम है। भारतीय पर्यटक इन्हें दक्षिणदेशीय कोंकणस्थ ब्राह्मण लिखते है और इनके प्रमाण में वे लिखते है कि दक्षिणदेशीय ब्राह्मण प्रायः कूटनीनिपटु होते है। चाणक्य की कथाओं में मिलता है कि वह श्यामवर्ण के पुरुष तथा कुरूप थे, क्योंकि इसी कारण से वह नन्द की सभा से श्राद्ध के समय उठाये गये। जैनियों के मत से चाणक्य गोल-ग्रामवासी थे और जैन धर्मावलम्बी थे। वह नन्द द्वारा अपमानित होने पर नन्दवंश का नाश करने की प्रतिज्ञा करके बाहर निकल पड़े और चन्द्रगुप्त से मिलकर उसे कौशल से नन्द-राज्य का स्वामी बना दिया।

बौद्ध लोग उन्हें तक्षशिला निवासी ब्राह्मण बतलाते है और कहते है कि धननन्द को मारकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राज्य दिया। पुराणों में मिलता है, "कौटिल्यो नाम ब्राह्मण समुद्धरिष्यति।" अस्तु, सब की कथाओं का अनुमान करने से जाना जाता है कि चाणक्य ही चन्द्रगुप्त की उन्नति के मूल है।

चाणक्य के बारे में जस्टिस तैलंग लिखते है —

"Chanakya is represented as a clearheaded, self confidant intriguing hard politician with ultimate end of his ambition – thoroughly well determined and directling all his clear headness and intrigue to the accomplishment of that end."

V. A. Smith लिखते हैं कि —

"Nor is there any reason to discredit the statements that the userper was attached by a confederecy of the northen powers, including Kashmere and that the attack failed owing to the maciavellian intrigues of Chandragupta's Brahman advisor, who is variousely named Chanakya."

कामंदकीय नीतिसार में लिखा है —

> यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
> पतात मूलतः श्रीमान्सुपर्वानन्दपर्यंतः॥
> एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्तः शक्तिधरोपमः।
> आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
> नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधे।
> य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

चन्द्रगुप्त का प्रधान सहायक मन्त्री चाणक्य ही था। पर यह ठीक नहीं ज्ञात होता कि वह कहाँ का रहने वाला था। जैनियों के इतिहास से बौद्धों के इतिहास को लोग प्रमाणिक मानते हैं।

हेमचन्द्र ने जिस भाव से चाणक्य का चित्र अंकित किया है, वह प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं से पूर्ण है।

जैन-ग्रन्थों और प्रबन्धों में प्रायः सभी को जैनधर्म में किसी-न-किसी प्रकार आश्रय लेते हुए दिखाया गया है। यही बात चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भी है। श्रवण बेलगोलवाले लेख के द्वारा, जो किसी जैनमुनि का है, चन्द्रगुप्त ने राज छोड़कर यति-धर्म ग्रहण करने का प्रमाण दिया जाता है। अनेक ग्रन्थों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि उसका साथी चाणक्य भी जैन था।

अर्थशास्त्र के मंगलाचरण का प्रमाण देकर यह कहा जाता है कि (नमः शुक्र-बृहस्पतिभ्यां) ऐसा मंगलाचारण आनार्यों के प्रति कृतज्ञतासूचक वैदिक हिन्दुओं का नहीं हो सकता; क्योंकि वे प्रायः ईश्वर को नमस्कार करते है। किन्तु कामसूत्र के मंगलाचरण के सम्बन्ध में क्या होगा जिसका मंगलाचरण है 'नमो धर्मार्थकामेभ्यो।' इसलिये यह सब बातें व्यर्थ है। जैनों के अतिरिक्त जिन लोगों का चरित्र उन लोगों ने लिखा है, उसे अद्भुत, कुत्सित और अप्रासंगिक बना डाला है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ भारतीय चरित्रों को जैन ढाँचे में ढालने का जैन-संस्कृत-साहित्य द्वारा असफल प्रयत्न किया गया है। यहाँ तक उन लोगों ने लिख डाला है कि चन्द्रगुप्त को भूख लगी तो चाणक्य ने एक ब्राह्मण के पेट से गुलगुले निकाल कर खिलाये। ऐसी

आश्चर्यजनक कपोलकल्पनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त और चाणक्य को जैन बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

इसलिये बौद्धों के विवरण की ओर ही ध्यान आकर्षित होता है। बौद्ध लोग कहते है कि 'चाणक्य तक्षशिला निवासी थे,' और इधर हम देखते है कि तक्षशिला में उस समय विद्यालय था जहाँ कि पाणिनि, जीवक आदि पढ़ चुके थे। अस्तु, सम्भवतः चाणक्य, जैसा कि बौद्ध लोग कहते है, तक्षशिला में रहते या पढ़ते थे। जब हम चन्द्रगुप्त की सहायक सेना की ओर ध्यान देते हैं, तो यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि चाणक्य का तक्षशिला से अवश्य सम्बन्ध था क्योंकि चाणक्य अवश्य उनसे परिचित थे, नहीं तो वे लोग चन्द्रगुप्त को क्या जानते! हमारा यही अनुमान है कि चाणक्य मगध के ब्राह्मण थे। क्योंकि मगध में नन्द की सभा में वे अपमानित हुए थे। उनकी जन्मभूमि पाटलिपुत्र ही थी।

पाटलिपुत्र इस समय प्रधान नगरी थी, चाणक्य तक्षशिला में विद्याध्ययन करके वहाँ से लौट आये। किसी कारणवश वह राजा पर कुपित हो गये, जिसके बारे में प्रायः सब विवरण मिलते-जुलते है। वह ब्राह्मण भा प्रतिज्ञा कर उठा कि आज से, जब तक नन्दवंश का नाश न कर लूँगा, शिखा न बाँधूँगा। और फिर चन्द्रगुप्त को मिलाकर जो-जो कार्य उन्होंने किये, वह पाठकों को ज्ञात ही है।

जहाँ तक ज्ञात होता है, चाणक्य वेद धर्मावलम्बी, कूटनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी था।

उनकी नीति अनोखी होती थी और उनमें अलौकिक क्षमता थी। नीति शास्त्र के आचार्यों में उनकी गणना है। उनके बनाये नीचे लिखे हुए ग्रन्थ बतलाये जाते है — चाणक्य नीति, अर्थशास्त्र, कामसूत्र और न्यायभाष्य।

यह अवश्य कहना होगा कि वह मनुष्य बड़ा प्रतिभाशाली था जिसके बुद्धिबल द्वारा, प्रशंसित राज-कार्यक्रम से चन्द्रगुप्त ने भारत का साम्राज्य स्थापित करके उस पर राज्य किया।

हेमचन्द्र के अभिमान में पक्षिल स्वामी और चाणक्य एक ही व्यक्ति का नाम है।

1. कनिंघम साहब वर्तमान शाह-देहरी के समीप में तक्षशिला का होना मानते हैं। रामचन्द्र के भाई भारत के दो पुत्रों के नाम से उसी ओर दो नगरियाँ बसायी गयी थी, तक्ष के नाम से तक्षशिला और पुष्कल के नाम से पुष्कलावती। तक्षशिला का विद्यालय उस समय भारत के प्रसिद्ध विद्यालयों में से एक था।

> प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्म्मणाम्।
>
> आश्रयः सर्वधमर्माणा विद्योद्देशेप्रकीर्तिता॥ (वात्सायन न्यायभाष्य)

अर्थशास्त्र में यही श्लोक अविकल मिलता है। केवल उसका चतुर्थपाद बदला दिखाई देता है, जैसे "विद्योद्देशे प्रकीर्तिता" की जगह "शश्वदान्वीक्षिकीमता" (अर्थशास्त्र 7 पृष्ठ), इससे भी अनुमान होता है कि वात्सायन और चाणक्य एक ही थे। चाणक्य का ही नाम वात्सायन था, चन्द्रगुप्त की राजसभा में उसका रहना प्रमाणित है। अर्थशास्त्र में स्वयं चाणक्य ने लिखा है —

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजागता च भूः
अमर्षेणोद् धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

~ जयशंकर प्रसाद

काशी, सं. 1966.

पात्र

पुरुष पात्र

चाणक्य (विष्णुगुप्त) – मौर्य साम्राज्य का संस्थापक

चन्द्रगुप्त — मौर्य-सम्राट

नन्द — मगध का सम्राट

राक्षस — मगध का अमात्य

वररुचि — (कात्यायन) – मगध का अमात्य

शकटार — मगध का मन्त्री

आंभीक — तक्षशिला का राजकुमार

गाधार-नरेश — आंभीक का पिता

मौर्य-सेनापति — चन्द्रगुप्त का पिता

सिंहरण — मालव गणमुख्य का कुमार

पर्वतेश्वर — पंजाब का राजा (पोरस)

देवबल, नागदत्त, गणमुख्य — मालव गणतन्त्र के पदाधिकारी

दाण्ड्यायन — एक तपस्वी

धनदत्त — पाटलिपुत्र का सार्थवाह

चन्दन — धनदत्त का पार्षद

आजीवक — एक साधु

सिकन्दर — ग्रीक आक्रामक

सिल्यूकस — सिकन्दर का सेनापति

फिलिप्स — सिकन्दर का क्षत्रप

एनीसाक्रटीज़ — सिकन्दर का सहचर

साइबर्टियस, मेगास्थनीज़ — यवन दूत

राजपुरुष, वैद्य, सैनिक, दास, दासी

स्त्री पात्र

कार्नेलिया — सिल्यूकस की कन्या

एलिस — कार्नेलिया की सहेली

मौर्य-पत्नी — चन्द्रगुप्त की माता

कल्याणी — नन्द की कन्या, मगध राजकुमारी

नीला, लीला — कल्याणी की सहेलियाँ

अलका — तक्षशिला की राजकुमारी

सुवासिनी — शकटार की कन्या

मालविका — सिंधु देश की कुमारी

मणिमाला — धनदत्त की पत्नी

माधवी — चन्दन की पत्नी

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(तक्षशिला के गुरुकुल का प्रांगण । चाणक्य और सिंहरण)

चाणक्य — सौम्य, कुलपति ने मुझे गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था, क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझे अकिंचन को गुरुदक्षिणा चुका देनी थी।

सिंहरण — आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्रशास्त्र की। इसीलिए मैं पाठ में पिछड़ा रहा, क्षमाप्रार्थी हूँ।

चाणक्य — अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे?

सिंहरण — अभी तो मैं मालव नहीं जाता। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य — मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं?

सिंहरण — मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ — आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिये कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खंड-राज्य द्वेष से जर्जर है। शीघ्र भयानक विस्फोट होगी!

(सहसा आंभीक और अलका का प्रवेश)

आंभीक — कैसा विस्फोट? युवक तुम कौन हो?

सिंहरण — एक मालव।

आंभीक — नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।

सिंहरण — तक्षशिला गुरुकुल का एक छात्र।

आंभीक — देखता हूँ कि तुम दुश्शील भी हो।

सिंहरण — कदापि नहीं राजकुमार! विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।

आंभीक — परन्तु तुम किसी विस्फोट की बातें — अभी कर रहे थे। और चाणक्य — क्या तुम्हारा भी इसमें कुछ हाथ है? (चाणक्य को चुप देखकर क्रोध से) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन!

चाणक्य — राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वाराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब

कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आंभीक — वह काल्पनिक महत्त्व — मायाजाल है, तुम्हारे प्रत्यक्ष नीच-कर्म उस पर परदा नहीं डाल सकते।

चाणक्य — सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय! इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे है और आर्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।

आंभीक — और तुम धक्का देने का कुचक्र विद्यार्थियों को सिखा रहे हो?

सिंहरण — विद्यार्थी और कुचक्र! असम्भव — यह तो वे ही कर सकते है जिनके हाथ में अधिकार हो — जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी अधिक कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाह्लीक तक...

आंभीक — बस-बस, दुर्धर्ष युवक! बता, तेरा अभिप्राय क्या है?

सिंहरण — कुछ नहीं।

आंभीक — नहीं, बताना होगा। मेरी आज्ञा है।

सिंहरण — गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती है, अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं राजकुमार!

अलका — भाई! इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छंद हृदय में कितना बलवान वेग है! यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।

आंभीक — चुप रहो अलका, यह ऐसी बात नहीं है जो यों ही उड़ा दी जाय। इसमें कुछ रहस्य है।

(चाणक्य चुपचाप मुस्काता है।)

सिंहरण — हाँ-हाँ, रहस्य है! यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल-स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख रजनी की शान्ति-निद्रा में उत्तरापथ की अर्गला — धीरे से खोल देने का रहस्य है! क्यों राजकुमार संभवतः तक्षशिलाधीश वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे?

आंभीक — (पैर पटक कर) ओह, असह्य! युवक, तुम बन्दी हो। (तलवार खींचता है)

सिंहरण — कदापि नहीं — मालव कदापि बन्दी नहीं हो सकता।

चन्द्रगुप्त — (सहसा प्रवेश करके) ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य है, उसे कोई बन्दी नही बना सकता है। यह क्या राजकुमार! खड्ग को कोष में स्थान नहीं है क्या?

सिंहरण — (व्यंग से) वह तो स्वर्ण से भर गया है।

आंभीक — तो तुम सब कुचक्र में लिप्त हो। और इस मालव को तो मेरा अपमान करने का प्रतिफल — मृत्युदण्ड — अवश्य भोगना पड़ेगा।

चन्द्रगुप्त — क्यों, क्या यह एक निस्सहाय छात्र तुम्हारे राज्य में शिक्षा पाता है और तुम एक राजकुमार हो — बस इसीलिए?

(आंभीक तलवार चलाता है। चन्द्रगुप्त अपनी तलवार पर उसे रोकता है। आंभीक की तलवार छूट जाती है। वह निस्सहाय होकर चन्द्रगुप्त के आक्रमण की प्रतीक्षा करता है। बीच में अलका आ जाती है।)

सिंहरण — वीर चन्द्रगुप्त, बस! जाओ राजकुमार, यहाँ कोई कुचक्र नहीं। अपने कुचक्रों से अपनी रक्षा स्वयं करो।

चाणक्य — राजकुमारी, मैं गुरुकुल का अधिकारी हूँ। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिये होता है, द्वन्द्व युद्ध के लिये नहीं। विश्राम रखना इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।

अलका — ऐसा ही हो। चलो भाई!

(क्षुब्ध आंभीक उसके साथ जाता है)

चाणक्य — (चन्द्रगुप्त से) तुम्हारा पाठ समाप्त हो चुका है और आज का यह काण्ड — असाधारण है। मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।

चन्द्रगुप्त — आर्य, हम मगध और यह मालव! अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।

चाणक्य — क्या यही मेरी शिक्षा है? बालकों की-सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अकारण रक्तपात नीति-विरुद्ध है।

चन्द्रगुप्त — आर्य! संसार-भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय है, मित्र है, उसका मान मेरा ही मान है।

चाणक्य — देखूँगा कि इस आत्म-सम्मान की भविष्य-परीक्षा में तुम कहाँ तक उत्तीर्ण होते हो!

सिंहरण — आपके आशीर्वाद से हम लोग अवश्य सफल होंगे।

चाणक्य — तुम मालव हो और यह मगध, यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे? आज जिस व्यंग को लेकर इतना घटना हो गई है, वह बात भावी गान्धार-नरेश आंभीक के हृदय में शल्य के समान चुभ गई है। पंचनद-नरेश पर्वतेश्वर से विरोध के कारण यह क्षुद्रहृदय आंभीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त का सर्वनाश होगा।

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव, विश्वास रखिये, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।

चाणक्य — तुम्हारी प्रतिज्ञा अचल हो। परन्तु इसके लिए पहले तुम मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनो। यहाँ समय बिताने का प्रयोजन नहीं। मैं भी पंचनद -नरेश से मिलता हुआ मगध आऊँगा और सिंहरण,तुम भी सावधान!

सिंहरण — आर्य, आपका आशीर्वाद ही मेरा रक्षक है।

(चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रस्थान)

–एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चञ्चला रण-लक्ष्मी इन्द्र-धनुष-सी विजय-माल हाथ में लिए उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे! तब आओ देवि! स्वागत!!

(अलका का प्रवेश)

अलका — मालव वीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया?

सिंहरण — क्यों देवि! क्या मैं यहाँ रहने के उपयुक्त नहीं हूँ?

अलका — नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शान्ति के लिए चिन्तित हूँ? भाई ने तुम्हारा अपमान किया है पर वह अकारण न था! जिसका जो मार्ग है उस पर वह चलेगा। तुमने अनधिकार चेष्टा की थी! देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए रुक जाता है, और अपना चलना बन्द कर देता है।

सिंहरण — परन्तु भद्रे, जीवन-यात्रा में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है, वह दूसरों को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है, परन्तु निष्फल नहीं।

अलका — किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिंहरण — मानव कब दानव से भी दुर्द्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर — करुणा के लिए निरवकाश हृदय वाला हो जायगा, नही जाना जा सकता। अतीत के सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को अपने अनुकूल बना ही लूँगा, फिर चिन्ता किसकी!

अलका — मालव, तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है, और वही यहाँ आपत्ति में है।

सिंहरण — राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिए कृतज्ञ हुआ। परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त है इसलिए मैं —

अलका — (आश्चर्य से) क्या कहते हो?

सिंहरण — गान्धार आर्यावर्त से भिन्न नहीं है, इसलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

अलका — (निश्वास लेकर) इसका मैं अनुभव कर रही हूँ, परन्तु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और तुम्हारी दृढ भुजाओं में आर्यावर्त के रक्षण की शक्ति है, तुम्हें सुरक्षित रहना चाहिये। मैं

भी आर्यावर्त की बालिका हूँ तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गान्धार छोड़ दो। मैं आंभीक को शक्ति भर पतन से रोकूँगी, परन्तु उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी — जाओ वीर!

सिंहरण — अच्छा राजकुमारी तुम्हारे स्नेहानुरोध से मैं जाने के लिए बाध्य हो रहा हूँ। शीघ्र ही चला जाऊँगा देवि! किन्तु यदि किसी प्रकार सिन्धु का प्रखर धारा को यवन सेना न पार सकती ...

अलका — मैं चेष्टा करूँगी वीर, तुम्हारा नाम?

सिंहरण — मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण।

अलका — अच्छा, फिर कभी —

(परस्पर देखते हुए प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(मगध-सम्राट नन्द के विलास-कानन में विलासी युवकों और युवतियों का विहार)

नन्द — (प्रवेश करते हुए) आज वसन्त-उत्सव है क्या?

एक युवक — जय हो देव! आपकी आज्ञा से कुसुमपुर के नागरिकों ने आयोजन किया है।

नन्द — परन्तु मदिरा का तो तुम्हारे समाज में अभाव है, फिर आमोद कैसा? (एक युवती से) – देखो-देखो — तुम सुन्दरी हो परन्तु तुम्हारे यौवन का विभ्रम अभी संकोच की अर्गला से जकड़ा हुआ है। तुम्हारी आँखों में काम का सुकुमार संकेत नहीं, अनुराग की लाली नही! फिर कैसा प्रमोद!

एक युवती — हम लोग को निमन्त्रित नागरिक है देव! इसका दायित्व तो निमन्त्रण देने वाले पर है।

नन्द — वाह, यह अच्छा उलाहना रहा! (अनुचर से) मूर्ख! अभी और कुछ सुनवावेगा? तू नहीं जानता कि मैं ब्रह्मास्त्र से अधिक इन सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ! ले आ — शीघ्र ले आ — नागरिकों पर तो मैं राज्य करता हूँ परन्तु मेरी मगध की नागरिकाओं — कुसुमपुर की काम-कामनियों का शासन — मेरे ऊपर है। श्रीमति, सबसे कह दो — नागरिक नन्द, कुसुमपुर के कमनीय कुसुमों से अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ और आज के दिन यह तुम लोगों का कृतज्ञ सहचर-मात्र है।

(अनुचर लोग प्रत्येक कुंज में मदिरा-कलश और चषक पहुँचाते हैं। राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश, पीछे-पीछे कुछ नागरिक)

राक्षस — सुवासिनी! एक पात्र और चलो इस कुंज में —

सुवासिनी — नहीं, अब मैं न सँभल सकूँगी।

राक्षस — फिर इन लोगों से कैसे पीछा छूटेगा?

सुवासिनी — मेरी एक इच्छा है।

एक नागरिक — क्या इच्छा है सुवासिनी, हम लोग अनुचर है। केवल एक सुन्दर अलाप की, एक कोमल मूर्च्छना की लालसा है।

सुवासिनी — अच्छा तो अभिनय के साथ।

सब — (उल्लास से) सुन्दरियों की रानी सुवासिनी की जय!

सुवासिनी — परन्तु राक्षस को कच का अभिनय करना पड़ेगा।

एक नागरिक — और तुम — देवयानी! क्यों? यही न। राक्षस सचमुच राक्षस होगा, यदि इसमें आनाकानी करे — तो ... चलो राक्षस!

दूसरा — नहीं मूर्ख! आर्य राक्षस कह इतने बड़े कला-कुशल विद्वान को किस प्रकार सम्बोधित करना चाहिये, तू इतना भी नहीं

जानता। आर्य राक्षस! इन नागरिकों की प्रार्थना से इस कष्ट को स्वीकार कीजिये!

(राक्षस उपयुक्त स्थान ग्रहण करता है। कुछ मूक अभिनय के बाद सुवासिनी का भाव सहित गान)

तुम कनक किरन के अन्तराल में लुक-छिप कर चलते हो क्यों?

नत मस्तक गर्व वहन करते

यौवन के घन, रस कन ढरते

हे लाज भरे सौन्दर्य! बता दो — मौन बने रहते हो क्यो?

अधरों के मधुर कगारों में

कल-कल ध्वनि की गुंजारों में?

मधुसरिता-सी यह हँसी तरल — अपनी पीते रहते हो क्यों?

वेला विभ्रम की बीत चली

रजनीगन्धा की कली खिली —

अब, सांध्य-मलय आकुलित-दुकूल-कूलित हो यों छिपते हो क्यों?

(साधु-साधु की ध्वनि)

नन्द — उस अभिनेत्री को यहाँ बुलाओ।

(सुवासिनी नन्द के समीप आकर प्रणत होती है।)

नन्द — तुम्हारा अभिनय तो अभिनय नहीं हुआ!

नागरिक — अपितु वास्तविक घटना जैसी देखने में आवे, वैसी ही देव!

नन्द — तुम बड़े कुशल हो — ठीक कहा।

सुवासिनी — तो मुझे दण्ड मिले। आज्ञा कीजिये देव!

नन्द — मेरे साथ एक पात्र!

सुवासिनी — परन्तु देव, एक बड़ी भूल होगी।

नन्द — वह क्या?

सुवासिनी — आर्य राक्षस का अभिनयपूर्ण गान नहीं हुआ।

नन्द — राक्षस!

नागरिक — यही है देव!

(राक्षस सम्मुख आकर प्रणाम करता है)

नन्द — वसन्तोत्सव की रानी की आज्ञा से तुम्हें गाना होगा।

राक्षस — उसका मूल्य होगा एक पात्र कादम्ब!

(सुवासिनी पात्र भरकर देती है। सुवासिनी मान का मूक अभिनय करती है। राक्षस सुवासिनी के सम्मुख अभिनय सहित गाता है।)

निकल मत बाहर दुर्बल आह लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच तड़प ले चपला-सी भयभीत
पड़ रहे पावन प्रेम-फुहार जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर
अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ भरे तारे न ढुलकते आह!
न उफना दे आँसू है भरे इन्हीं आँखों में उनकी चाह
काकली-सी बनने की तुम्हें लगन लग जाय न हे भगवान
पपीहा का पी सुनता कभी अरे कोकिल की देख दशा न
हृदय है पास, साँस की राह चले आना-जाना चुपचाप
अरे छाया बन छू मत इसे भरा है तुझमें भीषण ताप
हिलाकर धड़कन से अविनीत जगा मत सोया है सुकुमार
देखता है स्मृतियों का स्वप्न हृदय पर मत कर अत्याचार।

समवेत कण्ठ से — 'स्वर्गीय अमात्य वक्रनास के कुल की जय'

नन्द — क्या कहा — वक्रनास का कुल?

नागरिक — हाँ देव, आर्य राक्षस उन्हीं के भ्रातृष्पुत्र है।

नन्द — राक्षस! आज से तुम मेरे अमात्यवर्ग में नियुक्त हुए। तुम तो कुसुमपुर के एक रत्न हो!

(नन्द राक्षस को माला पहनाता है और शस्त्र देता है।)

सब — सम्राट की जय हो! अमात्य राक्षस की जय हो!

नन्द — और सुवासिनी — तुम मेरी अभिनयशाला की रानी!

(नृत्यांगना सुवासिनी की जयकार करते सब जाते हैं।)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(कुसुमपुर में एक भग्न कुटीर)

चाणक्य — (प्रवेश करके) झोपड़ी ही तो थी, पिताजी यहीं मुझे गोद में लेकर राज-मन्दिर का सुख अनुभव करते थे। ब्राह्मण थे —

ऋतु और अमृत जीविका से सन्तुष्ट थे, पर वे भी न रहे! कहाँ गए, कोई नहीं जानता। मुझे भी कोई नहीं पहचानता। यही तो मगध का राष्ट्र है। प्रजा की खोज है किसे? वृद्ध, दरिद्र ब्राह्मण कहीं ठोकरें खाता होगा या मर गया होगा!

(एक प्रतिवेशी का प्रवेश)

प्रतिवेशी — (चाणक्य के देखकर) तुम कौन हो जी? इधर के घरों को बड़ी देर के क्या घूर रहे हो?

चाणक्य — ये घर है — जिन्हें पशु की खोह कहने में भी संकोच होता है? यहाँ कोई स्वर्ण-रत्नों का ढेर नहीं, जो लुटने का भय हो?

प्रतिवेशी — युवक, तुम किसी को खोज रहे हो?

चाणक्य — हाँ खोज रहा हूँ — इसी झोंपड़े में रहने वाले वृद्ध ब्राह्मण चणक को। आजकल वे कहाँ है, बता सकते हो?

प्रतिवेशी — (सोचकर) ओहो, कई बरस हुए वह तो राजा की आज्ञा से निर्वासित कर दिया गया है। (हँसकर) – वह ब्राह्मण भी बड़ी हठी था। उसने राजा नन्द के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया। सो भी क्यों — एक मन्त्री शकटार के लिए। उसने सुना कि राजा ने शकटार का बन्दीगृह में वध करवा डाला। ब्राह्मण

ने नगर में इस अन्याय के विरुद्ध आतंक फैलाया। सबसे कहने लगा कि — “यह महापद्म का जारज पुत्र नन्द — महापद्म का हत्याकारी नन्द — मगध में राक्षसी राज्य कर रहा है, नागरिकों सावधान!”

चाणक्य — अच्छा तब क्या हुआ?

प्रतिवेशी — वह पकड़ा गया। सो भी कब, जब एक दिन अहेर की यात्रा करते हुए नन्द के लिए राजपथ में नागरिकों ने मुक्तकण्ठ से अनादर के वाक्य कहे। नन्द ने ब्राह्मण को समझाया। यह भी कहा कि तेरा मित्र शकटार बन्दी है, मारा नहीं गया। पर वह बड़ी हठी थी, उसने न माना, नहीं माना। नन्द ने भी चिढ़ कर उसका ब्रह्मस्व बौद्ध-विहार में दे दिया और मगध से निर्वासित कर दिया। यही तो उसकी झोपड़ी है। (जाता है)

चाणक्य — (उसे बुलाकर) अच्छा एक बात और बताओ।

प्रतिवेशी! – क्या पूछते हो जी, तुम इतना जान लो कि नन्द को ब्राह्मणों से घोर शत्रुता है और वह बौद्ध-धर्मानुयायी हो गया है।

चाणक्य — होने दो, परन्तु यह तो बताओ — शकटार का कुटुम्ब कहाँ है?

प्रतिवेशी — कैसे मनुष्य हो? अरे राज कोपानल में वे सब जल मरे। इतनी-सी बात के लिए मुझे लौटाया था। छि! (जाना चाहता है।)

चाणक्य — हे भगवान्! एक बात दया करके और बता दो — शकटार की कन्या सुवासिनी कहाँ है?

प्रतिवेशी — (जोर से हँसता है) युवक! वह बौद्ध-विहार में चली गयी थी, परन्तु वहाँ भी न रह सकी। पहले तो अभिनय करती फिरती थी, आजकल कहाँ है, नहीं जानता। (जाता है।)

चाणक्य — पिता का पता नहीं, झोपड़ी भी नहीं रही। सुवासिनी अभिनेत्री हो गयी — संभवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है! क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का सगंठन मनुष्य ने किया था! मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असम्भव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा — नहीं तो नाश ही करूँगा। (ठहर कर) एक बार चलूँ — नन्द से कहूँ! नहीं — परन्तु मेरी भूमि, मेरी वृत्ति — वही मिल जाय, मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई-बुराई से क्या। तो चलूँ। (देखकर) यह लकड़ी का स्तम्भ अभी उसी झोपड़ी का खड़ा है, इसके साथ मेरे बाल्यकाल की सहस्रों भाँवरिया लिपटी

हुई है, जिन पर मेरी धवल मधुर हँसी का आवरण चढ़ा रहता था! शैशव की स्मृति! विलीन हो जा!

(खम्भा खींच कर गिराता हुआ चला जाता है।)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(कुसुमपुर में सरस्वती-मन्दिर में उपवन का पथ)

राक्षस — सुवासिनी! हठ न करो।

सुवासिनी — नहीं, उस ब्राह्मण को दण्ड दिये बिना सुवासिनी जी नहीं सकती अमात्य, तुमको करना होगा।

मैं बौद्ध स्तूप की पूजा करके आ रही थी, उसने व्यंग किया और वह बड़ा कठोर था — राक्षस! उसने कहा — 'वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ ऐसे धर्म के अनुकूल पतितों की भी कमी नहीं!'

राक्षस — यह उसका अन्याय था।

सुवासिनी — परन्तु अन्याय का प्रतिकार भी है। नहीं तो मैं समझूँगी कि तुम भी वैसे ही एक कठोर ब्राह्मण हो।

राक्षस — मैं वैसा हूँ कि नहीं, यह पीछे मालूम होगा। परन्तु सुवासिनी, मैं स्वयं हृदय से बौद्ध मत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक, इतना ही कि संसार दुःखमय है।

सुवासिनी — इसके बाद?

राक्षस — मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ — और तुम जानती हो कि मैंने ब्याह नहीं किया — परन्तु भिक्षु भी न बन सका।

सुवासिनी — तब आज से मेरे कारण तुमको राजचक्र से बौद्ध मत का समर्थन करना होगा।

राक्षस — मैं प्रस्तुत हूँ।

सुवासिनी — फिर तो, मैं तुम्हारी हूँ। मुझे विश्वास है कि दुराचारी सदाचार के द्वारा शुद्ध हो सकता है, और बौद्ध मत इसका समर्थन करता है, सबको शरण देता है। हम दोनों उपासक होकर सुखी बनेंगे।

राक्षस — इतना बड़ा सुख-स्वप्न का जाल — आँखों में न फैलाओ!

सुवासिनी — नहीं प्रिय! मैं तुम्हारी अनुचरी हूँ। मैं नन्द की विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती। (जाती है)

राक्षस — एक परदा उठ रहा है, या गिर रहा है, समझ में नहीं आता (आँखें मींचकर) सुवासिनी! कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम — मैं हस्तगत कर लूँ? नहीं राजकोप होगा! परन्तु जीवन वृथा है। मेरी विद्या, मेरे परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है — वह अमृत है, उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा। (नेपथ्य से — 'हटो — मार्ग छोड़ दो' – की ध्वनि सुनकर) कोई राजकुल की सवारी है? तो चलूँ। (जाता है)

(रक्षियों के शिविका पर राजकुमारी कल्याणी का प्रवेश)

कल्याणी — (शिविका से उतरती हुई लीला से) शिविका उद्यान के बाहर ले जाने के लिए कहो और रक्षी लोग भी वहीं ठहरें। (शिविका लेकर रक्षी जाते हैं — नेपथ्य की ओर देखकर) आज सरस्वती मन्दिर में कोई समाज है क्या? जा तो नीला, देख आ।

(नीला जाती है)

लीला — राजकुमारी चलिये, इस श्वेत शिला पर बैठिये। यहाँ अशोक की छाया बड़ी मनोहर है। अभी तीसरे पहर का सूर्य कोमल होने पर भी स्पृहणीय नहीं।

कल्याणी — चल।

(दोनों जाकर बैठती हैं। नीला आती है।)

नीला — राजकुमारी, आज तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक लोग सरस्वती दर्शन के लिए आये है

कल्याणी — क्या सब लौट आये है?

नीला — यह तो न जान सकी।

कल्याणी — अच्छा, तू भी बैठ। देख, कैसी सुन्दर माधवी लता फैल रही है। महाराज के उद्यान में भी लतायें ऐसी हरी-भरी नहीं, जैसे राज-आतंक से वे भी डरी हुई हो। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता, डरते भले ही हो।

नीला — सखी, मुझ पर उनका कन्या-सा स्नेह है, परन्तु मुझे डर लगता है।

कल्याणी — मुझे इसका बड़ा दुःख है। देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है, प्रचण्ड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है।

नीला — परन्तु इसका उपाय क्या है? देख लीला, वे दो कौन इधर आ रहे है। चल, हम लोग छिप जाये।

(सब कुंज में चली जाती है। दो ब्रह्मचारियों का प्रवेश)

एक ब्रह्मचारी — धर्मपालित मगध को उन्माद हो गया है। वह जनसाधारण के अधिकार अत्याचारियों के हाथ में देकर विलासिता का स्वप्न देख रहा है। तुम तो गये नहीं, मैं अभी उत्तरापथ से आ रहा हूँ। गणतन्त्रों में सब प्रजा वन्यवीरुध के समान स्वच्छंद फल-फूल रही है। इधर उन्मत्त, साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है।

दूसरा — स्नातक, तुम ठीक कह रहे हो। महापद्म का जारज पुत्र नन्द केवल शस्त्र-बल और कूटनीति के द्वारा सदाचारों के सिर पर ताण्डव-नृत्य कर रहा है। यह सिद्धान्त-विहीन, नृशंस, कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों ने भेदनीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है। तुम देश-विदेश देखकर आये हो, आज

मेरे घर पर तुम्हारा निमन्त्रण है, वहाँ सबको तुम्हारी यात्रा का विवरण सुनने का अवसर मिलेगा।

पहला — चलो।

(दोनों जाते हैं। कल्याणी बाहर आती है)

कल्याणी — सुनकर हृदय की गति रुकने लगती है। इतना कदर्थित राजपद! जिसे साधारण नागरिक भी घृणा की दृष्टि से देखता है कितने मूल्य है लीला?

(नेपथ्य से 'भागो-भागो! राजा का अहेरी चीता पिंजरे से निकल भागा है, भागो-भागो' – तीनों चीखती हुई कुंज में छिपने लगती हैं। चीता आता है। दूर से आकर तीर उसका सिर छेद कर निकल जाता है — चीता गिरता है। धनुष लिए हुए चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — कौन है यहाँ? किधर से स्त्रियों का क्रन्दन सुनाई पड़ा था? (देखकर) अरे यहाँ तो तीन सुकुमारियाँ है। भद्रे — पशु ने कुछ चोट तो नहीं पहुँचाई?

लीला — साधु! वीर! राजकुमारी की प्राण-रक्षा के लिए तुम्हें अवश्य पुरस्कार मिलेगा।

चन्द्रगुप्त — कौन? राजकुमारी कल्याणी देवी?

लीला — हाँ, यही न है? भय से मुख विवर्ण हो गया है।

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी, मौर्य-सेनापति का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

कल्याणी — (स्वस्थ होकर सलज्ज) नमस्कार — चन्द्रगुप्त, मैं कृतज्ञ हुई। तुम भी स्नातक होकर लौटे हो?

चन्द्रगुप्त — हाँ देवि, तक्षशिला में पाँच वर्ष रहने के कारण यहाँ के लोगों को पहचानने में विलम्ब होता है। जिन्हें किशोर छोड़कर गया था, अब से तरुण दिखाई पड़ते है। अपने कई बाल सहचरों को भी मैं न पहचान सका।

कल्याणी — परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे।

चन्द्रगुप्त — देवि, यह अनुचर सेवा के उपयुक्त अवसर पर पहुँचा। चलिये शिविका तक पहुँचा दूँ।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(नगर की सीमा में सार्थवाह धनदत्त अपने पैरों को गिनते हुए रखता बाई नासिका बन्द किए दाहिने से जोर-जोर से श्वास फेंकता हुआ एक, दो, तीन, चार, पाँच कहते आता है, सामने से बड़ी-बड़ी जटाओं वाला एक आजीवक लम्बा-सा बाँस लिये और चादर ओढ़े उसे सम्मुख आकर जोर से छींक देता है। धनदत्त घबरा कर बैठ जाता है और उसके देखते नेपथ्य की ओर हाथ उठाकर रुकने का संकेत करता है। आजीवक हँसने लगता है)

धनदत्त — (सक्रोध) तुम हँस रहे हो!

आजीवक — तो क्यो रोऊँ!

धनदत्त — अरे नहीं-नहीं तुमने छींक तो दिया ही अब यात्रा के समय रोने भी लगोगे।

आजीवक — फिर क्या होगा?

धनदत्त — कहीं राह में कुवे सूख जायँ। घोड़े बैल मर जायँ। डाकू घेर ले। आँधी चलने लगे। पानी बरसने लगे, रात को प्रेतों का आक्रमण हो, गाड़ियाँ उलट जायँ।

आजीवक — फिर ...

धनदत्त — तुम्हारा सिर! मैं तो जा रहा हूँ इतनी दूर, शकुन देखकर घर से निकलता था। तुम पूरे व्यतीपात की तरह मेरी यात्रा में व्याघात बन रहे हो।

आजीवक — यह बात! तो तुम अपनी यात्रा करो। (जाने के लिये मुँह फिराता है, दूसरी ओर से दौड़ता हुआ चन्दन आता है। आजीवक को पकड़ कर घुमा देता है)

चन्दन — अब चले कहाँ। यह देखो सामने इतने मनुष्यों का झुण्ड! सबको ग्यारह-ग्यारह पग दाहिने स्वर में चलकर चैत्य-वृक्ष के नीचे रुक जाना था। सो पाँव ही चल सके। अब तुम भी यही ठहरो।

आजीवक — अरे चल भी। ग्यारह पग चलने के लिये इतना बड़ा आयोजन!

(चन्दन आश्चर्य से धनदत्त को देखता है। धनदत्त क्रोध से आजीवक को झकझोर कर हिला देता है)

चन्दन — ठहरिये मैं पूछ तो लूँ। (आजीवक से) अरे भाई तुम दार्शनिक हो? आजीवक — हूँ।

चन्दन — तुम्हारा क्या सिद्धान्त है? पृथ्वी चल है या अचल — अग्नि में जल है या नहीं। पानी गरम करने से जीव मरते है कि जल शुद्ध हो जाता है?

आजीवक — चुप रहो।

धनदत्त — मैं पूछता हूँ कि जब शकुन देखकर, ब्राह्मण का आशीर्वाद लेकर घर से मैं निकला तब तुम ठीक उसी समय मेरे पथ में बर्नाविलाव की तरह क्यों आ गए मुझे जाना है तक्षशिला फिर सिन्धु देश फिर शिविजनपद में —

आजीवक — फिर?

धनदत्त — क्या सब तुम्हीं को बता दें? व्यापार के गूढ़ रहस्यों को तुम जैसे जटाधारी नारियल की खोपड़ी क्या समझेगी।

आजीवक — तो मैं पूछता कब हूँ?

चन्दन — पर जो अपशकुन हो गया। अब हम लोग न पीछे लौट सकता है न आगे बढ़ सकते हैं।

आजीवक — यही तो — पुरुष कुछ नहीं कर सकता है।

चन्दन — (आश्चर्य से) क्यों?

आजीवक — क्योंकि उसमे न कर्तृव्य है न कर्म।

धनदत्त — है है यह तुम क्या कहते हो।

आजीवक — यही तो क्योंकि उसमें वीर्य नहीं।

धनदत्त — यह तो हुई पुरुषों की बात। भला स्त्री!

चन्दन — अरे रे मैं तो भूल ही गय था।

धनदत्त — क्या?

चन्दन — मेरी स्त्री ने मुझ से कहा है कि तक्षशिला की दुकानों में चीन देश का हलाहल मिलता है — थोड़ा-से लेते आना। और, आपकी श्रीमती जी भी माँगा है — तंगण देश का सोने का चूर्ण — सत्ताइस थैली।

धनदत्त — (लम्बी साँस लेकर) किन्तु जटाधारी जी तो कहते है कि मैं कुछ कर ही नहीं सकता। दौड़कर जाओ चन्दन दोनों से यही कहते आओ।

चन्दन — किन्तु बिना थैली के घर नहीं लौट सकते — समझा।

धनदत्त — अरे चन्दन कोई उपाय बता क्या करूँ? मुहूर्त तो निकल ही गया। अब चैत्य-वृक्ष के नीचे विश्राम करूँ या घर ही लौट चलूँ। फिर कोई दूसरा शकुन देखकर यात्रा होगी।

आजीवक — तुम, नियति के क्रीड़ा कन्दुक — कुछ न कर सकोगे।

चन्दन — श्रीमान्! इस अकर्मण्य को मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए आप यही चित्त लेट जाइये और कुछ कर दिखाइये। (धनदत्त लम्बी साँस लेकर इधर-उधर देखता हुआ बैठ जाता है)

चन्दन — हाँ-हाँ लेट जाइये — कहता हूँ न! कन्दुक की ऐसा-तैसी — क्यों महाराज! अब कोई उछाले इस गेंद को।

धनदत्त — (लेटता हुआ) अरे चन्दन! यह साधु सच तो नहीं कह रहा है? पुरुष क्यों सचमुच कुछ नहीं कर सकता।

चन्दन — हो भी सकता है। ठहरिए, मैंने कही पढ़ा है। ऐ, वह पंक्ति — 'न कर्तृत्वं त कर्मोपि' ठीक तो आप कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

आजीवक — चन्दन! तुम तो खूब घिसे हुए हो।

(दौड़ कर दासी आती धनदत्त से ठोकर खाकर गिरते-गिरते बचती है)

दासी — हत् तेरे की! स्वामी कहाँ है चन्दन।

चन्दन — अन्धी — देखती नहीं, किसे ठोकर लगा रही है।

(दासी कान पकड़ कर दाँतों से जीभ दबा देती है)

आजीवक — क्यों भाई सार्थवाह कन्दुक बने कि नहीं।

धनदत्त — ठहरो जी (दासी से) क्या कहती है रे, अब और कुछ —

दासी — स्वामिनी ने कहा है कि सात जोड़ी काश्मीर का सूक्ष्म कम्बल जिस पर स्वर्ण तारों से फूल बने हों, और चीन की सत्रह रेशमी साड़ियाँ ले आने के लिए कहना मैं भूल गई थी।

(धनदत्त साँस लेकर उठ बैठता है और कहता है 'भाग यहाँ से' – दासी जाती है। दूसरी ओर से एक राजपुरुष आता है। उधर आजीवन को देखता हुआ फिर धनदत्त की ओर झुकता है। धनदत्त फिर साँस खींचता हुआ लेट जाता है।)

राजपुरुष — यह क्या! सार्थवाह धनदत्त को किसी ने मारा-पिटा है क्या?

धनदत्त — (रुआँसे स्वर से) मारा-पिटा ही नहीं बिल्कुल हत्या की गई है। कुछ करने लायक नहीं रह गया।

राजपुरुष — ओ हो! (समीप से देखकर) कहीं चोट तो नहीं दिखलाई देती — जी।

धनदत्त — बहुत-सी चोटें ऐसी होती हैं जो दिखाई नहीं पड़ती।

चन्दन — जैसे आँख की चोट।

धनदत्त — ओ — वह तो जात-पाँत की बात है। आँखों में लगी हुई चोट को आँखें देखने देंगी?

चन्दन — और बात की चोट।

राजपुरुष — तो फिर हुआ क्या? किसने क्या कहा?

धनदत्त — देखते नहीं सामने भदन्त खड़े है। पूरे छदन्त।

राजपुरुष — क्या इन्होंने शाप दिया है?

आजीवक — यह अज्ञानी है — सन्दिग्ध है।

राजपुरुष — हूँ, सुनो सार्थवाह! महाराज नन्द ने कहा है कि उस बार समुद्र पार के वाणिज्य पर तुमने बीस प्रतिशत कर नहीं दिया था। इसलिए अब की बार जब तुम नगर के बाहर जा रहे हो तो सत्रह नीलमणियाँ, पाँच गजमुक्ताएँ, तीन सर्पमणियाँ लेकर ही आना। यहीं कहने के लिए मैं भेजा गया हूँ।

धनदत्त — आँय — कहते क्या है आप!

राजपुरुष — जो तुम सुन रहे हो।

धनदत्त — इसके सुनने पर कान फटने से बच जायँगे?

राजपुरुष — मैं यह सब कुछ नहीं जानता।

धनदत्त — किन्तु देखिए भदन्त कहते है कि पुरुष कुछ कर ही नहीं सकता — क्यों न!

आजीवक — नियति जो करती है वही मनुष्य के लिए पथ्य है। मूर्ख मनुष्य! व्यर्थ अपनी टाँग अड़ाता है।

राजपुरुष — अकर्मण्य भिक्षु! यह क्या पढ़ा रहे हो।

चन्दन — नियति यदि तुम्हारी टाँग तोड़ दे? भिक्षु जी!

आजीवक — तो तुम मुझे अपनी पीठ पर लाद कर मुझे जहाँ जाना है पहुँचा दोगे।

चन्दन — और तुम्हारा बोझ ढोना मैं न स्वीकार करूँ?

आजीवक — तो कदाचित् नियति तुम्हारी टाँग भी तोड़ चुकी होगी।

चन्दन — है — है यह मुँह है कि अभिशापों का परनाला! कहे देता हूँ मैं सेठ-वेठ नहीं हूँ। मैं भी कुछ — समझा न। शाप देने का मुझे भी अधिकार है। (यज्ञोपवीत निकालने लगता है)

आजीवक — (मुस्कराता हुआ) तुम कुछ हो यह तो मैं नहीं जानता था।

राजपुरुष — सुनो राजा की आज्ञा क्या है इसको तो तुम समझ गए होंगे!

धनदत्त — सब समझ गया। किन्तु यह बताइए सर्पमणि क्या होगी वह विष से बुझी हुई वस्तु भला राजा —

राजपुरुष — अरे! तुमको नहीं मालूम कि राजकुमारी का ब्याह पंचनद नरेश से होने की बात चल रही है। उसमें उपहार देने के लिए इन मणियों की नितान्त आवश्यकता है।

चन्दन — नितान्त!

राजपुरुष — (घुड़क कर) चुप न रहोगे तो तुमको अभी —

चन्दन — (रुआँसा स्वर बनाकर) अपमान न करो मेरा। हाँ, मैं भी कभी, कोई, कुछ, कहीं का था। अपना-अपना समय है, धनदत्त की देख-रेख करने उसकी सहायता के लिये मैं परदेश जा रहा हूँ। नहीं तो...

राजपुरुष — मैं न तुम्हारा दुःख बहुत सहज में छुड़ा सकता हूँ। चले -चलो मेरे साथ। जहाँ अन्धकूप में तीन मास रहे कि यह सब रोग छूट जायँगे। बड़े-बड़े लोगों की, अमात्यों और मन्त्रियों की भी वहाँ चिकित्सा हो रही है।

चन्दन — (काँप कर) दुहाई है — भाई धनदत्त! मुझे बचाओ इस यमदूत से। कुछ दे-लेकर रक्षा करो।

धनदत्त — किन्तु इतनी बड़ी उपहार सूची। ओह यह तो सूची की तरह चुभने लगती है। (राजपुरुष से) क्यों महोदय! क्यों ने मैं ही इन सब वस्तुओं को पंचनद नरेश तक पहुँचा दूँ, जहाँ

राजकुमारी का ब्याह होने वाला है। आप भी झंझट से बच जायेंगे। यहाँ आते समय कहीं मेरे सार्थ पर डाका पड़ गया, तब?

राजपुरुष — नहीं! यहाँ वे सब मणियाँ भाण्डागारिक की परीक्षा में पहले आवेंगी। स्मरण रखना, मैं जाता हूँ।

चन्दन — मुझे छोड़े जाइए। आपका बड़ा यश गाता फिरूँगा। हे महापुरुष — देवपुरुष — राजपुरुष — मेरे पूर्व पुरुष! क्षमा!

(दण्डवत करता है। राजपुरुष का हँसते हुए प्रस्थान)

धनदत्त — चन्दन! देखता हूँ कि जाना नहीं होगा।

चन्दन — यह भी अच्छा ही है। (आजीवक से) क्यों महात्मा जी! आपकी क्या सम्मति है?

आजीवक — नियति तुम लोगों को अपने पथ पर आप ही ले चलेगी।

चन्दन — और आपको।

आजीवक — मैं तो भाई पहले ही कह चुका हूँ। मनुष्य कुछ नहीं कर सकता है। चले चलो आँख मूँद कर।

धनदत्त — आज की यात्रा में तो देखता हूँ कि बड़ा बाधाएँ ही है न?

चन्दन — अरे भाई अब रात यही चैत्य-वृक्ष के नीचे बितानी होगी। तो चलो वहीं चलें।

धनदत्त — किन्तु ग्यारह पग तो दक्षिण श्वास में चल नहीं सका पाँच ही चलकर बैठ गया। अब?

चन्दन — यही तो मैं भी विचार कर रहा हूँ।

आजीवक — तो फिर आप लोग विचार कीजिए। (जाने का उपक्रम करता है)

धनदत्त — वाह! आप चले कहाँ! आज की रात तो आपको यहीं हम लोगों के साथ बितानी पड़ेगी। देखो हम लोगों के साथी तो वही रुके रहेंगे रात को हम लोग अकेले उस वृक्ष के नीचे कैसे रहेंगे? तुम रहोगे तो भूत लोग तुम्हें अपना भाई-बन्धु समझ कर हम लोगों को न सतावेंगे।

आजीवक — परन्तु उस वृक्ष के नीचे चलो तब तो।

धनदत्त — हाँ रे चन्दन! सूची में कुछ भूल न हो।

चन्दन — अरे! चलो तो बैठकर लिख भी लें।

धनदत्त — पर चलें तो कैसे। कैसे मुहूर्त में निकले हैं भगवान।

आजीवक — मैं बताऊँ पैर से न चलो रेंग कर चलो।

धनदत्त — ऐं!

चन्दन — ठीक तो!

धनदत्त — अरे मेरी तोंद तो देख लो तब कहो! छिल जाय तो!

चन्दन — फिर मुहूर्त की व्यवस्था!

धनदत्त — अच्छा फिर (पेट के बल घिसकने लगता है।)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(मगध में नन्द की राजसभा । राक्षस और सभासदों के साथ नन्द)

नन्द — हाँ, तब?

राक्षस — दूत लौट आये और उन्होंने कहा कि पंचनद-नरेश को यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं।

नन्द — क्यों?

राक्षस — प्राच्य-देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से वे परिणय नहीं कर सकते।

नन्द — इतना गर्व!

राक्षस — यह उनका गर्व नहीं, यह धर्म का दम्भ है, व्यंग है। मैं इसका फल चखा दूँगा। मगध — जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का अपमान करके कोई यों ही नहीं बच जायेगा। ब्राह्मणों का यह...

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी — जय हो देव, मगध से शिक्षा के लिए गये हुए तक्षशिला से स्नातक आये है।

नन्द — लिवा लाओ।

(प्रतिहारी का प्रस्थान। चन्द्रगुप्त के साथ कई स्नातकों का प्रवेश)

स्नातक — राजाधिराज की जय हो!

नन्द — स्वागत! अमात्य वररुचि अभी नहीं आये, देखो तो!

(प्रतिहारी का प्रस्थान और वररुचि के साथ प्रवेश)

वररुचि — जय हो देव, मैं स्वयं आ रहा था।

नन्द — तक्षशिला से लौटे हुए, स्नातकों की परीक्षा लीजिये।

वररुचि — राजाधिराज, जिस गुरुकुल में मैं स्वयं परीक्षा देकर स्नातक हुआ हूँ, उसके प्रमाण की भी पुनः परीक्षा, अपने गुरुजनों के प्रति अपराध करना है।

नन्द — किन्तु राजकोष का रुपया व्यर्थ ही स्नातकों को भेजने में लगता है या इसका सदुपयोग होता है, इसका निर्णय कैसे हो?

राक्षस — केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है! और वह तो मगध में ही मिल सकती है।

(चाणक्य का सहसा प्रवेश। त्रस्त दौवारिक पीछे-पीछे आता है)

चाणक्य — परन्तु बौद्धधर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ विहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।

नन्द — तुम अनधिकार चर्चा करने वाले कौन हो जी?

चाणक्य — तक्षशिला से लौटा हुआ एक स्नातक ब्राह्मण।

नन्द — ब्राह्मण! ब्राह्मण! जिधर देखो कृत्या के समान इनकी आतंक ज्वाला धधक रही है।

चाणक्य — नहीं महाराज! ज्वाला कहाँ! भस्मावगुण्ठित अंगारे रह गये है!

राक्षस — तब भी इतना ताप!

चाणक्य — वह तो रहेगा ही! जिस दिन उसका अन्त होगा, उसी दिन आर्यावर्त का ध्वंस होगा। यदि अमात्य ने ब्राह्मण-विनाश करने का विचार किया हो तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग कर दें, क्योंकि राष्ट्र का शुभ-चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते है। एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से — रक्त-समुद्र की आँधियों से — आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।

नन्द — ब्राह्मण! तुम बोलना नहीं जानते हो तो चुप रहना सीखो।

चाणक्य — महाराज, उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था और मगध का सिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल में मैंने अध्यापन का कार्य भी किया है। इसलिए मेरा हृदय यह नहीं मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।

नन्द — तुम चुप रहो।

चाणक्य — एक बात कहकर महाराज!

राक्षस — क्या?

चाणक्य — यवनों की विकटवाहिनी निषध-पर्वत माला तक पहुँच गई है — तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसन्धि है। संभवतः

समस्त आर्यावर्त पादाक्रान्त होगा। उत्तरापथ में बहुत-से छोटे-छोटे गणतन्त्र है, वे उस सम्मिलित पारसीक — यवन-बल को रोकने में असमर्थ होगे। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है, इसलिए मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिए।

कल्याणी — (प्रवेश करके) पिताजी, मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल-कन्या हूँ? उस क्षत्रिय को यह सिखा दूँगी कि राज-कन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं। सेनापति को आज्ञा दीजिये कि आसन्न गान्धार-युद्ध में मगध की सेना अवश्य जाय और मैं स्वयं उसका संचालन करूँगी पराजित पर्वतेश्वर को सहायता देकर उसे नीचा दिखाऊँगी।

(नन्द हँसता है)

राक्षस — राजकुमारी, राजनीति महलों में नहीं रहती, इसे हम लोगों के लिये छोड़ देना चाहिए। उद्धत पर्वतेश्वर अपने गर्व का फल भोगे और ब्राह्मण चाणक्य! परीक्षा देकर ही कोई साम्राज्य-नीति समझ लेने का अधिकारी नहीं हो जाता।

चाणक्य — सच है बौद्ध अमात्य, परन्तु यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे।

नन्द — वाचाल ब्राह्मण तुम अभी चले जाओ, नहीं तो प्रतिहारी तुम्हें धक्के देकर निकाल देंगे।

चाणक्य — राजाधिराज मैं जानता हूँ कि प्रमाद में मनुष्य कठोर सत्य का भी अनुभव नहीं करता, इसीलिए मैंने प्रार्थना नहीं की — अपने अपहृत ब्रह्मस्व के लिए मैंने भिक्षा नहीं माँगी। क्यों? जानता था कि वह मुझे ब्राह्मण होने के कारन न मिलेगी, परन्तु जब राष्ट्र के लिए —

राक्षस — चुप रहो। चणक के पुत्र हो न, तुम्हारे पिता भी ऐसे ही हठी थे।

नन्द — क्या! उसी विद्रोही ब्राह्मण की सन्तान? निकालो इसे अभी यहाँ से।

(प्रतिहारी आगे बढ़ता है। चन्द्रगुप्त सामने आकर रोकता है।)

चन्द्रगुप्त — सम्राट मैं प्रार्थना करता हूँ कि गुरुदेव का अपमान न किया जाय। मैं भी उत्तरापथ से आ रहा हूँ। आर्य चाणक्य ने जो कुछ कहा है, वह साम्राज्य के हित की बात है। उस पर विचार किया जाय।

नन्द — कौन? सेनापति मौर्य का कुमार चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त — हाँ देव, मैं युद्ध-नीति सीखने के लिए ही तक्षशिला भेजा गया था। मैंने अपनी आँखों गान्धार का उपप्लव देखा है, मुझे गुरुदेव के मत में पूर्ण विश्वास है। यह आगन्तुक आपत्ति पंचनद-प्रदेश तक ही न रह जायगी।

नन्द — अबोध युवक, तो क्या इसीलिए अपमानित होने पर भी मैं पर्वतेश्वर की सहायता करूँ? असम्भव है। तुम राजाज्ञा में बाधा न देकर शिष्टता सीखो। प्रतिहारी, निकालो इस ब्राह्मण को यह बड़ा ही कुचक्री मालूम पड़ता है।

चन्द्रगुप्त — राजाधिराज, ऐसा करके आप एक भारी अन्याय करेंगे और मगध के शुभचिन्तकों को शत्रु बनायेगे।

कल्याणी — पिताजी, चन्द्रगुप्त पर ही दया कीजिये। एक बात उसकी भी मान लीजिये।

नन्द — चुप रहो, ऐसे उद्दण्ड को मैं कभी नहीं क्षमा करता, और सुनो चन्द्रगुप्त, तुम भी यदि इच्छा हो तो इसी ब्राह्मण के साथ जा सकते हो, अब कभी मगध में मुँह न दिखाना।

(प्रतिहारी दोनों को निकालना चाहता है। चाणक्य रुककर कहता है।)

चाणक्य — सावधान नन्द! तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी, उसमें नन्द-वंश समूल उखड़ेगा। नियति-सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है। समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटायें जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।

नन्द — यह समझ कर कि ब्राह्मण अवध्य है तू मुझे भय दिखलाता है! प्रतिहारी, इसकी शिखा पकड़कर इसे बाहर करो।

(प्रतिहारी उसकी शिखा पकड़कर घसीटता है। वह निश्शंक और दृढता से कहता है।)

चाणक्य — खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते? खींच ले! परन्तु यह शिखा नन्दकुल की काल-सर्पिणी है, यह तब तक न बन्धन में होगी, जब तक नन्दकुल निश्शेष न होगा।

नन्द — इसे बन्दी करो।

(चाणक्य बन्दी किया जाता है)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(सिन्धु-तट पर अलका और मालविका)

मालविका — राजकुमारी! मैं देख आयी, उद्भाण्ड में सिन्धु पर सेतु बन रहा है। युवराज स्वयं उसका निरीक्षण करते है। और मैंने उस सेतु का एक मानचित्र भी प्रस्तुत किया था। यह कुछ अधूरा-सा रह गया है पर इसके देखने से कुछ आभास मिल जायगा।

अलका — सखी! बड़ा दुःख होता है, जब मैं यह स्मरण करती हूँ कि स्वयं महाराज का इसमें हाथ है। देखूँ तो तेरा मानचित्र!

(मालविका मानचित्र देती है, अलका उसे देखती है। एक यवन सैनिक का प्रवेश — वह मानचित्र अलका से ले लेना चाहता है।)

अलका — दूर हो दुर्विनीत दस्यु! (मानचित्र अपनी कंचुकी में छिपा लेती है)

यवन — यह गुप्तचर है, मैं इसे पहचानता हूँ। परन्तु सुन्दरी! तुम कौन हो जो इसकी सहायता कर रही हो? अच्छा हो कि मुझे

मानचित्र मिल जाय, और मैं इसे सप्रमाण बन्दी बनाकर महाराज के सामने ले जाऊँ।

अलका — यह असम्भव है। पहले तुम्हें बताना होगा कि तुम किस अधिकार से यह अत्याचार करना चाहते हो?

यवन — मैं? देवपुत्र अलक्षेन्द्र का नियुक्त अनुचर हूँ और तक्षशिला की मित्रता का साक्षी हूँ। यह अधिकार मुझे गान्धार-नरेश ने दिया है।

अलका — ओह — यवन! गान्धार-नरेश ने तुम्हें यह अधिकार कभी नहीं दिया होगा कि तुम आर्य-ललनाओं के साथ धृष्टता का व्यवहार करो।

यवन — करना ही पड़ेगा, मुझे मानचित्र लेना ही होगा।

अलका — कदापि नहीं।

यवन — क्या यह वही मानचित्र नहीं है, जिसे इस स्त्री ने उद्भाण्ड में बनाना चाहा था?

अलका — परन्तु यह तुम्हें नहीं मिल सकता। यदि तुम सीधे यहाँ से न टलोगे तो शान्ति-रक्षकों को बुलाऊँगी।

यवन — तब तो मेरा उपकार होगा, क्योंकि इस अँगूठी को देखकर वे मेरी सहायता करेंगे।

अलका — (देखकर सिर पकड़ लेती है) ओह!

यवन — (हँसता हुआ) अब ठीक पथ पर आ गयी होगी — बुद्धि। लाओ, मानचित्र मुझे दे दो।

(अलका निस्सहाय इधर-उधर देखती है। सिंहरण का प्रवेश)

सिंहरण — (चौंककर) हैं! कौन राजकुमारी! और यह यवन!

अलका — मालववीर! स्त्री की मर्यादा को न समझने वाले इस यवन को तुम समझा दो कि यह चला जाय।

सिंहरण — यवन, क्या तुम्हारे देश की सभ्यता तुम्हें स्त्रियों का सम्मान करना नहीं सिखाती? क्या सचमुच तुम बर्बर हो?

यवन — मेरी उस सभ्यता ने ही मुझे रोक लिया है, नहीं तो मेरा यह कर्तव्य था कि मैं उस मानचित्र को किसी भी पुरुष के हाथ में होने से उसे जैसे बनता ले ही लेता।

सिंहरण — तुम बड़े प्रगल्भ हो यवन! क्या तुम्हें भय नहीं कि तुम एक दूसरे राज्य में ऐसा आचरण करके अपनी मृत्यु बुला रहे हो?

यवन — उसे आमन्त्रण देने के लिए ही उतनी दूर से आया हूँ।

सिंहरण — राजकुमारी! यह मानचित्र मुझे देकर आप निरापद हो जायँ, फिर मैं देख लूँगा।

अलका — (मानचित्र देती हुई) तुम्हारे लिए ही तो यह मँगाया गया था।

सिंहरण — (उसे देखते हुए) ठीक है, मैं रुका भी इसीलिए था। (यवन से) हाँ जी, कहो, अब तुम्हारी क्या इच्छा है?

यवन — (खड्ग निकालकर) मानचित्र हमें दे दो या प्राण देना होगा।

सिंहरण — उसके अधिकारी का निर्वाचन खड्ग करेगा। तो फिर सावधान हो जाओ। (तलवार खींचता है)

(यवन के साथ युद्ध — सिंहरण घायल होता है परन्तु यवन को उसके भीषण प्रत्याक्रमण से भय होता है, वह भाग निकलता है)

अलका — वीर! यद्यपि तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है, परन्तु अवस्था बड़ी भयानक है। वह जाकर कुछ उत्पात मचावेगा। पिताजी पूर्णरूप से यवनों के हाथ में आत्म-समर्पण कर चुके है।

सिंहरण — (हँसता और रक्त पोंछता हुआ) मेरा काम हो गया राजकुमारी। मेरी नौका प्रस्तुत है, मैं जाता हूँ। परन्तु बड़ा अनर्थ होना चाहता है, क्या गान्धार नरेश किसी तरह न मानेंगे?

अलका — कदापि नहीं, पर्वतेश्वर से उनका वैर बद्धमूल है।

सिंहरण — अच्छा देखा जायगा जो कुछ होगा। देखिए मेरी नौका आ रही है, अब विदा माँगता हूँ।

(सिन्धु में नौका आती है। घायल सिंहरण उस पर बैठता है। सिंहरण और अलका दोनों एक दूसरे को देखते हैं)

अलका — मालविका भी तुम्हारे साथ जायगी — तुम अकेले जाने योग्य इस समय नहीं हो।

सिंहरण — जैसी आज्ञा। बहुत शीघ्र फिर दर्शन करूँगा। जन्मभूमि के लिए ही जीवन है। फिर जब आप-सी सुकुमारियाँ इसकी सेवा में कटिबद्ध है तब मैं पीछे कब रहूँगा। अच्छा नमस्कार।

(मालविका नाव में बैठती है। अलका सतृष्ण नयनों से देखती हुई नमस्कार करती है। नाव चली जाती है। सैनिकों के साथ यवन का प्रवेश)

यवन — निकल गया मेरा अहेर। यह सब प्रपंच इसी रमणी का है। इसको बन्दी बनाओ। (सैनिक अलका को देखकर सिर झुकाते है) बन्दी करो सैनिक!

सैनिक — मैं नहीं कर सकता।

यवन — क्यों गान्धार-नरेश ने तुम्हें क्या आज्ञा दी है?

सैनिक — यही कि आप जिसे कहे, उसे हम लोग बन्दी करके महाराज के पास ले चले।

यवन — फिर विलम्ब क्यों?

(अलका संकेत से वर्जित करती है)

सैनिक — हम लोगो की इच्छा।

यवन! – तुम राजद्रोही हो।

सैनिक — कदापि नहीं, पर यह काम हम लोगों से न हो सकेगा।

यवन — सावधान! तुमको इस आज्ञा-भंग का फल भोगना पड़ेगा। मैं स्वयं बन्दी बनाता हूँ (ठहर कर अलका की ओर बढ़ता है, सैनिक तलवार खींच लेते है) यह क्या?

सैनिक — डरते हो क्या? कायर! स्त्रियों पर वीरता दिखाने में बड़े प्रबल हो और एक युवक के सामने भाग निकले!

यवन — क्या राजकीय आज्ञा का न तुम स्वयं पालन करोगे और न करने दोगे।

सैनिक — यदि साहस हो मरने का — तो आगे बढ़ो।

अलका — (सैनिकों से) ठहरो, विवाद करने का समय नहीं है। (यवन से) कहो, तुम्हारा अभिप्राय क्या है।

यवन — मैं तुम्हें बन्दी करना चाहता हूँ।

अलका — कहाँ ले चलोगे?

यवन — गान्धार-नरेश के पास।

अलका — मैं चलती हूँ, चलो।

(आगे अलका, पीछे यवन और सैनिक जाते है)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

चाणक्य — समीर की गति भी अवरूद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना! परन्तु मन में इतने संकल्प और विकल्प? एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की कठोरता भी है। जकड़ी हुई

लौह शृंखले! एक बार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भंग कर दूँ! क्या रोने लगा? इस निष्ठुर यन्त्रणा की कठोरता से बिल-बिलाकर दया की भिक्षा माँगूँ? और माँगूँ कि मुझे भोजन के लिए एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक बार स्वतन्त्र कर दो? नहीं चाणक्य! ऐसा न करना। नहीं तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जाने वाली एक बाँबी रह जायगा। तब — मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर करूँगा। (ऊपर देखकर) – क्या कभी नहीं? हाँ — हाँ कभी किसी पर नहीं। मैं प्रलयवन्या के समान अबाध गति और कर्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा।

(किवाड़ खुलता है, वररुचि और राक्षस का प्रवेश)

राक्षस — स्नातक! अच्छे तो हो?

चाणक्य — बुरे कब थे बौद्ध अमात्य!

राक्षस — आज हम लोग एक काम से आये हैं। आशा है कि तुम अपनी हठवादिता से मेरा और अपना दोनों का अपकार न करोगे।

वररुचि — हाँ चाणक्य! अमात्य का कहना मान लो।

चाणक्य — भिक्षोपजीवी ब्राह्मण! क्या बौद्धों का संग करते-करते तुम्हें अपनी गरिमा का सम्पूर्ण-विस्मरण हो गया? चाटुकारों के समान हाँ में हाँ मिलाकर जीवन की कठिनाइयों से बचकर, मुझे भी कुत्ते का पाठ पढ़ाना चाहते हो। भूलो मत, यदि राक्षस देवता हो जाय तो उसका विरोध करने के लिए मुझे ब्राह्मण से दैत्य बनना पड़ेगा। क्योंकि, मैं जानता हूँ — वह भी इसका कपट रूप होगा।

वररुचि — ब्राह्मण हो भाई! त्याग और क्षमा के प्रमाण — तपोनिधि ब्राह्मण हो। इतना...

चाणक्य — त्याग और क्षमा, तप, और विद्या — तेज और सम्मान के लिए है — लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग — ब्राह्मण नहीं बने हैं। हमारी दी हुई विभूति से हमीं को अपमानित किया जाय, ऐसा नहीं हो सकता। कात्यायन!अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा। अर्थशास्त्र और दण्ड-नीति की आवश्यकता है।

वररुचि — मैं वार्त्तिक लिख रहा हूँ चाणक्य! उसी के लिए तुम्हें सहकारी बनाना चाहता हूँ। तुम इस बन्दीगृह से निकलो।

चाणक्य — मैं लेखक नहीं हूँ कात्यायन! शास्त्र-प्रणेता हूँ — व्यवस्थापक हूँ।

राक्षस — अच्छा, मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम विवाद न बढ़ाकर स्पष्ट उत्तर दो। तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त-प्रणिधि बनकर जाना चाहते हो या मृत्यु चाहते हो?

तुम्हीं पर विश्वास करके क्यों भेजना चाहता हूँ, यह तुम्हारी स्वीकृति मिलने पर बताऊँगा।

चाणक्य — जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं। और सुनो — पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।

राक्षस — यथेष्ठ है, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

वररुचि — विष्णुगुप्त! मेरा वार्त्तिक अधूरा रह जायगा। मान जाओ। तुमको पाणिनी के कुछ प्रयोगों का पता भी लगाना होगा जो उस शालातुरीय वैयाकरण ने लिखे है! फिर से एक बार तक्षशिला जाने पर ही उनका...

चाणक्य — मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ, समझे!

वररुचि — जिसने 'श्वयुवमघोनामतद्धते' सूत्र लिखा है, वह केवल वैयाकरण ही नहीं, दार्शनिक भी था। उसकी अवहेलना!

चाणक्य — यह मेरी समझ में नहीं आता, मैं कुत्ता, साधारण युवक और इन्द्र को कभी एक सूत्र में नहीं बाँध सकता। कुत्ता-कुत्ता

ही रहेगा, इन्द्र-इन्द्र ही, सुनो वररुचि! मैं कुत्ते को कुत्ता ही बनाना चाहता हूँ। नीचों के हाथ में इन्द्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है, उसे मैं भोग रहा हूँ। तुम जाओ।

वररुचि — क्या मुक्ति भी नहीं चाहते?

चाणक्य — तुम लोगों के हाथों से वह भी नहीं।

राक्षस — अच्छा तो फिर तुम्हें अंधकूप में जाना होगा।

(चन्द्रगुप्त का रक्ताक्त खड्ग लिए सहसा प्रवेश। चाणक्य का बन्धन काटता है। राक्षस प्रहरियों को बुलाना चाहता है।)

चन्द्रगुप्त — चुप रहो अमात्य! शवों में बोलने की शक्ति नहीं, तुम्हारे प्रहरी जीवित नहीं रहे।

चाणक्य — मेरे शिष्य! वत्स चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त — चलिए गुरुदेव! (खड्ग उठाकर राक्षस से) यदि तुमने कुछ भी कोलाहल किया तो...

(राक्षस बैठ जाता है — वररुचि गिर पड़ता है। चन्द्रगुप्त चाणक्य को लिए निकलता हुआ किवाड़ बन्द कर देता है।)

(दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(गान्धार नरेश का प्रकोष्ठ। चिन्तायुक्त राजा प्रवेश करते हुए)

राजा — बूढ़ा हो चला, पर मन बूढ़ा न हुआ। बहुत दिनों तक तृष्णा को तृप्त करता रहा, पर तृप्त नहीं होती। आंभीक तो अभी युवक है, उसके मन में महत्त्वाकांक्षा का होना अनिवार्य है। उसका पथ कुटिल है, गन्धर्व-नगर की-सी सफलता उसे अपने पीछे दौड़ा रही है (विचार करके) हाँ छींक तो नहीं है, पर उन्नति के शिखर पर नाक के सीधे चढ़ने में बड़ी कठिनता है। (ठहर कर) रोक दूँ! अब से भी अच्छा है, जब वे घुस आवेंगे तब तो गान्धार को भी वही कष्ट भोगना पड़ेगा, जो हम दूसरों को देना चाहते हैं —

(अलका के साथ यवन और रक्षकों का प्रवेश)

– बेटी! अलका!

अलका — हाँ, महाराज, अलका।

राजा — नहीं, कहो — हाँ पिताजी। अलका, कब तक तुम्हें सिखाता रहूँ!

अलका — नहीं महाराज!

राजा — फिर महाराज! पागल लड़की — कह, पिता जी!

अलका — वह कैसे महाराज! न्यायाधिकरण पिता-सम्बोधन से पक्षपाती हो जायगा।

राजा — यह क्या?

यवन — महाराज! मुझे नहीं मालूम कि ये राजकुमारी है। अन्यथा मैं, इन्हें बन्दी न बनाता।

राजा — सिल्यूकस! तुम्हारा मुख कन्धे पर से बोल रहा है। यवन! यह मेरी राजकुमारी अलका है। आ बेटी! (उसकी ओर हाथ बढ़ाता है। वह अलग हट जाती है।)

अलका — नहीं महाराज! पहले न्याय कीजिये।

यवन — उद्भाण्ड पर बँधने वाले पुल का मानचित्र इन्होंने एक स्त्री से बनवाया है, और जब मैं उसे माँगने लगा, तो एक युवक को देकर इन्होंने उसे हटा दिया। मैंने यह समाचार आप तक

निवेदन किया और आज्ञा मिली कि वे बन्दी किये जायँ; परन्तु वह युवक निकल गया।

राजा — क्यों बेटी! मानचित्र देखने की इच्छा हुई थी? (सिल्यूकस से) तो क्या चिन्ता है, जाने दो — मानचित्र तुम्हारा पुल बँधना रोक नहीं सकता।

अलका — नहीं महाराज! मानचित्र एक विशेष कार्य से बनवाया गया है — वह गान्धार की लगी हुई कालिख छुड़ाने के लिए...

राजा — सो तो मैं जानता हूँ बेटा! तुम क्या कोई नासमझ हो।

(वेग से आंभीक का प्रवेश)

आंभीक — नहीं पिताजी, आपके राज्य में एक भयानक षडयन्त्र चल रहा है और तक्षशिला का गुरुकुल उसका केन्द्र है. अलका उस रहस्यपूर्ण कुचक्र की कुंजी है।

राजा — क्यों अलका यह बात रही है?

अलका — सत्य है महाराज! जिस उन्नति की आशा में आंभीक ने यह नीच कर्म किया है, उसका पहला फल यह है कि आज मैं बन्दिनी हूँ सम्भव है कल आप होंगे और परसों गान्धार की

जनता बेगार करेगी। उनका मुखिया होगा आपका वंश-उज्ज्वलकारी --आंभीक।

यवन — सन्धि के अनुसार देवपुत्र का साम्राज्य और गान्धार मित्र-राज्य है, यह व्यर्थ की बात है।

आंभीक — सिल्यूकस ! तुम विश्राम करो। हम इसको समझ कर तुमसे मिलते है।

राजा — परन्तु आंभीक! राजकुमारी बन्दिनी बनायी जाय, वह भी मेरे ही सामने! उसके लिए एक यवन दण्ड की व्यवस्था करे, यही तो तुम्हारे उद्योगों की फल है?

अलका — महाराज! मुझे दण्ड दीजिये, कारागार में भेजिये, नहीं तो मैं मुक्त रहने पर यही करूँगी। कुलपुत्रों के रक्त से आर्यावर्त की भूमि सिंचेगी! दानवी बनकर जननी जन्म-भूमि अपनी सन्तान को खायेगी। महाराज! आर्यावर्त के सब बच्चे आंभीक जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे। स्मरण रहे, यवनों की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्तन बनाने वाले यही भारत-सन्तान होगे। सब बचे हुए क्षतांग-वीर, गान्धार को — भारत के द्वार-रक्षक को — विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसके नाम लिखा जायगा मेरे पिता का — आह! उसे सुनने के लिए मुझे जीवित न छोड़िये दण्ड दीजिये — मृत्युदण्ड!

आंभीक — इसे उन सबों ने खूब बहकाया है। राजनीति के खेल यह क्या जाने! पिताजी, पर्वतेश्वर — उद्दण्ड पर्वतेश्वर ने जो मेरा अपमान किया है, उसका प्रतिशोध!

राजा — हाँ बेटी। उसने स्पष्ट कह दिया कि, कायर आंभीक ने अपने लोक विश्रुत कुल की कुमारी का ब्याह न करूँगा। और भी उसने वितस्ता के इस पार अपनी एक चौकी बना ली है — जो प्राचीन सन्धियों के विरुद्ध है।

अलका - तब महाराज। उस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए जो लड़कर मर नहीं गया वह कायर नहीं तो और क्या है।

आंभीक — चुप रहो अलका।

राजा — तुम दोनों ही ठीक बातें कर रहे हों, फिर मैं क्या करूँ?

अलका — तो महाराज! मुझे दण्ड दीजिये, क्योंकि राज्य का उत्तराधिकारी आंभीक ही उसके शुभाशुभ की कसौटी है, मैं भ्रम में हूँ।

राजा — मैं यह कैसे कहूँ?

अलका — तब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं राज-मन्दिर छोड़कर चली जाऊँ।

राजा — कहाँ जाओगी और क्या करोगी अलका?

अलका — गान्धार में विद्रोह मचाऊँगी।

राजा — नहीं अलका, तुम ऐसा नहीं करोगी।

अलका — करूँगी, अवश्य करूँगी।

राजा — फिर मैं पागल हो जाऊँगा। मुझे तो विश्वास नहीं होता।

आंभीक — और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा।

राजा — नहीं आंभीक। तुम चुप रहो। सावधान! अलका के शरीर पर जो हाथ उठाना चाहता है, उसे मैं द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारता हूँ।

(आंभीक सिर नीचे कर लेता है)

अलका — तो मैं जाती हूँ पिताजी।

राजा — (अन्य मनस्क भाव से सोचता हुआ) जाओ (अलका चली जाती है) आंभीक!

आंभीक — पिताजी!

राजा — लौट आओ!

आंभीक — इस अवस्था में तो लौट आता, परन्तु वे यवन सैनिक छाती पर खड़े है। पुल बँध चुका है। नहीं तो पहले गान्धार का ही नाश होगा।

राजा — तब? (निश्वास लेकर) – जो होना हो — सो हो। पर एक बात आंभीक — आज से मुझसे कुछ न कहना। जो उचित समझो, करो। मैं अलका को खोजने जाता हूँ — गान्धार जाने और तुम जानो।

(वेग से प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

दशम दृश्य

(पर्वतेश्वर की राजसभा)

पर्वतेश्वर — आर्य चाणक्य! आपकी बातें ठीक-ठीक नहीं समझ में आती।

चाणक्य — कैसे आवेंगी, मेरे पास केवल बात ही है न, अभी कुछ कर दिखाने में असमर्थ हूँ।

पर्वतेश्वर — परन्तु इस समय मुझे यवनों से युद्ध करना है, मैं अपना एक भी सैनिक मगध नहीं भेज सकता।

चाणक्य — निरुपाय हूँ — लौट जाऊँगा। नहीं तो मगध की लक्षाधिक सेना आगामी यवन-युद्ध में पौरव पर्वतेश्वर की पताका के नीचे युद्ध करती। वही मगध — जिसने सहायता माँगने पर पंचनद का तिरस्कार किया था।

पर्वतेश्वर — हाँ, तो इस मगध-विद्रोह का केन्द्र कौन होगा? नन्द के विरुद्ध कौन खड़ा होता है?

चाणक्य — मौर्य-सेनानी का पुत्र चन्द्रगुप्त — जो मेरे साथ यहाँ आया है।

पर्वतेश्वर — पिप्पिली-कानन के मौर्य भी तो वैसे ही वृषल है, उनको राजसिंहासन दीजियेगा?

चाणक्य — आर्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला, वस्तुतः ये क्षत्रिय है। बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत-संस्कार छूट गये है — अवश्य, परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं। और महाराज! धर्म के नियामक ब्राह्मण है, मुझे पात्र देखकर उसका संस्कार करने का अधिकार है। ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम एवम् शाश्वत बुद्धि-वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों

का संगठन कर लेगा। राजन्य-संस्कृति से पूर्ण — मनुष्य को मूर्द्धाभिषिक्त करने में दोष क्या है?

पर्वतेश्वर — (हँसकर) यह आपका सुविचार नहीं है ब्रह्मन्!

चाणक्य — वसिष्ठ का ब्राह्मणत्व जब पीड़ित हुआ था, तब — पल्लव, दरद, काम्बोज आदि क्षत्रिय बने थे। राजन् यह कोई नई बात नहीं है।

पर्वतेश्वर-- वह समर्थ ऋषियों की बात है।

चाणक्य — भविष्य इसका विचार करता है कि ऋषि किसे कहते है। क्षत्रियाभिमानी पौरव! तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते हो।

पर्वतेश्वर — शूद्र शासित राष्ट्र में रहने वाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नहीं देती।

चाणक्य — तभी तो ब्राह्मण मगध को क्षत्रिय-शासन में ले आना चाहता है। पौरव! जिसके लिए कहा गया है कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिये, मौर्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।

पर्वतेश्वर — कल्पना है।

चाणक्य — प्रत्यक्ष होगी! और, स्मरण रखना — आसन्न यवन-युद्ध में, शौर्य के गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनों के द्वारा समग्र

आर्यावर्त पादाक्रान्त होगा। उस समय तुम — मेरा स्मरण करोगे।

पर्वतेश्वर — केवल अभिशाप अस्त्र लेकर ही तो ब्राह्मण लड़ते हैं। मैं इससे नहीं डरता। परन्तु डराने वाले ब्राह्मण! तुम मेरी सीमा के बाहर हो जाओ।

चाणक्य — (ऊपर देखकर) रे पददलित ब्राह्मणत्व? देख, शूद्र ने निगड़-बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल — एक बार अपनी ज्वाला से जल! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों। जाता हूँ पौरव!

(उपेक्षा से देखते हुए पर्वतेश्वर एक ओर जाता है, दूसरी ओर क्षुब्ध चाणक्य)

(दृश्यान्तर)

ग्यारहवाँ दृश्य

(कानन पथ में अलका)

अलका — चली जा रही हूँ। अनन्त पथ है, कहीं पांथशाला नहीं, और न पहुँचने का निर्दिष्ट स्थान — शैल पर से गिरा दी गयी स्रोतस्विनी के सदृश अविराम भ्रमण, ठोकरें और तिरस्कार! कानन में कहाँ चली जा रही हूँ? (सामने देखकर) अरे — यवन!

(शिकारी के वेश में सिल्यूकस का प्रवेश)

सिल्यूकस — तुम कहाँ जा रही हो, सुन्दरी राजकुमारी?

अलका — मेरा देश है, मेरे पहाड़ है, मेरी नदियाँ है और मेरे जंगल है। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे है और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने है। फिर मैं कहाँ जाऊँगी यवन!

सिल्यूकस — यहाँ तो तुम अकेली हो सुन्दरी!

अलका — सो तो ठीक है — (दूसरी ओर देखकर सहसा) परन्तु देखो वह सिंह आ रहा है।

(सिल्यूकस उधर देखता है। अलका दूसरी ओर निकल जाता है है)

सिल्यूकस — निकल गयी! (दूसरी ओर जाता है)

(चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चाणक्य — वत्स तुम बहुत थक गये होगे।

चन्द्रगुप्त — आर्य! नसों ने अपने बन्धन ढीले कर दिये है, शरीर अवसन्न हो रहा है, प्यास भी लगी है।

चाणक्य — और कुछ दूर न चल सकोगे?

चन्द्रगुप्त जैसी आज्ञा हो।

चाणक्य — पास ही सिन्धु लहराता होगा, उसके तट पर ही विश्राम करना ठीक होगा। (चन्द्रगुप्त चलने के लिए पैर बढ़ाता है, फिर बैठ जाता है — उसे पकड़कर) सावधान — चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त — आर्य? प्यास से कण्ठ सूख रहा है — चक्कर आ रहा है।

चाणक्य — तुम विश्राम करो, मैं अभी जल लेकर आता हूँ।

(प्रस्थान)

(चन्द्रगुप्त पसीने से तर लेट जाता है। एक व्याघ्र समीप आता दिखाई पड़ता है। सिल्यूकस प्रवेश करके धनुष सँभाल कर तीर

चलाता है। व्याघ्र मरता है। सिल्यूकस की चन्द्रगुप्त को सचेत करने की चेष्टा। चाणक्य का जल लिये आना)

सिल्यूकस — थोड़ा जल — इस सत्त्वपूर्ण पथिक की रक्षा करे के लिए थोड़ा जल चाहिये।

चाणक्य — (जल के छीटें देकर) आप कौन है? (चन्द्रगुप्त स्वस्थ होता है)

सिल्यूकस — यवन सेनापति, तुम कौन हो?

चाणक्य — एक ब्राह्मण।

सिल्यूकस — यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है — ब्राह्मण! तुम इसके साथी हो?

चाणक्य — हाँ, मैं इस राजकुमार का गुरु हूँ — शिक्षक हूँ।

सिल्यूकस — कहाँ निवास है?

चाणक्य — यह चन्द्रगुप्त मगध का निर्वासित राजकुमार है।

सिल्यूकस — (कुछ विचार कर) अच्छा, अभी तो मेरे शिविर में चलो विश्राम करके फिर कहीं जाना।

चन्द्रगुप्त — यह व्याघ्र कैसे मरा? ओह, प्यास में मैं हतचेत हो गया था — आपने मेरे प्राणों की रक्षा की, मैं कृतज्ञ हूँ। आज्ञा दीजिये, हम लोग, फिर उपस्थित होंगे, निश्चय जानिये।

सिल्यूकस — जब तुम अचेत पड़े थे तब यह तुम्हारे पास बैठा था। मैंने विपद समझकर इसे मार डाला — मै यवन सेनापति हूँ।

चन्द्रगुप्त — धन्यवाद! भारतीय कृतघ्न नहीं होते — सेनापति! मैं आपका अनुगृहीत हूँ, अवश्य आपके पास आऊँगा।

(तीनों जाते हैं। अलका का प्रवेश)

अलका — आर्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त — ये भी यवनों के साथी! जब आँधी और करका-वृष्टि, अवर्षण और दावाग्नि का प्रकोप हो, तब देश की हरी-भरी खेती का रक्षक कौन है? शून्य व्योम प्रश्न को — बिना उत्तर दिये लौटा देता है। ऐसे लोग भी आक्रमणकारियों के चंगुल में फँस रहे हो, तब रक्षा की क्या आशा? झेलम के पार सेना उतरना चाहती है, उन्मत्त पर्वतेश्वर अपने विचारों में मग्न है। गान्धार छोड़कर चलूँ, नहीं एक बार महात्मा दाण्ड्यायन को नमस्कार कर लूँ, उस शान्ति-सन्दोह से कुछ प्रसाद लेकर तब अन्यत्र जाऊँगी। (जाती है)

(दृश्यान्तर)

बारहवाँ दृश्य

(सिन्धु तट पर दाण्ड्यायन का आश्रम)

दाण्ड्यायन — पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिन्धु का जलधारा बही जा रही है, बादलों में नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है — यही तो...

(एनिसाक्रटीज़ का प्रवेश)

एनिसाक्रटीज़ — महात्मन्।

दाण्ड्यायन — चुप रहो, सब चले जा रहे है, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं — अवसर नहीं।

एनिसाक्रटीज़ — आप से कुछ...

दाण्ड्यायन — मुझ से कुछ मत कहो। कहो तो अपने-आप से ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो कोई किसी की सुनता है? मैं कहता हूँ — सिन्धु के एक बिन्दु! धारा में न

बहकर मेरी एक बात सुनने के लिए ठहर जा — वह सुनता है? ठहरता है? कदापि नहीं।

एनिसाक्रटीज़ — परन्तु देवपुत्र ने...

दाण्ड्यायन — देवपुत्र?

एनिसाक्रटीज़ — देवपुत्र — जगद्विजेता सिकन्दर ने आपका स्मरण किया है। आका यश सुनकर आपसे कुछ उपदेश ग्रहण करने की उनकी बलवती इच्छा है।

दाण्ड्यायन — (हँसकर) भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभासमात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते — दूते! वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा-कन्दुक नहीं बन सकता — तुम्हारा राजा अभी झेलम भी नहीं पार कर सका, फिर भी जगत् विजेता की उपाधि लेकर जगत को वंचित करता है। मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता।

एनिसाक्रटीज़ — महात्मन्! ऐसा क्यों? यदि न जाने पर देवपुत्र दण्ड दें?

दाण्ड्यायन —मेरी आवश्यकताएँ परमात्मा की विभूति — प्रकृति पूरी करती है। उसके रहते दूसरों का शासन कैसा? समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है — मृत्यु के

द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं। मैं फल-मूल खाकर, अंजलि से जलपान कर, तृण-शय्या पर आँख बन्द किये सो रहता हूँ। न मुझसे किसी को! डर है और म मुझको किसी से डरने का कारण है। तुम यदि हठात् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरे स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।

एनिसाक्रटीज़ — बड़े निर्भीक हो ब्राह्मण! जाता हूँ यही कह दूँगा (प्रस्थान)

(एक ओर से अलका — दूसरी ओर से चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश। सब वन्दना करके सविनय बैठते हैं)

अलका — देव! मैं गान्धार छोड़कर जाती हूँ!

दाण्ड्यायन — क्यों अलके, तुम गान्धार की लक्ष्मी हो, ऐसा क्यों?

अलका — ऋषे! यवनों के हाथ स्वाधीनता बेचकर उसके दान से जीने की शक्ति — मुझ में नहीं।

दाण्ड्यायन — तुम उत्तरापथ की लक्ष्मी हो तुम अपना प्राण बचाकर कहाँ जाओगी — (कुछ विचार कर) अच्छा जाओ देवि!

तुम्हारी आवश्यकता है। मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते। परन्तु जब तुम्हारी इच्छा हो, निस्संकोच चली आना।

अलका — देव हृदय में सन्देह है।

दाण्ड्यायन — क्या अलका?

अलका — ये दोनों महाशय, जो आपके सम्मुख बैठे है — जिन पर पहले मेरा पूर्ण विश्वास था, ये ही अब यवनों के अनुगत क्यों होना चाहते है?

(दाण्ड्यायन चाणक्य की ओर देखता है और चाणक्य कुछ विचारने लगता है)

चन्द्रगुप्त — देवि! कृतज्ञता का बन्धन अमोघ है।

चाणक्य — राजकुमारी! उस परिस्थिति पर आपने विचार नहीं किया है, आपकी शंका निर्मूल है।

दाण्ड्यायन — सन्देह न करो अलका। कल्याणकृत को पूर्ण विश्वासी होना पड़ेगा। विश्वास सुफल देगा दुर्गति नहीं।

(यवन सैनिक का प्रवेश)

यवन — देवपुत्र आपकी सेवा में आना चाहते है, क्या आज्ञा है?

दाण्ड्यायन — मैं क्या आज्ञा दूँ सैनिक। मेरा कोई रहस्य नहीं, निभृत-मन्दिर नहीं, यहाँ पर सबका प्रत्येक क्षण स्वागत है।

(सैनिक जाता है)

अलका — तो मैं जाती हूँ, आज्ञा हो।

दाण्ड्यायन — कोई आतंक नहीं है, अलका ठहरो तो।

चाणक्य — महात्मन्, हम लोगों को क्या आज्ञा है? किसी दूसरे समय उपस्थित हों?

दाण्ड्यायन — चाणक्य! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्याओं के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला — उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं।

(सिकन्दर का सिल्यूकस, कार्नेलिया, एनिसाक्रटीज़ इत्यादि सहचरों के साथ प्रवेश। सिकन्दर नमस्कार करता है। सब बैठते हैं।)

दाण्ड्यायन — स्वागत अलक्षेन्द्र! तुम्हें सुबुद्धि मिले।

सिकन्दर — महात्मन्! अनुगृहीत हुआ; परन्तु मुझे कुछ और आशीर्वाद चाहिये।

दाण्ड्यायन — मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूँ क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे, वे अमंगलजनक होंगे।

सिकन्दर — मैं आपके मुख से जय सुनने का अभिलाषी हूँ।

दाण्ड्यायन — जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे, हत्या, रक्तपात और अग्नि-काण्ड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं। विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं। इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगो।

सिकन्दर — अच्छा (चन्द्रगुप्त को दिखाकर) यह तेजस्वी युवक कौन है?

सिल्यूकस — यह मगध का एक निर्वासित राजकुमार है।

सिकन्दर — मैं आपका स्वागत करने के लिए अपने शिविर में निमन्त्रित करता हूँ।

चन्द्रगुप्त — अनुगृहीत हुआ। आर्य लोग किसी निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं करते।

सिकन्दर — (सिल्यूकस से) तुमसे इनका परिचय कब हुआ?

सिल्यूकस — इनसे तो मैं पहले ही मिल चुका हूँ।

चन्द्रगुप्त — आपका उपकार मैं भूला नहीं हूँ। आपने व्याघ्र से मेरी रक्षा की थी जब मैं अचेत पड़ा था।

सिकन्दर — अच्छा तो आप लोग पूर्व परिचित है। तब तो सेनापति, इनके आतिथ्य का भार आप ही पर रहा।

सिल्यूकस — जैसी आज्ञा।

सिकन्दर — (महात्मा से) महात्मन्! लौटती बार आपका फिर दर्शन करूँगा, जब भारत विजय कर लूँगा।

दाण्ड्यायन — अलक्षेन्द्र सावधान! (चन्द्रगुप्त को दिखाकर) देखो यह भारत का भावी सम्राट तुम्हारे सामने बैठा है।

(सब स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त को देखते हैं और चन्द्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है। एक दिव्य आलोक)

(पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(उद्भाण्ड में सिन्धु के किनारे ग्रीक-शिविर के पास वृक्ष के नीचे कार्नेलिया बैठी हुई।)

कार्नेलिया — सिन्धु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सामने एक नया चित्रपट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण से धीरे-धीरे उठती हुई प्रशान्त स्निग्धता जैसे हृदय में घुस रही है। लम्बी यात्रा करके, जैसे मैं वहीं पहुँच गयी हूँ, जहाँ के लिए चली थी। यह कितना निसर्ग सुन्दर है — कितना रमणीय है! हाँ, आज वह भारतीय संगीत का पाठ देखूँ, भूल तो नहीं गयी? (गाती है)

अरुण यह मधुमय देश हमारा!
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर —
छिटका जीवन हरियाली पर — मंगल कुंकुम सारा!
लघु सुरधनु से पंख पसारे — शीतल मलय समीर सहारे —
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये — समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल — बनते जहाँ भरे करुणा जल —

लहरें टकरातीं अनन्त की — पाकर जहाँ किनारा।

हेम-कुम्भ ले उषा सवेरे — भरती ढुलकाती सुख मेरे —

मदर ऊँघते रहते जब — जग कर रजनी भर तारा।

अरुण यह मधुमय देश हमारा!

फिलिप्स — (प्रवेश करके) कैसा मधुर गीत है कार्नेलिया, तुमने तो भारतीय संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया है, चाहे हम लोगों को भारत पर अधिकार करने में अभी विलम्ब हो!

कार्नेलिया — फिलिप्स! यह तुम हो! आज दारा की कन्या वाह्लीक जायेगी?

फिलिप्स — दारा की कन्या! नहीं कुमारी, सम्राज्ञी कहो।

कार्नेलिया — असम्भव है फिलिप्स! ग्रीक लोग केवल देशों को विजय करके समझ लेते हैं कि लोगों के हृदयों पर भी अधिकार कर लिया। वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका सम्राज्ञी कहने पर तिलमिला जाती है। उसे यह विश्वास है कि वह एक महान साम्राज्य की लूट में मिली हुई दासी है, प्रणय-परिणीता पत्नी नहीं।

फिलिप्स — कुमारी! प्रणय के सम्मुख क्या साम्राज्य तुच्छ है?

कार्नेलिया — यदि प्रणय हो।

फिलिप्स — प्रणय तो मेरा हृदय पहचानता है।

कार्नेलिया — (हँसकर) ओहो! यह तो बड़ी विचित्र बात है!

फिलिप्स — कुमारी, क्या तुम मेरे प्रेम की हँसी उड़ाती हो?

कार्नेलिया — नहीं सेनापति! तुम्हारा उत्कृष्ट प्रेम बड़ा भयानक होगा, उससे तो डरना चाहिए।

फिलिप्स — (गम्भीर होकर) मैं पूछने आया हूँ कि आगामी युद्धों से दूर रहने के लिए शिविर की सब स्त्रियाँ स्कन्धावार में सम्राज्ञी के साथ जा रही हैं, क्या तुम भी चलोगी?

कार्नेलिया — नहीं, सम्भवतः पिताजी को यही रहना होगा, इसलिए मेरे जाने की आवश्यकता नहीं।

फिलिप्स — (कुछ सोचकर)—कुमारी! न जाने फिर कब दर्शन हो इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।

कार्नेलिया — तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स!

फिलिप्स — प्राण देकर भी नहीं कुमारी! परन्तु प्रेम अन्धा है।

कार्नेलिया — तुम अपने अन्धेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स!

फिलिप्स — (इधर-उधर देखकर) यह नहीं हो सकता —

(कार्नेलिया का हाथ पकड़ना चाहता है, वह चिल्लाती है — रक्षा करो! रक्षा करो! चन्द्रगुप्त प्रवेश करके फिलिप्स की गर्दन पकड़ कर दबाता है वह गिरकर क्षमा माँगता है। चन्द्रगुप्त छोड़ देता है।)

कार्नेलिया — धन्यवाद आर्यवीर!

फिलिप्स — (लज्जित होकर) कुमारी, प्रार्थना करता हूँ कि इस घटना को भूल जाओ, क्षमा करो।

कार्नेलिया — क्षमा तो कर दूँगी, परन्तु भूल नहीं सकती फिलिप्स! तुम अभी चले जाओ।

(फिलिप्स नत मस्तक जाता है।)

चन्द्रगुप्त — चलिये, आपको शिविर के भीतर पहुँचा दूँ।

कार्नेलिया — पिताजी कहाँ है? उनसे यह बात कह देनी होगी, यह घटना – नहीं, तुम्हीं कह देना।

चन्द्रगुप्त — ओह! वे मुझे बुला गये हैं, मैं जाता हूँ, उनसे कह दूँगा।

कार्नेलिया — आप चलिए, मैं आती हूँ। (चन्द्रगुप्त का प्रस्थान) एक घटना हो गयी, फिलिप्स ने विनती की उसे भूल जाने की, किन्तु उस घटना से और भी किसी का सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ। उन दोनों में श्रृंगार और रौद्र का संगम है। वह भी आह — कितना आकर्षक हैं — कितना तरंग-संकुल है! इसी चन्द्रगुप्त के लिए न उस साधु ने भविष्यवाणी की है — भारत-सम्राट होने की! उसमें कितनी विनयशील वीरता है! (प्रस्थान)

(कुछ सैनिकों के साथ सिकन्दर का प्रवेश)

सिकन्दर — विजय करने की इच्छा क्लान्ति से मिलती जा रही है। हम लोग इतने बड़े आक्रमण के समारम्भ में लगे हैं और यह देश जैसे सोया हुआ है, लड़ना। जैसे इनके जीवन का उद्वेगजनक अंश नहीं। अपने ध्यान में दार्शनिक के सदृश निमग्न है। सुनते हैं, पौरव ने केवल झेलम के पास कुछ सेना प्रतिरोध करने के लिए या केवल देखने के लिए रख छोड़ी है। हम लोग जब पहुँच जायँगे, तब वे लड़ लेंगे!

एनिसाक्रटीज़ — मुझे तो ये लोग आलसी मालूम पड़ते हैं।

सिकन्दर — नहीं-नहीं, यहाँ के दार्शनिक की परीक्षा तो तुम कर चुके — दाण्ड्यायन को देखा न! थोड़ा ठहरो, यहाँ के वीरों का भी परिचय मिल जायगा। यह अद्‌भुत देश है।

एनिसाक्रटीज़ — परन्तु आंभीक तो अपनी प्रतिज्ञा का सच्चा निकला — प्रबन्ध तो उसने अच्छा कर रखा है।

सिकन्दर — लोभी है! सुना है कि उसकी एक बहन चिढ़ कर संन्यासिनी हो गयी है।

एनिसाक्रटीज़ — मुझे विश्वास नहीं होता, इसमें कोई रहस्य होगा। पर एक बात कहूँगा, ऐसे पथ में साम्राज्य की समस्या हल करना कहाँ तक ठीक है? क्यों न शिविर में ही चला जाय?

सिकन्दर — एनिसाक्रटीज़ फिर तो पर्सिपोलिस राजमहल छोड़ने की आवश्यकता न थी, यहाँ एकान्त में मुझे कुछ ऐसी बातों पर विचार करना है, जिन पर भारत-अभियान का भविष्य निर्भर है। मुझे उस नंगे ब्राह्मण की बातों से बड़ी आशंका हो रही है, भविष्यवाणियाँ प्राय— सत्य होती हैं। (एक ओर से फिलिप्स, आंभीक, दूसरी ओर से सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का प्रवेश) कहो फिलिप्स! तुम्हें क्या कहना है?

फिलिप्स — आंभीक से पूछ लिया जाय।

आंभीक — यहाँ एक षडचन्त्र चल रहा है।

फिलिप्स — और उसके सहायक हैं सिल्यूकस।

सिल्यूकस — (क्रोध और आश्चर्य से)—इतनी नीचता! अभी उस लज्जाजनक अपराध का प्रकट करना बाकी ही रहा — उलटा अभियोग! प्रमाणित करना होगा फिलिप्स! नहीं तो खड्ग इसका न्याय करेगा।

सिकन्दर — उत्तेजित न हो सिल्यूकस!

फिलिप्स — तलवार तो कभी का न्याय कर देती, परन्तु देवपुत्र का भी जान लेना आवश्यक था। नहीं तो निर्लज्ज विद्रोही की हत्या करना पाप नहीं, पुण्य है। (सिल्यूकस तलवार खींचता है।)

सिकन्दर — तलवार खींचने से अच्छा होता कि तुम अभियोग को निर्मूल प्रमाणित करने की चेष्टा करते! बतलाओ, तुमने चन्द्रगुप्त के लिए अब क्या सोचा?

सिल्यूकस — चन्द्रगुप्त ने अभी-अभी कार्नेलिया को इस नीच फिलिप्स के हाथ से अपमानित होने से बचाया है और मैं स्वयं यह अभियोग आपके सामने उपस्थित करने वाला था।

सिकन्दर — परन्तु साहस नहीं हुआ, क्यों सिल्यूकस!

फिलिप्स — क्यों साहस होता — इनकी कन्या दाण्ड्यायन के आश्रम पर भारतीय दर्शन पढ़ने जाती है, भारतीय संगीत सीखती है, वहीं पर विद्रोह-कारिणी अलका भी आती है। और चन्द्रगुप्त के

लिए यह जनरव फैलाया गया कि यही भारत का भावी सम्राट होगा!

सिल्यूकस — रोक, अपनी अबाध गति से चलने वाली जीभ रोक!

सिकन्दर — ठहरो सिल्यूकस। तुम अपने को विचाराधीन समझो। हाँ, तो चन्द्रगुप्त! मुझे तुमसे कुछ पूछना है।

चन्द्रगुप्त — क्या है?

सिकन्दर — सुना है कि मगध का वर्तमान शासक एक नीच-जन्मा जारज सन्तान है। उसकी प्रजा असन्तुष्ट है और तुम उस राज्य को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे हो?

चन्द्रगुप्त — हस्तगत नहीं, उसका शासन बड़ा क्रूर हो गया है, मगध का उद्धार करना चाहता हूँ।

सिकन्दर — और उस ब्राह्मण के कहने पर अपने सम्राट होने का तुम्हें विश्वास हो गया होगा, जो परिस्थिति को देखते हुए असम्भव भी नहीं जान पड़ता।

चन्द्रगुप्त — असम्भव क्यों नहीं?

सिकन्दर — हमारी सेना इसमें सहायता करेगी, फिर भी असम्भव है?

चन्द्रगुप्त — मुझे आप से सहायता नहीं लेनी है।

सिकन्दर — (क्रोध से)—फिर इतने दिनों तक ग्रीक-शिविर में रहने का तुम्हारा उद्देश्य?

चन्द्रगुप्त — एक सादर निमन्त्रण और सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण उनके अनुरोध की रक्षा। परन्तु मैं यवनों को अपना शासक बनने को आमन्त्रित करने नहीं आया हूँ।

सिकन्दर — परन्तु इन्हीं यवनों के द्वारा भारत जो आज तक कभी भी आक्रान्त नहीं हुआ है, विजित किया जायगा।

चन्द्रगुप्त — वह भविष्य के गर्भ में है, उसके लिए अभी से इतनी उछल-कूद मचाने की आवश्यकता नहीं।

सिकन्दर — अबोध युवक तू गुप्तचर है!

चन्द्रगुप्त — नहीं, कदापि नहीं। अवश्य ही यहाँ रहकर यवन-रणनीति से मैं कुछ परिचित हो गया हूँ। मुझे लोभ से पराभूत गान्धार-राज आंभीक समझने की भूल न होनी चाहिए, मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।

सिकन्दर — तुमको अपनी विपत्तियों से डर नहीं — ग्रीक लुटेरे हैं?

चन्द्रगुप्त — क्या यह झूठ है? लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है।

सिकन्दर — (आश्चर्य और क्रोध से) – सिल्यूकस!

चन्द्रगुप्त — सिल्यूकस नहीं, चन्द्रगुप्त से कहने की बात चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिए।

आंभीक — शिष्टता से बातें करो।

चन्द्रगुप्त — स्वच्छ हृदय भीरु कायरों की-सी वंचक-शिष्टता नहीं जानता। अनार्य! देशद्रोही! आंभीक! चन्द्रगुप्त रोटियाँ के लालच या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।

सिकन्दर — बन्दी कर लो इसे। (आंभीक, फिलिप्स, एनिसाक्रटीज़ टूट पड़ते है, चन्द्रगुप्त असाधारण वीरता से तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है।) सिल्यूकस!

सिल्यूकस — सम्राट्!

सिकन्दर — यह क्या?

सिल्यूकस — आपका अविवेक। चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है, यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है सम्राट! हम लोग जिस काम से आये हैं, उसे करना चाहिए। फिलिप्स को अन्तःपुर की महिलाओं के साथ वाह्लीक जाने दीजिए।

सिकन्दर — (सोचकर) – अच्छा जाओ। (प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(झेलम-तट के वन-पथ में चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अलका का प्रवेश)

अलका — आर्य! अब हम लोगों का क्या कर्तव्य है?

चाणक्य — पलायन।

चन्द्रगुप्त — व्यंग न कीजिए गुरुदेव!

चाणक्य — दूसरा उपाय क्या है?

अलका — है क्यों नहीं?

चाणक्य — हो सकता है — (दूसरी ओर देखने लगता है।)

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव!

चाणक्य — परिव्राजक होने की इच्छा है क्या? यही एक सरल उपाय है!

चन्द्रगुप्त — नहीं, कदापि नहीं! यवनों को प्रति पद में बाधा देना मेरा कर्तव्य है और शक्ति-भर प्रयत्न करूँगा।

चाणक्य — यह तो अच्छी बात है। परन्तु सिंहरण अभी नहीं आया।

चन्द्रगुप्त — उसे समाचार मिलना चाहिए।

चाणक्य — अवश्य मिला होगा।

अलका — यदि न आ सके?

चाणक्य — जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह-रहकर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो, उमस बढ़ रही हो, और आषाढ़ के आरम्भिक दिन हों, तब किस बात की सम्भावना करनी चाहिए?

अलका — जल बरसने की।

चाणक्य — ठीक उसी प्रकार — जब देश में युद्ध हो, सिंहरण मालव को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी निश्चित आशा है।

चन्द्रगुप्त — उधर देखिए — वे दो व्यक्ति कौन आ रहे हैं।

(सिंहरण का सहारा लिये वृद्ध गान्धारराज का प्रवेश)

चाणक्य — राजन्!

गान्धारराज — विभव की छलनाओं से वंचित एक वृद्ध! जिसके पुत्र ने विश्वासघात किया हो और कन्या ने साथ छोड़ दिया हो — मैं वही, एक अभागा मनुष्य हूँ!

अलका — पिताजी (गले से लिपट जाती है।)

गान्धार-राज — बेटी अलका, अरे तू कहाँ भटक रही है?

अलका — कहीं नहीं पिताजी! आपके लिए छोटी-सी झोंपड़ी बना रक्खी है, चलिए विश्राम कीजिए।

गान्धारराज — नहीं, तू मुझे अब की झोंपड़ी में बिठा कर चली जायगी। जो महलों को छोड़ चुकी है, उसका झोंपड़ियों के लिए क्या विश्वास!

अलका — नहीं पिताजी, विश्वास कीजिए। (सिंहरण से) मालव! मैं कृतज्ञ हुई।

(सिंहरण सस्मित नमस्कार करता है। पिताजी के साथ अलका का प्रस्थान)

चाणक्य — सिंहरण तुम आ गये, परन्तु–।

सिंहरण — किन्तु-परन्तु नहीं आर्य! आप आज्ञा दीजिए, हम लोग कर्तव्य में लग जायँ! विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं।

चाणक्य — उसकी चिंता नहीं। पौधे अंधकार में बढ़ते हैं, और मेरी नीति-लता भी उसी भाँति विपत्ति तम में लहलही होगी। हाँ, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा। एक बात समझ लो, चाणक्य सिद्धि देखता है साधन चाहे कैसे ही हों। बोलो'तुम लोग प्रस्तुत हो?

सिंहरण — हम लोग प्रस्तुत हैं।

चाणक्य — तो युद्ध नहीं करना होगा।

चन्द्रगुप्त — फिर क्या?

चाणक्य — सिंहरण और अलका को नट और नटी बनना होगा, चन्द्रगुप्त बनेगा सँपेरा और मैं ब्रह्मचारी। देख रहे हो चन्द्रगुप्त, पर्वतेश्वर की सेना में जो एक गुल्म अपनी छावनी अलग डाले हैं, वे सैनिक कहाँ के हैं?

चन्द्रगुप्त — नहीं जानता।

चाणक्य — अभी जानने की आवश्यकता भी नहीं। हम लोग उसी सेना के साथ अपने स्वांग रखेंगे। वहीं हमारे खेल होंगे। चलो हम लोग चले, देखो — वह नवीन गुल्म का युवक सेनापति जा रहा है।

(सबका प्रस्थान। पुरुष-वेष में कल्याणी और सैनिक का प्रवेश)

कल्याणी — सेनापति! मैंने दुस्साहस करके पिताजी को चिढ़ा तो दिया पर अब कोई मार्ग बताओ, जिससे मैं सफलता प्राप्त कर सकूँ। पर्वतेश्वर को नीचा दिखलाना ही मेरा प्रधान उद्देश्य है।

सेनापति — राजकुमारी!

कल्याणी — सावधान सेनापति!

सेनापति — क्षमा हो, अब ऐसी भूल न होगी। हाँ, तो केवल एक मार्ग है।

कल्याणी — वह क्या?

सेनापति — घायलों की शुश्रूषा का भार ले लेना है।

कल्याणी — मगध-सेनापति! तुम कायर हो।

सेनापति — तब जैसी आज्ञा हो! (स्वगत) स्त्री की अधीनता वैसे ही बुरी होती है, तिस पर युद्धक्षेत्र में। भगवान ही बचावें।

कल्याणी — मेरी इच्छा है कि जब पर्वतेश्वर यवन-सेना द्वारा चारों ओर से घिर जाय, उस समय उसका उद्धार करके अपना मनोरथ पूर्ण करूँ।

सेनापति — बात तो अच्छी है।

कल्याणी — और तब तक हम लोगों की रक्षित सेना — (रुककर देखते हुए) यह लो पर्वतेश्वर इधर ही आ रहा है!

(पर्वतेश्वर का युद्ध-वेश में प्रवेश)

पर्वतेश्वर — (दूर दिखलाकर) वह किस गुल्म का शिविर है युवक?

कल्याणी — मगध-गुल्म का महाराज!

पर्वतेश्वर — मगध की सेना, असम्भव! उसने तो रण-निमन्त्रण ही अस्वीकृत किया था।

कल्याणी — परन्तु मगध की बड़ी सेना में से एक छोटा-सा वीर युवकों का दल इस युद्ध के लिए परम उत्साहित था। स्वेच्छा से उसने इस युद्ध में योग दिया है।

पर्वतेश्वर — प्राच्य मनुष्यों में भी इतना उत्साह! (हँसता है।)

कल्याणी — महाराज, उत्साह का निवास किसी विशेष दिशा में नहीं है!

पर्वतेश्वर — (हँसकर) प्रगल्भ हो युवक, परन्तु रण जब नाचने लगता है, तब भी यदि तुम्हारा उत्साह बना रहे तो मानूँगा। हाँ!

तुम बड़े सुन्दर सुकुमार युवक को, इसलिए साहस न कर बैठना। तुम मेरी रक्षित सेना के साथ हो तो अच्छा! समझा न!

कल्याणी — जैसी आज्ञा।

(चन्द्रगुप्त, सिंहरण और अलका का वेश बदले हुए प्रवेश)

सिंहरण — खेल देख लो, खेल! ऐसा खेल'जो कभी न देखा हो न सुना।

पर्वतेश्वर — नट! इस समय खेल देखने का अवकाश नहीं।

अलका — क्या युद्ध के पहले ही घबरा गये, सेनापति! वह भी तो वीरों का खेल ही है!

पर्वतेश्वर — बड़ी ढीठ है!।

चन्द्रगुप्त — न हो तो नागों का ही दर्शन कर लो!

कल्याणी — बड़ा कौतुक है महाराज, इन नागों का ये लोग किस प्रकार वश कर लेते हैं?

चन्द्रगुप्त — (सम्भ्रम से) महाराज हैं! तब तो अवश्य पुरस्कार मिलेगा।

(सँपेरों की-सी चेष्टा करता है। पिटारी खोलकर साँप निकालता है।)

कल्याणी — आश्चर्य है, मनुष्य ऐसे कुटिल विषधरों को भी वश कर सकता है परन्तु मनुष्य को नहीं!

पर्वतेश्वर — नट, नागों पर तुम लोगों का अधिकार कैसे हो जाता है?

चन्द्रगुप्त — मन्त्र-महौषधि के भाले से बड़े-बड़े मत्त नाग वशीभूत होते हैं।

पर्वतेश्वर — भाले से?

सिंहरण — ही महाराज! वैसे ही जैसे भालों से मदमत्त मातंग!

पर्वतेश्वर — तुम लोग कहाँ से आ रहे हो?

सिंहरण — ग्रीकों के शिविर से।

चन्द्रगुप्त — उनके भाले भारतीय हाथियों के लिए वज्र ही हैं।

पर्वतेश्वर — तुम लोग आंभीक के चर तो नहीं हो?

सिंहरण — रातों रात यवन-सेना वितस्ता के पार हो गयी है‘समीप है महाराज! सचेत हो जाइए!

पर्वतेश्वर — मगधनायक! इन लोगों को बन्दी करो।

(चन्द्रगुप्त कल्याणी को ध्यान से देखता है।)

अलका — उपकार का भी यह फल!

चन्द्रगुप्त — हम लोग बन्दी ही हैं। परन्तु रण-व्यूह से सावधान होकर सैन्य-परिचालन कीजिए। जाइए महाराज! यवन-रणनीति भिन्न है।

(पर्वतेश्वर उद्विग्न भाव से जाता है।)

कल्याणी — (सिंहरण से) चलो हमारे शिविर में ठहरो। फिर बताया जायगा।

चन्द्रगुप्त — मुझे कुछ कहना है।

कल्याणी — अच्छा, तुम लोग आगे चलो।

(सिंहरण इत्यादि आगे बढ़ते हैं।)

चन्द्रगुप्त — इस युद्ध में पर्वतेश्वर की पराजय निश्चित है।

कल्याणी — परन्तु तुम लोग कौन हो (ध्यान से देखती हुई) – मैं तुमको पहचान –

चन्द्रगुप्त — मगध का एक सँपेरा!

कल्याणी — हूँ! और भविष्यवक्ता भी!

चन्द्रगुप्त — मुझे मगध के पताका के सम्मान की–

कल्याणी — कौन? चन्द्रगुप्त तो नहीं?

चन्द्रगुप्त — अभी तो एक सँपेरा हूँ राजकुमारी कल्याणी!

कल्याणी — (एक क्षण चुप रहकर) हम दोनों का चुप रहना चाहिए। चलो!

(दोनों का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(युद्धक्षेत्र में सैनिकों के साथ पर्वतेश्वर)

पर्वतेश्वर — सेनापति, भूल हुई।

सेनापति — हाथियों ने ही ऊधम मचा रक्खा है और रथी सेना भी व्यर्थ-सी हो रही है।

पर्वतेश्वर — सेनापति, युद्ध में जय या मृत्यु‘दो में से एक होनी चाहिए।

सेनापति — महाराज, सिकन्दर को वितस्ता पर यह अच्छी तरह विदित हो गया है कि हमारे खड्गों में कितनी धार है। स्वयं सिकन्दर का अश्व मारा गया और राजकुमार के भीषण भाले की चोट सिकन्दर न सँभाल सका।

पर्वतेश्वर — प्रशंसा का समय नहीं है। शीघ्रता करो। मेरा रणगज प्रस्तुत हो, मैं स्वयं गजसेना का संचालन करूंगा। चलो! (सब जाते हैं।)

(कल्याणी और चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

कल्याणी — चन्द्रगुप्त, तुम्हें यदि मगध सेना विद्रोही जानकर बन्दी बनावे?

चन्द्रगुप्त — बन्दी सारा देश है राजकुमारी, दारुण द्वेष से सब जकड़े हैं। मुझको इसकी चिन्ता भी नहीं। परन्तु राजकुमारी का युद्धक्षेत्र में आना अनोखी बात है।

कल्याणी — केवल तुम्हें देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मैं भी हूँ।

चन्द्रगुप्त — परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा में व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृति-लता मुरझा गयी है।

कल्याणी — चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी! समय नहीं! देखो — वह भारतीयों के प्रतिकूल दैव ने मेघमाला का सृजन किया है। रथ बेकार होंगे और हाथियों का प्रत्यावर्त्तन और भी भयानक हो रहा है.।

कल्याणी — तब! मगध-सेना तुम्हारे अधीन है जैसा चाहो करो।

चन्द्रगुप्त — पहले उस पहाड़ी पर सेना एकत्र होनी चाहिए। शीघ्र आवश्यकता होगी। पर्वतेश्वर की पराजय को रोकने की चेष्टा कर देखूँ।

कल्याणी — चलो!

(मेघों की गड़गड़ाहट। दोनों जाते हैं। एक ओर से सिल्यूकस, दूसरी ओर से पर्वतेश्वर का ससैन्य प्रवेश। युद्ध)

सिल्यूकस — पर्वतेश्वर! अस्त्र रख दो!

पर्वतेश्वर — यवन! सावधान! बचाओ अपने को!

(तुमुल युद्ध — घायल होकर सिल्यूकस का हटना)

पर्वतेश्वर — सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसे, सारी गज-सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथ हों रक्त के नाले धमनियों से बहे, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असम्भव है। धर्मयुद्ध में प्राण-भिक्षा माँगने वाले भिखारी — हम नहीं। जाओ, उन भगोड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने के लिए कहो — कहो कि मरने का क्षण एक ही है। जाओ।

(सेनापति का प्रस्थान। सिंहरण और अलका का प्रवेश)

सिंहरण — महाराज! यह स्थान सुरक्षित नहीं। उस पहाड़ी पर चलिए।

पर्वतेश्वर — तुम कौन हो युवक!

सिंहरण — एक मालव।

पर्वतेश्वर — मालव के मुख से ऐसा कभी नहीं सुना गया। मालव! खड्ग-क्रीड़ा देखनी हो तो खड़े रहो। डर लगता है तो पहाड़ी पर जाओ।

सिंहरण — महाराज, यवनों का एक दल आ रहा है।

पर्वतेश्वर — आने दो। तुम हट जाओ।

(फिलिप्स का प्रवेश — सिंहरण का भीषण युद्ध। फिलिप्स का हटना। फिलिप्स और सिल्यूकस का पुनः प्रवेश। सिंहरण का घायल होना और संकेत करना। पर्वतेश्वर का युद्ध और लड़खड़ा कर गिरने की चेष्टा। चन्द्रगुप्त और कल्याणी का सैनिक के साथ पहुँचना। दूसरी ओर से सिकन्दर का आना। युद्ध बन्द करने के लिए सिकन्दर की आज्ञा।)

चन्द्रगुप्त — युद्ध होगा!

सिकन्दर — कौन, चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त — हाँ देवपुत्र!

सिकन्दर — किससे युद्ध! मुमूर्षु घायल पर्वतेश्वर — वीर पर्वतेश्वर से! कदापि नहीं। आज मुझे जय-पराजय का विचार नहीं है। मैंने

एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है। होमर की कविता में पढ़ी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय भरा है — उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा! भारतीय वीर पर्वतेश्वर अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ!

पर्वतेश्वर — (रक्त पोंछते हुए) जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है, सिकन्दर!

सिकन्दर — मैं तुमसे मैत्री करना चाहता हूँ। विस्मय विमुग्ध होकर तुम्हारी सराहना किये बिना मैं नहीं रह सकता — धन्य! आर्य वीर!

पर्वतेश्वर — मैं तुमसे युद्ध न करके मैत्री भी कर सकता हूँ।

चन्द्रगुप्त — पंचनद-नरेश! आप क्या कर रहे हैं! समस्त मागध सेना आपकी प्रतीक्षा में है, युद्ध होने दीजिए!

कल्याणी — इन थोडे-से अर्धजीव यवनों को विचलित करने के लिए पर्याप्त मागध सेना है। महाराज! आज्ञा दीजिए।

पर्वतेश्वर — नहीं युवक! वीरता भी एक सुन्दर कला है, उस पर मुग्ध होना आश्चर्य की बात नहीं, मैंने वचन दे दिया, अब सिकन्दर चाहे हटे।

सिकन्दर — कदापि नहीं।

कल्याणी — (शिरस्त्राण फेंककर) जाती हूँ क्षत्रिय पर्वतेश्वर! तुम्हारे पतन में रक्षा न कर सकी बड़ी निराशा हुई!

पर्वतेश्वर — तुम कौन हो?

चन्द्रगुप्त — मागध राजकुमारी कल्याणी देवी।

पर्वतेश्वर — ओह पराजय! निकृष्ट पराजय!

(चन्द्रगुप्त और कल्याणी का प्रस्थान। सिकन्दर आश्चर्य से देखता है। अलका घायल सिंहरण को उठाया चाहती है कि आंभीक आकर दोनों को बन्दी करता है।)

पर्वतेश्वर — यह क्या?

आंभीक — इनको अभी बन्दी बना रखना आवश्यक है।

पर्वतेश्वर — तो ये लोग मेरे यहाँ रहेंगे।

सिकन्दर — पंचनद-नरेश की जैसी इच्छा हो।

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(मालव में सिंहरण के उद्यान का एक अंश)

मालविका — (प्रवेश करके) फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं! एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है निश्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने ही के लिये है? नहीं, सब के लिए एक नियम तो नहीं। कोई रोने के लिए है तो कोई हँसने के लिए — (विचारती हुई) आजकल तो छुट्टी-सी है, परन्तु एक विचित्र विदेशियों का दल यहाँ ठहरा है उनमें से एक को तो देखते ही डर लगता है। लो देखो — वह युवक आ गया!

(सिर झुका कर फूल सँवारने लगती है। ऐन्द्रजालिक के वेश में चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — मालविका!

मालविका — क्या आज्ञा है?

चन्द्रगुप्त — तुम्हारे नागकेशर की क्यारी कैसी है?

मालविका — हरी-भरी!

चन्द्रगुप्त — आज कुछ खेल भी होगा, देखोगी?

मालविका — खेल तो नित्य ही देखती हूँ। न जाने कहाँ से लोग आते हैं, और कुछ-न-कुछ अभिनय करते हुए चले जाते हैं। इसी उद्यान के कोने से बैठी हुए सब देखा करती हूँ।

चन्द्रगुप्त — मालविका, तुमको कुछ गाना आता है।

मालविका — आता तो है, परन्तु...

चन्द्रगुप्त — परन्तु क्या?

मालविका — युद्धकाल है। देश में रण-चर्चा छिड़ी है। आजकल मालव-स्थान में कोई गाता-बजाता नहीं।

चन्द्रगुप्त — रण-भेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ, तो हानि न होगी — मालविका! न जाने क्यों ऐसी कामना जाग पड़ी है।

मालविका — अच्छा सुनिये —

चाणक्य — (सहसा प्रवेश कर) छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है, मौर्य!

चन्द्रगुप्त — नहीं गुरुदेव? मैं आज ही पिपाशा के तट से आया हूँ, यवन शिविर भी घूमकर आया हूँ।

चाणक्य — क्या देखा?

चन्द्रगुप्त — समस्त यवन-सेना शिथिल हो गयी है। मगध को इन्द्रजाली मानकर मुझसे यवन-सैनिकों ने वहाँ की सेना का हाल पूछा। मैंने कहा, पंचनद के सैनिकों से भी दुर्धर्ष कई लक्ष रण-कुशल योद्धा शतद्रु-तल पर तुम लोगों की प्रतीक्षा कर करे है। यह सुनकर नन्द के पास कई लाख सेना है, उन लोगों में आतंक छा गया और एक प्रकार का विद्रोह फैल गया।

चाणक्य — हाँ! तब क्या हुआ — केलिस्थनीज़ के अनुयायियों ने क्या किया?

चन्द्रगुप्त — उनकी उत्तेजना से सैनिकों ने विपाशा को पार करना अस्वीकार कर दिया और यवन देश लौट चलने के लिए आग्रह करने लगे। सिकन्दर के बहुत अनुरोध करने पर भी वे युद्ध के लिए सहमत नहीं हुए। इसलिए रावी के जलमार्ग से लौटने का निश्चय हुआ। अब उनकी इच्छा युद्ध की नहीं है।

चाणक्य — और क्षुद्रकों का क्या समाचार है?

चन्द्रगुप्त — वे भी प्रस्तुत है। मेरी इच्छा है कि इस जगद्विजेता का ढोंग करनेवाले को एक पाठ पराजय का भी पढ़ा दिया जाय। परन्तु इस समय यहाँ सिंहरण का होना अत्यन्त आवश्यक है।

चाणक्य — अच्छा देखा जायगा। सम्भवतः स्कंधावार में मालवों की युद्ध परिषद् होगी। अत्यन्त सावधानी से काम करना होगा। मालवों को मिलाने का पूरा प्रयत्न तो हमने कर लिया है।

चन्द्रगुप्त — चलिये मैं अभी आया! (चाणक्य का प्रस्थान)

मालविका — यह खेल तो बड़ा भयानक होगा माधव!

चन्द्रगुप्त — कुछ चिन्ता नहीं, अभी कल्याणी नहीं आई।

(एक सैनिक का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — क्या है?

सैनिक — मगध-सेना के लिए क्या आज्ञा है?

चन्द्रगुप्त — विपाशा और सतद्रु के बीच जहाँ अत्यन्त संकीर्ण भू-मार्ग है वही अपनी सेना रखो। स्मरण रखना कि विपाशा पार करने पर मगध साम्राज्य-ध्वंस करना यवनों के लिए बड़ा साधारण काम हो जायगा। सिकन्दर की सेना के सामने इतना विराट् प्रदर्शन होना चाहिए कि वह भयभीत हो।

सैनिक — अच्छा, राजकुमारी ने पूछा है कि आप कब तक आवेंगे? उनकी इच्छा मालव में ठहरने की नहीं है।

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी से मेरा प्रणाम कहना और कह देना कि मैं सेनापति का पुत्र हीं, युद्ध ही हमारी आजीविका है। क्षुद्रकों की सेना का मैं सेनापति होने के लिए आमन्त्रित किया गया हूँ। इसलिए मैं यहाँ रहकर भी मगध की अच्छी सेवा कर सकूँगा।

सैनिक — जैसी आज्ञा! (जाता है)

चन्द्रगुप्त — (कुछ सोचकर) सैनिक! (सैनिक लौट आता है)

सैनिक — क्या आज्ञा है?

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी से कह देना कि मगध जाने की उत्कट इच्छा होने पर भी वे सेना को साथ न ले जायँ।

सैनिक — उत्तर भी लेकर आना होगी?

चन्द्रगुप्त — नहीं। (सैनिक का प्रस्थान)

मालविका — मालव में बहुत-सी बातें मेरे देश से विपरीत है। इनकी युद्ध-पिपासा बलवती है — फिर युद्ध!

चन्द्रगुप्त — तो क्या तुम इस देश की नहीं हो?

मालविका — नहीं, मैं तो सिंधु की रहनेवाली हूँ, आर्य! वहाँ युद्ध-विग्रह नहीं, न्यायालयों की आवश्यकता नहीं। प्रचुर स्वर्ण के रहते ुहए भी कोई उसका उपयोग नहीं — इसलिए अर्थमूलक विवाद कभी उठते ही नहीं। मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना — मेरा सिंधुदेश है।

चन्द्रगुप्त — तो यहाँ कैसे चली आयी हो?

मालविका — मेरी इच्छा हुई कि और देशों को भी देखूँ। तक्षशिला में राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहाँ रहने लगी। उन्हीं ने मुझे घायल सिंहरण के साथ यहाँ भेज दिया। कुमार सिंहरण बड़े सहृदय है। परन्तु मागध, तुम्हें देखकर तो मैं चकित हो जाती हूँ। कभी इन्द्रजाली, कभी कुछ! भला इतना सुन्दर रूप — तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है?

चन्द्रगुप्त — शुभे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। तुम इन बातों को पूछकर क्या करोगी! (प्रस्थान)

मालविका — स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है। देखूँ कुमार सिंहरण कब आते हैं। (प्रस्थान)

पंचम दृश्य

(बन्दीगृह में घायल सिंहरण और अलका)

अलका — अब तो चल-फिर सकोगे?

सिंहरण — हाँ अलका, परन्तु बन्दीगृह में चलना-फिरना व्यर्थ है।

अलका — नहीं मालव, बहुत शीघ्र स्वस्थ होने की चेष्टा करो। तुम्हारी आवश्यकता है।

सिंहरण — क्या?

अलका — सिकन्दर की सेना रावी पार हो रही है। पंचनद से संधि हो गयी, अब यवन लोग निश्चिन्त हो कर आगे बढ़ना चाहते है। आर्य चाणक्य का एक चर यह सन्देश सुना गया है।

सिंहरण — कैसे?

अलका — क्षपणक-वेश में गीत गाता हुआ — भीख माँगता आया था, संकेत से अपना तात्पर्य कह सुनाया।

सिंहरण — तो क्या आर्य चाणक्य जानते है कि मैं यहाँ बन्दी हूँ।

अलका — हाँ, आर्य चाणक्य इधर की सब घटनाओं को जानते हैं।

सिंहरण — तब तो मालव पर शीघ्र ही आक्रमण होगा!

अलका — कोई डरने की बात नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त को साथ लेकर आर्य ने वहाँ पर बड़ा भारी कार्य किया है। क्षुद्रकों और मालवों में सन्धि हो गयी है। चन्द्रगुप्त को उनकी सम्मिलित सेना का सेनापति बनाने का उद्योग हो रहा है।

सिंहरण — (उठकर) तब तो अलका — मुझे शीघ्र पहुँचना चाहिये।

अलका — परन्तु तुम बन्दी हो।

सिंहरण — जिस तरह हो सके — अलके मुझे पहुँचाओ।

अलका — (कुछ सोचने लगती है) तुम जानते हो कि मैं क्यों बन्दिनी हूँ?

सिंहरण — क्यों?

अलका — आंभीक से पर्वतेश्वर की सन्धि हो गयी है और स्वयं सिकन्दर ने विरोध मिटाने के लिए पर्वतेश्वर की भगिनी से आंभीक का ब्याह करा दिया है, परन्तु आंभीक ने यह जानकर भी कि मैं यहाँ बन्दिनी हूँ, मुझे छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी भीतरी इच्छा है कि पर्वतेश्वर की कई रानियों में से एक मैं भी हो जाऊँ, परन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया.

सिंहरण — अलका, तब क्या करना होगा?

अलका — यदि मैं, पर्वतेश्वर से ब्याह करना स्वीकार करूँ — तो सम्भव है तुमको छुड़ा दूँ।

सिंहरण — मैं — अलका — मुझसे पूछती हो?

अलका — दूसरा उपाय क्या है?

सिंहरण — मेरा सिर घूम रहा है — अलका — तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी? अच्छा होता कि इसके पहले मैं ही न रहा जाता।

अलका — क्यों मालव, इसमें तुम्हारी कुछ हानि है?

सिंहरण — कठिन परीक्षा न लो अलका! बड़ा दुर्बल हूँ। मैंने जीवन और मरण में तुम्हारा संग ने छोड़ने का प्रण किया है।

अलका — मालव, देश की स्वतन्त्रता तुम्हारी आशा है।

सिंहरण — और तुम पंचनद की अधीश्वरी बनने की आशा में! तब, मुझे रणभूमि में प्राण देने की आशा दो।

अलका — (हँसती हुई) चिढ़ गये। आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि थोड़ी देर पंचनद का सूत्र-संचालन करने के लिए मैं यहाँ की रानी बन जाऊँ।

सिंहरण — यह भी कोई हँसी है!

अलका — बन्दी! जाओ सो रहो — मैं आज्ञा देती हूँ। (सिंहरण का प्रस्थान)। सुन्दर निश्छल हृदय तुमसे हँसी करना भी अन्याय है, परन्तु व्यथा को दबाना पड़ेगा। सिंहरण को मालव भेजने के लिए प्रणय के साथ अत्याचार करना होगा। (गाती है)

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।
बेंच डाला था हृदय अमोल, आज वह माँग रहा था दाम,
वेदना मिली तुला पर तोल, उसे लोभी ने ली बेकाम।

उड़ रही है हृत्पथ में धूल, आ रहे हो तुम बे-परवाह,
करूँ क्या दृग-जल से छिड़काव, बनाऊँ मैं बिलछन की राह!
सँभलते धीरे-धीरे चलो, इसी मिस तुमको लगे विलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध, मिले आशा को कुछ अवलम्ब।
विश्व की सुषमाओं को स्रोत, बह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप-रत्नाकर भरा अथाह।

(पर्वतेश्वर का प्रवेश)

पर्वतेश्वर — सुन्दरी, अलका — तुम कब तक यहाँ रहोगी?

अलका — यह तो बन्दी बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर है।

पर्वतेश्वर — कौन तुम्हें बन्दी कहता है? यह तुम्हारा अन्याय है, अलका! चलो, सुसज्जित राजभवन तुम्हारी प्रत्याशा में है।

अलका — नहीं पौरव, मैं राजभवनों से डरती हूँ क्योंकि — उसके लोभ से मनुष्य आजीवन मानसिक कारावास भोगता है।

पर्वतेश्वर — इसका तात्पर्य?

अलका — कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतन्त्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है — यहीं उन विलासपूर्ण राजभवनों का प्रलोभन है।

पर्वतेश्वर — व्यंग न करो अलका। पर्वतेश्वर ने जो कुछ किया है, वह भारत का एक-एक बच्चा जानता है। परन्तु दैव प्रतिकूल हो — तब क्या किया जाय?

अलका — मैं मानती हूँ, परन्तु आपकी आत्मा इसे मानने के लिए प्रस्तुत न होगी। हम लोग — जो आपके लिए, देश के लिए, प्राण देने को प्रस्तुत थे, केवल यवनों को प्रसन्न करने के लिए — बन्दी किये गये।

पर्वतेश्वर — बन्दी कैसे?

अलका — बन्दी नहीं तो और क्या? सिंहरण, जो आपके साथ युद्ध करते घायल हुआ है, आज तक वह क्यों रोका गया? पंचनद-नरेश आपका न्याय अत्यन्त सुन्दर है न!

पर्वतेश्वर — कौन कहता है सिंहरण बन्दी है? उस वीर की मैं प्रतिष्ठा करता हूँ अलका, परन्तु उससे द्वन्द्व युद्ध करना चाहता हूँ।

अलका — क्यों?

पर्वतेश्वर — क्योंकि अलका के दो प्रेमी नहीं हो सकते।

अलका — महाराज, यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँगकर आप सिकन्दर से द्वन्द्व-युद्ध माँगते, तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता।

पर्वतेश्वर — यदि मैं सिकन्दर का विपक्षी बन जाऊँ — तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका? सच कहो।

अलका — तब विचार करूँगी, पर वैसी सम्भावना नहीं।

पर्वतेश्वर — क्या प्रमाण चाहती हो अलका?

अलका — सिंहरण के देश पर यवनों का आक्रमण होने वाला है, वहाँ तुम्हारी सेना यवनों की सहायक न बने और सिंहरण अपने मालव की रक्षा के लिए मुक्त किया जाय।

पर्वतेश्वर — मुझे स्वीकार है।

अलका — तो मैं भी राजभवन में चलने के लिए प्रस्तुत हूँ, परन्तु एक नियम पर!

पर्वतेश्वर — वह क्या?

अलका — यही कि सिकन्दर के भारत में रहने तक मैं स्वतन्त्र रहूँगी। पंचनद नरेश, यह दस्यु-दल बरसाती बाढ़ के समान निकल जायगा विश्वास रखिये।

पर्वतेश्वर — सच कहती हो अलका! अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम जैसा कहोगी, वैसा ही होगा। सिंहरण के लिए रथ आयेगा और तुम्हारे लिए शिविका। देखो भूलना मत (चिन्तित भाव से प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(मालवों के स्कन्धावार में युद्ध-परिषद्)

देवबल — परिषद् के सम्मुख मैं यह विज्ञप्ति उपस्थित करता हूं कि यवन-युद्ध के लिए जो संधि मालव-क्षुदकों में हुई है, उसे सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि दोनों गणों की एक सम्मिलित सेना बनाई जाय और उसके सेनापति क्षुद्रकों के मनोनीत सेनापति मागध चन्द्रगुप्त ही हो। उन्हीं की आज्ञा में सैन्य-संचालन हो।

(सिंहरण का प्रवेश — परिषद में हर्ष)

सब — कुमार सिंहरण की जय!

नागदत्त — मगध एक साम्राज्य है। लिच्छवि और वृजि — गणतन्त्र को कुचलने वाले मगध का निवासी हमारी सेना का संचालन करे — यह अन्याय है। मैं इसका विरोध करता हूँ।

सिंहरण — मैं मालव-सेना का बलाधिकृत हूँ। मुझे सेना का अधिकार परिषद ने प्रदान किया है और साथ ही में संधि-विग्रहिक का भी कार्य करता हूँ — पंचनद की परिस्थिति मैं स्वयं देख आया हूँ और मागध चन्द्रगुप्त को भी भलीभाँति जानता हूँ। मैं चन्द्रगुप्त के आदेशानुदार युद्ध चलाने के लिए सहमत हूँ। और भी मेरी एक प्रार्थना है — उत्तरापथ के विशिष्ठ राजनीतिज्ञ आर्य चाणक्य के गम्भीर राजनीतिक विचार सुनने पर आप लोग अपना कर्तव्य निश्चित करें।

गणमुख्य — आर्य चाणक्य व्यासपीठ पर आवें।

चाणक्य — (व्यासपीठ से) उत्तरापथ पर प्रमुख मालव राष्ट्र की परिषद का मैं अनुगृहीत हूँ कि ऐसे गम्भीर अवसर पर मुझे कुछ कहने के लिए उसने आमन्त्रित किया है। गणतन्त्र और एक राज्य का प्रश्न यहाँ नहीं, क्योंकि लिच्छवियों और वृजियों का अपकार करने वाले मगध का एक-राज्य, शीघ्र ही गणतन्त्र में परिवर्तित होने वाला है। युद्धकाल में एक नायक की आज्ञा माननी पड़ती है। वहाँ शलाका-ग्रहण करके शस्त्र-प्रहार करना असंभव है। अतएव सेना का एक नायक तो होना ही चाहिए और यहाँ की परिस्थिति में चन्द्रगुप्त से बढ़कर इस कार्य के लिए दूसरा व्यक्ति न होगा। वितस्ता-प्रदेश के अधीश्वर पर्वतेश्वर के यवनों से सन्धि करने पर भी चन्द्रगुप्त के ही उद्योग का यह फल

है कि पर्वतेश्वर की सेना यवन-सहायता को न आवेगी। उसी के प्रयत्न से यवन-सेना में विद्रोह भी हो गया जिससे उसका आगे बढ़ना असंभव हो गया है। परन्तु सिकन्दर की कूटनीति प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहती है — वह अपनी विद्रोहिणी सेना को स्थल-मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा स्वयं सिन्धु-संगम तक के प्रदेश विजय करना चाहता है! उसमे मालवों का नाश निश्चित है। अतएव, सेनापतित्व के लिए आप लोग चन्द्रगुप्त का ही वरण करें तो क्षुद्रकों का सहयोग भी आप लोगों को मिलेगा। चन्द्रगुप्त को ही उन लोगों ने भी सेनापति बनाया है।

नागदत्त — ऐसा नहीं हो सकता —

चाणक्य — प्रबल प्रतिरोध करने के लिए दोनों सैन्यों में एकाधिपत्य का होना आवश्यक है। साथ ही क्षुद्रकों की सन्धि की मर्यादा भी रखनी चाहिये। प्रश्न — शासन का नहीं — युद्ध का है। युद्ध में सम्मिलित होने वाले वीरों का एकनिष्ठ होना लाभदायक है। फिर तो मालव और क्षुद्रक दोनों ही स्वतन्त्र संघ है और रहेंगे। संभवतः इसमें प्राच्यों का एक गणराष्ट्र आगामी दिनों में और भी आ मिलेगा।

नागदत्त — समझ गया, चन्द्रगुप्त को ही सम्मिलित सेना का सेनापति बनाना श्रेयस्कर होगा!

सिंहरण — अन्न-पान और भैषज्य-सेवा करने वाली स्त्रियों ने मालविका को अपना प्रधान बनाने की प्रार्थना की है।

गणमुख्य — यह उन लोगों की इच्छा पर है। अस्तु, महाबलाधिकृत पद के लिए चन्द्रगुप्त का वरण करने की आज्ञा परिषद् देती है।

(समवेत जयघोष)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(पर्वतेश्वर का प्रासाद)

अलका — सिंहरण मेरी आशा में होगा और मैं यहाँ पड़ी हूँ। आज इसका कुछ निपटारा करना होगा — अब अधिक नहीं। (आकाश की ओर देखकर) तारों से भरी हुआ काली रजनी का नीला आकाश — जैसे कोई विराट् गणितज्ञ निभृत में रेखा-गणित की समस्या सिद्ध करने के लिए बिन्दु दे रहा है!

(पर्वतेश्वर का प्रवेश)

पर्वतेश्वर — अलका बड़ी द्विविधा है।

अलका — क्यों पौरव?

पर्वतेश्वर — मैं तुमसे प्रतिश्रुत हो चुका हूँ कि मालव-युद्ध में भाग न लूँगा, परन्तु सिकन्दर का दूत आया है कि आठ सहस्र अश्वारोही लेकर रावी तट पर मिलो। साथ ही पता चला है कि कुछ यवन-सेना अपने देश को लौट रही है।

अलका — (अन्यमनस्क होकर) हाँ, कहते चलो!

पर्वतेश्वर — तुम क्या कहती हो अलका?

अलका — मैं सुनना चाहती हूँ।

पर्वतेश्वर — बतलाओ, मैं क्या करूँ?

अलका — जो अच्छा समझो! मुझे देखने दो ऐसी सुन्दर वेणी — फूलों से गुँथी हुई श्यामा रजनी की सुन्दर वेणी — अहा!

पर्वतेश्वर — क्या कह रही हो?

अलका — गाने की इच्छा होती है, सुनोगे — (गाती है)

> बिखरी किरन अलक व्याकुल हो विरस वदन पर चिन्ता लेख,
>
> छायापथ में राह देखती गिनती प्रणय-अवधि की रेख।
>
> प्रियतम के आगमन-पंथ में उड़ न रही है कोमल धूल,

कादंबिनी उठी यह ढँकने वाली दूर जलधि के कुल।
समय-विहग के कृष्णपक्ष में रजत चित्र-सी अंकित कौन —
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके! बोलो कुछ, बैठी मत मौन!
मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान!
रूप-निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान!

पर्वतेश्वर — अलका मैं पागल होता जा रहा हूँ। यह तुमने क्या कर दिया है।

अलका — मैं तो गा रही हूँ।

पर्वतेश्वर — परिहास न करो — बताओ, मैं क्या करूँ?

अलका — यदि सिकन्दर के रण-निमन्त्रण में तुम न जाओगे तो तुम्हारा राज्य चला जायगा।

पर्वतेश्वर — बड़ी विडम्बना है।

अलका — पराधीनता से बढ़कर विडम्बना और क्या है? अब समझ गये होगे कि वह सन्धि नहीं, पराधीनता की स्वीकृति थी।

पर्वतेश्वर — मैं समझता हूँ कि एक हजार अश्वारोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर कोई बहाना ढूँढ़ निकालूँगा।

अलका — (मन में) मैं चलूँ, निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा! (प्रकट) अच्छी बात है, परन्तु मैं भी साथ चलूँगी। यहाँ अकेले क्या करूँगी? (पर्वतेश्वर के साथ प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(रावी के तट सैनिकों के साथ मालविका और चन्द्रगुप्त । नदी में दूर-दूर नावें)

मालविका — मुझे शीघ्र उत्तर दीजिये।

चन्द्रगुप्त — जैसा उचित समझो, तुम्हारी आवश्यक सामग्री तुम्हारे अधीन रहेगी — सिंहरण को कहाँ छोड़ा।

मालविका — आते ही होंगे।

चन्द्रगुप्त — (सैनिकों से) तुम लोग कितनी दूर तक गये थे?

सैनिक — अभी चार योजन तक यवनों का पता नहीं। परन्तु कुछ भारती सैनिक रावी के उस पार दिखाई दिये। मालव की पचासों हिंस्रिकाएँ वही निरीक्षण कर रही है। उन पर धनुर्धर है।

सिंहरण — (प्रवेश करके) वह पर्वतेश्वर की सेना होगी। किन्तु मागध! आश्चर्य है।

चन्द्रगुप्त — आश्चर्य कुछ नहीं।

सिंहरण — क्षुद्रकों के केवल कुछ ही गुल्म आये हैं, और तो...

चन्द्रगुप्त — चिन्ता नहीं। कल्याणी के मागध सैनिक और क्षुद्रक अपनी घात में है, यवनों को इधर आ जाने दो। सिंहरण, थोड़ी-सी हिंस्रिकाओं पर मुझे साहसी वीर चाहिये।

सिंहरण — प्रस्तुत है आज्ञा दीजिये।

चन्द्रगुप्त — यवनों की जलसेना पर आक्रमण करना होगा। विजय के विचार से नहीं, केवल उलझाने के लिए और उनकी सामग्री को नष्ट करने के लिये।

(सिंहरण संकेत करता है। नावें आती है)

मालविका — तो मैं स्कन्धावार के पृष्ठ भाग में अपने साधन रखती हूँ। एक क्षुद्र भांडार मेरे उपवन में भी रहेगा।

चन्द्रगुप्त — (विचार करके) अच्छी बात है।

(एक नाव तेजी से आती है। उस पर से अलका उतरती है)

सिंहरण — (आश्चर्य से) तुम अलका!

अलका — पर्वतेश्वर ने प्रतिज्ञा भंग की है। वह सैनिकों के साथ सिकन्दर की सहायता के लिए आया है। मालवों की नावें घूम रही थीं, मैं जान-बूझकर पर्वतेश्वर को छोड़कर वहीं पहुँचा गयी — (हँसकर) परन्तु मैं बन्दी होकर आई हूँ।

चन्द्रगुप्त — देवि! युद्धकाल है, नियमों को देखना ही पड़ेगा। मालविका! ले जाओ इन्हें उपवन में। (मालविका और अलका का प्रस्थान)

(मालव-रक्षकों के साथ एक यवन का प्रवेश)

यवन — मालव के सन्धि-विग्रहिक अमात्य से मिलना चाहता हूँ।

सिंहरण — तुम दूत हो?

यवन — हाँ!

सिंहरण — कहो मैं यहीं हूँ।

यवन — देवपुत्र ने आज्ञा दी है कि मालव-नेता आकर मुझसे भेंट करें और मेरी जल-यात्रा की सुविधा का प्रबन्ध करें।

सिंहरण — सिकन्दर से मालवों की ऐसी कोई सन्धि नहीं हुई जिससे वे इस कार्य के लिए बाध्य हों। हाँ, भेट करने के लिए मालव सदैव प्रस्तुत है — चाहे सन्धि परिषद् में या रणभूमि में।

यवन — तो यही जाकर कह दूँ?

सिंहरण — हाँ जाओ (रक्षकों से) इन्हें सीमा तक पहुँचा दो।

(रक्षकों के साथ यवन का प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त — मालव, हम लोगों ने भयानक दायित्व उठाया है, इसका निर्वाह करना होगा!

सिंहरण — जीवन-मरण से खेलते हुए करेंगे वीरवर!

चन्द्रगुप्त — परन्तु सुनो तो, यवन लोग आर्यों की रण-नीति से नहीं लड़ते वे हमीं लोगों के युद्ध है, जिनमें रणभूमि के पास ही स्वच्छता कृषक हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते है और उसे — अपनी रण-नीति का प्रधान अंग मानते है। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य है।

सिंहरण — युद्ध-सीमा के पार से लोगों को भिन्न-भिन्न दुर्गों में एकत्र होने की आज्ञा प्रचारित हो गयी है। जो होगा — देखा जायगा।

चन्द्रगुप्त — पर एक बात सदैव ध्यान में रखनी होगी।

सिंहरण — क्या?

चन्द्रगुप्त — यहीं, कि हमें आक्रमणकारी यवनों को यहाँ से हटाना है, और उन्हें जिस प्रकार हो, भारतीय सीमा के बाहर करना है। इसलिए — शत्रु की ही नीति से युद्ध करना होगा।

सिंहरण — सेनापति की सब आज्ञाएँ मानी जायेगी, चलिये!

(सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(शिविर के समीप कल्याणी और चाणक्य)

कल्याणी — आर्य अब मुझे लौटने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि सिकन्दर ने विपाशा को अपने आक्रमण की सीमा बना ली है। अग्रसर होने की संभावना नहीं, और अमात्य राक्षस भी आ गये है, उनके साथ मेरा जाना ही उचित है।

चाणक्य — और चन्द्रगुप्त से क्या कह दिया जाय?

कल्याणी — मैं नहीं जानती।

चाणक्य — परन्तु राजकुमारी, उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा।

कल्याणी — आर्य, मैं इन बातों को नहीं सुनना चाहती, क्योंकि समय ने मुझे अव्यवस्थित बना दिया है।

(अमात्य राक्षस का प्रवेश)

राक्षस — कौन? चाणक्य?

चाणक्य — हाँ अमात्य! राजकुमारी मगध लौटना चाहती है।

राक्षस — तो उन्हें कौन रोक सकता है?

चाणक्य — क्यों? तुम रोकोगे।

राक्षस — क्या तुमने सबको मूर्ख समझ लिया है?

चाणक्य — जो होंगे वे अवश्य समझे जायेंगे। अमात्य — मगध की रक्षा अभीष्ट नहीं है क्या?

राक्षस — मगध विपन्न कहाँ है!

चाणक्य — तो मैं क्षुद्रकों से कह दूँ कि तुम लोग बाधा न दो, और यवनों से भी कह दिया जाय कि वास्तव में यह स्कन्धावार प्राच्य देश के सम्राट का नहीं है, जिसमें भयभीत होकर विपाशा परा नहीं होना चाहते, यह तो क्षुद्रकों की क्षुद्र सेना है, जो तुम्हारे लिए मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड़ देने को प्रस्तुत है — क्यों?

राक्षस — (विचार कर) आह ब्राह्मण, मैं रहूँगा, यह तो मान लेने योग्य सम्मति है परन्तु —

चाणक्य — फिर परन्तु लगाया। तुम स्वयं रहो और राजकुमारी भी रहें और तुम्हारे साथ जो नवीन गुल्म आये है उन्हें भी रखना पड़ेगा। जब सिकन्दर रावी के अंतिम छोर पर पहुँचेगा, तब तुम्हारी सेना का काम पड़ेगा। राक्षस! फिर भी मगध पर मेरा स्नेह है। मैं उसे उजडने और हत्यारों से बचाना चाहता हूँ। (प्रस्थान)

कल्याणी — क्या इच्छा है अमात्य?

राक्षस — मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता। पर इसकी बातें मानने के लिए विवश हो रहा हूँ। राजकुमारी! यह मगध का विद्रोही अब तक बन्दी कर लिखा जाता, यदि इसकी स्वतन्त्रता आवश्यक न होती।

कल्याणी — जैसी सम्मति हो।

चाणक्य — (प्रवेश करके) अमात्य! सिंह पिंजड़े में बन्द हो गया है।

राक्षस — कैसे?

चाणक्य — जल यात्रा में इतना विघ्न उपस्थित हुआ कि सिकन्दर को स्थलमार्ग से मालवों पर आक्रमण करना पड़ा। अपनी विजयों पर फूल कर उसने ऐसा किया, परन्तु जा फँसा उनके चंगुल में। अब इधर क्षुद्रकों और मागधों की नवीन सेनाओं से उसको बाधा पहुँचानी होगी।

राक्षस — तब तुम क्या कहते हो — क्या चाहते हो?

चाणक्य — यही, कि तुम अपनी सम्पूर्ण सेना लेकर विपाशा के तट की रक्षा करो, और क्षुद्रकों को लेकर मैं पीछे से आक्रमण करने जाता हूँ। इसमें तो डरने की बात — कोई नहीं?

राक्षस — मैं स्वीकार करता हूँ।

चाणक्य — यदि न करोगे तो अपना अनिष्ट करोगे। (प्रस्थान)

कल्याणी — विचित्र ब्राह्मण है अमात्य! मुझे तो इसको देखकर डर लगता है।

राक्षस — विकट है — राजकुमारी एक बार इससे मेरा द्वन्द्व होना अनिवार्य है, परन्तु अभी मैं उसे बचाना चाहता हूँ।

कल्याणी — चलिये! (कल्याणी का प्रस्थान)

चाणक्य — (पुनः प्रवेश करके) राक्षस एक बात तुम्हारे कल्याण की है, सुनोगे! मैं कहना भूल गया था।

राक्षस — क्या?

चाणक्य — नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारा अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा, समझे!

(चाणक्य का सवेग प्रस्थान — राक्षस सिर पकड़ कर बैठ जाता है)

(अन्धकार में दृश्यान्तर)

दशम दृश्य

(पंचनद के पथ में एक पड़ाव पर)

धनदत्त — नियति क्या चाहती है? तुम बतलाओगे?

आजीवक — यह तो वही जाने! लाखों योनियों में भ्रमण करते-करते वह पहुँचने वाले स्थान पर पहुँचा देगी।

धनदत्त — मैं पूछता हूँ कि एक बार मरने पर भी छुटकारा नहीं। फिर दूसरी योनि में! फिर — फिर, मैं तो फिरकी बन गया हूँ।

आजीवक — मनुष्य यही जान जाता है तो फिर क्या कहना।

धनदत्त — तब आप कैसे जानते है कि नियति ही सब कुछ कराती है? यही क्या सत्य ज्ञान है?

चन्दन — अरे! ज्ञान के पीछे क्यों सर खपाते हो भाई। मगध में ज्ञानियों और दार्शनिकों की तो बाढ़ आ गयी है। तुम्हारे जैसे अज्ञानी उसकी सेवा के लिए भी तो चाहिये। नहीं तो पानी गर्म करके पीना, बालों को नुचवाना, सिर मुड़वाना, काँटों पर सोना, पंचाग्नि तापना, लम्बी-लम्बी जटा बढ़ाकर सचल वटवृक्ष का अभिनय करना, सड़क पर झाड़ू देते चलना, मुख को कपड़े से ढँके रखना जिससे कोई प्राणी बिल समझ कर न घुस जाय। या, एक

बार ही माता के गर्भ से निकल कर आनेवाली दिगम्बर अवस्था में रहना यह सब कैसे होगा।

धनदत्त — देखो चन्दन! मुझे धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा है। अहा! कैसी उत्तम वस्तु मिल रही है उसमें तुम बाधा न डालो।

(आँखें मूँदकर विचार करने लगता है।)

चन्दन — कुछ दिन तुम यही पड़े रहो कि पूर्ण ज्ञान होने के लिए दिवाला पिट जायगा। वाणिज्य संघ के यात्री तो चले गये, वे सब तुम्हारी अस ज्ञान पिपासा का लाभ उठायेंगे और तुम यहाँ आजीवक जी की बकवाद सुनो।

धनदत्त — क्या वे सब चले गये।

चन्दन — नहीं तो क्या तुम्हारी तरह... नेपथ्य की ओर देखकर अरे ... रे! ! रे! ! ! अब तो मैं जाता हूँ। (उठकर इधर-उधर दौड़ने लगता है)

आजीवक — धनदत्त! नियति यदि उन सबों को दौड़ा रही है तो इसमें दूसरा क्या कर सकता है — (नेपथ्य की ओर देख) अंय!

(चन्दन की स्त्री माधवी का प्रवेश)

चन्दन — (घबराकर) हँय! हँय!! तुमको लज्जा नहीं यहाँ इस तरह चली आ रही हो जैसे पगली भैंस!

माधवी — आप यहीं है अभी! कितने महीने हो गए। घर में बैठी-बैठी लाज को घोलकर पीऊँ या संकोच को चबाऊँ? वहाँ क्या रख आये!

चन्दन — अभी और आगे बढ़ने का मुहूर्त नहीं मिल रहा है। शकुन का धूमकेतु, सारे शुभ ग्रहों के पथ में अपनी पूँछ से झाड़ू लगा रहा है। इसीलिए अभी हम लोग पंचनद के पथ में ही ठहरे है।

माधवी — आग लगे धूमकेतु की पूँछ में मैं पूछ रही हूँ कि...

धनदत्त — चुप रहो — तुम भद्र-महिला होकर ऐसी बातें करती हो।

चन्दन — अरे! कहाँ गया — वह सत्ययुग का स्मरणीय समय जब स्त्रियाँ पति के लिए चिता पर जला करती थी। उनके पीछे-पीछे यम तक से लड़ाई करती थी। चरणोदक लेकर रह जाती थी कभी प्रतिवाद भी नहीं करती थी। घोर कलयुग — आजीवक जी! यह संसार की दुर्दशा देखते नहीं बनती।

माधवी — ऐसे निठल्ले पतियों के लिए स्त्रियाँ जल मरती होंगी? गृहस्थी की कठिनाइयों से दुम दबाकर भागनेवाले पतिदेव! तुम

अपनी स्त्री से जल मरने की आशा मत करो। बच्चे भूख से बिलख रहे है, स्त्री छटपटा रही है और तुम धर्म का उपदेश...

(राजपुरुष का प्रवेश)

राजपुरुष — सार्थवाह! क्या तुम यहीं पड़े रहोगे? कब तक्षशिला जा रहे हो?

धनदत्त — जब नियति ले जाय! मैं तो चलने के लिए ही घर से निकला था। किन्तु क्या करूँ?

राजपुरुष — सुनो! जिन मणियों के ले आने की तुम्हें आज्ञा मिली थी, उनकी अब आवश्यकता नहीं रही क्योंकि कुमारी का ब्याह अब पंचनद नरेश से न होगा।

धनदत्त — (उठकर) हमारे महाराज चिरंजीवी हों, और फिर वैसी हत्यापूर्ण मणियाँ छि! छि!!बहुत अच्छा किया महाराज ने उन्हें छूने में भी पाप है।

राजपुरुष — किन्तु यह पत्र लो, देखो! इसमें तुम्हें यह आदेश दिया गया है कि तुम राजकुमारी कल्याणी के सैनिकों की भोजन-व्यवस्था और धनभण्डार की देखरेख करो। जो कमी हो पूरी

करो। यह युद्धकाल है। स्मरण रखना कुछ भी गड़बड़ी हुई और...

धनदत्त — और क्या?

राजपुरुष — समस्त सम्पति का राजकोष में सुरक्षित हो जाना कैसा सुखद होता है, यह तुम जानते हो न।

धनदत्त — किन्तु... किन्तु...

नन्दन — परन्तु... परन्तु...

राजपुरुष — (घुड़ककर) किन्तु परन्तु से काम न चलेगा।

माधवी — श्रेष्ठिन्! इसमें घबराने की क्या बात है? चलिये राजकुमारी के साथ हम लोग भी रहें। इस युद्धकाल में सैनिकों से सुरक्षित रहना तो और भी अच्छा है।

धनदत्त — हम है वणिक। यह क्या तुम नहीं जानती हो।

चन्दन — और मुझको ब्राह्मण समझकर ही तुम्हारे पिता ने कन्यादान दिया था।

माधवी — तब?

चन्दन — (गिड़गिड़ाकर) दोहाई है माधवी, तू पतिव्रता है। कुलीन कुलकन्या है, अपने सुहाग की तू ही रक्षा कर मैं कहता हूँ कि जल मरने का सती होने होने का का अवसर न आने दे, युद्ध के समीप हम लोगों को न ले जा माधवी! एँ, एँ, एँ!

माधवी — आजीवक जी को छोड़कर मैं सबकी रक्षा का भार लेती हूँ!

(आजीवक का प्रस्थान)

राजपुरुष — माधवी तुम ठहरो। मैं अभी आता हूँ।

(प्रस्थान — ग्रीक सैनिकों का प्रवेश)

चन्दन — अरे! ये!! ये!!! कौन? कहाँ से?

सैनिक — हमारे घोड़ों के लिए...

चन्दन — साईस चाहिये क्या?

सैनिक — (चन्दन और धनदत्त को देखकर) ओ हो! तुम लोग ठीक समय पर मिले। बताओ यहाँ चारा कहाँ मिलेगा? पकड़ लो इनको (ग्रीक सैनिक घेर लेते है — सैनिक धनदत्त को देखकर) बड़ा मोटा है यह...

धनदत्त — हम लोग तो कुछ कर ही नहीं सकते।

सैनिक — क्यों!

चन्दन —नियति का निर्देश! जो करावेगी यही होगी!

सैनिक — तो समझ लो मैं तुम्हारी नियति हूँ। देखो जी इस सबों के पास क्या है! यह गुप्तचर तो नहीं। (सब धनदत्त की गठरियों के देखने लगते है:

धनदत्त — अरे! छू लिया। उसमें सब...

सैनिक — क्या?

चन्दन — ठहरो भाई। पहले मुझे भाग जाने दो।

धनदत्त — (सैनिक को पिटारी खोलते देखकर) अरे! सर्प!! सर्प!!!

सैनिक — (पिटारी छोड़कर) क्या?

चन्दन — मणिधर!

सैनिक — (आश्चर्य से) क्या तुम लोग सपेरे हो?

धनदत्त — जी! जी!! जी!!! यह (माधवी को देखकर) यह साँप पकड़ना जाती है। भागे हुए पुरुषों को भी खूब ही पकड़ लेती है।

चन्दन — और! और!!

माधवी — ठहरो! मैं पिटारी खोल दूँ।

(खोलने का अभिनय करती है। चन्दन उछल कूद मचाता है। इतने में राजपुरुष सैनिकों के साथ आता है। ग्रीक सैनिक भागते है। सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

ग्यारहवाँ दृश्य

(मालव दुर्ग के भीतरी भाग में एक सूना परकोटा)

मालविका — अलका — इधर तो कोई भी सैनिक नहीं। यदि शत्रु इधर से आवे तब?

अलका — दुर्ग ध्वंस करने के लिए यन्त्र लगाये जा चुके है, परन्तु मालव-सेना भी सुख की नींद नहीं सो रही है। सिंहरण को दुर्ग की भीतरी रक्षा का भार देकर चन्द्रगुप्त नदी-तट से यवन सेना के पृष्ठ भाग पर आक्रमण करेंगे। आज ही युद्ध का अन्तिम निर्णय है। जिस स्थान पर यवन सेना को ले आना अभीष्ट थी, वहाँ तक पहुँच गयी।

मालविका — अच्छा, चलो कुछ नवीन आहत आ गये है, उनकी सेवा का प्रबन्ध करना है।

अलका — (देखकर) मालविका! मेरे पास धनुष और कटार है। इस आपत्तिकाल में एक आयुध अपने पास रखना चाहिये। तू कटार अपने पास रख ले।

मालविका — मैं डरती हूँ, घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका — मैंने सेवा का व्रत लिया है।

अलका — प्राणों के भय से — शस्त्र से घृणा करती हो क्या?

मालविका — प्राण तो धरोहर है, जिसका होगा वही लेगा, मुझे भयों से इनकी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं, मैं जाती हूँ।

अलका — अच्छी बात है, जा! परन्तु सिंहरण को शीघ्र ही भेज दे! यहाँ जब तक कोई न आ जाय, मैं नहीं हट सकती।

(मालविका का प्रस्थान)

अलका — संध्या का नीरव निर्जन प्रदेश है। बैठूँ — (अकस्मात् बाहर से हल्ला होता है। युद्ध-शब्द) चन्द्रगुप्त ने आक्रमण कर कर दिया! परन्तु यह स्थान... बड़ा अरक्षित है! (उठती है) अरे! वह कौन — प्राचीर पर यवन सैनिक है क्या? तो सावधान हो जाऊँ?

(धनुष चढ़ाकर तीर मारती है। यवन-सैनिक का पतन। दूसरा फिर ऊपर आता है, उसे भी मारती ही। तीसरी बार स्वयं सिकन्दर ऊपर आता है — तीर का वार बचाकर दुर्ग में कूदता है और अलका को पकड़ना चाहता है। सहसा सिंहरण का प्रवेश और युद्ध)

सिंहरण — (तलवार चलाते हुए) तुमको स्वयं इतना साहस नहीं करना चाहिये सिकन्दर! तुम्हारा प्राण बहुमूल्य है!

सिकन्दर — सिकन्दर केवल सेनाओं को आज्ञा देना नहीं जानता। बचाओ अपने को —

(भाले का बार करता है। सिंहरण ऐसी फुरती से भाले को ढाल पर लेता है कि वह सिकन्दर के हाथ से छूट जाता है। यवनराज विवश होकर तलवार चलाता है। किन्तु सिंहरण के भयानक प्रत्याघात से घायल होकर गिरता है। तीन यवन-सैनिक कूदकर आते हैं, इधर से मालव सैनिक पहुँचते है।)

सिंहरण — यवन! दुस्साहस न करो! तुम्हारे सम्राट की अवस्था शोचनीय है, ले जाओ, इसकी शुश्रूषा करो!

यवन — दुर्ग-द्वार टूटता है और अभी हमारे वीर सैनिक इस दुर्ग को मटियामेट करते है!

सिंहरण — पीछे चन्द्रगुप्त की सेना है मूर्ख? इस दुर्ग में आकर तुम सब बन्दी होंगे। ले जाओ सिकन्दर को — उठा ले जाओ, जब तक और मालवों को यह न विदित हो जाय कि यही वह सिकन्दर है।

मालव सैनिक — सेनापति! रक्त का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध!

सिंहरण — ठहरो, मालव वीरों! ठहरो, यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था। पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है। यवन, जाओ, शीघ्र जाओ!

(तीनों यवन सिकन्दर को लेकर जाते है। घबराया हुआ एक सैनिक आता है)

यवन — सेनापति सिल्यूकस! क्षुद्रकों की सेना भी पीछे से आ गयी है!बाहर की सेना को उन लोगों ने उलझा रक्खा है।

चन्द्रगुप्त — यवन सेनापति मार्ग चाहते हो या युद्ध? मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है। तुम्हारा जीवन!

सिल्यूकस — (कुछ सोचने लगता है) हम दोनों के लिए प्रस्तुत है! किन्तु...

चन्द्रगुप्त — शान्ति.. मार्ग दो! जाओ सेनापति — सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना।

(यवन-सेना का प्रस्थान। चन्द्रगुप्त की जयघोष)

(यवनिका)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(विपाशा-तट के शिविर में राक्षस टहलते हुए)

राक्षस — एक दिन चाणक्य ने कहा था कि आक्रमणकारी यवन — ब्राह्मण और बौद्ध का भेद न मानेंगे — वही बात ठीक उतरी। यदि मालव और क्षुद्रक परास्त हो जाते और यवन-सेना

शतद्रु पार कर जाती तो मगध का नाश निश्चित था। मूर्ख मगध-नरेश ने संदेह किया है और बार-बार मेरे लौटने की आज्ञाएँ आने लगी है। परन्तु–

(एक चर का प्रवेश करके प्रणाम करता है)

राक्षस — क्या समाचार है?

चर — बड़ा ही आतंकजनक है — अमात्य!

राक्षस — कुछ कहो भी।

चर — सुवासिनी पर आपसे मिलकर कुचक्र रचने का अभियोग है वह कारागार में है।

राक्षस — (क्रोध से) और भी कुछ?

चर — हाँ अमात्य, प्रान्त दुर्ग पर अधिकार करके विद्रोह करने के अपराध में आपको बन्दी बनाकर ले आनेवाले के लिए पुरस्कार की घोषणा की गई है।

राक्षस — यहाँ तक! तुम सत्य कहते हो?

चर — यहाँ तक कहने के लिए प्रस्तुत हूँ कि अपने बचने का शीघ्र उपाय कीजिये।

राक्षस — भूल थी — मेरी भूल थी! राक्षस — मगध की रक्षा करने चला था। जाता मगध — कटती प्रजा — लुटते नगर। नन्द, क्रूरता और मूर्खता की प्रतिमूर्ति नन्द — एक पशु! उसके

लिए क्या चिन्ता थी! सुवासिनी - मैं सुवासिनी — मैं सुवासिनी के लिए मगध को बचाना चाहता था। कुटिल विश्वासघातिनी राज-सेवा! तुझे धिक्कार है!

(एक नायक का सैनिकों के साथ प्रवेश(

नायक — अमात्य राक्षस, मगध-सम्राट की आज्ञा से शस्त्र त्याग कीजिए — आप बन्दी है।

राक्षस — (खड्ग खींचकर) कौन है तू मूर्ख? इतना साहस!

नायक — यह तो बन्दीगृह बतावेगा। बल-प्रयोग करने के लिए मैं बाध्य हूँ (सैनिकों से) अच्छा! बाँध लो —

(दूसरी ओर से आठ सैनिक आकर उन पहले के सैनिकों को बन्दी बनाते है। राक्षस आश्चर्यचकित होकर देखता है)

नायक — (आश्चर्य से) तुम सब लोग कौन हो?

नवागत सैनिक — राक्षस के शरीर-रक्षक!

राक्षस — मेरे!

नवागत सैनिक — हाँ अमात्य! आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी है कि जब तक यवनों का उपद्रव है, तब तक सबकी रक्षा होनी चाहिये, भले ही वह राक्षस क्यों न हो।

राक्षस — इसके लिए मैं चाणक्य का कृतज्ञ हूँ।

नवागत सैनिक — परन्तु अमात्य! कृतज्ञता प्रकट करने के लिए आपको उनके समीप तक चलना होगा।

(सैनिकों को संकेत करता है, वे बन्दियों और नायक को लेकर जाते हैं)

राक्षस मुझे कहाँ चलना होगा? राजकुमारी से भेंट कर लूँ।

नवागत सैनिक — वहीं सबसे भेंट होगी। यह पत्र है।

(राक्षस पत्र लेकर पढ़ता है।)

राक्षस — अलका और सिंहरण का ब्याह होनेवाला है उसमें मैं भी निमन्त्रित किया गया हूँ! चाणक्य — विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट-राजनीति के साथ रात-दिन जैसे खिलवाड़ किया करती है।

नवागत सैनिक — हाँ, आपने कुछ और भी सुना है?

राक्षस — क्या?

नवागत सैनिक — यवनों ने मालवों से संधि करने का संदेश भेजा है। सिकन्दर ने उस वीर रमणी अलका को देखने की बड़ी इच्छा प्रकट की है, जिसने दुर्ग में सिकन्दर का प्रतिरोध किया था।

राक्षस — आश्चर्य!

चर — हाँ अमात्य! यह तो मैं कहने ही नहीं पाया था — रावी तट पर एक विस्तृत शिविरों की रंग-भूमि बनी है जिसमें अलका का ब्याह होगा। जब से सिकन्दर को यह विदित हुआ है कि अलका तक्षशिला नरेश आंभीक की बहन है, तब से उसे एक अच्छा अवसर मिल गया है। उसने उक्त शुभ अवसर पर मालवों और यवनों का एक सम्मिलित उत्सव करने की घोषणा कर दी है। आंभीक के पक्ष से निमंत्रित होकर — परिणय-सम्पादन कराने दल-बल के साथ स्वयं सिकन्दर भी आवेगा।

राक्षस — चाणक्य — तू धन्य है। मुझे ईर्ष्या होती है, चलो!

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(रावी-तट के उत्सव -शिविर के पथ में पर्वतेश्वर अकेले टहलते हुए)

पर्वतेश्वर — आह! कैसा अपमान! जिस पर्वतेश्वर ने उत्तरापक्ष में अनेक प्रबल शत्रुओं के रहते भी विरोधों को कुचलकर गर्व से सिर ऊँचा कर रखा था, जिसने दुर्द्दान्त सिकन्दर के सामने मरण को तुच्छ समझते हुए, वक्ष ऊँचा करके भाग्य से हँसी-ठट्ठा किया था, उसी क्या यह तिरस्कार — सो भी एक स्त्री के द्वारा और सिकन्दर के संकेत से — प्रतिशोध — एक रक्त-पिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच रही है। मरूँ या मार डालूँ। मारना तो असम्भव है। सिंहरण और अलका वर-वधू के वेश में है, मालवों के चुने हुए वीरों से वे घिरे है। सिकन्दर उनकी प्रशंसा और आदर में लगा हुआ है। इस समय सिंहरण पर हाथ उठाना असफलता के पैरों तले गिरना है। तो फिर जी कर क्या करूँगा।

(छुरा निकालकर आत्महत्या करना ही चाहता है कि चाणक्य आकर हाथ पकड़ लेता है)

पर्वतेश्वर — कौन?

चाणक्य — ब्राह्मण चाणक्य।

पर्वतेश्वर —मेरे इस अन्तिम समय में भी क्या कुछ दान चाहते हो?

चाणक्य — हाँ।

पर्वतेश्वर — मैंने अपना राज्य दिया — अब हटो।

चाणक्य — यह तो तुमने दे ही दिया, परन्तु मैंने तुमसे माँगा न था, पौरव!

पर्वतेश्वर — फिर क्या चाहते हो?

चाणक्य — एक प्रश्न का उत्तर।

पर्वतेश्वर — तुम अपनी बात मुझे स्मरण कराने आये हो? तो ठीक है। ब्राह्मण! तुम्हारी बात सच हुई। यवनों ने आर्यावर्त को पददलित कर दिया। मैं गर्व में भूला था, तुम्हारी बात न मानी। अब उसी का प्रायश्चित करने जाता हूँ — छोड़ दो।

चाणक्य — पौरव! शान्त हो! मैं एक दूसरी बात पूछता हूँ। वृषल चन्द्रगुप्त क्षत्रिय है कि नहीं, अथवा उसे मूर्द्धाभिषिक्त करने में ब्राह्मण से भूल हुई?

पर्वतेश्वर — आह — ब्राह्मण!? व्यंग न करो। चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने का प्रमाण यही विराट् आयोजन है। आर्य चाणक्य! मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को न कर सका उसे निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया। आर्यावर्त से यवनों के निकल जाने का संकेत उसके प्रचुर बल का द्योतक है। मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकछत्र सम्राट होने के उपयुक्त है। अब मुझे छोड़ दो–

चाणक्य — पौरव! ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता, हाँ, राजाओं का नियमन करना जानता है, राजा बनाना जानता है। इसलिए तुम्हें अभी राज्य करना होगा और करना होगा वह कार्य जिसमें भारतीयों का गौरव हो, और छात्र धर्म का पालन हो।

पर्वतेश्वर — (छुरा फेंककर) वह क्या काम है?

चाणक्य — जिन यवनों ने तुमको लज्जित और अपमानित किया है, उनसे प्रतिशोध!

पर्वतेश्वर — असम्भव है!

चाणक्य — (हँसकर) मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली-भाँति परिचित रहता है। परन्तु अपने अपने बल से भी अवगत होना चाहिए। असम्भव कहकर — किसी काम को करने से पहले — कर्मक्षेत्र में काँपकर लड़खड़ाओ मत पौरव! तुम क्या हो — विचार कर देखो तो। सिकन्दर ने जो क्षत्रप नियुक्त किया है — जिन सन्धियों को वह प्रगतिशील रखना चाहता है वे सब क्या है? अपनी लूटपाट को वह साम्राज्य के रूप में देखना चाहता है! चाणक्य जीते-जी यह नहीं होने देगा! तुम राज्य करो।

पर्वतेश्वर — परन्तु आर्य, मैंने राज्य दान कर दिया है।

चाणक्य — पौरव! तामस त्याग से सात्विक ग्रहण उत्तम है! वह दान न था, उसमें कोई सत्य नहीं। तुम उसे ग्रहण करो।

पर्वतेश्वर — तो क्या आज्ञा है?

चाणक्य — पीछे बतलाऊँगा। इस समय मुझे केवल यही कहना है कि सिंहरण को अपना भाई समझो और अलका को बहन।

(वृद्ध गांधार-राज का सहसा प्रवेश)

वृद्ध — अलका? कहाँ है अलका!

पर्वतेश्वर — कौन हो तुम वृद्ध?

चाणक्य — मैं इन्हें जानता हूँ — वृद्ध गांधार-नरेश!

पर्वतेश्वर — आर्य, मैं पर्वतेश्वर प्रणाम करता हूँ।

वृद्ध — मैं प्रणाम करने के योग्य नहीं —पौरव! मेरी सन्तान से देश का बड़ा अनिष्ट हुआ है! आंभीक ने लज्जा की यवनिका में छिपा दिया है। इस देशद्रोही के प्राण केवल अलका को देखने के बचे है, उसी के कुछ आशा था! जिसको मोल लेने में लोभ असमर्थ था — उसी अलका को देखना चाहता हूँ और प्राण दे देना चाहता हूँ। (हाँफता है)

चाणक्य — क्षत्रिय! तुम्हारे पाप और पुण्य दोनों जीवित है। स्वस्तिमती अलका आज सौभाग्यवती होने जा रही है, चलो कन्या-सम्प्रदान करके प्रसन्न हो जाओ!

(चाणक्य वृद्ध गांधार-नरेश को लिवा जाता है)

पर्वतेश्वर — जाऊँ — किधर जाऊँ — चाणक्य के पीछे? (जाता है)

(कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — कुमारी, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

कार्नेलिया — किस बात की।

चन्द्रगुप्त — कि मैं विस्मृत नहीं हुआ।

कार्नेलिया — स्मृति कोई अच्छी वस्तु है क्या!

चन्द्रगुप्त — स्मृति जीवन का पुरस्कार है सुन्दरि!

कार्नेलिया — परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ। स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर उद्दण्ड हो जाती है। अतीत की कारा में बन्दिनी स्मृतियाँ अपने करुण निःश्वास की शृंखलाओं को झनझनाकर सूचीभेद्य अंधकार में सो जाती है।

चन्द्रगुप्त — ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे! इस केन्द्रच्युत जलते हुए उल्कापिण्ड की कोई कक्षा नहीं। निर्वासित-अपमानित प्राणों की चिन्ता क्या?

कार्नेलिया — नहीं चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल-कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुई शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरला कृषक-बालिकाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ है। यह स्वप्नों का देश — यह त्याग और ज्ञान का पालना — यह प्रेम की रंगभूमि — भारत-भूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं

— अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत देश मानवता की जन्मभूमि है।

चन्द्रगुप्त — शुभे, यह सुनकर मैं चकित हो गया हूँ।

कार्नेलिया — और मैं मर्माहत हो गयी हूँ — चन्द्रगुप्त मुझे पूर्ण विश्वास था कि यहाँ कि क्षत्रप पिताजी नियुक्त होगे और मैं अलेग्जेन्द्रिया में — समीप ही रहकर भारत को देख सकूँगी। परन्तु वैसा न हुआ। सम्राट में फिलिप्स को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया है।

(अकस्मात् फिलिप्स का प्रवेश)

फिलिप्स — तो बुरा क्या है कुमारी। सिल्यूकस के क्षत्रप न होने पर भी कार्नेलिया यहाँ की शासिका हो सकती है। फिलिप्स अनुचर होगा (चन्द्रगुप्त को देखकर) फिर वही भारतीय युवक!

चन्द्रगुप्त — सावधान — यवन! हम लोग एक बार एक दूसरे की परीक्षा से चुके है।

फिलिप्स — ऊँह! तुमसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है, परन्तु–

कार्नेलिया — और मुझसे भी नहीं, फिलिप्स! मैं चाहती हूँ कि तुम मुझसे न बोलो।

फिलिप्स — अच्छी बात है। किन्तु मैं चन्द्रगुप्त को भी तुमसे बातें करते हुए नहीं देख सकता। तुम्हारे प्रेम का–

कार्नेलिया — चुप रहो, मैं कहती हूँ चुप रहो।

फिलिप्स — (चन्द्रगुप्त से) मैं तुमसे द्वन्द्व-युद्ध किया चाहता हूँ।

चन्द्रगुप्त — जब इच्छा हो, मैं प्रस्तुत हूँ। और सन्धि भंग करने के लिए तुम्हीं अग्रसर होगे, यह अच्छी बात होगी।

फिलिप्स — सन्धि राष्ट्र की है। यह मेरी व्यक्तिगत बात है। अच्छा, फिर कभी मैं तुम्हारा आह्वान करूँगा।

चन्द्रगुप्त — आधी रात, पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो।

(फिलिप्स का प्रस्थान)

कार्नेलिया — सिकन्दर ने भारत से युद्ध किया है और मैंने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही है। यह अरस्तु और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त तो उनके अस्त्र है।

चन्द्रगुप्त — मैं क्या करूँ, एक निर्वासित–

कार्नेलिया — लोग चाहे जो कहें, मैं भली-भाँति जानती हूँ कि अभी तक चाणक्य की विजय है। पिताजी से मेरा इस विषय पर अच्छा विवाद होता है — वे अरस्तु के शिष्यों में से है।

चन्द्रगुप्त --- भविष्य के गर्भ में अभी बहुत से रहस्य छिपे है।

कार्नेलिया — अच्छा तो मैं जाती हूँ और फिर एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। किन्तु मुझे विश्वास है कि मैं पुनः लौटकर आऊँगी?

(दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हुए जाते हैं। राक्षस और कल्याणी का प्रवेश)

कल्याणी — ऐसा विराट् दृश्य तो मैंने नहीं देखा था अमात्य! मगध को किस बात का गर्व है?

राक्षस — गर्व है राजकुमारी! और उसका गर्व सत्य है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त मगध की प्रजा है, जिन्होंने इतना बड़ा उलट-फेर किया है?

चाणक्य — (प्रवेश करते) तो तुम इसे स्वीकार करते हो अमात्य राक्षस?

राक्षस — शत्रु की उचित प्रशंसा करना मनुष्य का धर्म है। तुमने अद्भुत कार्य किये इसमें भी कोई सन्देह है?

चाणक्य — अस्तु, अब तुम जा सकते हो। मगध तुम्हारा स्वागत करेगा।

राक्षस — राजकुमारी कल चली जायेंगी। पर मैंने अभी तक निश्चय नहीं किया है!

चाणक्य — मेरा कार्य हो गया, राजकुमारी जा सकती है, परन्तु एक बात कहूँ?

राक्षस — क्या?

चाणक्य — यहाँ की कोई बात नन्द से न कहने की प्रतिज्ञा करनी होगी।

कल्याणी — मैं प्रतिश्रुत हूँ।

चाणक्य —राक्षस मैं सुवासिनी से तुम्हारी भेंट करा देता, परन्तु वह मुझ पर विश्वास नहीं करती।

राक्षस — क्या वह भी यही है?

चाणक्य — कहीं होगी, तुम्हारा प्रत्यक्ष देखकर वह आ सकती है।

राक्षस — यह लो मेरी अँगुलीय मुद्रा। चाणक्य! सुवासिनी को कारागार से मुक्त करा के मुझसे भेंट करा दो।

चाणक्य — (मुद्रा लेकर जाते हुए) मैं चेष्टा करूँगा।

राक्षसी — तो राजकुमारी, प्रणाम!

कल्याणी — तुमने अपना कर्तव्य भली-भाँति सोच लिया होगा। मैं जाती हूँ, और विश्वास दिलाती हूँ कि मुझसे तुम्हारा अनिष्ट न होगा।

(दोनों का प्रस्थान)

तृतीय दृश्य

(रावी के तट पर सिकन्दर का प्रस्तुत बेड़ा देखते हुए चाणक्य और पर्वतेश्वर)

चाणक्य — पौरव देखो यह नृशंसता की बाढ़ आज उतर जायगी। चाणक्य ने जो किया — वह भला था या बुरा, अब समझ में आवेगा!

पर्वतेश्वर — मैं मानता हूँ, यह आप ही का स्तुत्य कार्य है!

चाणक्य — और चन्द्रगुप्त के बाहुबल का — पौरव! आज फिर मैं उसी बात को दुहराना चाहता हूँ। अत्याचारी नन्द के हाथों से

मगध का उद्धार करने के लिए चाणक्य ने तुम्हीं से पहले सहायता माँगी थी और अब तुम्हीं से लेगा भी — अब तो तुम्हें विश्वास होगा?

पर्वतेश्वर — मैं प्रस्तुत हूँ आर्य!

चाणक्य — मैं आश्वस्त हुआ। अच्छा, यवनों को आज विदा करना है।

(एक ओर से सिकन्दर, सिल्यूकस, कार्नेलिया, फिलिप्स इत्यादि का और दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, मालविका और आंभीक इत्यादि का अपने रणवाद्यों के साथ प्रवेश)

सिकन्दर — सेनापति चन्द्रगुप्त! बधाई है!

चन्द्रगुप्त — किस बात की राजन्!

सिकन्दर — जिस समय तुम भारत के सम्राट होगे, उस समय मैं उपस्थित न रह सकूँगा, उसके लिए पहले से बधाई है। मुझे उस नग्न ब्राह्मण दाण्ड्यायन की बातों का पूर्ण विश्वास हो गया।

चन्द्रगुप्त — आप वीर है।

सिकन्दर — आर्यवीर! मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा है और देखा डिमास्थनीज को। सम्भवतः

प्लेटो और अरस्तु भी कहीं होंगे — मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।

सिल्यूकस — सम्राट! यही आर्य चाणक्य है।

सिकन्दर — धन्य है — आप, मैं तलवार खींचे भारत आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ। जिनसे खड्ग-परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवार मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर — मैत्री के हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ।

चाणक्य — हम लोग प्रस्तुत है सिकन्दर! तुम वीर हो, भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते है। तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो। हम लोग युद्ध करना जानते है — द्वेष नहीं।

(सिकन्दर हँसता हुआ अनुचरों के साथ नौका पर आरोहण करता है। नाव चलती है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(पथ में चर और राक्षस)

चर — छल! प्रवंचना!! विश्वासघात!!!

राक्षस — क्या है, कुछ सुनूँ भी!

चर — मगध से आज मेरा सखा कुरंग आया है, उससे मालूम हुआ कि महाराज नन्द का कुछ भी क्रोध आपके ऊपर नहीं, वह आपके शीघ्र मगध लौटने के लिए उत्सुक है।

राक्षस — और सुवासिनी?

चर — सुवासिनी सुखी और स्वतन्त्र है। मुझे चाणक्य के चर से यह धोखा हुआ था, जब मैंने आपसे यह समाचार कहा था।

राक्षस — तब क्या मैं कुचक्र में डाला गया हूँ? (विचार कर) चाणक्य की चाल है। ओह, मैं समझ गया। अभी निकल भागना चाहिए।

सुवासिनी पर भी कोई अत्याचार — मेरी मुद्रा दिखाकर न किया जा सके, इसके लिए मुझे शीघ्र पहुँचना चाहिये।

चर — क्या आपने मुद्रा भी दे दी है।

राक्षस — मेरी मूर्खता! मैं चाणक्य के हाथों की कठपुतली बनकर मगध का नाश नहीं करा सकता।

(दोनों का प्रस्थान। अलका और सिंहरण का प्रवेश)

सिंहरण — देवि! पर इसका उपाय क्या है!

अलका — उपाय जो कुछ भी, मित्र के कार्य में तुमको सहायता करनी ही चाहिये। चन्द्रगुप्त आज कह रहे थे कि 'मैं मगध जाऊँगा, देखूँ पर्वतेश्वर क्या करते है।'

सिंहरण — चन्द्रगुप्त के लिए ये प्राण अर्पित है अलके! मालव कृतघ्न नहीं होते, देखो, चन्द्रगुप्त और चाणक्य आ रहे है।

अलका - और उधर से पर्वतेश्वर भी।

(चन्द्रगुप्त, चाणक्य और पर्वतेश्वर का प्रवेश)

सिंहरण — मित्र अभी कुछ दिन और ठहर जाते तो अच्छा था, अथवा जैसी गुरुदेव की आज्ञा!

चाणक्य — पर्वतेश्वर, तुमने मुझसे प्रतिज्ञा की है!

पर्वतेश्वर — मैं प्रस्तुत हूँ आर्य!

चाणक्य — अच्छा तो तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। सिंहरण मालव गण-राष्ट्र का एक व्यक्ति है, वह शक्ति-भर प्रयत्न कर सकता है, किन्तु सहायता बिना परिषद् की अनुमति लिए असम्भव है। मैं परिषद् के सामने अपना भेद नहीं खोलना चाहता। इसलिए पौरव, सहायता केवल तुम्हें करना होगी। मालव अपने

शरीर और खड्ग का स्वामी है, वह मेरे लिए प्रस्तुत है। मगध का अधिकार प्राप्त होने पर जैसा तुम कहोगे–

पर्वतेश्वर — मैं कह चुका हूँ आर्य चाणक्य! इस शरीर में, धन में, विभव में, या अधिकार में, मेरी स्पृहा नहीं रह गयी। मेरा सेना के महाबलाधिकृत सिंहरण और कोष आपका है।

चन्द्रगुप्त — मैं आप लोगों का कृतज्ञ होकर मित्रता को लघु नहीं बनाना चाहता। चन्द्रगुप्त सदा आप लोगों का वही सहचर है।

चाणक्य — परन्तु मगध नहीं जाना होगा। अभी जो सन्देश मगध से मिले है, वे बड़े भयानक है। सेनापति, तुम्हारे पिता कारागार में है — और भी–

चन्द्रगुप्त — इतने पर भी आप मुझे मगध जाने से रोक रहे हैं?

चाणक्य — यह प्रश्न अभी मत करो।

(चन्द्रगुप्त सिर झुका लेता है। एक पत्र लिए मालविका का प्रवेश)

मालविका — यह सेनापति के नाम पत्र है।

चन्द्रगुप्त — (पढ़कर) आर्य, मैं जा भी नहीं सकता।

चाणक्य — क्यों?

चन्द्रगुप्त — युद्ध का आह्वान है — द्वन्द्व के लिए फिलिप्स सा निमन्त्रण है।

चाणक्य — तुम डरते तो नहीं?

चन्द्रगुप्त — आर्य! आप मेरा उपहास कर रहे है।

चाणक्य — (हँसकर) तब ठीक है, पौरव! तुम्हारा यहाँ रहना हानिकारक होगा। उत्तरापथ की दासता के अवशिष्ट चिह्न — फिलिप्स का नाश निश्चिंत हो। चन्द्रगुप्त उसके लिए उपयुक्त है। परन्तु यवनों से तुम्हारा फिर संघर्ष मुझे ईप्सित नहीं है। यहाँ रहने से तुम्हीं पर सन्देह होगा, इसलिए तुम मगध चलो। और सिंहरण तुम सन्नद्ध रहना, यवन-विद्रोह तुम्हीं को शांत करना होगा।

(सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(मगध की रंगशाला में नन्द का प्रवेश)

नन्द — सुवासिनी!

सुवासिनी — देव!

नन्द — कहीं दो घड़ी चैन से बैठने की भी छुट्टी नहीं, तुम्हारी छाया में विश्राम करने आया हूँ!

सुवासिनी — प्रभु, क्या आज्ञा है? अभिनय देखने की इच्छा है?

नन्द — नहीं सुवासिनी अभिनय तो नित्य देख रहा हूँ। छल, प्रतारणा, विद्रोह के अभिनय देखते-देखते आँखें जल रही है। सेनापति मौर्य जिनके बल पर मैं भूला था, जिसके विश्वास पर मैं निश्चिंत सोता था, विद्रोही-पुत्र चन्द्रगुप्त को सहायता पहुँचाता था! उसी का न्याय करना था — न्याय हुआ कि अन्याय, हृदय संदिग्ध है। सुवासिनी — किस पर विश्वास करूँ?

सुवासिनी — अपने परिजनों पर देव!

नन्द — अमात्य राक्षस भी नहीं, मैं तो घबरा गया हूँ।

सुवासिनी — द्राक्षासव ले आऊँ?

नन्द — ले आओ (सुवासिनी जाती है) सुवासिनी कितनी सरल है! प्रेम और यौवन के शीतल मेघ लहलही लता पर मँडरा रहे है परन्तु —

(सुवासिनी का पात्र, कलस लिए प्रवेश। पात्र भरकर देती है)

नन्द — सुवासिनी! गाओ — वही उन्मादक गान!

(सुवासिनी गाती है)

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा!
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय, जैसे अपने आप!
लाज के बन्धन खोल रहा!
बिछल रही है चाँदनी — छवि-मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से, बहकाने की बात!
कौन मधु मदिरा घोल रहा?

नन्द — सुवासिनी — जगत् में और भी कुथ है — ऐसा मुझे तो नहीं प्रतीत होता! उस कोकिल की पुकार केवल तुम्हीं सुनती हो? ओह? मैं इस स्वर्ग से कितनी दूर था, सुवासिनी! (कामुक जैसी चेष्टा करता है)

सुवासिनी — भ्रम है महाराज! एक वेतन पानेवाली का यह अभिनय है।

नन्द — कभी नहीं, यह भ्रम है तो समस्त संसार मिथ्या है। तुम सच कहती हो, निर्बोध नन्द ने कभी वह पुकार नहीं सुनी। सुन्दरि! तुम मेरी प्राणेश्वरी हो!

सुवासिनी — (सहसा चकित होकर) मैं दासी हूँ महाराज!

नन्द — यह प्रलोभन देकर ऐसी छलना! नन्द नहीं भूल सकता सुवासिनी! आओ — (हाथ पकड़ता है)

सुवासिनी — (भयभीत होकर) महाराज! मैं अमात्य राक्षस की धरोहर हूँ, सम्राट की भोग्या नहीं बन सकती!

नन्द — अमात्य राक्षस इस पृथ्वी पर तुम्हारा प्रणयी होकर नहीं जी सकता।

सुवासिनी — (सरोष) तो उसे खोजने के लिए स्वर्ग में जाऊँगी।

(नन्द उसे बलपूर्वक पकड़ लेता है। ठीक उसी समय राक्षस का प्रवेश)

नन्द — (उसे देखते ही छोड़ता हुआ) तुम — अमात्य राक्षस!

राक्षस — हाँ सम्राट! एक अबला पर अत्याचार न होने देने के लिए ठीक समय पर पहुँचा।

नन्द — यह तुम्हारी अनुरक्ता है, राक्षस! मैं लज्जित हूँ।

राक्षस — मैं प्रसन्न हुआ कि सम्राट् अपने को परखने की चेष्टा करते है। अच्छा, तो इस समय जाता हूँ। चलो सुवासिनी!

(दोनो जाते है। नन्द सिर झुका लेता है)

(प्रबल वायु के झोंके से रंगशाला के दीप बुझ जाते है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(पाटलिपुत्र के बाहर — पथ में धनदत्त और चन्दन शीघ्रता से चलते हुए आकर रुक जाते हैं)

चन्दन — भई अब तो मैं नहीं चल सकता। (बैठ जाता है)

धनदत्त — अरे अब तो ले लिया है मित्र थोड़े से सहारे का काम है — उठो चन्दन। सारा परिश्रम नष्ट हो जायगा। इतने दिनों की गाढ़ी कमाई इन रत्नों और स्वर्ण खण्डों को देखो।

चन्दन — तो मैं क्या करूँ? देखते नहीं पैरों के छाले भागी घरवाली की तरह गाल फुलाये हैं।

(एक नागरिक का प्रवेश)

धनदत्त — ए! ए! सुनो तो तुम किधर जा रहे हो?

नागरिक — मैं, मैं, मैं (कुछ घबराया हुआ-सा जाने लगता है)

धनदत्त — (रोककर) भेड़ की तरह में. में करने लगा — मैं पूछता हूँ कि तुम कहाँ—

नागरिक — पूछो मत भाई भारी उपद्रव—

धनदत्त — क्या?

नागरिक — नगर में शीघ्र ही भयानक उपद्रव मचने वाला है। नन्दराज ने अंधेर मचा रखा है। मेरी स्वामिनी आज एक सप्ताह से बाहर चली गई है। उनकी निधि का क्या किया जाय!

धनदत्त — क्या बड़ी लम्बी-चौड़ी निधि है।

नागरिक — तीन भूगर्भ सोने से खचाखच भरे है और सार्थवाह का वर्षो से पता नहीं! स्वामिनी ने कहा कि मैं क्या यहाँ लुटेरों के हाथ प्राण दूँगी? तब मैं भी जाता हूँ।

धनदत्त — रे मूर्ख! इतनी सम्पत्ति छोड़कर क्यों जा रहा है — चल हम लोग उसकी रक्षा करेंगे।

चन्दन — हाँ, हाँ क्या हम लोगों के रहते कोई कुछ कर सकता है? सिकन्दर ने पृथ्वी चूमकर मुझसे प्राण-भिक्षा माँगी थी। दिखाऊँ अपना वह हाथ?

चन्दन — अरे ठहरो भी!

नागरिक — परन्तु तुम मेरी स्वामिनी के पति को नहीं जानते, मैं तो नया-नया आया हूँ। सुना है कि उसकी तीन आँखें है। जब सामने की आँखों से देखते है तब गुप्त आँखें दूसरा संकेत करती है। दो हाथों से देते है। उनके दो अदृश्य हाथ न जाने कैसे उसके घर की सारी सम्पत्ति बटोर लाते है। सहस्रों योजन की लम्बी यात्रा करते है। किन्तु गिद्ध की उनकी दृष्टि अपनी सम्पत्ति को देखती रहती है। सुना है उनका नाम है — धनदत्त।

धनदत्त — (आश्चर्य से) क्या कहा धनदत्त!

नागरिक — हाँ, हाँ, उनकी स्त्री मणिमाला भी कम चतुर नहीं। ऊपर की सारी सम्पत्ति लेकर अपने विश्वासी मित्र के साथ टल गई है और निधि पर यक्ष का पहरा बैठा गयी है।

धनदत्त — भाई! चन्दन! यह क्या सुन रहा हूँ? मणिमाला का विश्वासी मित्र कहाँ से टपक पड़ा।

नागरिक — अरे! वह तो दिन-रात वही रहता था। सुना है कि स्वयं सार्थवाह ने उसे भेजा था।

धनदत्त — अरे चुप धनदत्त इतना मूर्ख नहीं कि अपनी स्त्री के लिए एक विश्वासी मित्र खोजकर भेज दे। कौन पिशाच है - चन्दन! चल तो — देखें।

नागरिक — च् च् घ् च् अरे वह तपस्वी है।

चन्दन — क्या बड़ी-बड़ी जटावाला दढियल?

नागरिक — हाँ, हाँ।

चन्दन — वन-विलाव-सी बड़ी-बड़ी आँखें?

नागरिक — हाँ जी!

धनदत्त — और बात-बात में कहता है कि मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता।

नागरिक — ठीक पहुँचे। यही तो उनका उपदेश है।

धनदत्त — दुष्ट आजीवक! मार डाला रे (बैठकर कराहने लगता है)

चन्दन — कभी-कभी इनको ऐसा हो जाता है। भाई जाकर एक शिविका ले आओ। इनको किसी वैद्य के पास ले चलूँ (नागरिक का प्रस्थान)

धनदत्त — (लम्बी-लम्बी साँस फेंककर) चन्दन! अब क्या होगा रे?

चन्दन — चुप भी रहो। शिविका पर सब लाद कर पहिले धीरे से घर पर तो पहुँच देखो — वहाँ घुसने पाते हो कि नहीं।

धनदत्त — अरे वहाँ तो यक्ष बैठा है रे।

(शिविका पर एक वैद्य का प्रवेश)

नागरिक — यह लीजिए शिविका भी, वैद्य भी–

धनदत्त — ओहो, हो। अरे, रे, रे मरे, रे रे।

चन्दन — क्यों भाई मैंने तुमसे शिविका लाने के लिए कहा था। वैद्य जी को क्यों कष्ट दिया। (धनदत्त से) निकालो स्वर्ण मुद्रा, चले थे अरे, रे करने।

नागरिक — जाते तो वैद्य के ही पास अब यह वैद्य आ गये तो लगे बनने। न हो तो उतर आइये वैद्य जी। इन्हें शिविका पर जाने दीजिये। अपना और आपका दोनों को भाड़ा ये ही देंगे। हाँ और क्या। हम लोग टहलते टहलते चले चलेंगे।

(वैद्य शिविका से उतरकर धनदत्त की तोंद को देखता है)

वैद्य — ठीक! चर् चर् — चरक ने जा कहा है वह बिल्कुल ठीक है। (चन्दन से) रोगी तो मरणासन्न है। खाता है तो मुँह चलने लगता है है, चलने पर पैर आगे-पीछे पड़ते है न, और सोने पर आँखें बन्द हो जाती है।

चन्दन — सब होता है, पर तुमसे औषधि नहीं चाहता।

वैद्य — (ऊँचा सुनने का अभिनय करके) सो तो ठीक ही है। 'प्राणैः कण्ठगतरैपि' कहा है चचा चरक ने एक मात्रा तो देनी ही होगी।

धनदत्त — (क्रोध से) मैं कहता हूँ चन्दन तुम इसको हटाओ। मेरे ते प्राण निकल रहे हा तुमको हँसी सूझती है।

वैद्य — किंचित्-किंचित् प्रलाप भी कभी-कभी (अपने से बातें करता हुआ) वही तो — पकड़ लिया।

चन्दन — अब छुटकारा नहीं। भाई धनदत्त दो स्वर्ण मुद्रा।

धनदत्त — क्या कह रहा है यह? मणिमाला तुमने इतनी बड़ा विश्वासघात किया हाँ!

वैद्य — कितना विलम्ब हुआ।

धनदत्त — यही एक सप्ताह का। एक सप्ताह पहले ही पहुँच जाता तो यह दिन क्यों देखने में आता रे!

वैद्य — (जैसे कुछ सुन लिया हो) एक सप्ताह। पूरी विलम्बिका है। अँतड़ियों में विद्रधि है। नाकों में श्लीपद हो गया है। (नाड़ी देखकर) देखते नहीं इसका पैर भारी है। बहुत धीरे-धीरे चल सकती है। स्नायुजाल में विसर्प है। भयानक! तो भी एक मास में तो अच्छा हो ही जायगा। मेढ़क खाये हुए सर्प की केचुल में

लपेट-कर सत्रह गृहगोपिका का तुषाग्नि द्वारा तेल निकाला जायगा। फिर–

चन्दन — तुम तो पूरे चिड़ीमार हो जी!

धनदत्त — चन्दन इसको हटा किसी तरह से। जी मिचलाने लगा।

(चन्दन अपनी पिटारी शिविका मे रखता है और धनदत्त को बैठने का संकेत करता है, धनदत्त उछलकर उसमें जा बैठता है। वैद्य आश्चर्य से देखने लगा है। दूसरी ओर से आजीवक के साथ मणिमाला का प्रवेश। वह धनदत्त को बड़े आश्चर्य से देखती है)

धनदत्त — यह क्या? मणिमाला!

मणिमाला — आर्यपुत्र! ओह! मैं कितना घबड़ा रही थी। यह तो कहिये महात्माजी मिल गये। मेरे प्राण बच गये।

धनदत्त — हूँ! बच गये न। (आजीवक की ओर देखता है)

मणिमाला — यदि इनकी कृपा न होती तो अब तक प्राण न बचते। इनकी सान्त्वना से मेरा विश्वास दृढ हो गया कि नियति जो चाहती है करती है और वही होकर रहेगा।

धनदत्त — अरे, रे रे! मैं तो पड़ा ही था। तू भी इसी चक्कर में पड़ गयी।

आजीवक — सार्थवाह! अब मुझे नियति का आदेश हो कि तू यहाँ से चल दे।

वैद्य — कुछ चिन्ता नहीं भद्रे! अब मैं आ गया। ये निरापद है। समझा न — वह तैल!

धनदत्त — अरे! नहीं!नहीं!! मुझे क्या हो गया है? मैं क्या करूँ?

(चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य — तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो जी?

मणिमाला — हम लोग नन्द के अत्याचार से पीड़ित है। यह सब सम्पत्ति मेरे पति की अनुपस्थिति में लेना चाहता था। उस समय तो एक आजीवक की कृपा से बच गयी नहीं तो बन्दी कर ली जाती। पर अब मेरे पति भी आ गये हैं अब हम लोग क्या करे।

चाणक्य — चलो। हम लोग तुम्हारी रक्षा करेंगे। मेरे साथ सहस्रों सैनिक है।

चन्दन — तब मैं क्या करूँ? मेरी माधवी?

चाणक्य — माधवी वही ब्राह्मणी जो पंचनद में राजकुमारी कल्याणी के साथ थी।

चन्दन — हाँ! हाँ!! वही।

चाणक्य — वह मेरे सैनिकों के साथ आ रही है।

धनदत्त — चलिये। आप लोग मेरे गृह पर।

(सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(कुसुमपुर का प्रत्यन्त। चाणक्य, मालविका और अलका)

मालविका — सुवासिनी और राक्षस स्वतन्त्र है! उनका परिणय शीघ्र ही होना। इधर मौर्य कारागार में, वररुचि अपदस्थ, नागरिक लोग नन्द की उच्छृंखलताओं से असन्तुष्ट–

चाणक्य — (बात काटते हुए) ठीक है, समय हो चला है! मालविका तुम नर्त्तकी बन सकती हो?

मालविका — हाँ, मैं नृत्य-कला जानती हूँ।

चाणक्य — तो नन्द की रंगशाला में जाओ और लो यह मुद्रा तथा पत्र, राक्षस का विवाह होने से पहले ठीक एक घड़ी पहले — नन्द के हाथ में यह पड़े और पूछने पर बतला देना — किसी ने सुवासिनी नाम की स्त्री को देने के लिए यह दिया था — परन्तु मुझसे भेंट न हो सकी।

मालविका — (स्वगत) क्या? क्या असत्य बोलना होगा! चन्द्रगुप्त के लिए सब करूँगी। (प्रगट) अच्छा।

चाणक्य — मैंने सिंहरण को लिख दिया था कि चन्द्रगुप्त को शीघ्र यहाँ भेजो। तुम यवनों के सिर उठाने पर उन्हें शान्त करके आना, तब तक अलका मेरी रक्षा कर लेगी। मैं चाहता हूँ कि सब सेना वणिकों के रूप में धीरे-धीरे कुसुमपुर में इकट्ठी हो जाय। जिन दिन राक्षस का ब्याह होगा, उसी दिन विद्रोह होगा और उसी दिन चन्द्रगुप्त राजा होगा!

अलका — परन्तु फिलिप्स के द्वन्द्व-युद्ध से चन्द्रगुप्त को लौट तो आने दीजिये, क्या जाने क्या हो!

चाणक्य — क्या हो! वही होकर रहेगा जिसे चाणक्य ने विचार करके ठीक कर लिया है। किन्तु– अवसर पर एक क्षण का विलम्ब असफलता का प्रवर्त्तक हो जाया है। (मालविका जाती है)

अलका — गुरुदेव! महानगरी कुसुमपुरी का ध्वंस और नन्द-पराजय इस प्रकार सम्भव है?

चाणक्य — अलके! चाणक्य अपना कार्य अपनी बुद्धि से साधित करेगा। तुम देखती भर रहो और मैं जो बचाऊँ — करती चलो। मालविका अभी बालिका है, उसकी रक्षा आवश्यक है। उसे देखो तो– (अलका जाती है)

चाणक्य — वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता था और उसके लिए मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी! परन्तु संसार — कठोर संसार ने सिखा दिया कि तुम्हें परखना होगा! समझदारी आने पर यौवन चला जाता है — जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते है! जिससे मिलने के संभार की इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक, मनुष्य अपने हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है! मैं — अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोर, कठोरताओं का केन्द्र! आह! तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद नहीं? है — मेरा संकल्प! अब मेरा आत्मविश्वास ही मेरा मित्र है। और थी — एक क्षीण

रेखा — वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी, न-न-न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ — भयानक रमणीयता है। आज उस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का यौवन चमक रहा है। तृणशय्या पर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण-मुकुट! और सामने सफलता का स्मृति-सौंध (आकाश की ओर देखकर) वह — इन लाल बादलों में दिग्दाह का धूम मिल रहा है! भीषण रव से सब जैसे चाणक्य का नाम चिल्ला रहे हैं। (देखकर) है! यह कौन भूमि-संधि तोड़कर सर्प के समान निकल रहा है। छिपकर देखूँ।

(छिप जाता है। एक ढूह को मिट्टी गिरती है। उसमें से वनमानुष के समान शकटार निकलता है।)

शकटार — (चारों ओर देखकर आँख बन्द कर लेता है — फिर खोलता हुआ) आँखें नहीं सह सकती, इन्हीं प्रकाश किरणों के लिए तड़प रही थी! ओह, तीखी है! तो क्या मैं जीवित हूँ? कितने दिन — कितने महीने — कितने वर्ष हुए! नहीं स्मरण है। अन्धकूप की प्रधानता सर्वोपरि थी। साल लड़के भूख से तड़पकर मरे। कृतज्ञ हूँ — उस अन्धकार का — जिसने उन विवर्ण मुखों को नहीं देखने दिया, केवल उनके दम तोड़ने का क्षीण शब्द सुन सका।

फिर भी जीवित रहा — सत्तू और नमक का पानी से मिलाकर — अपनी नसों से रक्त पीकर जीवित रहा! प्रतिहिंसा के लिए। पर अब शेष है — दम घुट रहा है –

(गिर पड़ता है। चाणक्य पास आकर कपड़ा निचोड़कर मुँह में जल डाल सचेत करता है)

चाणक्य — आह! तुम कोई दुखी मनुष्य हो! घबराओ मत, मैं तुम्हारी सहायता के लिए प्रस्तुत हूँ।

शकटार — (ऊपर देखकर) तुम! सहायता करोगे! आश्चर्य ! मनुष्य, मनुष्य की सहायता करेगा? वह उसे हिंस्रपशु के समान नोंच न डालेगा? हाँ यह दूसरी बात है कि वह जोंक की तरह बिना कष्ट दिये रक्त चूसे। जिसमें कोई स्वार्थ न हो — ऐसी सहायता! तुम भूखे भेड़िये!

चाणक्य — अभागे मनुष्य! सबसे चौंककर अलग न उछल! अविश्वास की चिनगारी पैरों के नीचे से हटा। तुम जैसे दुखी बहुत-से पड़े है। यदि सहायता नहीं तो परस्पर का स्वार्थ ही सही।

शकटार — दुःख! दुःख नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से तुम उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होगे। देखा है कभी —

सात-सात गोन दे लालों को भूख से तड़पकर मरते? अन्धकार की घनी चादर में बरसों भू-गर्भ की जीवित समाधि में एक-दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते — देखा है — प्रतिहिंसा की स्मृति को ठोकरें मार-मारकर जगाते और प्राण विसर्जन करते — देखा है कभी यह कष्ट — उन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा! उनका आहार खा डाला — उन्हें मरने दिया! वे सुकुमार थे, वे सुख की गोद में पले थे, वे नहीं सहन कर सकते थे, अतः सब मर गये। मैं बच रहा प्रतिशोध के लिए! दानवी प्रतिहिंसा के लिए! ओह! उस अत्याचारी नर-राक्षस की अतड़ियों में से खींचकर एक वार रक्त का फुहारा छोड़ता — इस पृथ्वी को उसी से रँगा देखता।

चाणक्य — सावधान!

(घुटनों के बल खड़े शकटार को उठाता है)

शकटार — सावधान हों वे — जो दुर्बलों पर अत्याचार करते है! पीड़ित पददलित, सब तरह से लुटा हुआ! जिसने पुत्रों की हड्डियों से सुरंग खोदी है, नखों से मिट्टी हटाई है, उसके लिए सावधान रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी वेदना अपने अन्तिम अस्त्रों से सुसज्जित है!

चाणक्य — तो भी तुमको प्रतिशोध लेना है। हम लोग एक ही पथ के पथिक है। घबराओ मत। क्या तुम्हारा और कोई भी संसार में जीवित नहीं?

शकटार — बची थी, पर जाने कहाँ है। एक बालिका — अपनी माता की स्मृति — सुवासिनी। पर अब कहाँ है — कौन जाने?

चाणक्य — क्या कहा — सुवासिनी!

शकटार — हाँ, सुवासिनी!

चाणक्य — और तुम शकटार हो?

शकटार — (चाणक्य का गला पकड़कर) घोंट दूँगा गला, यदि फिर वह नाम तुमने लिया। मुझे नन्द से प्रतिशोध ले लेने दो, फिर चाहें डौंड़ी से पीटना।

चाणक्य — (उसके हाथ हटाते हुए) वह सुवासिनी नन्द की रंगशाला में है। मुझे पहचानते हो?

शकटार — नहीं तो — (देखता है)।

चाणक्य — तुम्हारे प्रतिवेशी, सखा, ब्राह्मण चणक का पुत्र विष्णुगुप्त। तुम्हारी दिलाई हुई जिसकी ब्रह्मवृत्ति छीन ली गयी, जो तुम्हारा सहकारी जानकर निर्वासित कर दिया गया, मैं उसी चणक का पुत्र चाणक्य विष्णुगुप्त हूँ, जिसका शिखा पकड़कर

राज्यसभा में खींची गयी, जो बन्दीगृह में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था! करोगे मुझ पर विश्वास?

शकटार — (विचारता हुआ खड़ा हो जाता है) करूँगा, जो तुम कहोगे वही करूँगा। किसी तरह प्रतिशोध चाहिये।

चाणक्य — तो चलो मेरी झोपड़ी में, और इस सुरंग को घास-फूस से ढँक दो।

(सुरंग ढँककर दोनों जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(नन्द के राज-मन्दिर का एक प्रकोष्ठ)

नन्द — आज क्यों मन अनायास ही शंकित हो रहा है। कुछ नहीं होगा।

(सेनापति मौर्य की स्त्री को साथ लिये हुए वररुचि का प्रवेश)

नन्द — कौन है यह स्त्री?

वररुचि — जय हो देव, यह सेनापति मौर्य की स्त्री है।

नन्द — क्या कहना चाहती है?

स्त्री — राजा प्रजा का पिता है। वही उसके अपराधों को क्षमा करके सुधार सकता है। चन्द्रगुप्त बालक है, सम्राट! उसके अपराध मगध से कोई सम्बन्ध नहीं रखते — तब भी वह निर्वासित है। परन्तु सेनापति पर क्या अभियोग है? मैं असहाय — मगध की प्रजा, श्री चरणों में निवेदन करती हूँ — मेरा पति छोड़ दिया जाय। पति और पुत्र दोनों से वंचित न की जाऊँ।

नन्द — रमणी! राजदण्ड पति और पुत्र के मोहजाल से सर्वथा स्वतन्त्र है। षडयन्त्रकारियों के लिए बहुत निष्ठुर है — निर्मम है — कठोर है, तुम लोग आग की ज्वाला में खेलने का फल भोगो। नन्द इन आँसू भरी आँखों और आँचल पसार कर भिक्षा के अभिनय में नहीं भुलवाया जा सकता।

स्त्री — ठीक है महाराज! मैं ही भ्रम में थी। सेनापति मौर्य का ही तो अपराध है — जब कुसुमपुर का समस्त प्रजा विरुद्ध थी, जब जारज पुत्र के रक्त-रँगे हाथों से सम्राट महापद्म की जीवन-लीला शेष हुई थी, तभी सेनापति को चेतना चाहिये था! कृतघ्न के साथ उपकार किया है, यह उसे नहीं मालूम था।

नन्द — चुप दुष्टे! (उसके केश पकड़कर खींचना चाहता है। वररुचि बीच में आकर रोकता है)

वररुचि — महाराज सावधान! यह अबला है, स्त्री है।

नन्द — यह मैं जानता हूँ — कात्यायन! हटो!

वररुचि — आप जानते है पर इस समय आपको विस्मृत हो गया है।

नन्द — तो क्या मैं तुम्हें भी इस कुचक्र में लिप्त समझूँ?

वररुचि — यह महाराज की इच्छा पर निर्भर है और किसी का दास न रहना मेरी इच्छा पर (छुरा रखते हुए) मैं शस्त्र समर्पण करता हूँ।

नन्द — (वररुचि का छुरा उठाकर) विद्रोह! ब्राह्मण हो न तुम! मैंने अपने को स्वयं धोखा दिया। जाओ, परन्तु ठहरो। प्रतिहारी! (प्रतिहारी सामने आता है) इसे बन्दी करो और इस स्त्री के साथ मौर्य के समीप पहुँचा दो।

(प्रतिहारी दोनों को बन्दी करता है)

वररुचि — नन्द! तुम्हारे पाप का घड़ा फूटना ही चाहता है! अत्याचार की चिनगारी साम्राज्य का हरा-भरा कानन दग्ध कर

देगी। न्याय का गला घोंटकर उस भीषण पुकार को नहीं दबा सकोगे जो तुम तक पहुँचती है अवश्य, किन्तु चाटुकारों द्वारा कुछ और ही ढंग से।

नन्द — बस — ले जाओ।

(प्रतिहारी का बन्दियों सहित प्रस्थान)

नन्द — (स्वगत) क्या अच्छा नहीं किया? परन्तु ये सब मिले है, जाने दो। (अन्य प्रतिहारी का प्रवेश) क्या है?

प्रतिहारी — जय हो देव! एक सन्दिग्ध स्त्री राज-मन्दिर में घूमती हुई पकड़ी गयी है। उसके पास से अमात्य राक्षस की मुद्रा और एक पत्र भी मिला है!

नन्द — अभी ले आओ। (प्रतिहारी जाकर मालविका को साथ ले आता है) तुम कौन हो?

मालविका — मैं एक स्त्री हूँ, महाराज!

नन्द — पर तुम यहाँ किसके पास आयी हो?

मालविका — मैं — मैं — मुझे किसी ने शतद्रु-तट से भेजा है। मैं पथ में बीमार हो गयी थी, विलम्ब हुआ?

नन्द — कैसा विलम्ब?

मालविका — इस पत्र को सुवासिनी नाम की स्त्री के पास पहुँचाने में।

नन्द — तो किसने तुम्हें भेजा है?

मालविका — मैं नाम तो नहीं जानती।

नन्द — हूँ (प्रतिहारी से) पत्र कहाँ है? (प्रतिहारी पत्र और मुद्रा देता है। नन्द उसे पढ़ता है) तुमको बतलाना पड़ेगा, किसने तुमको पत्र दिया है? बोलो, शीघ्र बोलो, राक्षस ने भेजा था?

मालविका — राक्षस नहीं, वह मनुष्य था।

नन्द — दुष्टे शीघ्र बात? वह राक्षस ही रहा होगा।

मालविका — जैसा आप समझ लें।

नन्द — (क्रोध से) प्रतिहारी! इसे भी लो जाओ उसी विद्रोहियों की माँद में। ठहरो, पहले जाकर शीघ्र ही सुवासिनी और राक्षस को, चाहे जिस अवस्था में हो — ले आओ। (नन्द चिन्तित भाव से दूसरी ओर टहलता है। मालविका बन्दी होती है। नन्द पैर पटकते हुए) आज सबको एक साथ ही सूली पर चढ़ा दूँगा। नहीं हाथियों के पैरों तले कुचलवाऊँगा। यह कथा समाप्त होनी चाहिए। नन्द नीच जन्मा है न! यह विद्रोह उसी के लिए किया जा रहा है, तो फिर उसे भी दिखा देना है कि वह क्या है, नाम सुनकर लोग काँप उठें। प्रेम न सही, भय का ही सम्मान हो।

(अन्धकार में (दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(कुसुमपुर के प्रान्तपथ में चाणक्य और पर्वतेश्वर)

चाणक्य — चन्द्रगुप्त कहाँ है?

पर्वतेश्वर — सार्थवाह के रूप में युद्ध-व्यवसायियों के साथ आ रहे है। शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना है।

चाणक्य — और द्वन्द्व में क्या हुआ?

पर्वतेश्वर — चन्द्रगुप्त ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। समस्त उत्तरापथ में फिलिप्स के मारे जाने पर नया उत्साह फैल गया है। आर्य! बहुत से प्रमुख यवन और आर्यगण की उपस्थिति में वह युद्ध हुआ — खड्ग-परीक्षा देखने योग्य थी! वह वीर-दृश्य अभिनन्दनीय था?

चाणक्य — यवन लोगों के क्या भाव थे?

पर्वतेश्वर — सिंहरण अपनी सेना के साथ रंगशाला की रक्षा कर रहा था, कुछ हलचल तो हुई, परन्तु वह पराजय का क्षोभ था।

यूडेमिस, जो उसका सहकारी था, अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। किसी प्रकार वह ठण्डा पड़ा। यूडेमिस सिकन्दर की आज्ञा की प्रतीक्षा में रुका था। अकस्मात् सिकन्दर के मरने का समाचार मिला। यवन लोग अब अपनी सोच रहे है, चन्द्रगुप्त सिंहरण को वही छोड़कर यहाँ चला आया, क्योंकि आपका आदेश था।

(अलका का प्रवेश)

अलका — गुरुदेव, यज्ञ का आरम्भ है।

चाणक्य — मालविका कहाँ है?

अलका — वह बन्द की गयी और राक्षस इत्यादि भी बन्दी होने वाले हैं। वह भी ठीक अवसर पर जब उनका परिणय हो रहा है। क्योंकि आज ही–

चाणक्य — तब तुम जाओ, अलके! उस उत्सव से तू अलग न रह। उनके पकड़े जाने के अवसर पर ही नगर में उत्तेजना फैल सकती है। जाओ — शीघ्र।

(अलका का प्रस्थान)

पर्वतेश्वर — मुझे क्या आज्ञा है?

चाणक्य — कुछ चुने हुए अश्वारोहियों को साथ लेकर प्रस्तुत रहना। चन्द्रगुप्त जब भीतर से युद्ध आरम्भ करे, उस समय तुमको नगर द्वार पर आक्रमण करना होगा। (गुफा का द्वार खुलता है — मौर्य, मालविका, वररुचि, चन्द्रगुप्त जननी को लिए शकटार निकलता है) आओ मौर्य?

मौर्य — हम लोगों के उद्धारकर्ता, आप ही महात्मा चाणक्य है।

मालविका — हाँ यही है।

मौर्य — प्रणाम!

चाणक्य — शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए जियो सेनापति! नन्द के पापों की पूर्णता ने तुम्हारा उद्धार किया है, अब तुम्हारा अवसर है।

मौर्य — इन दुर्बल हड्डियों में अन्धकूप की भयानकता खटखटा रही है।

शकटार — और रक्तमय गम्भीर वीभत्स दृश्य, हत्या का निष्ठुर आह्वान कर रहा है।

(चन्द्रगुप्त का प्रवेश। माता-पिता के चरण छूता है)

चन्द्रगुप्त — पिता! तुम्हारी यह दशा — एक-एक पीड़ा की गिनती होगी — मेरी माँ! उन सबका प्रतिकार होगा, प्रतिशोध लिया जायेगा! ओह! मेरा जीवन व्यर्थ है! नन्द!

चाणक्य — चन्द्रगुप्त, सफलता का एक ही क्षण होता है। आवेश और कर्तव्य में बहुत अन्तर है।

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव आज्ञा दीजिये!

चाणक्य — देखो, उधर नागरिक लोग आ रहे है। सम्भवतः यही अवसर है — तुम लोगों के भी भीतर जाने का — विद्रोह फैलाने का।

(नागरिकों का प्रवेश)

एक नागरिक — वेण और कंस का शासन क्या दूसरे प्रकार का रहा होगा?

दूसरा नागरिक — ब्याह की वेदी से वर-वधू को घसीट ले जाना, इतने बड़े नागरिक का यह अपमान! अन्याय है।

तीसरा नागरिक — सो भी अमात्य राक्षस और सुवासिनी को! कुसुमपुर के दो सुन्दर फूल!

चौथा नागरिक — और सेनापति, मन्त्री, सबों को अन्धकूप में डाल देना।

मौर्य — मन्त्री, सेनापति और अमात्यों को बन्दी बनाकर जो राज्य करता है। वह कैसा अच्छा राजा है। नागरिक! उसकी कैसी अद्भुत योग्यता है। मगध को गर्व होना चाहिए।

पहला नागरिक — गर्व नहीं वृद्ध! लज्जा होनी चाहिये। ऐसा जघन्य अत्याचार!

वररुचि — यह तो मगध का पुराना इतिहास है। जरासंध का यह अखाड़ा है। एकाधिपत्य की कटुता का यह सदैव से अभ्यस्त है।

दूसरा नागरिक — अभ्यस्त होने पर भी अब असह्य है।

शकटार — आज आप लोगों को बड़ी वेदना है, एक उत्सव का भंग होना अपनी आँखों से देखा है, नहीं तो जिस दिन शकटार को दण्ड मिला था, एक अभिजात नागरिक की सकुटुम्ब हत्या हुई थी, उस दिन जनता कहाँ सो रही थी?

तीसरा — सच तो, पिता के समान हम लोगों की रक्षा करनेवाले मन्त्री शकटार — हे भगवन्!

शकटार — मैं ही हूँ। कंकाल-सा जीवित-समाधि से उठ खड़ा हुआ हूँ। मनुष्य, मनुष्य को इस तरह कुचलकर स्थिर न रह

सकेगा। मैं पिशाच बनकर लौट आया हूँ — अपने निरपराध सात पुत्रों की निष्ठुर हत्या का प्रतिशोध लेने के लिये — चलोगे साथ?

चौथा नागरिक — मन्त्री शकटार! आप जीवित है?

शकटार — हाँ, महापद्म के जारज पुत्र नन्द की — वधिक हिंस्रपशु नन्द की — प्रतिहिंसा का लक्ष्य — शकटार मैं ही हूँ!

सब नागरिक — हो चुका न्यायाधिकरण का ढोंग! जनता की शुभकामना करने की प्रतिज्ञा नष्ट हो गयी। अब नहीं - आज न्यायाधिकरण में पूछना होगा!

मौर्य — और मेरे लिए भी कुछ..

नागरिक — तुम?

मौर्य — सेनापति मौर्य — जिसका तुम लोगों का पता ही न था।

नागरिक — आश्चर्य! हम लोग आज क्या स्वप्न देख रहे हैं? अभी लौटना चाहिये। चलिये आप लोग भी।

शकटार — परन्तु मेरी रक्षा का भार कौन लेता है ---

(सब इधर-उधर देखने लगते है, चन्द्रगुप्त तन कर खड़ा हो जाता है)

चन्द्रगुप्त — मैं लेता हूँ! उन सब पीड़ित, आघात-जर्जर, पद-दलित लोगों का संरक्षक मैं हूँ — जो मगध की प्रजा है।

चाणक्य — साधु चन्द्रगुप्त!

(सब उत्साहित होते है। पर्वतेश्वर, चाणक्य और वररुचि को छोड़कर सब जाते हैं)

वररुचि — चाणक्य! यह क्या दावाग्नि फैला दी तुमने?

चाणक्य — उत्पीड़न की चिनगारी को अत्याचारी अपने ही अंचल में छिपाये रहता है! कात्यायन! तुमने अन्धकूप का सुख क्यों लिया? कोई अपराध किया था तुमने?

वररुचि — नन्द की भूल थी। उसे अब भी सुधारा जा सकता है। ब्राह्मण! क्षमानीधि! भूल जाओ!

चाणक्य — प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर हम-तुम साथ ही वैसानस होगे कात्यायन! शक्ति हो जाने दो, फिर क्षमा का विचार करना। चलो पर्वतेश्वर! सावधान!

(सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

दशम दृश्य

(नन्द की राज्यसभा। सुवासिनी और राक्षस बन्दी-वेश में)

नन्द — अमात्य राक्षस, यह कौन-सी मन्त्रणा थी? यह पत्र तुम्हीं ने लिखा है?

राक्षस — (पत्र लेकर पढ़ता हुआ) 'सुवासिनी, उस कारागार से शीघ्र निकल भागो, इस स्त्री के साथ आकर मुझसे मिलो। मैं उत्तरापथ में नवीन राज्य की स्थापना कर रहा हूँ। नन्द से फिर समझ लिया जायगा।' (नन्द की ओर देखकर) आश्चर्य! मैंने तो यह नहीं लिखा! यह कैसा प्रपंच है — और किसी का नहीं, उसी ब्राह्मण चाणक्य का महाराज, सतर्क रहिये, अपने अनुकूल परिजनों पर भी विश्वास न कीजिये। कोई भयानक घटना होने वाली है।

नन्द — इस तरह से मैं प्रताड़ित नहीं किया जा सकता — देखो यह तुम्हारी मुद्रा है! (मुद्रा देता है, राक्षस देखकर सिर नीचे कर लेता है) कृतघ्न! बोल — उत्तर दे!

राक्षस — मैं कहूँ भी, तो आप मानने ही क्यों लगे!

नन्द — तो आज तु लोगों को भी उसी अन्धकूप में जाता होगा — प्रतिहारी!

(नागरिकों का प्रवेश। राक्षस को शृंखला में जकड़ा हुआ देकर उनमें उत्तेजना)

नागरिक — सम्राट! आपसे मगध की प्रजा प्रार्थना करती है कि राक्षस और अन्य लोगों पर भी राजदण्ड द्वारा किये गये जो अत्याचार है, उनका फिर से निराकरण होना चाहिये।

नन्द — क्या! तुम लोगों को मेरे न्याय में अविश्वास है?

नागरिक — इसके प्रमाण है — शकटार, वररुचि और मौर्य!

नन्द — (उन लोगों को देखकर) शकटार! तू अभी जीवित है?

शकटार — जीवित हूँ नन्द! नियति सम्राटों से भी प्रबल है।

नन्द — यह मैं क्या देखता हूँ! प्रतिहारी! इन विद्रोहियों को बन्दी करो। क्या तुम लोगों ने इन्हें छुड़ाया है?

नागरिक — इनका न्याय हम लोगों के सामने किया जाय, जिससे हम लोगों को राज-नियमों में विश्वास हो सम्राट! न्याय को गौरव देने के लिए इनके अपराध सुनने की इच्छा आपकी प्रजा रखती है।

नन्द — प्रजा की इच्छा से राजा को चलना होगा?

नागरिक — हाँ, महाराज!

नन्द — क्या तुम सब-के-सब विद्रोही हो?

नागरिक — यह सम्राट अपने हृदय से पूछ देखे।

शकटार — मेरे सात निरपराध पुत्रों का रक्त!

नागरिक — न्यायाधिकरण की आड़ में इतनी बड़ी नृशंसता!

नन्द — प्रतिहारी! इन सबको बन्दी बनाओ।

(राज-प्रहरियों का सबको बाँधने का उद्योग। दूसरी ओर से सैनिकों के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — ठहरो! (सब स्तब्ध रह जाते है) महाराज नन्द! हम सब आपकी प्रजा है, मनुष्य है, हमें पशु बनने का अवसर न दीजिये!

वररुचि — विचार की तो बात है, यदि सुव्यवस्था से काम चल जाय तो उपद्रव क्यों हो?

नन्द — (स्वगत) विभीषिका! विपत्ति? सब अपराधी और विद्रोही एकत्र हुए है। (कुछ सोचकर, प्रकट) अच्छा मौर्य! तुम हमारे सेनापति हो और तुम वररुचि! हमने तुम लोगों को क्षमा कर दिया।

शकटार — और हम लोगों से पूछो! नन्द — अपनी नृशंसताओं से पूछो! क्षमा — कौन करेगा! तुम? कदापि नहीं! तुम्हारे घृणित अपराधों का न्याय होगा।

नन्द — (तनकर) तब रे मूर्खो! देखो नन्द की निष्ठुरता! प्रतिहारी! राजसिंहासन संकट में है! आओ, आज हमें प्रजा से लड़ना है!

(प्रतिहारी प्रहरियों के साथ आगे बढ़ता है। कुछ युद्ध होने के साथ ही राजपक्ष के कुछ लोग मारे जाते है और एक सैनिक आकर नगर के ऊपर आक्रमण होने की सूचना देता है। युद्ध करते-करते चन्द्रगुप्त नन्द को बन्दी बनाता है। चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य — नन्द! शिखा खुली है। फिर खिंचवाने की इच्छा हुई इसलिए आया हूँ। राजपद के अपवाद नन्द! आज तुम्हारा विचार होगा।

नन्द — तुम ब्राह्मण। मेरे टुकड़ों से पले हुए — दरिद्र! तुम मगध के सम्राट का विचार करोगे? तुम सब लुटेरे हो, डाकू हो! विप्लवी हो! अनार्य हो!

चाणक्य — (राजसिंहासन के पास जाकर) नन्द! तुम्हारे ऊपर इतने अभियोग है - महापद्म की हत्या, शकटार को बन्दी करना —

उसके सातों पुत्रों को भूख से तड़पा कर मारना! सेनापति मौर्य की हत्या का उद्योग करना — उसकी स्त्री और वररुचि को बन्दी बनाना! कितनी ही कुलीन कुमारियों का सतीत्वनाश — नगर भर में व्यभिचार को स्रोत बहाना! ब्रह्मस्व और अनाथों की वृत्तियों का अपहरण! अन्त में सुवासिनी पर अत्याचार — शकटार की एकमात्र बची हुई सन्तान — सुवासिनी, जिसे तुम अपनी घृणित पाशव-वृत्ति का —

नागरिक — (बीच में रोककर हल्ला मचाते हुए) पर्याप्त है! यह पिशाच लीला और सुनने की आवश्यकता नहीं, सब प्रमाण यहीं उपस्थित है।

चन्द्रगुप्त — ठहरिये (नन्द से) कुछ उत्तर देना चाहते है?

नन्द — कुछ नहीं।

('वध करो — हत्या करो' – का आतंक फैलता है)

चाणक्य — तब भी कुछ समझ लेना चाहिए, नन्द! हम ब्राह्मण — तुम्हारे लिए भिक्षा माँगकर तुम्हें जीवन-दान सकते हैं! लोगे —

('नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी' की उत्तेजना। कल्याणी को बन्दिनी बनाये पर्वतेश्वर का प्रवेश)

नन्द — आह बेटी, असह्य! मुझे क्षमा करो! चाणक्य, मैं कल्याणी के साथ जंगल में जाकर तपस्या करना चाहता हूँ।

चाणक्य — नागरिक वृन्द! आप लोग आज्ञा दें — नन्द को जाने की आज्ञा —

शकटार — (छुरा निकालकर नन्द की छाती में घुसेड़ते हुए) सात हत्याएँ है — नन्द यदि सात जन्मों में मेरे ही द्वारा मारा जाय तो मैं उसे क्षमा कर सकता हूँ — मगध नन्द के बिना भी जी सकता है।

वररुचि — अनर्थ!

(सब स्तब्ध रह जाते है)

राक्षस — चाणक्य मुझे भी कुछ बोलने का अधिकार है?

चन्द्रगुप्त — अमात्य राक्षस के बन्धन खोल दो। आज मगध के सब नागरिक स्वतन्त्र है।

(राक्षस, सुवासिनी, कल्याणी के बन्धन खुलते है)

राक्षस — राष्ट्र इस तरह नहीं चल सकता।

चाणक्य — तब?

राक्षस — परिषद की आयोजना होनी चाहिए।

नागरिक वृन्द — राक्षस, वररुचि, शकटार, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सम्मिलित परिषद की हम घोषणा करते है।

चाणक्य — परन्तु उत्तरापथ के समान गणतन्त्र की योग्यता मगध साम्राज्य में नहीं और मगध पर विपत्ति की भी सम्भावना है। प्राचीनकाल से मगध साम्राज्य रहा है, इसलिए यहाँ एक सबल और सुनियन्त्रित शासक की आवश्यकता है। आप लोगों को यह जान लेना चाहिये कि यवन अभी हमारी छाती पर है।

नागरिक — तो कौन इसके लिए उपयुक्त है?

चाणक्य — आप ही लोग इसे विचारिये।

शकटार — हम लोगों के उद्धारकर्ता, उत्तरापथ के अनेक समरों के विजेता — वीर चन्द्रगुप्त!

नागरिक — चन्द्रगुप्त की जय!

चाणक्य — अस्तु, बढ़ो चन्द्रगुप्त! सिंहासन शून्य नहीं रह सकता। अमात्य राक्षस! सम्राट का अभिषेक कीजिये।

(मृतक हटाये जाते है। कल्याणी दूसरी ओर जाती है। राक्षस चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़कर सिंहासन पर बैठाता है)

सब नागरिक — सम्राट चन्द्रगुप्त की जय! मगध की जय!

चाणक्य — मगध के स्वतन्त्र नागरिकों को बधाई है। आज आप लोगों के राष्ट्र का नवीन जन्म-दिवस है। स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है। वत्स चन्द्रगुप्त! स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वयं देख लिया है, अब मन्त्रि-परिषद की सम्मति से मगध और आर्यावर्त के कल्याण में लगो।

('सम्राट चन्द्रगुप्त की जय' – का घोष)

यवनिका

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

(मगध के राजकीय उपवन में कल्याणी)

कल्याणी — मेरे जीवन के दो स्वप्न थे — दुर्दिन के आकाश में नक्षत्र विलास-सी चन्द्रगुप्त की छवि और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बन्दिनी है! मैं वही तो हूँ — जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था! वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय,पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदण्ड — ऐश्वर्य। अब तुलना में सबसे छोटी हूँ। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है। (सिर झुका लेती है) तो जब नन्द वंश का कोई न रहा, तब एक राजकुमारी बचकर क्या कहेगी? (मद्यप की-सी चेष्टा करते हुए पर्वतेश्वर को प्रवेश करते देख चुप हो जाती है)

पर्वतेश्वर — मगध मेरा है — आधा भाग मेरा है! और मुझसे कुछ पूछा तक न गया। चन्द्रगुप्त अकेले सम्राट बन बैठा! कभी नहीं यह मेरे जीते जी नहीं हो सकता! (सामने देखकर) कौन है? यह कोई अप्सरा होगी! अरे! कोई अपदेवता न हो! अरे — (प्रस्थान)

कल्याणी — मगध के राज-मन्दिर उसी तरह खड़े है। गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही है, नगर में कोलाहल पूर्ववत् है। परन्तु न रहेगा एक नन्द-वंश फिर मैं क्या करूँ? आत्महत्या करूँ! नहीं, जीवन इतना सस्ता नहीं! अहा, देखो मधुर आलोकवाला

चन्द्र! उसी प्रकार — नित्य जैसे एक टक इस पृथ्वी को देख रहा हो! कुमुदबन्धु — तुम मेरे भी बन्धु बन जाओ, इस छाती की जलन मिटा दो!

(गाती है)

सुधा-सीकर से नहला दो!
लहरें डूब रही हो रस में,
रह न जायँ वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय सागर को — बहला दो!
अन्धकार उजला हो जाये,
हँसी हंसमाला मँडराये,
मधुराका आगमन कलरवों के मिस — कहला दो!
करुणा के अंचल पर निखरे,
घायल आँसू है जो बिखरे,
ये मोती बन जायँ मृदुल कर से लो — सहला दो!

(पर्वतेश्वर का फिर प्रवेश)

पर्वतेश्वर — तुम कौन हो सुन्दरी! मैं भ्रमवश चला गया था।

कल्याणी — तुम कौन हो?

पर्वतेश्वर — पर्वतेश्वर।

कल्याणी — मैं हूँ कल्याणी, जिसे नगर-अवरोध के समय तुमने बन्दी बनाया था।

पर्वतेश्वर — राजकुमारी! नन्द की दुहिता तुम्हीं हो?

कल्याणी — हाँ पर्वतेश्वर!

पर्वतेश्वर — तुम्हीं से मेरा विवाह होने वाला था?

कल्याणी — अब यम से होगा।

पर्वतेश्वर — नहीं सुन्दरी, ऐसा भरा हुआ यौवन!

कल्याणी — सब छीनकर अपमान भी!

पर्वतेश्वर — तुम नहीं जानती हो, मगध का आधा राज्य मेरा है। तुम मेरी प्रियतमा होकर सुखी रहोगी।

कल्याणी — मैं अब सुख नहीं चाहती। सुख अच्छा है यह दुःख — मैं स्थिर न कर सकी। तुम मुझे कष्ट न दो।

पर्वतेश्वर — हमारे-तुम्हारे मिल जाने से मगध का पूरा राज्य हम लोगों का हो जायगा। उत्तरापथ की संकटमयी परिस्थिति से अलग रहकर यहीं शान्ति मिलेगी।

कल्याणी — चुप रहो।

पर्वतेश्वर — सुन्दरी तुम्हें देख लेने पर ऐसा नहीं हो सकता!

(उसे पकड़ना चाहता है, वह भागती है, परन्तु पर्वतेश्वर पकड़ ही लेता है। कल्याणी उसी का छुरा निकालकर उसका वध करती है। चीत्कार सुनकर चन्द्रगुप्त आ जाता है)

चन्द्रगुप्त — कल्याणी! कल्याणी!! यह क्या!!!

कल्याणी — जो होना था — चन्द्रगुप्त! यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था — मुझे भ्रष्ट करके, अपनी संगिनी बनाकर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को — वह था चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त — क्या यह सच है कल्याण!

कल्याणी — हाँ, यह सच है। परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को — प्रेम-पीड़ा को — मैं पैरों से कुचलकर, दबाकर खड़ी रही! अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं! पिता! लो मैं भी आती हूँ! (अचानक छुरी मारकर आत्महत्या करती है, चन्द्रगुप्त उसे गोद में उठा लेता है)

चाणक्य — (प्रवेश करके) चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए!

चन्द्रगुप्त —गुरुदेव! इतनी क्रूरता?

चाणक्या — महत्त्वाकांक्षा को मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है! चलो अपना काम करो, विवाद करना तुम्हारा काम नहीं। अब तुम स्वच्छन्द होकर दक्षिणापथ जाने की आयोजना करो।
(प्रस्थान)

(चन्द्रगुप्त कल्याणी को लिटाकर देखता है।
(मन्द होते प्रकाश में दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(पथ में राक्षस और सुवासिनी)

सुवासिनी — राक्षस! मुझे क्षमा करो!
राक्षस — क्यों सुवासिनी; यदि वह बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो क्या हम लोग इस सामाजिक नियम के बन्धन में बँध न गये होते! अब क्या हो गया!
सुवासिनी - अब पिताजी की अनुमति आवश्यक हो गयी है।

राक्षस — (व्यंग से) क्यों? क्या अप वह तुम्हारे ऊपर अधिक नियन्त्रण रखते है? अब उनका तुम्हारे विगत जीवन से कुछ सम्पर्क नहीं? क्या...

सुवासिनी — अमात्य! मैं अनाथ थी जीविका के लिए मैंने चाहे कुछ भी किया हो, पर स्त्रीत्व नहीं बेचा!

राक्षस — सुवासिनी, मैंने सोचा था, तुम्हारे अंक से सिर रखकर विश्राम करते हुए मगध की भलाई से विपथगामी न हूँगा! पर तुमने ठोकर मार दिया? क्या तुम नहीं जानती हो — मेरे भीतर एक दुष्ट-प्रतिभा सदैव सचेष्ट रहती है? अवसर न दो — उसे न जगाओ! मुझे पाप से बचाओ!

सुवासिनी — मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब इसका प्रस्ताव पिताजी से करो। तुम मेरे रूप और गुण के ग्राहक हो, और सच्चे ग्राहक हो, परन्तु राक्षस! मैं जानती हूँ कि यदि ब्याह छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार से मैं तुम्हारी हो जाती तो तुम ब्याह से अधिक सुखी होते! उधर पिता ने, जिनके लिए मेरा चारित्र्य, मेरी निष्कलंकता नितान्त वांछनीय हो सकती है, मुझे इस मलीनता के कीचड़ से कमल के समान हाथों में लिया है! मेरे चिर दुखी पिता! राक्षस, तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम नहीं देख रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय बिछुड़ जायगा, एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जायगी!

राक्षस — यह मैं मान लेता, कदाचित् इस पर पूर्ण विश्वास भी कर लेता, परन्तु सुवासिनी मुझे शंका है। चाणक्य तुम्हारा बाल्य परिचय है। तुम शक्तिशाली की उपासना...

सुवासिनी — ठहरो अमात्य! मैं चाणक्य को इधर तो एक प्रकार से विस्मृत ही हो गयी थी, तुम इस सोयी हुई भ्रांति को न जगाओ! (जाती है)

राक्षस — चाणक्य भूल सकता है? कभी नहीं। वह राजनीति का आचार्य हो जाय, वह विरक्त तपस्वी हो जाय, परन्तु सुवासिनी का चित्र — यदि अंकित हो गया हो तो — उहूँ — (सोचता है)

(नेपथ्य से गान)

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला?
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला,
सांध्य गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला,
लौह शृंखला से न कड़ी क्या — यह फूलों की माला?

राक्षस — (सचेत होकर) तो चाणक्य से फिर मेरी टक्कर होगी, होने दो! वह अधिक सुखदायी होगा। आज से हृदय का यही ध्येय रहा। शकटार से किस मुँह से प्रस्ताव करूँ कि वह सुवासिनी को

मेरे हाथ सौंप दे, यह असम्भव है! तो मगध में फिर एक आँधी आवे। चलूँ, चन्द्रगुप्त भी तो नहीं है, चन्द्रगुप्त सम्राट हो सकता है — तो दूसरे भी इसके अधिकारी है। कल्याणी की मृत्यु से बहुत से लोग उत्तेजित है। आहुति की आवश्यकता है, वह्नि प्रज्वलित है। (जाता है)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(परिषद-गृह)

राक्षस — (प्रवेश करके) तो आप लोगों की सम्मति है कि विजयोत्सव न मनाया जाय? मगध का उत्कर्ष, उसके गर्व का दिन यों ही फीका रह जाय?

शकटार — मैं तो चाहता हूँ परन्तु आर्य चाणक्य की सम्मति — इसमें नहीं है।

कात्यायन — जो कार्य बिना किसी आडम्बर को हो जाय, वही तो अच्छा है।

(मौर्य सेनापति और उनकी स्त्री का प्रवेश)

मौर्य — विजयी होकर चन्द्रगुप्त लौट रहा है, हम लोग आज भी उत्सव न मनाने पायेंगे? राजकीय आवरण में यह कैसी दासता है!

मौर्य-पत्नी — तब यही स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कौन इस साम्राज्य का अधीश्वर है! विजयी चन्द्रगुप्त अथवा यह ब्राह्मण या परिषद?

चाणक्य — (राक्षस की ओर देखकर) राक्षस तुम्हारे मन में क्या है?

राक्षस — मैं क्या जानूँ — जैसी सब लोगों की इच्छा।

चाणक्य — मैं अपने अधिकार और दायित्व को समझकर कहता हूँ कि यह उत्सव न होगा।

मौर्य-पत्नी — तो मैं ऐसी पराधीनता में नहीं रहना चाहती (मौर्य से) समझा न! हम लोग आज भी बन्दी है।

मौर्य — (क्रोध से) क्या कहा — बन्दी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता — हम लोग चलते है! देखूँ किसकी सामर्थ्य है जो रोके। अपमान से जीवित रहना मौर्य नहीं जानता है। चलो —

(चाणक्य और कात्यायन के छोड़कर सब जाते हैं)

कात्यायन — विष्णुगुप्त, तुमने कुछ समझकर ही तो ऐसा किया होगा। फिर भी मौर्य का इस तरह चले जाना चन्द्रगुप्त को...
चाणक्य — बुरा लगेगा! क्यों — भला लगने के लिए मैं कोई काम नहीं करता। कात्यायन — परिणाम में भलाई ही मेरे कामों की कसौटी है। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चले जाओ। बको मत!

(कात्यायन का प्रस्थान)

चाणक्य — (स्वगत) कारण समझ में नहीं आता — यह वात्याचक्र क्यों? (विचारता हुआ) क्या कोई नवीन अध्याय खुलने वाला है? अपनी विजयों पर मुझे विश्वास है, फिर यह क्या?

(सोचता है। सुवासिनी का प्रवेश)

सुवासिनी — विष्णुगुप्त!
चाणक्य — कहो सुवासिनी!

सुवासिनी — अभी परिषद-गृह से जाते हुए पिताजी बहुत दुखी दिखाई दिए। तुमने अपमान किया क्या?

चाणक्य — यह तुमसे किसने कहा? इस उत्सव को रोक देने से साम्राज्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मौर्य को जा कुछ है, वह मेरे दायित्व पर है। अपमान हो या मान, मैं उसकी उत्तरदायी हूँ। और, पितृव्य तुल्य शकटार को मैं अपमानित करूँगा, यह तुम्हें कैसे विश्वास हुआ।

सुवासिनी — तो राक्षस ने ऐसा क्यों...

चाणक्य — कहा --ऐं? सो तो कहना ही चाहिये और तुम्हारा भी उस पर विश्वास होना आवश्यक है, क्यों — है न सुवासिनी?

सुवासिनी — विष्णुगुप्त में एक समस्या में डाल दी गई हूँ।

चाणक्य — तुम स्वयं पड़ना चाहती हो, कदाचित् यह ठीक भी है।

सुवासिनी — व्यंग न करो, तुम्हारी कृपा मुझ पर होगी ही, मुझे इसका विश्वास है।

चाणक्य — मैं तुमसे बाल्यकाल से परिचित हूँ सुवासिनी! तुम खेल में भी हारने के समय रोते हुए हँस दिया करती और तब मैं हार स्वीकार कर लेता था। इधर तो तुम्हारा अभिनय का अभ्यास भी बढ़ गया है। तब तो... (सुवासिनी को देखने लगता है)

सुवासिनी — यह क्या, विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो। फिर अपने को नहीं? देखो दर्पण लेकर तुम्हारी आँखों में यह कौन-सा नवीन चित्र है। (प्रस्थान)

चाणक्य — क्या — मेरी दुर्बलता! नहीं। कौन है!

दौवारिक — (प्रवेश करके) जय हो आर्य, रथ पर मालविका आई है।

चाणक्य — उसे सीधे मेरे पास लिवा लाओ!

(दौवारिक का प्रस्थान। एक चर का प्रवेश)

चर — आर्य, सम्राट के पिता और माता दोनों व्यक्ति रथ पर अभी-अभी बाहर गये है! (जाता है)

चाणक्य — जाने दो! इनके रहने से चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य में बाधा होती। स्नेहातिरेक से वह कुछ-का-कुछ कर बैठता।

(दूसरे चर का प्रवेश)

दूसरा चर — (प्रणाम करके) जय हो आर्य, वाह्लीक में नहीं हलचल है। विजेता सिल्यूकस अपनी पश्चिमी-राजनीति से स्वतन्त्र

हो गया है, अब वह सिकन्दर के पूर्वी-प्रान्तों की ओर दत्तचित्त है। वाह्लीक की सीमा पर नवीन यवन-सेना के अस्त्र चमकने लगे है।

चाणक्य — (चौंककर) और गांधार का समाचार?

दूसरा चर — अभी कोई नवीनता नहीं।

चाणक्य — जाओ। (चर का प्रस्थान) क्या उसका भी समय आ गया? तो ठीक है। ब्राह्मण! अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह! कुछ चिन्ता नहीं, सब सुयोग आप ही चले आ रहे है।

(ऊपर देखकर हँसता है। मालविका का प्रवेश)

मालविका — आर्य, प्रणाम करती हूँ। सम्राट ने श्रीचरणों में सविनय प्रणाम करके निवेदन किया है कि आपके आशीर्वाद से दक्षिणापथ में अपूर्व सफलता मिली, किन्तु सुदूर दक्षिण जाने के लिए आपका निषेध सुनकर लौटा आ रहा हूँ। सीमान्त के राष्ट्रों ने भी मित्रता स्वीकार कर ली है।

चाणक्य — मालविका, विश्राम करो। सब बातों का विवरण एक साथ ही लूँगा।

मालविका — परन्तु आर्य! स्वागत का कोई उत्साह राजधानी में नहीं।

चाणक्य — मालविका, पाटलिपुत्र षड्यन्त्रों का केन्द्र हो रहा है! सावधान! चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा तुम्हीं को करनी होगी।

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(प्रकोष्ठ में चन्द्रगुप्त)

चन्द्रगुप्त — विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं! मन ऊब-सा गया है। झंझटों से घड़ी-भर अवकाश नहीं। गुरुदेव और क्या चाहते है, समझ में नहीं आता। इतनी उदासी क्यों? मालविका!

मालविका — (प्रवेश करके) सम्राट की जय हो!

चन्द्रगुप्त — मैं सबसे विभिन्न एक भय-प्रदर्शन सा बन गया हूँ। मेरा कोई अंतरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट कहकर पुकारती हो!

मालविका — देव, फिर मैं क्या कहूँ!

चन्द्रगुप्त — स्मरण आता है — मालव का उपवन और उसमें अतिथि के रूप में मेरा रहना।

मालविका — सम्राट, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने है।

चन्द्रगुप्त — संघर्ष! युद्ध — देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो, मालविका! आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण-सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है। मालविका, तुम मेरी ताम्बूलवाहिनी हो, मेरे विश्वास ही — मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं! मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता?

मालविका — आप महापुरुष है, साधारण-सुलभ दुर्बलता न होनी चाहिये आप में देव! बहुत दिनों पर मैंने एक माला बनाई है।

(माला पहनाती है)

चन्द्रगुप्त — मालविका, इन फूलों का रस तो भौंरे ले चुके हैं।

मालविका — निरीह कुसुमों पर दोषारोपण क्यों? उनका काम है सौर बिखेरना, यह उनका मुक्त दान है। उसे चाहे भ्रमर लो या पवन!

चन्द्रगुप्त — कुछ गाओ तो मन बहल जाय।

(मालविका गाती है)

मधुप कब एक कली का है!
पाया जिसमें प्रेम रस, सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से, मिलता भर अनुराग,
बिहारी — कुंजगली का है!
कुसुम धूल से धूसरित, चलता है उस राह,
काँटों में उलझा तदपि, रही लगन की चाह,
बावला — रंगरली का है!
हो मल्लिका, सरोजिनी, या यूथी का पूंज,
अलि को केवल चाहिये, सुखमय क्रीड़ा-कुँज,
मधुप कब एक कली का है!

चन्द्रगुप्त — मालविका, मन मधुप से भी चंचल और पवन से भी प्रगतिशील है — वेगवान है।

मालविका — उसका निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है देव!

(प्रतिहारी का प्रवेश और संकेत। मालविका उससे बात कर लौटती है।)

चन्द्रगुप्त — क्या है?

मालविका — कुछ नहीं कहती थी कि यह प्राचीन राज-मन्दिर अभी परिष्कृत नहीं, इसलिए मैंने चन्द्रसौंध में आपके शयन का प्रबन्ध करने के लिए कह दिया है।

चन्द्रगुप्त — जैसी तुम्हारी इच्छा (पान करता हुआ) कुछ और गाओ मालविका! आज तुम्हारे स्वर में स्वर्गीय मधुरिमा है।

(गाती है)

बज रही बंशी आठों धाम की।
अब तक गूँज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की
हुए चपल मृगनैन मोह-वश बजी विपंची काम की
रूप-सुधा के दो दृग प्यालों ने ही मति बेकाम की,
बज रही बंशी आठों याम की।

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी — जय हो देव — शयन का समय हो गया।

(प्रतिहारी, कंचुकी सहित चन्द्रगुप्त का प्रस्थान)

मालविका — जाओ प्रियतम! सुखी जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिर-दुःखी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर! आर्य चाणक्य की आज्ञा है — 'आज घातक इस शयनगृह में आवेंगे, इसलिए चन्द्रगुप्त यहाँ न सोने पावें और षड्यन्त्रकारी पकड़े जायँ।' (शय्या पर बैठकर) यह चन्द्रगुप्त की व्यथा है। ओह, आज प्राणों में कितनी मादकता है। मैं– मैं कहाँ हूँ – कहाँ! स्मृति, तू मेरी तरह सो जा! अनुराग तू रक्त से भी रंगीन बन जा!

(गाती है)

ओ मेरी जीवन की स्मृति — ओ अन्तर के आतुर अनुराग!
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग?
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय तान,
यों अधीरता से न मींड़ लो अभी हुए है पुलकित प्रान!
कैसा है यह प्रेम तुम्हारा युगल मूर्त्ति की बलिहारी!
यह उन्मत्त विलास — बता दो कुचलेगा किसकी क्यारी?
इस अनन्त जलनिधि के नाविक, हे मेरे अनन्त अनुराग!

पाल सुनहला बन तनती है स्मृति, यों बस अतीत में जाग।
कहाँ ले चले कोलाहल से मुखरित तट को छोड़ सुदूर —
आह! तुम्हारे निर्दय डाँड़ों से होती है लहरें चूर!
देख नहीं सकते तुम दोनों चकित निराशा है भीमा,
बहको मत, क्या न है बता दो — क्षितिज तुम्हारी नव-
सीमा?

(शयन)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(प्रभात में राजमन्दिर का एक प्रान्त)

चन्द्रगुप्त — (अकेले टहलता हुआ) चतुर सेवक के समान संसार को जगाकर अन्धकार हट गया। रजनी की निस्तब्धता काकली से चंचल हो उठी है। नीला आकाश स्वच्छ होने लगा है, या निद्राक्लान्त निशा, उषा की शुभ्र चादर ओढ़कर नींद की गोद में

लेटने चली है। और कर्मक्षेत्र क्या है? जीवन-संग्राम! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है। तो फिर... मेरे पिता, मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गये, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या, मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किये गये। यह परतन्त्रता कब तक चलेगी? प्रतिहारी!

प्रतिहारी — (प्रवेश करके) जय हो देव!

चन्द्रगुप्त — आर्य चाणक्य तो शीघ्र लिवा लाओ! (प्रतिहारी का प्रस्थान) प्रतिकार आवश्यक है। (चाणक्य का प्रवेश) आर्य, प्रणाम!

चाणक्य — कल्याण हो आयुष्मन्, आज तुम्हारा प्रणाम भारी-सा है!

चन्द्रगुप्त — मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।

चाणक्य — यह तो मैं पहले से समझता था! तो तुम अपने स्वागत के लिए लड़कों के सदृश रूठे हो?

चन्द्रगुप्त — नहीं आर्य, मेरे माता-पिता — मैं जानना चाहता हूँ कि उन्हें किसने निर्वासित किया?

चाणक्य — जान जाओगे तो उसका वध करोगे, क्यों? (हँसता है)।

चन्द्रगुप्त —हँसिये मत! गुरुदेव! आपकी मर्यादा रखनी चाहिये, यह मैं जानता हूँ। परन्तु वे मेरे माता-पिता थे, यह आपको भी जानना चाहिये।

चाणक्य — तभी तो मैंने उन्हें उपयुक्त अवसर दिया। अब उन्हें आवश्यकता थी शान्ति की, उन्होंने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया है। इसमें खेद करने की कौन बात है?

चन्द्रगुप्त — यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे है? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते है।

चाणक्य — चन्द्रगुप्त! मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करूणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द-समुद्र में शान्ति द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण — मैं, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्यश्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी — ब्राह्मण की — जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया। सौहार्द के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान में भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन में परिवर्तन में कुमन्त्रणा। पतन और कहाँ तक हो सकता है! ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त! अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छायाचित्र, काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड़ रहा हूँ। शान्ति खो गई और स्वरूप विस्मृत हो गया है! जान गया मैं कहाँ और कितने नीचे हूँ। (प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त — (दीर्घ निःश्वास लेकर) तो क्या मैं असमर्थ हूँ? उँह, सब हो जायगा।

सिंहरण — (प्रवेश करके) सम्राट की जय हो! कुछ विद्रोही और षड्यन्त्रकारी पकड़े गये है। एक बड़ी दुखद घटना भी हो गयी है।

चन्द्रगुप्त — (चौंककर) क्या?

सिंहरण — मालविका का हत्या ... (गद्‌गद कण्ठ से) आपका परिच्छेद पहनकर वह आपकी ही शय्या पर लेटी थी।

चन्द्रगुप्त — तो क्या,उसने इसलिए मेरे शयन का प्रबन्ध दूसरे प्रकोष्ठ में किया — आह! मालविका!

सिंहरण — आर्य चाणक्य की सूचना पाकर नायक पूरे गुल्म के साथ राजमन्दिर की रक्षा के लिए प्रस्तुत था! एक छोटा-सा युद्ध होकर वे हत्यारे पकड़े गये। परन्तु उनका नेता राक्षस भाग निकला।

चन्द्रगुप्त — क्या! राक्षस — उसका नेता था?

सिंहरण — हाँ सम्राट! गुरुदेव बुलाये जायँ!

चन्द्रगुप्त — वही तन नहीं हो सकता, वे चले गये। कदाचित् न लौटेंगे।

सिंहरण — ऐसा क्यों? क्या आपने कुछ कह दिया?

चन्द्रगुप्त — हाँ सिंहरण! मैंने अपने माता-पिता के चले जाने का कारण पूछा था!

सिंहरण — (निश्वास लेकर) तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है! सम्राट, मैं गुरुदेव को खोजने जाता हूँ!

चन्द्रगुप्त — (विरक्ति से) जाओ, ठीक है — अधिक हर्ष, अधिक उन्नति के बाद ही तो अधिक दुःख और पतन की बारी आती है — (सिंहरण का प्रस्थान) पिता गये, माता गई, गुरुदेव गये, कन्धे-से-कन्धा मिलाकर प्राभ देने वाला चिर-सहचर सिंहरण गया! तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा, परन्तु मालविका — आह वह स्वर्गीय कुसुम!

(चिन्तित भाव से प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(सिन्धु तट पर पर्णकुटी में चाणक्य और कात्यायन)

चाणक्य — कात्यायन, सो नहीं हो सकता। मैं अब मन्त्रित्व नहीं ग्रहण करने का। तुम यदि किसी प्रकार मेरा रहस्य खोल दोगे, तो मगध का अनिष्ट करोगे।

कात्यायन — तब मैं क्या करूँ? चाणक्य, मुझे तो अब इस राजकाज में पड़ना अच्छा नहीं लगता।

चाणक्य — जब तक गांधार का उपद्रव है, तब तक तुम्हें बाध्य करना पड़ेगा। बताओ, नया समाचार क्या है?

कात्यायन — राक्षस सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने के लिए वहीं रहता है, और यह सारा कुचक्र उसी का है! वह इन दिनों वाह्लीक की ओर गया है। मैं अपना वार्त्तिक पूरा कर चुका — इसीलिए मगध से अवकाश लेकर आया था! चाणक्य, अब मैं मगध जाना चाहता हूँ। यवन शिविर में अब मेरा जाना असम्भव है।

चाणक्य — जितने शीघ्र गो सके, मगध पहुँचो। मैं सिंहरण को ठीक रखता हूँ। तुम चन्द्रगुप्त को भेजो। सावधान, उसे न मालूम हो कि मैं यहाँ हूँ? अवसर पर उपस्थित हो जाऊँगा। देखो शकटार और तुम्हारे भरोसे मगध रहा! कात्यायन, यदि सुवासिनी को भेजते तो कार्य में आशातीत सफलता होगी। समझे?

कात्यायन — (हँसकर) यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि तुम सुवासिनी... अच्छा... विष्णुगुप्त! गार्हपत्य जीवन कितना सुन्दर है।

चाणक्य — मूर्ख हो, अब हम-तुम साथ ब्याह करेंगे।

कात्यायन — मैं? मुझे नहीं — मेरी गृहिणी तो है!

चाणक्य — (हँसकर) एक ब्याह और सही। अच्छा बताओ, काम कहाँ तक हुआ?

कात्यायन — (पत्र देता हुआ) हाँ यह लो, यवन शिविर का विवरण है। परन्तु विष्णुगुप्त, एक बात कहे बिना न रह सकूँगा। यह यवन-बाला सिर से पैर तक आर्य संस्कृति में पगी है। उसका अनिष्ट!

चाणक्य — (हँसकर) कात्यायन, तुम सच्चे ब्राह्मण हो! यह करूणा और सौहार्द का उद्रेक ऐसे हृदयों में होता है। परन्तु निष्ठुर — हृदयहीन — मुझे तो केवल अपने हाथों खड़ा किए हुए — एक साम्राज्य का दृश्य देख लेना है

कात्यायन — फिर भी चाणक्य, उसका सरल मुख-मण्डल — उस लक्ष्मी का अमंगल!

चाणक्य — (हँसकर) तुम पागल तो नहीं हो?

कात्यायन — तुम हँसो मत चाणक्य! तुम्हारा हँसना क्रोध से भी भयानक है! प्रतिज्ञा करो कि उसका अनिष्ट न करूँगा। बोलो!

चाणक्य — कात्यायन, अलक्षेन्द्र कितने विकट परिश्रम से भारतवर्ष से बाहर किया गया — यह तुम भूल गये? अभी है कितने दिनों

की बात! अब इस सिल्यूकस को क्या हुआ जो चला आया? तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी, नियति अब उन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है!

कात्यायन — कैसे आश्चर्य की बात है!

चाणक्य — परन्तु इससे क्या, वह तो होकर रहेगा — जिसे मैंने स्थिर कर लिया है! वर्तमान भारत की नियति — मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है — फिर मैं क्या करूँ।

कात्यायन — तुम निष्ठुर हो!

चाणक्य — अच्छा तुम सहृदय हो — एक बात कहूँ — कर सकोगे? बोलो, चन्द्रगुप्त और उस यवन-बाला के परिणय में आचार्य बनोगे?

कात्यायन — क्या कह रहे हो? यह हँसी!

चाणक्य — यही है तुम्हारी दया की परीक्षा — देखूँ तुम क्या करते हो। क्या इसमें यवन-बाला का अमंगल है?

कात्यायन — (सोचकर) मंगल है — मैं प्रस्तुत हूँ।

चाणक्य — (हँसकर) तब तुम निश्चय ही एक सहृदय व्यक्ति हो।

कात्यायन — अच्छा, तो मैं जाता हूँ।

चाणक्य — हाँ, जाओ। स्मरण रखना, हम लोगों के जीवन में यह अन्तिम संघर्ष है। मुझे आज आंभीक से मिलना है। यह लोलुप राजा — देखूँ, क्या करता है।

(कात्यायन का प्रस्थान। चर का प्रवेश)

चर — महामात्य की जय हो!

चाणक्य — इस समय जय की बड़ी आवश्यकता है। आंभीक को यदि जय कर सका तो सर्वत्र जय है। बोलो आंभीक ने क्या कहा?

चर — वे स्वयं आ रहे है।

चाणक्य — आने दो, तुम जाओ।

(चर का प्रस्थान। आंभीक का प्रवेश)

आंभीक — प्रणाम, ब्राह्मण देवता!

चाणक्य — कल्याण हो राजन? तुम्हें भय तो नहीं लगता? मैं एक दुर्नाम व्यक्ति हूँ।

आंभीक — नहीं आर्य, आप कैसी बात करते है!

चाणक्य — तो ठीक है, इसी तक्षशिला के मठ में एक दिन मैंने कहा था — 'सो कैसे होगा क्षत्रिय — तभी तो म्लेच्छ लोग साम्राज्य बना रहे है और आर्यजाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के राह देख रही है।'

आंभीक — स्मरण है।

चाणक्य — तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया — इसे भी सम्भवतः तुम न भूले होगे।

आंभीक — नहीं।

चाणक्य — तुम जानते हो चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के स्वर्णगिरि से पंचनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक एक महान साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतन्त्र मालव, क्षुद्रक और यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग है। केवल तुम्हीं इससे अलग हो। इस द्वितीय यवन आक्रमण से तुम भारत के द्वार की रक्षा कर लोगे, यह पहले के समान उत्कोच लेकर — द्वार खोलकर — सब झंझटों से अलग हो जाना चाहते हो?

आंभीक — आर्य, वही त्रुटि बार-बार न होगी।

चाणक्य — तब साम्राज्य झेलम तट की रक्षा करेगा। सिंधु-तट का भार तुम्हारे ऊपर रहा।

आंभीक — अकेले मैं यवनों का आक्रमण रोकने में असमर्थ हूँ।

चाणक्य — फिर क्या उपाय है? (नेपथ्य में जयघोष। आंभीक चकित होकर देखने लगता है) क्या है — सुन रहो हो?

आंभीक — समझ में नहीं आया। (नेपथ्य की ओर देखकर) वह एक स्त्री आगे-आगे कुछ गाती हुई आ रही है और उसके साथ बड़ी-सी भीड़ है।

(कोलाहल समीप होता है)

चाणक्य — आओ, हम लोग अलग हटकर देखे।

(दोनों छिप जाते है। आर्य पताका लिए गाती अलका का भीड़ के साथ प्रवेश)

अलका — तक्षशिला के वीर नागरिकों! एक बार, अभी-अभी सम्राट चन्द्रगुप्त से इसका उद्धार किया था, आर्यावर्त — प्यारा देश ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पद-दलित हो रहा है। तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है, और तुम?

नागरिक — हम लोग उसका परिणाम देख चुके है माँ! हम लोग प्रस्तुत है।

अलका — यही तो!

(समवेत गायन)

> हिमाद्रि तुंग शृंङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
> स्वयंप्रभा समुज्जवला स्वतन्त्रता पुकारती —
> अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ-प्रतिज्ञ सोच लो,
> प्रशस्त पुण्य पन्थ है — बढ़े चलो — बढ़े चलो!
> असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य-दाह-सी।
> सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी!
> अराति सैन्य-सिन्धु में — सुवाड़वाग्नि से जलो!
> प्रवीर हो जयी बनो — बढ़े चलो, बढ़े चलो!

(सबका प्रस्थान। चाणक्य और आंभीक बाहर आते हैं)

आंभीक — यह अलका है। तक्षशिला में उत्तेजना फैलाती हुई — यह अलका!

चाणक्य — हाँ, आंभीक! तुम उसे बन्दी बनाओ — मुँह बन्द करो!

आंभीक — (कुछ सोचकर) असम्भव! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा!

चाणक्य — यह मैं कैसे कहूँ? मेरी लक्ष्मी — अलका — ने आर्य गौरव के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये! वह भी तो इसी वंश की बालिका है! फिर तुम भी पुरुष हो, तुम्हीं सोचकर देखो।

आंभीक — व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध कर सकेगा। आर्य चाणक्य, मैं आर्य-साम्राज्य से बाहर नहीं हूँ।

चाणक्य — तब तक्षशिला के दुर्ग पर मगध-सेना अधिकार करेगी। यह तुम सहन करोगे? (आंभीक सिर नीचा करके विचारता है) क्षत्रिय कह देना और बात है, करना और!

आंभीक — (आवेश में) हार ही चुका हूँ, पराधीन हो ही चुका हूँ। अब स्वदेश के अधीन होने में उससे अधिक कलंक तो मुझे लगेगा नहीं, आर्य चाणक्य!

चाणक्य — तो इस गांधार और पंचनद का शासन-सूत्र होगा अलका के हाथ में और तक्षशिला उसकी राजधानी होगी, बोलो — स्वीकार है?

आंभीक — अलका?

चाणक्य — हाँ, अलका और सिंहरण इस महाप्रदेश के शासक होंगे।

आंभीक — सब स्वीकार है, ब्राह्मण! मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र में एक सैनिक होना चाहती हूँ — और कुछ नहीं।

चाणक्य — तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण हो!

(चाणक्य संकेत करता है। सिंहरण और अलका का प्रवेश)

अलका — भाई, आंभीक!

आंभीक — बहन, अलका! तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था बहन! तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है, आंभीक की आवश्यकता न थी।

अलका — भाई क्या कहते हो?

आंभीक — मैं देशद्रोही हूँ, नीच —अधम हूँ, तूने गांधार के राजवंश का मुख उज्ज्वल किया है — राज्यासन के योग्य तू ही है।

अलका — भाई, अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया! राज्य किसी का नहीं है! सुशासन का है — जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण

है। देखते नहीं,प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त तक इस महान आर्य-साम्राज्य के सेवक है। स्वतन्त्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है। उसी की पूजा होगी, भाई! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं, तक्षशिला आर्यावर्त का एक भू-भाग है, वह आर्यावर्त की होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो। फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहाँ की अप्सराएँ विजय-माला लेकर खड़ी होंगी, सूर्य-मण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित हो कर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा।

चाणक्य — साधु — अलके — साधु!

आंभीक — (खड्ग खींचकर) खड्ग की शपथ — मैं कर्तव्य से च्युत न होऊँगा!

सिंहरण — (उसका आलिंगन करके) मित्र आंभीक! मनुष्य साधारणतः पशुधर्मा है, विचारशील होने से मनुष्य होता है, और निःस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।

(आंभीक का प्रस्थान)

सिंहरण — अलका, सम्राट किस मानसिक वेदना में दिन बिताते होंगे?

अलका — वे वीर है मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य है। उसकी साधना के लिए प्रकृति, अदृष्ट, दैव या ईश्वर कुछ-न-कुछ अवलम्ब जुटा ही देना! सहायक चाहे आर्य चाणक्य हो या मालव!

सिंहरण — अलका, उस प्रचण्ड पराक्रम को मैं जानता हूँ। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि सम्राट मनुष्य है। अपने से बार-बार सहायता करने के लिए कहने में, मानव-स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का, किन्तु जीवन अपना संग्राम अंध होकर लड़ता है — कहता है — अपने को बचाऊँगा नहीं, जो मेरे मित्र हों, आवे और अपना प्रमाण दे।

(दोनों का प्रस्थान। सुवासिनी का प्रवेश)

चाणक्य — सुवासिनी, तुम यहाँ कैसे?

सुवासिनी — सम्राट को अभी तक आपका पता नहीं, पिताजी ने इसीलिए मुझे भेजा है। उन्होंने कहा — जिस खेल का आरम्भ किया है, उसका पूर्ण और सफल अन्त करना चाहिये।

चाणक्य — क्यों करे सुवासिनी, तुम राक्षस से साथ सुखी जीवन बिताओगी यदि इतनी भी मुझे आशा होती .. वह तो यवन-सेनानी है और तुम मगध की मन्त्रिकन्या! क्या उससे परिणय कर सकोगी?

सुवासिनी — (निःश्वास लेकर) राक्षसे! नहीं — असम्भव! चाणक्य तुम इतने निर्दयी हो!

चाणक्य — (हँसकर) सुवासिनी! वह स्वप्न टूट गया — इस विजन बालुका-सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक भ्रूभंग ने उसे लौटा दिया! मैं कंगाल हूँ (ठहरकर) सुवासिनी — मैं तुम्हें दण्ड दूँगा। चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्त नहीं।

सुवासिनी — क्षमा करो विष्णुगुप्त!

चाणक्य — असम्भव है। तुम्हें राक्षस से ब्याह करना ही होगा, इसी में हमारा, तुम्हारा और मगध का कल्याण है!

सुवासिनी — निष्ठुर! निर्दय!

चाणक्य — (हँसकर) तुम्हें अभिनय भी करना पड़ेगा! इसमें समस्त संचित कौशल का प्रदर्शन करना होगा। सुवासिनी, तुम्हें बन्दिनी बनकर ग्रीक-शिविर में राक्षस और राजकुमारी की पूर्व-स्मृति में आहुति देने के लिए! कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से परिणीता होकर सुखी

हो सकेगी — कि नहीं, इसकी परीक्षा करनी होगी। (सुवासिनी सिर पकड़कर बैठ जाती है। उसके सिर पर हाथ रखकर)

सुवासिनी! तुम्हारा प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस में अंकुरित हुआ, और शैशव का वह सब — केवल हृदय की स्निग्धता था। आज इसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष में बदल रहा है, परन्तु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है! चाणक्य यह नहीं मानता है कि कुछ भी असम्भव है। तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और मैं — अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ — यही मेरे लिए अच्छा होगा। मानव-हृदय में यह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करता है। यही हृदय का रहस्य है, तब हम लोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों, उसमें परवशता क्यो मानें? मैं क्रूर हूँ, केवल वर्तमान के लिए, भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं! श्रेय के लिए मनुष्य को सब त्या करना चाहिये, सुवासिनी — जाओ!

सुवासिनी — (दीनता से चाणक्य का मुँह देखते हुए) तो विष्णुगुप्त, तुम इतना बड़ा त्याग करोगे! अपने हाथों बनाये हुए इतने बड़े साम्राज्य का शासन हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे और सो भी मेरे लिए!

चाणक्य — (घबराकर) मैं बड़ा विलम्ब कर रहा हूँ! सुवासिनी, आर्य दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँचने का लिए मैं पथ भूल गया हूँ! मेघ के समान मुक्त, वर्षा-सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना — यही तो ब्राह्मण का आदर्श है। मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर इस रंगमंच से हट जाना है!

सुवासिनी — महापुरुष! मैं नमस्कार करती हूँ। विष्णुगुप्त तुम्हारी बहन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है.. (चरण पकड़ती है)

चाणक्य — सुखी रहो। (सजल नेत्र से सुवासिनी के सिर पर हाथ फेरते हुए प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(कपिशा के राज-मन्दिर में कार्नेलिया और उसकी सखी)

कार्नेलिया — बहुत दिन हुए देखा था — वही भारतवर्ष! वही निर्मल ज्योति का देश — पवित्र भूमि, अब हत्या और लूट से वीभत्स बनायी जायगी। ग्रीक-सैनिक इस शस्यश्यामला पृथ्वी को रक्तरंजित बनावेंगे! पिता अपने साम्राज्य से सन्तुष्ट नहीं, आशा उन्हें दौड़ावेगी। पिशाची की छलना में पड़कर लाखों प्राणियों का नाश होगा। और, सुना है यह युद्ध होगा उस चन्द्रगुप्त से!

सखी — सम्राट तो आज स्कन्धावार में जाने वाले है।

(राक्षस का प्रवेश)

राक्षस — आयुष्मती! मैं आ गया।

कार्नेलिया — नमस्कार! तुम्हारे देश मे तो सुना है कि ब्राह्मण जाति बड़ी तपस्वी और त्यागी है!

राक्षस — हाँ कल्याणी, वह मेरे पूर्वजों का गौरव है, किन्तु हम लोग तो बौद्ध है!

कार्नेलिया — और तुम उसके ध्वंसावशेष हो। मेरे यहाँ ऐसे ही लोगों को देशद्रोही करते है। तुम्हारे यहाँ इसे क्या करते है?

राक्षस — राजकुमारी! मैं कृतघ्न नहीं, मेरे देश में कृतज्ञता पुरुषत्व का चिह्न है। जिसके अन्न से जीवन-निर्वाह होता है; उसका कल्याण —

कार्नेलिया — कृतज्ञता पाश है, मनुष्य की दुर्बलताओं के फन्दे उसे और भी दृढ करते है परन्तु — जिस देश ने तुम्हारा पाल पोषण करके पूर्व उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नहीं हो रहे हो? सुकरात का तर्क तुमने पढ़ा है।

राक्षस — तर्क और राजनीति में भेद है, मैं प्रतिशोध चाहता हूँ। राजकुमारी कर्णिक ने कहा —

कार्नेलिया — कि सर्वनाश कर दो। यदि ऐसा है, तो मैं तुम्हारी राजनीति नहीं पढ़ना चाहती।

राक्षस — पाठ थोड़ा अवशिष्ट है। उसे भी समाप्त कर लीजिये, आपके पिता की आज्ञा है।

कार्नेलिया — मैं तुम्हारे उशना और कर्णिक से ऊब गयी हूँ, जाओ। (राक्षस का प्रस्थान) एलिस! इन दिनों जो ब्राह्मण मुझे रामायण पढ़ाता था, वह कहाँ गया? उसने व्याकरण पर अपनी नयी टिप्पणी प्रस्तुत की है। वह कितना सरल और विद्वान है!

एलिस — वह चला गया राजकुमारी!

कार्नेलिया — बड़ा ही निर्लोभी सच्चा ब्राह्मण था। (सिल्यूकस को आते देख) अरे पिताजी!

सिल्यूकस — हाँ बेटी! तुमने बन्द कर दिया, ऐसा क्यों? अभी वह राक्षस मुझसे कह रहा था।

कार्नेलिया — पिताजी! उसके देश ने उसका नाम कुछ समझकर ही रक्खा है — राक्षस! मैं उससे डरती हूँ।

सिल्यूकस — बड़ा विद्वान है बेटी! मैं उसे भारतीय प्रदेश का क्षत्रप बनाऊँगा।

कार्नेलिया — पिताजी! वह पाप की मलिन छाया है। उसकी भवों में कितना अन्धकार है, आप देखते नहीं। उससे अलग रहिये। विश्राम लीजिये। विजयों की प्रवंचना में अपने को न हारिये। महत्वाकांक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है। डिमास्थनीज़ ने...

सिल्यूकस — मुझे दार्शनिकों से तो विरक्ति हो गयी है। क्या ही अच्छा होता कि ग्रीस में दार्शनिक न उत्पन्न होकर केवल योद्धा ही होते!

कार्नेलिया — सो तो होता ही है। मेरे पिताजी किससे कम वीर है। मेरे विजेता पिता। मैं भूल करती हूँ, क्षमा कीजिये।

सिल्यूकस — यही तो मेरी बेटी! ग्रीक-रक्त वीरता के परमाणुओं से संगठित है। तुम चलोगी युद्ध देखने? सिन्धु-तट के स्कंधावार में रहना।

कार्नेलिया — चलूँगी!

सिल्यूकस — अच्छा तो प्रस्तुत रहना। आंभीक — तक्षशिला का राजा — इस युद्ध में तटस्थ रहेगा, आज उसका पत्र आया है और राक्षस कहता है कि चाणक्य — चन्द्रगुप्त का मन्त्री — उससे क्रुद्ध होकर कहीं चला गया है। पंचनद में चन्द्रगुप्त का कोई सहायक नहीं। बेटी सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य — उससे बड़ी विजय! कितना उज्ज्वल भविष्य है।

कार्नेलिया — हाँ पिताजी!

सिल्यूकस — हाँ पिताजी! उल्लास की एक रेखा भी नहीं — इतनी उदासी! तू पढ़ना छोड़ दे! मैं कहता हूँ कि तू दार्शनिक होती जा रही है — ग्रीक — रक्त!

कार्नेलिया — वही तो कर रही हूँ। आप ही तो कभी पढ़ने के लिए कहते है, कभी छोड़ने के लिए।

सिल्यूकस — तब ठीक है, मैं ही भूल गया था।

(दोनों का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(पथ में चन्द्रगुप्त और सैनिक)

चन्द्रगुप्त — पंचनद का नायक कहाँ है?

एक सैनिक — वह आ रहे है, देव!

नायक — (प्रवेश करके) जय हो देव!

चन्द्रगुप्त — सिंहरण कहाँ है? (नायक विनम्र होकर पत्र देता है, पत्र पढ़कर उसे फाड़ते हुए) हूँ! सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत आ जाय तो अपना अधिकार सौंप दें! नायक! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिये सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते? बोलो, चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो! मैंने प्राण देनेवालों वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है और विश्राम रखो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगल-गान है! आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ, मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ! चिन्ता क्या? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें — क्या डर! सैनिकों!

सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं! जाओ यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो! कह देना कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है — जाओ, जाओ (नायक जाने लगता है) ठहरो — आंभीक की क्या लीला है?

नायक — आंभीक ने यवनों से कहा कि ग्रीक-सेना मेरे राज्य से आ सकती है, परन्तु युद्ध के लिए सैनिक न दूँगा, क्योंकि मैं उन पर स्वयं विश्वास नहीं करता।

चन्द्रगुप्त — और वह कर ही क्या सकता था! कायर! अच्छा जाओ, देखो — वितस्ता के उस पार हम लोगों को शीघ्र पहुँचना चाहिये। तुम सैन्य लेकर मुझसे वहीं मिलो ।

(नायक का प्रस्थान)

एक सैनिक — मुझे क्या आज्ञा है, मगध जाना होगा?

चन्द्रगुप्त — आर्य शकटार को पत्र देना और सब समाचार सुना देना मैंने लिख तो दिया है, परन्तु तुम भी उनसे इतना कह देना कि इस समय मुझे सैनिक, अस्त्र तथा अन्न चाहिये। देश में डाँड़ी फेर दें कि आर्यावर्त में शस्त्र ग्रहण करने में जो समर्थ है — सैनिक है और जितनी सम्पत्ति है — युद्ध-विभाग की है — जाओ!

(सैनिक का प्रस्थान)

दूसरा सैनिक — शिविर आज कहाँ रहेगा देव?

चन्द्रगुप्त — अश्व की पीठ पर सैनिक! कुछ खिला दो और अश्व बदलो। एक क्षण विश्राम नहीं। हाँ ठहरो, सब सेना-निवेशों में आज्ञापत्र भेज दिये गये?

दूसरा सैनिक — हाँ देव!

चन्द्रगुप्त — तो अब मैं बिजली से भी शीघ्र पहुँचना चाहता हूँ। चलो, शीघ्र प्रस्तुत हो! (सैनिकों का प्रस्थान। आकाश की ओर देखकर) अदृष्ट! खेल न करना! चन्द्रगुप्त मरण से अधिक भयानक का आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है! विजय — मेरे चिर सहचर! (हँसते हुए प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

नवम दृश्य

(ग्रीक शिविर)

कार्नेलिया — एलिस! यहाँ आने पर मन जैसे उदास हो गया है। इस सन्ध्या के दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सूचना दी है! सरला सन्ध्या पक्षियों के नाद से शान्ति को बुलाने लगी है। देखते-देखते एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदित होने लगे। जैसे प्रकृति, अपनी सृष्टि की रक्षा, हीरों की कील से जड़ी हुई काली ढाल कर रही है और पवन किसी मधुर कथा का भार लेकर मचलता हुआ जा रहा है। यह कहाँ जायगा एलिस!

एलिस — अपने प्रिय के पास!

कार्नेलिया — दुर! तुझे तो प्रेम-ही-प्रेम सूझता है।

(दासी का प्रवेश)

दासी — राजकुमारी! एक स्त्री बन्दी बनकर आयी है।

कार्नेलिया — (आश्चर्य से) तो उसे पिताजी ने मेरे पास भेजा होगा, उसे शीघ्र ले आओ! (दासी का प्रस्थान। सुवासिनी सहित पुनः प्रवेश) तुम्हारा नाम क्या है?

सुवासिनी — मेरा नाम सुवासिनी है। मैं किसी को खोजने जा रही थी, सहसा बन्दी कर ली गयी। वह भी कदाचित् आपके यहाँ बन्दी हो!

कार्नेलिया — उसका नाम?

सुवासिनी — राक्षस!

कार्नेलिया — ओहो, तुमने ब्याह कर लिया है क्या? तब तो तुम सचमुच अभागिनी हो।

सुवासिनी — (चौंककर) ऐसा क्यों? अभी तो ब्याह होनेवाला है, क्या आप उसके सम्बन्ध में कुछ जानती है।

कार्नेलिया — बैठो, बताओ, तुम बन्दी बनकर रहना चाहती हो या मेरी सखी? झटपट बोलो!

सुवासिनी — बन्दी बनकर तो आई हूँ, यदि सखी हो जाऊँ तो अहोभाग्य!

कार्नेलिया — प्रतिज्ञा करनी होगी कि मेरे अनुमति के बिना तुम ब्याह न करोगी।

सुवासिनी — स्वीकार है।

कार्नेलिया — अच्छा, अपनी परीक्षा दो, बताओ तुम विवाहिता स्त्रियों को क्या समझती हो?

सुवासिनी — धनियों के प्रमोद का कटा-छटा हुआ शोभा-वृक्ष कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गयी! माली के मन से सँवरे हुए गोल-मटोल खड़े रहो!

कार्नेलिया — वाह, ठीक कहा। यही तो मैं सोचती थी। क्यों एलिस! अच्छा, यौवन और प्रेम को क्या समझती हो?

सुवासिनी — अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया से छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती है। सौन्दर्य का कोकिल — कौन? फिर उसी से प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती है।

कार्नेलिया — (उसे गले लगाकर) आह सखी! तुम तो कवि हो, तुम प्रेम करना चाहती हो और जानती हो उसका रहस्य। तुमसे हमारी पटेगी! एलिस! जा पिता से कह दे कि मैंने उस स्त्री को अपनी सखी बना लिया।

(एलिस का प्रस्थान)

सुवासिनी — राजकुमारी! प्रेम में स्मृति का ही सुख है। एक टीस उठती है, वही तो प्रेम का प्राण है। आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक कुमारी के हृदय में वह निवास करती है। परन्तु उस सब प्रत्यक्ष नहीं कर सकती, सबको उसका मार्मिक अनुभव नहीं होता।

कार्नेलिया — तुम क्या कहती हो?

सुवासिनी — वह स्त्री-जीवन का सत्य है। जो कहती है कि मैं नहीं जानती — वह दूसरे को धोखा देती है, अपने को भी प्रवंचित करती है! धधकते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रखकर उसी कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है और राजकुमारी! काम-संगीत की वही तान सौन्दर्य की रंगीन लहर बनकर, युवतियों में मुख पर लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।

कार्नेलिया — सखी! मदिरा की प्याली में तू स्वप्न-सी लहरों को मत आन्दोलित कर। स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्या है — तो संसार ज्वालामुखी है।

(सिल्यूकस का प्रवेश)

सिल्यूकस — तो बेटी, तुमने इस अपने पास रख ही लिया! मन बहलेगा, अच्छा तो है। मैं भी इसी समय जा रहा हूँ, कल भी आक्रमण होगा। देखो, सावधान रहना!

कार्नेलिया — किस पर आक्रमण होगा? पिताजी!

सिल्यूकस — चन्द्रगुप्त की सेना पर। वितस्ता के इस पार सेना आ पहुँची है, अब युद्ध में विलम्ब नहीं।

कार्नेलिया — पिताजी, उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी? वही तो भारत का सम्राट हुआ न?

सिल्यूकस — हाँ, बेटी, वही चन्द्रगुप्त!

कार्नेलिया — पिताजी, आपने ही मृत्यु-मुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी?

सिल्यूकस — हाँ, वही तो!

कार्नेलिया — और उसी ने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी — फिलिप्स का वह अशिष्ट आचरण पिताजी!

सिल्यूकस — तभी तो बेटी, मैंने साइबर्टियस को दूत बनाकर समझाने के लिए भेजा था। किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूँ — तो भी क्षत्रिय हूँ, रणदान जो भी माँगेगा, उसे दूँगा। युद्ध होना अनिवार्य है।

कार्नेलिया — तब मैं कुछ नहीं कहती।

सिल्यूकस — (प्यार से) तू रूठ गयी बेटी! भला अपनी कन्या के सम्मान की रक्षा करनेवाले का मैं वध करूँगा?

सुवासिनी — फिलिप्स को द्वन्द्व-युद्ध में सम्राट चन्द्रगुप्त ने मार डाला। सुना था, इन लोगों को कोई व्यक्तिगत विरोध...

सिल्यूकस — तुम चुप रहो! – (कार्नेलिया से) बेटी, मैं चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना दूँगा, बदला चुक जायगा। मैं हत्यारा नहीं — विजेता सिल्यूकस हूँ। (प्रस्थान)

कार्नेलिया — (दीर्घ निःश्वास लेकर) रात अधिक हो गयी, चलो सो रहें! सुवासिनी, तुम कुछ गाना जानती हो?

सुवासिनी — जानती थी भूल गयी हूँ। कोई वाद्य-यंत्र तो आप न बजाती होंगी? – (आकाश की ओर देखकर) रजनी कितने रहस्यों की रानी हो, राजकुमारी!

कार्नेलिया — रजनी! मेरी स्वप्न-सहचरी!

(सुवासिनी गाती है)

सखे! यह प्रेममयी रजनी।
आँखों में स्वप्न बनी सखे! यह प्रेममयी रजनी।
कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे,
ठिठका-सा चन्द्र खड़ा
माधव सुमनों में गूँथ रहा,
तारों की किरन-कनी। सखे! वह प्रेममयी रजनी।
नयनों में मंदिर विलास लिये,
उज्ज्वल आलोक खिला।

हँसती-सी सुरभि सुधार रही,
अलकों की मृदुल अनी। सखे! वह प्रेममयी रजनी।
मधु-मन्दिर-सा यह विश्व बना,
मीठी झनकार उठी!
केवल तुमको थी देख रही —
स्मृतियों की भीड़ घनी। सखे! वह प्रेममयी रजनी।

(मन्द होते प्रकाश में क्षीण संगीत। अन्धकार में दृश्यान्तर)

दशम दृश्य

(युद्ध-क्षेत्र के समीप चाणक्य और सिंहरण)

चाणक्य — तो युद्ध आरम्भ हो गया?

सिंहरण — हाँ आर्य! प्रचण्ड विक्रम से सम्राट ने आक्रमण किया है। यवन-सेना थर्रा उठी है। आज के युद्ध में प्राणों को तुच्छ गिनकर वे भीम-पराक्रम का परिचय दे रहे है। गुरुदेव! यदि कोई दुर्घटना हुई तो! आज्ञा दीजिये, अब मैं अपने को नहीं रोक

सकता। तक्षशिला और मालवों की चुनी हुई सेना प्रस्तुत है, किस समय काम आवेगी?

चाणक्य — जब चन्द्रगुप्त की नासीर सेना का बल क्षीण होने लगे और सिन्धु के इस पार की यवनों की समस्त सेना युद्ध में सम्मिलित हो जाय, उसी समय आंभीक आक्रमण करें। और तुम — चन्द्रगुप्त का स्थान ग्रहण करो। दुर्ग की सेना सेतु की रक्षा करेगी, साथ ही चन्द्रगुप्त को सिन्धु के उस पार जाना होगा — यवन-स्कंधावार पर आक्रमण करने, समझे?

(सिंहरण का प्रस्थान। चर का प्रवेश)

चर — क्या आज्ञा है?

चाणक्य — जब चन्द्रगुप्त की सेना सिन्धु के उस पार पहुँच जाय तब तुम्हें ग्रीकों के प्रधान शिविर की ओर उसे आक्रमण को प्रेरित करना होगा। चन्द्रगुप्त के पराक्रम की अग्नि में घी डालने का काम तुम्हारा है।

चर — जैसी आज्ञा! (प्रस्थान। दूसरे चर का प्रवेश)

चर — देव, राक्षस प्रधान शिविर में है।

चाणक्य — जाओ, ठीक है। सुवासिनी से मिलते रहो।

(दोनो का प्रस्थान)

(एक ओर से सिल्यूकस, दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

सिल्यूकस — चन्द्रगुप्त, तुम्हें राजपद की बधाई देता हूँ!

चन्द्रगुप्त — स्वागत — सिल्यूकस! अतिथि की-सी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते, परन्तु क्षात्र-धर्म बड़ा कठोर है। आर्य कृतघ्न नहीं होते, प्रमाण यही है कि मैं अनुरोध करता हूँ — यवन-सेना बिना युद्ध के लौट जाय।

सिल्यूकस — वाह! तुम वीर हो, परन्तु मुझे तो भारत-विजय करना ही होगा। फिर चाहे तुम्हीं को क्षत्रप बना दूँ।

चन्द्रगुप्त — यही तो असम्भव है — तो फिर युद्ध हो!

(रण-वाद्य। युद्ध — लड़ते हुए उन लोगों का प्रस्थान)

(आंभीक का ससैन्य प्रवेश)

आंभीक — मगध-सेना प्रत्यावर्त्तन करती है। ओह, कैसा भीषण युद्ध है। ठहरें? अरे, देखो कैसा परिवर्तन! – यवन-सेना हट रही है, लो — वह भगी।

चर — (सत्वर प्रवेश करते) आक्रमण कीजिये — जिसमें सिन्धु तक यह सेना लौट न सके। आर्य चाणक्य ने कहा है, युद्ध अवरोधात्मक होना चाहिये।

(चर का प्रस्थान। रण-वाद्य बजते है। लौटती हुई यवन-सेना का दूसरी ओर से प्रवेश)

सिल्यूकस — कौन? प्रवंचक आंभीक! कायर!

आंभीक — हाँ सिल्यूकस — आंभीक सदा प्रवंचक रहा, परन्तु यह प्रवंचना कुछ महत्त्व रखती है — सावधान!

(युद्ध — सिल्यूकस को घायल कर आंभीक की मृत्यु। यवन सेना का प्रस्थान। एक ओर से चन्द्रगुप्त, दूसरी ओर से सिंहरण का प्रवेश)

सब — सम्राट चन्द्रगुप्त की जय!

चन्द्रगुप्त — भाई सिंहरण, बड़े अवसर पर आए!

सिंहरण — हाँ सम्राट! और समय चाहे मालव न मिलें, पर प्राण देने का महोत्सव-पर्व वे नहीं छोड़ सकते। आर्य चाणक्य ने कहा

है कि मालव और तक्षशिला की सेना प्रस्तुत मिलेगी। आप ग्रीकों के प्रधान शिविर का अवरोध कीजिये।

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव ने यहाँ भी मेरा ध्यान नहीं छोड़ा। मैं उनका अपराधी हूँ सिंहरण!

सिंहरण — मैं यहाँ देख लूँगा, आप शीघ्र जाइये — समय नहीं है! मैं भी जाता हूँ।

सेना — महाबलाधिकृत सिंहरण की जय!

(एक ओर से चन्द्रगुप्त का, दूसरी ओर सिंहरण आदि का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

ग्यारहवाँ दृश्य

(यवन शिविर का एक भाग। चिन्तित भाव से राक्षस का प्रवेश)

राक्षस — क्या होगा? आग लग गयी है, बुझ न सकेगी? तो मैं कहाँ रहूँगा? क्या हम सब ओर से गये?

सुवासिनी — (प्रवेश करके) सब ओर से गए राक्षस! समय रहते तुम सचेत न हुए!

राक्षस — तुम कैसे सुवासिनी?

सुवासिनी — तुम्हें खोजते हुए बन्दी बना ली गयी। अब उपाय क्या है? चलोगे?

राक्षस — कहाँ सुवासिनी? इधर खाई, उधर पर्वत! कहाँ चलूँ?

सुवासिनी — मैं इस युद्ध-विप्लव से घबरा रही हूँ। वह देखो रण-वाद्य बज रहे है! यह स्थान भी सुरक्षित नहीं — मुझे बचाओ राक्षस! (भय का अभिनय करती है)

राक्षस — (उसे आश्वासन देते हुए) मेरा कर्तव्य मुझे पुकार रहा है। प्रिये, मैं रणक्षेत्र से भाग नहीं सकता, चन्द्रगुप्त के हाथों प्राण देने में ही कल्याण है! किन्तु तुमको... (इधर-उधर देखता है। रण-कोलाहल बढ़ता है)

सुवासिनी — बचाओ!

राक्षस — (निःश्वास लेकर) अदृष्ट! दैव प्रतिकूल है — चलो सुवासिनी!

(दोनों का प्रस्थान। एकाकिनी कार्नेलिया का प्रवेश। रण-शब्द)

कार्नेलिया — यह क्या! पराजय न हुई होती तो शिविर पर आक्रमण कैसे होता — (विचार करके) चिन्ता नहीं, ग्रीक बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्म-सम्मान — ग्रीक आत्म-सम्मान जिये! (छुरी निकालती है) – तो अन्तिम समय एक बार नाम लेने में कोई अपराध है? चन्द्रगुप्त!

(विजयी चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — यह क्या राजकुमारी! (छुरी उसके हाथ से छीन लेता है)

कार्नेलिया — निर्दयी हो चन्द्रगुप्त! मेरे बूढ़े पिता की हत्या कर चुके होंगे! सम्राट हो जाने पर आँखें रक्त देखने की प्यासी हो जाती है न!

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी! तुम्हारे पिता आ रहे है!

(सैनिकों से घिरे हुए सिल्यूकस का प्रवेश)

कार्नेलिया — (हाथों से मुँह छिपाकर) आह! विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त के हाथों से पराजित होना पड़ा।

सिल्यूकस — हाँ बेटी!

चन्द्रगुप्त — यवन सम्राट! आर्य कृतघ्न नहीं होते। आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना मेरा कर्तव्य था। सिन्धु के इस पार अपने सेना-निवेश में आप है, मेरे बन्दी नहीं! मैं जाता हूँ!

सिल्यूकस — इतनी महत्ता!

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी! पिताजी को विश्राम की आवश्यकता है। फिर हम लोग मित्रों के समान मिल सकते है।

(चन्द्रगुप्त का सैनिकों के साथ प्रस्थान। कार्नेलिया उसे देखती रहती है)

(दृश्यान्तर)

बारहवाँ दृश्य

(पथ में साइबर्टियस और मेगस्थनीज)

साइबर्टियस — उसने तो हम लोगों को मुक्त कर दिया था फिर अवरोध क्यों?

मेगस्थनीज — समस्त ग्रीक शिविर बन्दी है! यह उसके मन्त्री चाणक्य की चाल है। मालव और तक्षशिला की सेना हिरात के पथ में खड़ी है, लौटना असम्भव है।

साइबर्टियस — क्या चाणक्य! वह तो चन्द्रगुप्त से क्रुद्ध होकर कही चला गया था न — राक्षस ने तो यही कहा था, क्या वह झूठा था?

मेगस्थनीज — सब षड्यन्त्र से मिले थे। शिविर को अरक्षित अवस्था में छोड़कर कहे बिना सुवासिनी को लेकर खिसक गया। अभी भी न समझे! इधर चाणक्य ने आज मुझसे यह भी कहा है कि मुझे औंटिगोनस के आक्रमण की भी सूचना मिली है।

(सिल्यूकस का प्रवेश)

सिल्यूकस — क्या? औंटिगोनस!

मेगस्थनीज — हाँ सम्राट, इस मर्म से अवगत होकर भारतीय कुछ नियमों पर ही मैत्री किया चाहते है।

सिल्यूकस — तो ग्रीक इतने कायर है? युद्ध होगा साइबर्टियस! हम सबको मरना होगा।

मेगस्थनीज —(पत्र देकर) इसे पढ़ लीजिये, सीरिया पर ऑंटिगोनस की चढ़ाई समीप है। आपको उस पूर्व-संचित और सुरक्षित साम्राज्य को न गँवा देना चाहिये।

सिल्यूकस — (पत्र पढ़कर विषाद से) – तो वे चाहते क्या है?

मेगस्थनीज — सम्राट! सन्धि करने के लिए तो चन्द्रगुप्त प्रस्तुत है, परन्तु नियम बड़े कड़े हैं। सिन्धु के पश्चिम के प्रदेश — आर्यावर्त की नैसर्गिक सीमा — निषध पर्वत तक वे लोग चाहते है। और भी...

सिल्यूकस — चुप क्यों हो गये? कहो — कहो, चाहे वे शब्द कितने ही कटु हों, मैं सुनना चाहता हू।

मेगस्थनीज — चाणक्य ने एक और भी अडंगा लगया है। उसने कहा है, सिकन्दर के साम्राज्य में जो भावी विप्लव हैं, वह मुझे भली-भाँति अवगत है। पश्चिम का भविष्य रक्त-रंजित है, इसलिए यदि पूर्व में स्थायी शान्ति चाहते हों तो ग्रीक-सम्राट चन्द्रगुप्त को अपना बन्धु बना लें।

सिल्यूकस — सो कैसे?

मेगस्थनीज — राजकुमारी कार्नेलिया का सम्राट चन्द्रगुप्त से परिणय करके।

सिल्यूकस — अधम — ग्रीक! तुम इतने पतित हो!

मेगस्थनीज — क्षमा हो सम्राट! वह ब्राह्मण करता है कि आर्यावर्त की साम्राज्ञी भी तो कार्नेलिया ही होगी।

साइबर्टियस — परन्तु राजकुमारी की सम्मति चाहिये।

सिल्यूकस — असम्भव! घोर अपमानजनक!

मेगस्थनीज — मैं क्षमा किया जाऊँ तो — सम्राट! राजकुमारी की चन्द्रगुप्त से पूर्व परिचय भी है। कौन कह सकता है कि प्रणय अपनी अदृश्य सुनहली रश्मियों से एक-दूसरे को न खींच चुका हो! सम्राट सिकन्दर के अभियान का स्मरण कीजिये — मैं उस घटना को भूल नहीं गया हूँ।

सिल्यूकस — मेगस्थनीज — मैं यह जानता हूँ। कार्नेलिया ने इस युद्ध में जितनी बाधायें उपस्थित की, वे सब — साक्षी है कि उसके मन में कोई भाव है, पूर्व-स्मृति है, फिर भी — फिर भी न जाने क्यों! वह देखो, आ रही है! तुम लोग हट तो जाओ!

(साइबर्टियस और मेगस्थनीज का प्रस्थान और कार्नेलिया का प्रवेश)

कार्नेलिया — पिताजी!

सिल्यूकस — बेटी कार्नी!

कार्नेलिया — आप चिन्तित क्यों है?

सिल्यूकस — चन्द्रगुप्त को दण्ड कैसे दूँ? इसी की चिन्ता है।

कार्नेलिया — क्यों पिताजी, चन्द्रगुप्त ने क्या अपराध किया है?

सिल्यूकस — है! अभी बताना होगा कार्नेलिया! भयानक युद्ध होगा, इसमें चाहे दोनों का सर्वनाश हो जाय!

कार्नेलिया — युद्ध तो हो चुका! अब क्या मेरी प्रार्थना आप सुनेंगे पिताजी! विश्राम लीजिये! चन्द्रगुप्त का तो कोई अपराध नहीं, क्षमा कीजिये पिताजी (घुटने टेकती है)

सिल्यूकस — (बनावट क्रोध से) देखता हूँ पिता को पराजित करनेवाले पर तुम्हारी असीम अनुकंपा है।

कार्नेलिया — (रोती हुई) मैं स्वयं पराजित हूँ। मैंने अपराध किया है पिताजी! चलिये; इस भारत की सीमा से दूर चले चलिये, नहीं तो पागल हो जाऊँगी।

सिल्यूकस — (उसे गले लगाकर) तब मैं जान गया कार्नी — सुखी हो बेटी! तुझे भारत की सीमा से दूर न जाना होगा — तू भारत की साम्राज्ञी होगी।

कार्नेलिया — पिताजी!

(सलज्ज कार्नेलिया का सिल्यूकस के साथ प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तेरहवाँ दृश्य

(दाण्ड्यायन का तपोवन। ध्यानस्थ चाणक्य। भयभीत भाव से राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश)

राक्षस — चारों ओर आर्य-सेना! कहीं से निकलने का उपाय नहीं। क्या किया जाय सुवासिनी?

सुवासिनी — यह तपोवन है — यहीं हम लोग छिप रहेंगे।

राक्षस — मैं देशद्रोही — ब्राह्मणद्रोही — बौद्ध! हृदय काँप रहा है — क्या होगा?

सुवासिनी — आर्यों के तपोवन — इन राग-द्वेषों से परे है।

राक्षस — तो चलो वहीं (सामने देखकर) सुवासिनी! वह देखो 0 वह कौन?

सुवासिनी — (देखकर) आर्य चाणक्य!

राक्षस — आर्य-साम्राज्य का महामन्त्री! इस तपोवन में!

सुवासिनी — यही तो ब्राह्मण की महत्ता है राक्षस! यों तो मूर्खों की निवृत्ति भी प्रवृत्तिमूलक होती है। देखो, यह सूर्य-रश्मियों का-सी रस-ग्रहण कितना, निष्काम कितना निवृत्तिपूर्ण है!

राक्षस — सचमुच मेरा भ्रम था सुवासिनी। मेरी इच्छा होती है कि चलकर इस महात्मा के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लूँ और क्षमा भी माँग लूँ!

सुवासिनी — बड़ी अच्छी बात सोची तुमने — देखो!

(दोनों आड़ में छिप जाते हैं)

चाणक्य — (आँख खोलता हुआ) कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता, तुम्हारा आलोक जगत का मंगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आजतक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आयी। आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य-सागर निस्तरंग और ज्ञानज्योति निर्मल है। तो क्या मेरा कर्म-कुलालचक्र अपना निर्मित भाण्ड उतारकर धर चुका? ठीक तो, प्रभात पवन के साथ सबकी सुख-कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव! आज मैं धन्य हूँ!

(दूसरी ओर एक झाड़ी में मौर्य)

मौर्य — ढोंग है। रक्त और प्रतिशोध, क्रूरता और मृत्यु का खेल देखती ही जीवन बीता, अब क्या मैं इस सरल पथ पर चल सकूँगा? यह ब्राह्मण आँखें मूँदने-खोलने का अभिनय भले ही करे, पर मैं! असम्भव है, अरे जैसे मेरा रक्त खौलने लगा! हृदय में भयानक चेतना, अवज्ञा का एक अट्टहास, प्रतिहिंसा जैसे नाचने लगी! यह एक साधारण मनुष्य, दुर्बल कंकाल, विश्व के समूचे शस्त्रबल को तिरस्कृत किये बैठा है! रख दूँ गले पर खड्ग, फिर देखूँ तो — यह प्राणों की भिक्षा माँगता है या नहीं! सम्राट चन्द्रगुप्त के पिता की अवज्ञा! नहीं-नहीं ब्रह्महत्या होगी — मेरा प्रतिशोध और चन्द्रगुप्त का निष्कंटक राज्य!

(छुरी निकालकर चाणक्य को मारना चाहता है। सुवासिनी दौड़कर उसका हाथ पकड़ लेती है। दूसरी ओर से अलका, सिंहरण और अपनी माता के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — (आश्चर्य और क्रोध से) यह क्या पिताजी! सुवासिनी! बोलो, बात क्या है?

सुवासिनी — मैंने देखा कि सेनापति, आर्य चाणक्य को मारना ही चाहते है, इसलिए मैंने इन्हें रोका!

चन्द्रगुप्त — गुरुदेव प्रणाम! चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है। बतलायें, पूरा विवरण सुनना चाहता हूँ और पिताजी, आप शस्त्र रख दीजिये — सिंहरण! (सिंहरण आगे बढ़कर शस्त्र लेता है)

चाणक्य — (हँसकर) सम्राट! न्याय करना तो राजा का कर्तव्य है, परन्तु यहाँ पिता और गुरु का सम्बन्ध है, कर सकोगे?

चन्द्रगुप्त — पिताजी!

मौर्य — हाँ चन्द्रगुप्त, मैं इस उद्धत ब्राह्मण की — सब की अवज्ञा करनेवाले इस महत्वाकांक्षी का वध करना चाहता था — कर न सका — इसका दुःख है। इस कुचक्रपूर्ण रहस्य का अन्त न कर सका।

चन्द्रगुप्त — पिताजी, राज-व्यवस्था आप जानते होंगे — वध के लिए प्राण दण्ड होता है और आपने गुरुदेव का — इस आर्य-साम्राज्य के निर्माणकर्ता ब्राह्मण का वध करने के प्रयास में कितना गुरुतर अपराध किया है!

चाणक्य — किन्तु सम्राट वह वध हुआ नहीं, ब्राह्मण जीवित है। अव यह उसकी इच्छा पर है कि वह व्यवहार के लिए न्यायाधिकरण से प्रार्थना करे या नहीं।

मौर्य-पत्नी — आर्य चाणक्य!

चाणक्य — ठहरो! (चन्द्रगुप्त से) प्रसन्न हूँ वत्स! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैंने आज तक जो किया, वह नहीं करना चाहिए था, उसी का महाशक्ति-केन्द्र ने प्रायश्चित कराना चाहा। मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है — परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है!

राक्षस — (प्रवेश करके) आर्य चाणक्य! आप महान है, मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। न्यायाधिकरण से अपने अपराध — विद्रोह का दण्ड पाकर सुखी रह सकूँगा। सम्राट आपकी जय हो!

चाणक्य — सम्राट, मुझे आज का अधिकार मिलेगा?

चन्द्रगुप्त — आज वही होगा — गुरुदेव की जो आज्ञा होगी।

चाणक्य — मेरा किसी से द्वेष नहीं केवल राक्षस के सम्बन्ध में अपने पर सन्देह कर सकता था, आज उसका भी अन्त हो गया। सम्राट — सिल्यूकस अब आते ही होंगे — उसके पहले ही ही हमें अब अपना समस्त विवाद मिटा लेना चाहिये।

चन्द्रगुप्त — जैसी आज्ञा।

चाणक्य — आर्य शकटार के भावी जमाता, अमात्य राक्षस के लिए मैं अपना मन्त्रि-पद छोड़ता हूँ। राक्षस! सुवासिनी को सुखी रखना।

(सुवासिनी और राक्षस चाणक्य को प्रणाम करते है)

मौर्य — और मेरा दण्ड? आर्य चाणक्य, मैं क्षमा ग्रहण न करूँ तब आत्महत्या करूँगा!

चाणक्य — मौर्य! तुम्हारा पुत्र आज आर्यावर्त का सम्राट है — अब और कौन-सा सुख तुम देखना चाहते हो? काषाय ग्रहण कर लो, इसमें अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा। वस्त चन्द्रगुप्त! शस्त्र दो अमात्य राक्षस को?

(चन्द्रगुप्त शस्त्र देता है, राक्षस सविनय ग्रहण करता है)

सब — सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की जय!

प्रतिहार — (प्रवेश करके) सम्राट सिल्यूकस — शिविर से निकल चुके है।

चाणक्य — उनकी अभ्यर्थना राजमन्दिर में होनी चाहिए, तपोवन में नहीं।

चन्द्रगुप्त — आर्य, आप उस समय उपस्थित नहीं रहेंगे।

चाणक्य — देखा जायगा।

(सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

चौदहवाँ दृश्य

(राज्यसभा — एक ओर से सपरिवार चन्द्रगुप्त और दूसरी ओर से साइबर्टियस, मेगस्थनीज, एलिस और कार्नेलिया के साथ सिल्यूकस का प्रवेश। सब बैठते है)

चन्द्रगुप्त — विजेता सिल्यूकस का मैं अभिनन्दन करता हूँ — स्वागत!

सिल्यूकस — सम्राट चन्द्रगुप्त! आज मैं विजेता नहीं, विजित से अधिक भी नहीं — मैं सन्धि और सहायता के लिए आया हूँ।

चन्द्रगुप्त — कुछ चिन्ता नहीं सम्राट, हम लोग शस्त्र-विनियम कर चुके, अब हृदय का विनियम ...

सिल्यूकस — हाँ, हाँ कहिये।

चन्द्रगुप्त — राजकुमारी स्वागत! मैं उस कृपा को नहीं भूल गया जो ग्रीक शिविर में रहने के समय मुझे आपसे प्राप्त हुई थी।

सिल्यूकस — हाँ कार्नी — चन्द्रगुप्त उसके लिए कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं।

कार्नेलिया — मैं आपको भारतवर्ष का सम्राट देखकर कितनी प्रसन्न हूँ।

चन्द्रगुप्त — अनुगृहीत हुआ — (सिल्यूकस से) औटिगोनस से युद्ध होगा! सम्राट सिल्यूकस! गज-सेना आपकी सहायता के लिए जायगी। हिरात में आपके जो प्रतिनिधि रहेंगे, उनसे समाचार मिलने पर और और भी सहायता के लिए आर्यावर्त प्रस्तुत है।

सिल्यूकस — इसके लिए धन्यवाद देता हूँ। सम्राट चन्द्रगुप्त आज से हम लोग दृढ मैत्री के बन्धन में बँधे। प्रत्येक का दुःख-सुख दोनों का होगा, किन्तु एक अभिलाषा मन में रह जायगी।

चन्द्रगुप्त — वह क्या?

सिल्यूकस — उस बुद्धिसागर, आर्य-साम्राज्य के महामन्त्री चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी।

चन्द्रगुप्त — उन्होंने विरक्त होकर, शान्तिमय जीवन बिताने का निश्चय किया है।

(सहसा चाणक्य का प्रवेश। सब अभ्युत्थान देकर प्रणाम करते है।

सिल्यूकस — आर्य चाणक्य! मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।

चाणक्य — सुखी रहो सिल्यूकस, हम भारतीय ब्राह्मणों के पास सब की कल्याण-कामना के अतिरिक्त और क्या है — जिससे अभ्यर्थना करूँ? मैं आज का दृश्य देखकर चिर-विश्राम के लिए संसार से अलग होना चाहता हूँ।

सिल्यूकस — और मैं सन्धि करके स्वदेश लौटना चाहता हूँ। आपके आशीर्वाद की बड़ी अभिलाषा था। सन्धि-पत्र...

चाणक्य — किन्तु सन्धि-पत्र स्वार्थों से प्रबल नहीं होते, हस्ताक्षर तलवारों को रोकने में असमर्थ प्रमाणित होंगे। तुम दोनों ही सम्राट हो, शस्त्र-व्यवसायी हो, फिर भी संघर्ष हो जाना कोई आश्चर्य की बात न होगी। अतएव दो बालुकापूर्ण कगारों के बीच में एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक है।

सिल्यूकस —सो कैसे?

चाणक्य — ग्रीस की गौरव-लक्ष्मी कार्नेलिया को मैं भारत की कल्याणी बनाना चाहता हूँ! – यही ब्राह्मण की प्रार्थना है।

सिल्यूकस — मैं तो इससे प्रसन्न ही हूँगा, यदि...

चाणक्य — यदि का काम नहीं, मैं जानता हूँ, इसमें दोनों प्रसन्न और सुखी होंगे!

सिल्यूकस — (कार्नेलिया की ओर देखता है, वह सलज्ज सिर झुका लेती है) – तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त।

(दोनों ही सिल्यूकस के पास आते है। सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जय-ध्वनि)

चाणक्य — (मौर्य का हाथ पकड़कर) चलो, अब हम लोग चलें!

(पटाक्षेप)

जनमेजय का नाग यज्ञ

प्राक्कथन

इस नाटक की कथा का सम्बन्ध एक बहुत प्राचीन स्मरणीय घटना से है। भारतवर्ष में यह एक प्राचीन परम्परा थी कि किसी क्षत्रिय राजा के द्वारा कोई ब्रह्महत्या या भयानक जनक्षय होने पर उसे अश्वमेध यज्ञ करके पवित्र होना पड़ता था। रावण को मारने पर श्रीरामचन्द्र ने तथा और भी कई बड़े-बड़े सम्राटों ने इस यज्ञ का अनुष्ठान करके पुण्य लाभ किया था। कलियुग के प्रारम्भ में पाण्डवों के बाद परीक्षित के पुत्र जनमेजय एक स्मरणीय शासक हो गये है। भारत के शान्ति पर्व, अध्याय 140 में लिखा हुआ मिलता है कि सम्राट जनमेजय से अकस्मात् एक ब्रह्महत्या हो गई, जिस पर उन्हें प्रायश्चित-स्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। शतपथब्राह्मण (13-5-4-1) से पता चलता है कि इन्द्रोत देवाप शौनक उस अश्वमेध में आचार्य थे और जनमेजय का अश्वमेध-यज्ञ इन्हीं न कराया था। महाभारत मे भी इन्हीं आचार्य का उल्लेख मिलता है। इस अश्वमेध-यज्ञ में कुछ ऐसे

विघ्न उपस्थित हुए, जिनके कारण जनमेजय को शौनक से कहना पड़ा —

> अद्य प्रभृति देवेन्द्रमजितेन्द्रियमस्थिरम्।
> क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यन्तीति शौनकः॥
> दौर्बल्य भवतामेतत् यदयंधर्षितः ऋतुः।
> विषयेमेन वस्तव्यं गच्छध्वं सहबान्धवैः॥

(हरिवंश, भविष्य पर्व. अ. 5)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के तीसरे प्रकरण में लिखा है —

> कोपाज्जन्मेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः

क्षत्रिय सम्राट् जनमेजय ने अपने राजदण्ड के बल से एक प्राचीन प्रथा बहुत दिनों के लिए बन्द कर दी। इसमें कश्यप पुरोहित का भी बहुत कुछ हाथ था। इसका प्रमाण मिलता है। आस्तीक पर्व के पचासवें अध्याय से इस घटना का एक सूत्र मिलता है कि काश्यप यदि चाहते, तो परीक्षित को तक्षक न मार सकता; और जनमेजय को एक लकड़हारे की साक्षी से इसका प्रमाण दिलाया गया था। ऐतेरेयब्राह्मण 7-26 में इसी घटना का इस प्रकार उल्लेख है कि जब पारीक्षित-जनमेजय ने यज्ञ करना चाहा, तब काश्यप पुरोहितों को छोड़ दिया। इस पर अतितागिरस काश्यप ने बड़ा आन्दोलन किया कि हम ही पुरोहित बनाए जायँ। सम्भवतः

इसी कारण तुर कावषेय ऋषि ने जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक कराया था। (देखिये ऐतरेयब्राह्मण 9-21)। इन प्रमाणों के देखने से यह विदित होता है कि अर्थलोलुप काश्यप ने इस यज्ञ में विघ्न डाला, और खाण्डव-दाह से निर्वासित नागों का विद्रोह आरम्भ हुआ, जिसमें काश्यप का भी छिपा हुआ हाथ होना असम्भव नहीं। कुल बातों को मिलाकर देखने से यही विदित होता है कि जनमेजय के विरुद्ध एक भारी षड्यन्त्र चल रहा था।

आदि पर्व के पौष्य पर्व (अंक 3) से विदित होता है कि जब जनमेजय पर कृत्या और विपत्ति आई, तब उन्होंने नाग-कन्या से उत्पन्न सोमश्रवा को बड़ी प्रार्थना से अपना पुरोहित बनाया और आसन्न नाग-विद्रोह तथा भीतरी पड्यन्त्रों से बचने के लिए उन्हें अत्यन्त प्रयत्नशील होना पड़ा। नागों ने ब्राह्मणों से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, और इसी कारण वे बलवान् होकर अपने गये हुए राज्य का पुनरुद्धार करना चाहते थे। नाग-जाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहले सरस्वती के तट पर रहती थी। (आदि पर्व, 140) भरत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें वहाँ से खाण्डव वन की ओर हटाया। खाण्डव में भी वे अर्जुन के कारण न रहने पाये। खाण्डव-दाह के समय नाग जाति के नेता तक्षक निकल भागे। महाभारत युद्ध के बाद उन्मत्त परीक्षित ने शृंगी-ऋषि, ब्राह्मण का अपमान किया, और तक्षक ने काश्यप आदि से

मिलकर आर्य-सम्राट परीक्षित की हत्या की। उन्हीं के पुत्र जनमेजय के राज्य-प्रारम्भ-काल में आर्य जाति के भक्त उत्तंक ने बाह्य और आभ्यन्तर कुचक्रों का दमन करने के लिए जनमेजय को उत्तेजित किया। आर्य युवकों के अत्यन्त उत्साह से अनेक आभ्यन्तर विरोध रहते हुए भी नवीन साम्राज्य की रक्षा की गयी। श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित नवीन महाभारत-साम्राज्य की पुनर्योजना जनमेजय के प्रचण्ड विक्रम और दृढ शासन से हुई थी। सदैव से लड़ने वाली इन दो जातियों में मेल-मिलाप हुआ, जिससे हजारों वर्षों तक आर्य साम्राज्य में भारतीय प्रजा फूलती-फलती रही। बस, इन्हीं घटनाओं के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है।

इन नाटक के पात्रों में कल्पित केवल चार-पाँच है। पुरुषों में माणवक और त्रिविक्रम तथा स्त्रियों में दामिनी और शीला आदि। जहाँ तक हो सका है, इसके आख्यान भाग में भारत काल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, और इन कल्पित चार पात्रों से मूल घटनाओं का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है। इनमें वास्तव में दो-एक का केवल नाम ही कल्पित है, जैसे वेद की पत्नी दामिनी। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत-इतिहास में बहुत कुछ अस्तित्व है।

कुकुरी सरमा भी जनमेजय की प्रधान शत्रु थी, जिसके पुत्र को जनमेजय के भाइयों ने पीटा था। महाभारत और पुराणों को

देखने से विदित होता है कि यादवों की कुकुर नाम की एक शाखा थी। सम्भवतः सरमा उन्हीं यादवियों में से थी जो दस्युओं द्वारा अर्जुन के सामने हरण की गयी थी। तात्पर्य यह कि इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओं की परम्परा ठीक करने में नाटकीय स्वतन्त्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है, परन्तु उतनी से अधिक नहीं, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती है।

पात्र

जनमेजय — इन्द्रप्रस्थ का सम्राट

तक्षक — नागों का राजा

वासुकि — नाग सरदार

काश्यप — पौरवों का पुरोहित

वेद — कुलपति

उत्तंक — वेद का शिष्य

आस्तीक — मनसा और जरत्कारु का पुत्र

सोमश्रवा — उग्रश्रवा का पुत्र और जनमेजय का नया पुरोहित

च्यवन — महर्षि एवम् कुलपति

वेदव्यास — कृष्ण द्वैपायन

त्रिविक्रम — वेद का दूसरा विद्यार्थी

माणवक — सरमा और वासुकि का पुत्र

जरत्कारु — ऋषि, मनसा का पति

तुर कावषेय — जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक करानेवाला पुरोहित

अश्वसेन — तक्षक का पुत्र

भद्रक — जनमेजय का शिकारी भृत्य

शौनक — एक प्रधान ऋषि और ब्राह्मणों का नेता

(दौवारिक, सैनिक, नाग, दास आदि)

वपुष्टमा — जनमेजय की रानी

मनसा — जरत्कारु की स्त्री, वासुकि की बहन

सरमा — कुकुर वंश की यादवी

मणिमाला — वेद की पत्नी

शीला — सोमश्रवा की पत्नी

(दासियाँ और परिचारिकायें आदि)

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(कानन में मनसा और सरमा)

सरमा — बहन मनसा, मैं तो आज तुम्हारी बात सुनकर चकित हो गयी।

मनसा — क्यों, क्या तुमने यह समझ रखा था कि नाग जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है? क्या इस विश्व के रंगमंच पर नागों ने कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया? क्या उनका अतीत भी उनके वर्तमान की भाँति अन्धकारपूर्ण था। सरमा, ऐसा न समझो। आर्यों के सदृश उनका भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।

सरमा — जब मैंने प्रभास के विप्लव के बाद अर्जुन के साथ आते हुए नागराज वासुकि को आत्म-समर्पण किया था, तब भी इस साहसी और वीर जाति पर मेरी श्रद्धा थी। श्रीकृष्ण की उस अपूर्व प्रतिमा में मेरी नस-नस में मनुष्य मात्र के प्रति एक

अविचल प्रीति और स्वतन्त्रता भर दी थी। शूद्र, गोप से लेकर ब्राह्मण तक की समता और प्राणी मात्र के प्रति समदर्शी होने की अमोघ वाणी उनके मुख से कई बार सुनी थी। वही मेरे उस आत्म-समर्पण का कारण हुई।

मनसा — क्या कहूँ, जिसकी तू इतनी प्रशंसा कर रही है, उसी ने इस जाति का अधःपात किया है। और नहीं तो क्या प्रबल नाग जाति वीर्य या शौर्य में आर्यों से कम थी? जब नागों ने आभीरों के साथ मिलकर यादवियों का हरण किया था, तब धनंजय की वीरता भी विचलित हो गई थी!

सरमा — (बिगड़ कर) बहन, वह प्रसंग न छेड़ो! वह आर्यों के लिए लज्जाजनक अवश्य है, किन्तु उनकी वीरता पर कलंक नहीं है। क्या मैं तुम्हारे भाई पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से नहीं चली आई? क्या और भी अनेक यादवियाँ अपने चरित्र-पतन की पराकाष्ठा दिखला कर उन आक्रमणकारियों के साथ नहीं चली गयी? उसमें कुछ नागों की वीरता न थी। जिनको रक्षा करनी थी, स्वयं वे ही जब लुटेरों को आत्म-समर्पण कर रही थी, तब अर्जुन की वीरता क्या करती?

मनसा — जब उनमें कोई बात ही न थी, तब फिर वे क्यों आयी!

सरमा — मैं व्यंग सुनने नहीं आई हूँ। श्रीकृष्ण ने पददलितों की जिस स्वतन्त्रता और उन्नति का उपदेश दिया था, वह आसुरी भावों

से भरकर उद्दाम वासना में परिणत हो गई। धर्म-संस्थापक ने जातीय पतन का यह भीषण आन्तरिक संग्राम भी अपनी आँखों देखा, किन्तु इस औद्धत्य को रुकते न देखकर उन्हें प्रकृति के चक्र में पिस जाने दिया। यदि वे चाहते तो यादवों का नाश न होता। किन्तु हाँ, उसका परिणाम अन्य जातियों के लिए भयानक होता। और, मनसा यह समझ रखना कि कुकुर वंश से — यादवों की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ, अकर्मण्यता की मूर्ति होकर — नहीं आयी है। इस वक्षस्थल से अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है।

मनसा — हाँ सरमा, मुझमें भी ओजपूर्ण नाग-रक्त है। इस मस्तिष्क में अभी तक राजेश्वरी होने की कल्पना खुमारी की तरह भरी हुई है। वह अतीत का इतिहास याद करो, जब सरस्वती का जल पीकर स्वस्थ और पुष्ट नाग जाति कुरुक्षेत्र की सुन्दर भूमि का स्वामित्व करती थी! जब भरत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें हटने को विवश किया, तब वे खाण्डव-वन में अपना उपनिवेश बनाकर रहने लगे थे। उस समय तुम्हारे कृष्ण ने साम्य और विश्वमैत्री का जो मन्त्र पढ़ा था, क्या उसे तुम सुनोगी? और जो नृशंसता आर्यों ने की थी, उसे आँखों से देखोगी? लो, देखो मेरा मन्त्रबल, प्रदोष की गाढ़ी नीलिमा में अपनी आँखें गड़ा दो। सावधान!

(कुछ बढ़ती हुई क्षितिज की ओर अपना दाहिना हाथ फैलाती है, और उसके तमिल पटल पर खाण्डव की सीमा प्रकट होती है, अर्जुन और श्रीकृष्ण आते है।)

अर्जुन — भयानक जन्तुओं से पूर्ण यह खाण्डव-वन देकर उन लोगों हमें अच्छा मूर्ख बनाया! क्या हम लोग भी जंगली हैं जो वृक्षों के पत्ते पहन कर इन भयानक जन्तुओं के साथ इसी में निवास करेंगे?! सखे कृष्ण! यह कपटपूर्ण व्यवहार असह्य है।

श्रीकृष्ण — अर्जुन! पृथ्वी पर कहीं-कहीं अप तक मनुष्यों और पशुओं में भेद नहीं है। मनुष्य इसीलिये है कि वे पशु को भी मनुष्य बनावे। तात्पर्य यह कि सारी सृष्टि एक प्रेम की धारा में बहे और अनन्त जीवन लाभ करे।

अर्जुन — किन्तु यह विषमता-पूर्ण विश्व क्या कभी एक-सा होगा? क्या जड़-चेतन, सुख-दुःख, दिन-रात, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्व एक होगे? क्या इनकी समता होगी? मनुष्य यदि चेष्टा भी करे तो क्या होगा?

श्रीकृष्ण — सखे! सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य है। फिर ऐसी निराशा क्यों? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है। उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का

अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोक का अदर्शन ही अन्धकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है? कदापि नहीं?

अर्जुन — पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जड़ता पाप आदि को ही सत्ता माने, और अन्धकार को ही निश्चल जाने, तो?

कृष्ण-- तो फिर जीव दुःख के भँवर में भी आनन्द की अभिलाषा क्यों करता है? रात्रि के अन्धकार में दीपक क्यों जलाता है? क्या यह वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नहीं है? वयस्य, जिन पदार्थ की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें जड़ कहते है। वे जब किसी विशेष मात्रा में मिलते है, तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है, जड़ता कहाँ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता है, और चेतन की सदैव स्फूर्ति रहती है, तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। गृह का रूप न रहेगा तो ईंटे रहेंगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह रूप परिवर्तित हुआ, तो मिट्टी हुई, राख हुई, परमाणु हुए। उसे चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक 'अद्वैत' है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य

का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी, सबको अपनी समता में ले आना होगा।

अर्जुन — तो फिर यह बताओ कि यहाँ क्या करना होगा। तुम तो सखे, न जाने कैसी बातें करते हो, जो समझ में ही नहीं आती, और समझने पर भी उनको व्यवहार में लाना बहुत दुरूह है। झाड़ियों में छिप कर दस्युता करनेवाली और गुंजान जंगलों में पशुओं के समान दौड़ कर छिप जाने वाली इस नाग जाति को हम किस रीति से अपनी प्रजा बनावे? ये न तो सामने आकर लड़ते है और न अधीनता ही स्वीकृत करते है। अब तुम्हीं बताओ, हम क्या करें?

श्रीकृष्ण — पुरुषार्थ करो, जड़ता हटाओ। इस वन्य प्रान्त में मानवता का विकास करो जिसमें आनन्द फैले। सृष्टि को सफल बनाओ।

अर्जुन — फिर वही पहेली! यह बताओ कि इस समय हम क्या करें! क्या इन पेड़ों पर बैठकर इन्हें सिंहासन समझ ले। क्या गीदड़ों और लोमड़ियों को अपना प्रजा और भयानक सिंहों को अपना शत्रु समझकर उनसे सन्धि-विग्रह करें, और सदा इन नागों के किए आक्रमणों से क्षुब्ध रहे?

श्रीकृष्ण — तब तो तुम्हारे जैसे सैकड़ों अर्जुन केवल इस खाण्डव का भी उद्धार न कर सकेंगे। अजी इसमें एक ओर से आग लगा

दो! अग्निदेव को वसा और मांस की आहुतियों से अजीर्ण हो गया। उन्हें प्रकृत आहार की आवश्यकता है। श्वापदसंकुल जंगलों को सुन्दर जनपदों में परिवर्तित कर देना उन्हीं का काम है।

अर्जुन — अरे, यह क्या कह रहे हो! अभी तो विश्व भर की एकता का प्रतिपादन कर रहे थे, और अभी यह अत्याचार! इतने प्राणियों की हिंसा, और इन जंगलियों का निर्वासन सिखाने लगे! क्या यही विवेक है?

श्रीकृष्ण — (हँसकर) बलिहारी इस बुद्धि की! अजी जो उन विपक्षी द्वन्द्वों के पोषक है, जो मिथ्या विश्वास के सहायक है, क्या उनको समझाकर, उनके साथ शिष्टाचार करके अपना प्रयत्न सफल कर सकते हो? यदि उन्हें समता में ले आना है, वे हमसे ईर्ष्या करके ही हमारे बराबर पहुँचेंगे। जो बहुत पिछड़े हुए है, उन्हें फटकारने से ही काम चलेगा। जो हमारे विकास के विरोधी है और अपने को जड़ ही मानते है, उन्हें रूप बदलना ही पड़ेगी। दूसरा परिवर्तन ही उन्हें हमारे पास ले आवेगा। हमारी दृष्टि साम्य की है। भ्रम ने जिन्हे हेय बना रक्खा है, जिन्हें पददलित कर रक्खा है, जो अपने को जड़ता का अवतार मानते है, जो धार्मिक होने के बदले दस्यु होने में ही अपना गौरव समझते है, उन्हें तो स्वयं हमारा रूप धारण करना होगा। यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक है।

इसमें कोई दोष नहीं। विश्व मात्र एक अखण्ड व्यापार है। उसमें किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है। परमात्मा के इस कार्यमय शरीर में किस अंग का बढ़ा हुआ और निरर्थक अंश लेकर कौन-सी कमी पूरी करनी चाहिए, यह सब लोग नहीं जानते। इसी से निजत्व और परकीयत्व के दुःख का अनुभव होता है। विश्व मात्र को एक रूप में देखने से यह सब सरल हो जाता है। तुम इसे धर्म और भगवान का कार्य समझकर करो, तुम 'मुक्त' हो। बस अर्जुन, इस विषम व्यापार को सम करो। दुर्वृत्त प्राणियों का हटाया जाना ही अच्छे विचारों की रक्षा है। आत्मरक्षा के प्रतारक संकुचित भावों के भस्म करो! लगा दे इसमें आग!

(अर्जुन खाण्डव-दाह करता है। बड़ा हल्ला मचता है। प्राणियों की बड़ी संख्या भस्म होती है। नाग लोग चिल्ला कर भागते है)

श्रीकृष्ण — सखे, सावधान! इस बुझाने का प्रयत्न करने वाले भी अपने आप को न बचा सकेंगे।

(दोनों धनुष सँभालते और बाण चलाते है। पूर्व-परिवर्तित दृश्य अदृश्य हो जाता है।)

मनसा — देखा दायवी! कैसी विलक्षणता है! यह बनावटी परोपकार, और ये विश्व के ठेकेदार! ओह, इन्हीं की तुम प्रशंसा करती हो, जिनके अत्याचार से निरीह नागों का निर्वासन हुआ, और दुर्गम हिमावृत चोटियों के मार्ग से कष्ट सहते हुए उन्हें गान्धार देश की सीमा में आना पड़ा! देखो, अपने आर्यों की यह समता! फिर यदि नागों ने आभीरों से मिल कर यादवियों का अपहरण किया, तो क्या बुरा किया? यदि नागराज तक्षक ने शृंगी ऋषि से मिलकर परीक्षित का संहार किया, तो क्या अनिष्ट किया? इस विश्व में बुराई भी अपना अस्तित्व चाहती है। मैंने नाग जाति के कल्याण के लिए अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया है। केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर मैंने अपने ऊपर यह अत्याचार किया है!

सरमा — और मैंने विश्व-मैत्री तथा साम्य को आदर्श बना कर नाग-परिणय का यह अपमान सहन किया है! मायाविनी, यह कैसा कुहक दिखाया! ओह! अभी तक सिर घूम रहा है!

मनसा — बिल्कुल इन्द्रजाल है यादवी! यह विद्या हम नागों की पैतृक सम्पत्ति है।

सरमा — किन्तु यह जानकर भी तुमने उलटी ही बात सोची! आश्चर्य है! मनसा तुम्हारा कलुषित हृदय कैसे शुद्ध होगा?

मनसा — आर्यों को इसका प्रतिफल देकर। उन्हें इस हृदय की प्रतिहिंसा भोगनी पड़ेगी। अब पाण्डवों की वह गरमा-गरमी नहीं रही। यह नागजाति फिर एक बार चेष्टा करेगी, परिणाम चाहे जो हो।

सरमा — अभागिनी नागिनी! श्रीकृष्ण के इस महत् उद्देश्य का उलटा अर्थ लगाती है। जो प्राकृतिक नियमों को सामने रखकर सब की शुभकामना रखता था, उसे अपवाद लगाती है! भला तेरा और तेरी जाति का उद्धार कैसे होगा? अपना सुधार न कर तू दूसरों के दोष ही देखेगी। जो वास्तव में तेरी ही परिस्थिति बदल कर तेरी उन्नति करने की चेष्टा करता है, उसे संकीर्णता से अपना शत्रु समझती है! हाँ, मैं कैसे भ्रम में थी! विषम को सम करना चाहती थी जो मेरी सामर्थ्य के बाहर था। स्नेह से मैं सर्प को अपनाना चाहती थी; किन्तु उसने अपनी कुटिलता न छोड़ी। बस, अब या जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती। मनसा, मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को लेकर साथ ले गयी। मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदय-हीन उद्दण्ड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी। (सवेग प्रस्थान)

मनसा — जा न, मेरा क्या बिगड़ता है।

(वासुकि का प्रवेश)

वासुकि — बहन, यह तुमने क्या किया! सरमा को इस तरह उत्तेजित करके उसे चले जाने देना अच्छा हुआ?

मनसा — तो जाओ, उसे मना लाओ!

वासुकि — हमें साहस नहीं होता। बहन, तुमने अपने रूखे व्यवहार से जरत्कारु को भी यहाँ न रहने दिया। हम लोग आर्यों से मेल करने की जो चेष्टा कर रहे हैं, उस पर उसका कैसा प्रभाव पड़ेगा?

मनसा — कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह तुम जानो। मुझे क्या? जरत्कारु गये, तो क्या हुआ, मेरा नाम भी तो तुम लोगों ने जरत्कारु ही रख दिया है। क्या अब कोई दूसरा नाम बदलोगे?

वासुकि — बहन, व्यंग न बोलो। तुम्हारी इच्छा से ही ब्याह हुआ था, किसी ने कुछ दवाब डालकर नहीं किया था। नागों के उपकार के लिए तुमने स्वयं ही —

मनसा — बस, बस! कायरों की संख्या न बढ़ाओ। नागों के विश्व-विश्रुत कुल में तुम्हारे सदृश व्यक्ति भी उत्पन्न होगे, ऐसी सम्भावना न थी! रमणियों के आँचल में मुँह छिपा कर आर्यों के समान वीर्यशाली जाति पर बाण बरसाना चाहते हो! अब मुझसे यह

सहन न होगा! मैं यह पाखण्ड नहीं देख सकती! खाण्डव की ज्वाला के समान जल उठो! चाहे उसमें आर्य भस्म हो, और चाहे तुम! इस नीच अभिनय की आवश्यकता नहीं। (सवेग प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

उत्तंक — (स्वगत) गुरुदेव को गये महीनों हो गये, अब इस गुरुकुल में मन नहीं लगता। क्या करूँ मेरा अध्ययन तो कभी समाप्त हो गया है किन्तु गुरुदेव की आज्ञा है कि 'जब तम हम न आवे तुम घर न जाना।' इसलिए मुझे ठहरना ही पड़ेगा। अहा, सायंकाल समीप है। अग्नि-शाला की परिचर्या का भार मुझी पर है। अभी दीपक नहीं जला। और भी कई काम है। अच्छा तो चलूँ, नहीं तो गुरु-पत्नी आने पर बातें सुनावेगी, (घूमकर) अच्छा, फूल तो चुनता चलूँ। (फूल चुनता हुआ) अहा, मुझे भी यह सरल छात्रजीवन छोड़कर जटिल संसार के कुटिल कर्मपथ पर अग्रसर होना पड़ेंगे। यह गुरुकुल इस जीवन यात्रा का पहला पत्थर है। यही चतुष्पथ है। किस मार्ग पर चलूँ।

(दामिनी का प्रवेश)

दामिनी — कहाँ चले उत्तंक?

उत्तंक — आर्या को प्रणाम करता हूँ। मैं फूल चुनने आया था, कुछ विलम्ब हो गया। अभी अग्नि-शाला का कार्य करना है, और सायंकाल भी हो रहा है, इसी से शीघ्रता कर रहा हूँ।

दामिनी — व्यर्थ इतनी त्वरा क्यों? और भी तो छात्र है! कोई कर लेगा। ठहरो।

उत्तंक — किन्तु गुरुदेव की आज्ञा है, मुझी पर यह सारा भार है। नहीं तो वे अप्रसन्न होगे।

दामिनी — मैं उन्हें समझा लूँगी, तुम्हें इसकी चिन्ता क्या है! और, फिर जो दूसरों की परवाह नहीं करते, उनके लिए दूसरे क्यों अपना सिर मारे।

उत्तंक — यह बात तो मेरी समझ में नहीं आयी।

दामिनी — तुम्हें तो वैसी शिक्षा ही नहीं मिली है। तुम क्यों इसे समझने लगे!

उत्तंक — जैसा आप समझे गुरुजी तो कह रहे थे कि अबकी आने पर तुम्हें छुट्टी दे देंगे तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो चुका। किन्तु...

दामिनी — तुम तो कुछ समझते ही नहीं!

उत्तंक — किन्तु मैं दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ अपने सहपाठियों से भी विशेष शीघ्र समझता था, और गुरुजी की भी यही धारणा है।

दामिनी — अच्छा बताओ, तुम फूल क्यों चुनते हो?

उत्तंक — मुझे भले लगते है।

दामिनी — तब तो तुम मानते हो कि जिसे जो भला लगे, उसे वह स्वायत्त करे, क्यों?

उत्तंक — ठहरिये! इस प्रतिज्ञा में कोई आपत्ति तो नहीं है? (सोचता है) नहीं-नहीं, यह ठीक नहीं। इससे तो डाकू भी कह सकता है कि मुझे अमुक वस्तु प्रिय है, इसलिए मैं उसे लेता हूँ। मेरा यह कथन है कि फूल प्रकृति की उदारता का दान है। पवन उससे सौरभ लेता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। स्वयं जो उपवन का स्वामी है, वह भी इसमें असमर्थ है। वह सौरभ कहाँ-कहाँ ले जाकर किसे-किसे देता है, इसका कोई ठिकाना नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि फूल प्रकृति की दी हुई साधारण सम्पत्ति है, इसीलिये मैं लेता हूँ। ये मुझे रुचते भी है और मेरे है भी।

दामिनी — गुरुजी ने तुम्हें जितना तर्क पढ़ाया है, उतनी यदि संसार की शिक्षा देते, तो तुम्हारा बहुत उपकार करते। अच्छा बताओ तो सही, यही फूल इन्हीं दिनों में क्यों फूलता है?

उत्तंक — इसके विकसित होने की एक ऋतु होती है।

दामिनी — क्यों उत्तंक, ऋतु में ही सब विकसित होते हैं, क्या यह भी नियम है?

उत्तंक — और नहीं तो क्या!

दामिनी — और जो फूल ऋतु में विकसित हो, उसे अपनी तृप्ति के लिए तोड़ लेना चाहिये, नहीं तो वह कुम्हला जायगा, व्यर्थ झड़ जायगा। इसलिये उसका उपयोग कर लेना चाहिए। क्यों, यही बात है न?

उत्तंक — और नहीं तो क्या! फूल सूँघने से हृदय पवित्र होता है, मेघा-शक्ति बढ़ती है, और मस्तिष्क प्रफुल्लित होता है।

दामिनी — तुम्हारा सिर होता है।

उत्तंक — हैं-हैं, आप रुष्ट क्यों होती हैं?

दामिनी — नहीं उत्तंक, भला मैं तुमसे रुष्ट हो सकती हूँ? वाह, यह भी अच्छी कही। अच्छा लो, तुम इन्हीं फूलों की एक माला बनाओ, और तब मैं कुछ गाऊँ।

उत्तंक — जो आज्ञा (माला गूँथने लगता है)

दामिनी — (गाती है) –

अनिल भी रहा लगाये घात
मैं बैठी द्रुम-दल समेट कर, रही छिपाये गात
खोल कर्णिका के कपाट वह निधड़क आया प्रात
बरजोरी रस छीन ले गया, करके मीठी बात

(उत्तंक को देखती हुई) तुम्हारी माला!

उत्तंक — वाह! आप गा चुकी? इधर मेरी माला भी बन गयी, देखिये!

दामिनी — (माला देखती हुई) हाँ जी, तुम तो इस विद्या में सिद्धहस्त हो, किन्तु इसे मुझे पहना दो। नहीं-नहीं, मेरे जूड़े में लगा दो। मुझसे नहीं लगेगा।

उत्तंक — यह तो मुझे भी नहीं आता।

(दामिनी उसका हाथ पकड़कर बताती है, उत्तंक जूड़े में माला लगाता है)

उत्तंक — अब ठीक लगी, अब यह नहीं गिरने को। ऐं! आपका शरीर न जाने क्यों काँप रहा है।

दामिनी — मूर्ख!

उत्तंक — क्षमा कीजिए, जाता हूँ। (प्रस्थान)

दामिनी --- जिसे आत्म-संयम की इतनी शिक्षा मिलनी थी उसे हाड़-मांस के मनुष्य का शरीर क्यों मिला? क्यों न उसे छाया-शरीर मिला! (बैठ जाती है)

(उत्तंक का पुनः प्रवेश)

उत्तंक — गुरुदेव आ गये।

दामिनी — (प्रकृतिस्थ होकर) उत्तंक मेरी इन बातों को भूल जाना! मुझे क्षमा करना!

उत्तंक — देवि, मैं नहीं समझ सका, आप क्या कहती है? चलिये (देखकर) लीजिये, वे तो इधर ही आ रहे हैं।

(वेद का प्रवेश)

दामिनी — आर्यपुत्र, आपने बड़ा विलम्ब किया। मुझे इस तरह अकेली छोड़ना आपकी बड़ी भूल है।

वेद — किन्तु देवि! मैं धैर्य को तुम्हारे साथ छोड़ गया था। क्या उसने भी साथ नहीं दिया?

दामिनी — उत्तंक भी घर जाने के लिए उत्सुक है। वह अब यहाँ से शीघ्र जाना चाहता है। इसकी भी मुझे बड़ी चिन्ता रहती थी।

वेद — लो, मैं ठीक समय पर आ पहुँचा। अब न तुम्हें मेरी भूल दिखायी पड़ेगी, और न उत्तंक को घर जाने के लिए घबराहट ही होगी? वत्स उत्तंक! तुम पर मैं अन्तःकरण से प्रसन्न हूँ। तुम्हारे शील ने विद्या को भी अलंकृत कर दिया है। अब तुम घर जा सकते हो। यद्यपि अभी मुझे इन्द्रप्रस्थ जाना पड़ेगा, पर मैं उसका कोई-न-कोई प्रबन्ध कर लूँगा। जनमेजय का अभिषेक होने वाला है। वह तक्षशिला विजय करके आया है। किन्तु काश्यप इसके विरुद्ध है। जब बुलावा आवेगा, तब जाने का प्रबन्ध करूँगा।

उत्तंक — क्यों गुरुदेव! काश्यप तो जनमेजय का पुरोहित है। फिर वह इसके विरुद्ध क्यों है?

वेद — राजकुल पर विशेष आतंक जमाने के लिए प्रायः वह विरोधी बन जाया करता है, और फिर पूरी दक्षिणा पा जाने पर प्रसन्न होता है। पर राजकुल भी उससे आन्तरिक द्वेष रखता है।

उत्तंक — अच्छा तो देव, गुरुदक्षिणा के सम्बन्ध में क्या आज्ञा होती है?

वेद — सौम्य, मैं तुमसे इसी तरह प्रसन्न हूँ, दक्षिणा की कोई आवश्यकता नहीं।

उत्तंक — बिना दक्षिणा दिये विद्या सफल नहीं होती। कुछ तो आज्ञा कीजिये।

वेद — अच्छा, तो तुम अपनी इस सतृष्ण गुरु-पत्नी से पूछ देखो।

उत्तंक — आर्ये, क्या आज्ञा है?

दामिनी — यदि मुझसे पूछते ही तो रानी के मणि-कुण्डल ले आओ! उन्हें पहनने की बड़ी अभिलाषा है।

(वेद उसकी ओर सक्रोध देखते है)

उत्तंक — गुरुदेव, यही होगा! कल मैं जाऊँगा। (प्रस्थान)

वेद — दामिनी! मैंने तेरी दुर्बलता और उत्तंक का चरित्र-बल अपनी आँखों से देखा है। तुझे लज्जा नहीं आती कि मैंने उस त्रुटि की पूर्ति के लिये तुझे जो अवसर दिया, वह तूने खो दिया?

(दामिनी सिर झुका लेती है, दोनों का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(इन्द्रप्रस्थ में जनमेजय की राज्य सभा। जनमेजय, तुर कावषेय और सभासदगण)

जनमेजय — भगवान! फिर भी कोई सीमा होनी चाहिये। राजपद का इतना अपमान!

तुर कावषेय — राजन् वसुन्धरा के समान चक्रवर्ती का हृदय भी उदार और सहन-शील होना चाहिए। उसे व्यक्तिगत मानापमान पर ध्यान न देना चाहिए। और ब्राह्मणों को तो सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए, क्योंकि यही सन्तुष्ट रहने पर राष्ट्र का हित-चिन्तन करते है। इसीलिये इनका इतना सम्मान है।

जनमेजय — किन्तु आर्य, मैंने कोई ऐसी बात नहीं की, जिससे पुरोधा अप्रसन्न हो। और, उन्हें तो राष्ट्र के उत्कर्ष से प्रसन्न होना चाहिये था, न कि उलटे वे मुझे मना करते कि तु अभी तक्षशिला पर चढ़ाई न करो।

तुर कावषेय — उन्होंने इसी में तुम्हारा कुछ हित विचारा होगा। सम्भव है, उनकी समझ की भूल हो, या तुम्हीं इसको न समझ सके हो।

जनमेजय — आर्य अभी मैं उस प्रदेश को विजय किये चला आ रहा हूँ। आपको नहीं मालूम, वे वन्य जातियाँ किस तरह सभ्य

और सुखी प्रजा को तंग किया करती थी। कन्याओं का अपहरण किया जाता था, धनी लूटे जाते थे, व्यवसाय का मार्ग बन्द हो गया था। सीमाप्रान्त की दस्यु जातियों की उच्छृंखलता बढ़ती जा रही थी। भला यदि मैं उनको दण्ड न देता, तो और क्या उपाय था?

तुर कावषेय — यदि ऐसा ही था तो तुम्हारी युद्ध यात्रा आवश्यक थी! यह राजधर्म था। अस्तु, तुम्हारा यह ऐन्द्रमहाभिषेक तो हमने करा दिया, और वह सम्पन्न भी हुआ, किन्तु तुम्हें अपने पुरोहित काश्यप से क्षमा माँगनी चाहिये, और इसकी सारी दक्षिणा उन्हीं को दी जानी चाहिये। मैं इसी से प्रसन्न हूँगा।

जनमेजय — भगवान की जैसी आज्ञा। कोई जाकर आचार्य को बुला लावे, और दक्षिणा भी प्रस्तुत हो।

(प्रतिहारी जाता है)

तुर कावषेय — राजन्! मार्मिकता से प्रजा की पुकार सुनना। युद्धयात्राएँ अब तुम्हें विजय देंगी। इस अभिषेक का यही फल है किन्तु राजन् विजयों का व्यवसाय न चलाना, नहीं तो उसमें घाटा भी उठाना पड़ता है। सृष्टि की उन्नति में बाधा हो। केवल मद से उस बल का दुरुपयोग न होना चाहिये। तुम्हारी राजपरिषद् ने भारत के साम्राज्य का, तुम्हारी किशोरावस्था में, बड़े नियमित रूप

से सुशासन किया है। यौवन और प्रभुत्व के दर्प में आकर काम न बिगाड़ बैठना।

प्रतिहारी — (प्रवेश करके) महाराज की जय हो। आचार्य आ रहे हैं।

(काश्यप पुरोहित का बकते-बकते प्रवेश)

काश्यप — यह क्या! इसका लकड़दादा कवष एक दासी का पुत्र था, इसलिए ऋषियों ने भोजन के समय उसे अपनी पंक्ति से निकाल दिया था। उसी का वंशधर तुर-फुर! भला यह क्या जाने कि अभिषेक किये कहते है। दासी-पुत्र के वंशधर के किये अभिषेक से तुम सम्राट हो! ऐं! देखोगे इसका परिणाम, भोगोगे इसका फल। मैं कौरवों का प्राचीन पुरोहित, वंशपरम्परा से मेरा अधिकार, राजकुल का दैव, उसी का इतना अपमान!

तुर कावषेय — ऋषिवर्य, क्षमा हो। राष्ट्र के कामों को रोक देना भी तो उचित नहीं था। भला सोचिये कि वहाँ तो ब्राह्मण-कन्याये दस्युओं से अपहृत हो रही हो, और यहाँ आप इन्हे तक्षशिला-विजय से रोके! क्या वे आपके ही स्वजन नहीं? क्या वे इस राज्य में नहीं रहते? क्या उनकी रक्षा का भार इन्द्रप्रस्थ के सम्राट पर नहीं है?

काश्यप — मैं कौरवों का कर्मकाण्ड कराते-कराते बुड्ढा हो गया, किन्तु तुम्हारे समान लफंगा इस राज-सभा में आज तक न देखा। क्या राजतन्त्र जो चाहे, वही करता जाय, और अध्यात्म के गुरु ब्राह्मण उसी की हाँ में हाँ मिलाते जायँ! यदि ऐसा ही था, तो ब्राह्मणों को दण्ड देने का अधिकार भी राजा को क्यों न मिला? नियन्त्रित राष्ट्र के नियमन का अधिकार ब्राह्मणों को है। इन बातों को तुम क्या जानो! वह तो जिसकी पैतृक सम्पत्ति हो, वह जानेगा। तुम क्या जानो!

तुर कावषेय — द्विजवर्य! जब राजा अपनी प्रजा का, अपने राष्ट्र का वैभव बढ़ा रहा हो, तब उसका आदर करना भी उसकी प्रजा की धर्म है।

काश्यप — और अपने अग्नि-सेवक, पुरोहित, पाप के पंचमांश के भोक्ता, गुरुसमान ब्राह्मण की अवज्ञा का प्रायश्चित कौन करेगा? राष्ट्र का भला हुआ, यह एक स्वतन्त्र धर्म है, और ब्राह्मण की अवज्ञा — एक भिन्न पाप है। दोनों का परिणाम भिन्न है। हम लोग कर्मवादी है। फल दोनों का ही मिलेगा! अरे तुम क्या पढ़कर आये हो। यहाँ इसी में यह दाढ़ी सफेद हुई है — यह दाढ़ी। (दाढ़ी पर हाथ फेरता है)

जनमेजय — भगवन्, यह पौरव जनमेजय प्रणाम करता है। चाहे मुझसे और जो भूल हुई हो, किन्तु दक्षिणा मैंने किसी को नहीं दी। वह आप ही के लिये रखी है।

(अनुचरगण दक्षिणा की थाली लाते हैं)

काश्यप — (थाली लेकर) आशीर्वाद! कल्याण हो! क्यों न हो! हैं तो आप पौरवकुल के! फिर क्यों न ऐसी महत्ता रहे!

तुर कावषेय — (हँसकर) तो क्यों महात्मन्, मुझे कुछ भी न मिलेगा। मैंने आपके यजमान के सब कृत्य कराये, और दक्षिणा —

काश्यप — तुम लोगे? अच्छे आये! अरे अभी जो अशुद्ध कृत्य तुमने कराया होगा, उसका प्रायश्चित कराना पड़ेगा उसमें जो व्यय होगा वह कौन देगा? बोलो, ऐं।

तुर कावषेय — तो फिर मैं यों ही चला जाऊँ?

काश्यप — तो क्या यही बैठे रहोगे? अरे अभी सम्राट युवक है, तुम लोगों की बातों में आ जाते है। किन्तु फिर...

तुर कावषेय — तो फिर मैं जाता हूँ। आप दोनों, यजमान और पुरोहित, मिल बरतें।

काश्यप — राजाधिराज, तुर कावषेय जाना चाहते है, इन्हें प्रणाम करो।

(सब प्रणाम करते है। तुर हँसते हुए जाते हैं। काश्यप बैठता है। वपुष्टमा का प्रवेश)

वपुष्टमा — आर्य काश्यप को मैं प्रणाम करती हूँ। (सिंहासन पर बैठती है)

काश्यप — कल्याण हो, सौभाग्य बढ़े, वीर प्रसविनी हो।

जनमेजय — देवि, तुम्हारे आ जाने से यह राजसभा द्विगुणित शोभायुक्त हुई। आर्य तुर ने दक्षिणा नहीं ली, वे यों ही चले गये।

वपुष्टमा — क्यों आर्यपुत्र आपने ऐसा क्यों होने दिया?

मन्त्री — साम्राज्ञी, वे तपस्वी है, महात्मा है, त्यागी है। उन्होंने कहा — हम राष्ट्र की शीतल छाया में रहते है, इसलिए हमारा कर्तव्य था कि प्रजाहितैषी विजयी राजा का ऐन्द्रमहाभिषेक करे और दक्षिणा के अधिकारी तो आपके पुरोहित काश्यप है ही।

काश्यप — यह बात तो उसने पद्धति के अनुसार ही की है।

वपुष्टमा — (हँसकर) किन्तु आर्य काश्यप, आपको तो उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये था। आप ही कुछ दे देते।

काश्यप — साम्राज्ञी, अभी आपसे तो कुछ दक्षिणा मिली नहीं। वह मिलने पर फिर तुर कावषेय को देने का विचार करूँगा!

वपुष्टमा — तब भी विचार!

काश्यप — और क्या! हम लोग बिना विचार किये कोई काम नहीं करते है? यदि पद्धति वैसी आज्ञा न दे, यदि वह विहित न हो तो फिर पाप-भागी कौन होगा? दूना प्रायश्चित कौन करेगा?

मन्त्री — (हँसते हुए) यथार्थ है।

काश्यप — हाँ, सूत्रों की यथावत पद्धति के अनुसार! बस!

वपुष्टमा — आर्य पुत्र, अन्तःपुर की सहेलियाँ बड़ा आग्रह करती है। वे कहती हैं, आज तो बड़े आनन्द का दिवस है, हम लोग राजाधिराज को अपना कौशल दिखा कर पुरस्कार लेंगी।

जनमेजय — किन्तु देवि, यह परिषद्-गृह है।

काश्यप — नहीं सम्राट यह भी उसी का अंग है। अभिषेक के बाद नाच-रंग होना पद्धति के अनुसार है, विधि-विहित है।

जनमेजय — देवि, अब रंग-मन्दिर में चलकर नृत्य देखूँगा। यहाँ बैठे विलम्ब भी हुआ।

दौवारिक — (प्रवेश करके) जय हो देव! एक स्नातक ब्रह्मचारी राज-दर्शन की इच्छा से आये हैं।

जनमेजय — लिवा लाओ।

(दौवारिक जाता और उत्तंक को लेकर आता है)

उत्तंक — राजाधिराज की जय हो!

जनमेजय — ब्रह्मचारिन्, नमस्कार करता हूँ। कहिये आप किस कार्य के लिये पधारे है?

उत्तंक — राजाधिराज, मैं आर्य वेद का अन्तेवासी हूँ। मेरी शिक्षा समाप्त हो गयी है, किन्तु अभी तक गुरुदक्षिणा नहीं दे सका हूँ। इसलिये आपके पास प्रार्थी होकर आया हूँ।

काश्यप — अरे कुछ कहो भी, किसलिये आये हो? जैसा गुरु है, वैसे ही तुम भी हो। न बोलने की पद्धति, न विधिविहित शिष्टाचार। क्या वेद न तुम्हें यही पढ़ाया है?

उत्तंक — आप वृद्ध है, पूजनीय है, क्या मेरे उपाध्याय को कटु वाक्य कहकर मेरी गुरुभक्ति की परीक्षा लेना चाहते है? या मुझे अपना शिष्टाचार सिखाना चाहते हैं?

जनमेजय — ब्रह्मचारीजी, क्षमा कीजिये! आप आर्य वेद के गुरुकुल से आये है? अहा! मैंने भी वहीं शिक्षा पायी है। आर्य सकुशल तो हैं?

उत्तंक — सम्राट सब कुशल है।

जनमेजय — गुरुकुल अच्छी तरह चल रहा है? कोई कमी तो नहीं है? अब तो गुरुवर बहुत वृद्ध हो गये होंगे! महा-वटवृक्ष वैसा ही हरा-भरा है?

काश्यप — अभी तो कुछ ही वर्ष हुये, अग्निहोत्र के लिए उन्होंने फिर पाणिग्रहण किया है।

जनमेजय — (ब्रह्मचारी से) क्या आर्य काश्यप सच कहते हैं?

उत्तंक — सच है राजाधिराज! उन्हीं अपनी गुरुपत्नी के लिए मुझे महादेवी के कानों के मणिकुण्डल चाहिए। मुझ से यही गुरुदक्षिणा माँगी गयी है।

जनमेजय — (कुछ देर चुप रह कर) मेरा तो कुण्डलों पर कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मैं यह विजयोपहार महादेवी को अर्पण कर चुका हूँ।

काश्यप — तपोवन के गुरुकुल में ये मणिकुण्डल पहन कर तुम्हारी गुरुपत्नी क्या करेंगी?

उत्तंक — और यह भी कोई शिष्टाचार है कि पुरोहित राजधर्म में बाधा डालें — दानशील राजा के मन में शंका उत्पन्न करें? महादेवी, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मणिकुण्डल दान कर मुझे गुरु-ऋण से मुक्त कीजिये।

वपुष्टमा — (कुण्डल उतार कर देती है) लीजिये ब्रह्मचारीजी। किन्तु इन्हें बड़ी सावधानी से ले जाइयेगा।

उत्तंक — अचल सौभाग्य हो! राज्यश्री अविचल रहे!

जनमेजय — ये तक्षक के अमूल्य मणिकुण्डल है। वह इनकी ताक में है। इन्हें सुरक्षित रखियेगा।

उत्तंक — जो आज्ञा। (जाता है)

काश्यप — अरे ऐसे अमूल्य रत्न भी इस तरह अज्ञात ब्रह्मचारी को दान करने चाहिये?राजकोष में फिर क्या रह जायगा!

जनमेजय — किन्तु यह ब्रह्मचारी बड़ा सरल दिखाई देता है।

काश्यप — ऐसे बहुतेरे ठग आते है।

वपुष्टमा — आर्य, ऐसा न कहिये।

(सरमा का प्रवेश)

सरमा — दुहाई है! दुहाई है! न्याय कीजिए, सम्राट दुहाई है!

जनमेजय — क्या है? किस बात का न्याय चाहती हो?

सरमा — मेरे पुत्र को आपके भाइयों ने अकारण पीटा है। वह कुतूहल से यज्ञशाला में चला गया था। वे लोग कहते थे कि उसने घी का पात्र जूठा कर दिया।

काश्यप — अवश्य ही वह चोरी से घी खाने घुसा होगा।

वपुष्टमा — आर्यपुत्र! न्याय कीजिये! नारी का अश्रुजल अपनी एक-एक बूँद में बहिया लिये रहता है।

जनमेजय — तुम्हारा नाम क्या है। तुम क्यों यहाँ आयी हो?

सरमा — मैं यादवी हूँ। मैंने अपनी इच्छा से नाग-परिणय किया था, पर उनकी कुटिलता न सह सकी कारण यह कि वे दिनरात आर्यों से अपना प्रतिशोध लेने की चिन्ता में रहते थे। यह मुझसे सहन न हो सका, इसलिये मैं उनका राज्य छोड़ कर चली आयी।

वपुष्टमा — छिः! आर्य-ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया! तभी तो यह लांछना भोगनी पड़ती है।

सरमा — साम्राज्ञी! मैं तो एक मनुष्य-जाति देखती हूँ — दस्यु और न आर्य! न्याय की सर्वत्र पूजा चाहती हूँ — चाहे वह राज-मन्दिर में हो, या दरिद्र-कुटीर में।

जनमेजय — दस्यु महिला के लिए कोई आर्य न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जायगा। तुमने व्यर्थ इतना प्रयास किया।

सरमा — सम्राट, मनुष्यता की मर्यादा भी क्या सब के लिए भिन्न-भिन्न है? क्या आर्यों के लिए अपराध भी धर्म हो जायगा।

जनमेजय — चुप रहो! पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अभियोग लगाने का कोई अधिकार नहीं है।

सरमा — किन्तु पतिता पर अतिचार करने का आर्यों को अधिकार है? राजाधिराज, अधिकार का मद न पान कीजिए। न्याय कीजिये।

जनमेजय — असभ्यों में मनुष्यता कहाँ! उनके साथ तो वैसा ही व्यवहार होना चाहिये। जाओ सरमा! तुमको लज्जित होना चाहिये।

सरमा — इतनी घृणा! ऐश्वर्य का इतना घमण्ड! प्रभुत्व और अधिकार का इतना अपव्यय! मनुष्यता इसे नहीं सहन करेगी। सम्राट सावधान!

काश्यप — जा, जा, चली जा। बक-बक करती है।

सरमा — काश्यप, मैं जाती हूँ। किन्तु स्मरण रखना, दुखिता, अनाथा रमणी का अपमान, पीड़िता की मर्मव्यथा, कृत्या होकर राजकुल पर अपनी कराल छाया डालेगी। उस समय तुम्हारे-जैसे लोलुप पुरोहित उससे राजकुल की रक्षा न कर सकेंगे। (वेग से प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(पथ में सरमा और माणवक)

माणवक — इतना अपमान! माँ, यह असह्य है।

सरमा — हाँ, बेटा! धिक्कारो, इस अभागिनी को! मर्मवेधी शब्दों से और भी आहत करो! तुम्हारे अपमान का कारण मैं ही हूँ।

माणवक — माँ! इन दम्भियों में कौन-सी विशेष मनुष्यता है जो तुम अपना राज्य छोड़कर इनसे तिरस्कृत होने के लिए चली आयी हो? अपना अपना ही है। दारिद्रय की विकट ताड़ना से एक टुकड़े के लिये दूसरों की ठोकर सहना! ओह —

सरमा — बस करो बेटा!

माणवक — नहीं, माँ बड़ी भूख लग रही है। पेट की ज्वाला ही वह बड़वाग्नि है जो कभी नहीं बुझती। उसे सब लोग नहीं अनुभव कर सकते। जो उत्तम पदार्थों की थाली पैर से ठुकरा देते है, जिन्हें अरुचि की डकार सदा आती रहती है, वे इस क्या जानेंगे। माँ इसी के लिए ऐसे कर्म हो जाते है जिन्हें लोग अपराध कहते हैं।

सरमा — बेटा, तुम इस अभागिनी की और भर्त्सना करोगे? क्षमा करो लाल, मैं इन्हें अपना सम्बन्धी समझकर इनका आश्रय लेने चली आयी थी। तुम मेरी अग्नि परीक्षा न करो। जिनकी रसना

की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार के भोजनों की भरमार होती है, वे पेट की ज्वाला नहीं समझते। मैंने न्याय की प्रार्थना की, तो उन्होंने एक अपमान और जोड़ दिया कि मैंने नाग-परिणय किया था। यह भी मुझ पर एक अपराध लगा! हे भगवान मेरे अभिमान का यह फल!

माणवक — फिर तुमने मुझे प्रतिशोध लेने से क्यों रोक दिया?

सरमा — हत्या! तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता था, यह कलंक मैं नहीं सह सकती थी। तू उनसे लड़कर वही मर जाता या उन्हें मार डालता, यह मुझे स्वीकार था। परन्तु — उसके लिए तू अभी बिलकुल बच्चा है।

माणवक — दुर्बलों के पास और उपाय ही क्या है? क्या तब मुझे शान्ति मिलेगी, जब तुम हस्तिनापुर के राजमन्दिर के वातायनों की ओर दीनता से ताकती रहोगी?

सरमा — नहीं बेटा। मैं इस अपमान का बदला लूँगी, किन्तु सहायता के लिये लौटकर नागकुल न जाऊँगी।

माणवक — तब फिर प्रतिशोध कैसे सम्भव है? माँ, मेरे हृदय में दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। घमण्डियों के वे वक्र विलोचन बरछी की तरह लग रहे है। माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मैं मनसा के हाथों

का विषाक्त अस्त्र बनूँ, उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किये बिना मैं न जी सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा। (रोने लगता है)

सरमा — मैं जानती हूँ, मैं अनुभव कर रही हूँ। उस अपमान के विष का घूँट मेरे गले में अभी तक तीव्र वेदना उत्पन्न करता हुआ धीरे-धीरे उलट रहा है। पर माणवक, मेरे प्यारे बच्चे! पहले तो तूने मातृ-स्नेह के वश होकर अपने पिता के वैभव का तिरस्कार किया। पर अब, क्या मनसा से सहायता माँगकर मुझे उसके सामने फिर लज्जित करना चाहता है? यादवी प्राण के लिए नहीं डरती। (छुरी फेंककर) ले, पहले मेरा अन्त कर ले, फिर तू जहाँ चाहे चला जा। (रोकर) हाय! वत्स तुझे नहीं मालूम कि तेरे ही अभिमान पर मैंने राज-वैभव ठुकरा दिया था बेटा!

माणवक — माँ, मत रोओ, क्षमा करो, मेरी भूल थी। मैं पुत्र हूँ। अपने अपराध के प्रतिशोध के लिए तुम्हारा हृद दुःखी नहीं करना चाहता। (पैरों पर गिरते हुए) माँ, मैं जाता हूँ भाग्य में होगा, तो फिर तुम्हारे दर्शन करुँगा।

(उठकर डबडबाई आँखों से सरमा को देखता माणवक जाता है)

सरमा — ठहर जा, माणवक ठहर जा। मेरी बात सुन ले। रूठ मत, मैं सब करूँगी। जो तू कहेगी, वही करूँगी। सुन ले! नहीं आया! चला गया! हाय रे जननी का हृदय! मैं सब ओर से गयी। इस अन्धकारपूर्ण शून्य हृदय में सैकड़ों बिजलियों से भी प्रकाश न होगा। माणवक — माणवक! (उसके पीछ जाती है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(कानन में क्षुब्ध तक्षक)

तक्षक — मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ। और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस छाती में धधक उठती है! प्रतिहिंसे! तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूँगा! छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार, सभी तेरे सहायक होंगे, हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेगी। रक्तरंजित हाथों

से तेरा अभिषेक होगा। शव-गन्ध पूरित धूम से भर शून्य गगन तेरी धूपदानी बनेगा। ठहरो देवि ठहरो। (खड्ग निकालता है)

(सशंक वासुकि का प्रवेश)

वासुकि — क्यों नागनाथ! यह क्या हो रहा है? किस पर क्रोध?

तक्षक — प्रिय वासुकि, तुम आ गये? कहो यह काश्यप ब्राह्मण आवेगा कि नहीं?

वासुकि — प्रभो! वह तो गहरी दक्षिणा पाकर फिर राजकुल से सन्तुष्ट हो गया है। किन्तु उसे एक बात का बड़ा खेद है। वह रानी के मणिकुण्डल दूसरे ब्राह्मण को मिलना सहन नहीं कर सकता। इसी आशा से कि वह फिर आपसे मिलेगा। सरमा भी अपनी करनी का फल पा रही है। वह अत्यन्त अपमानित की गयी है, सम्भव है वह फिर नाग-कुल में लौट आवे।

तक्षक — मणिकुण्डल! कौन, वे ही, जो कभी हम नागों की अमूल्य सम्पत्ति थे। हाय! वासुकि, वे फिर कहाँ मिलेंगे। किन्तु वे मिल जाते तो काश्यप को देकर उसे अपनी ओर मिला लेता। राजकुल का पूरा समाचार काश्यप से ही मिल सकता है।

काश्यप — (प्रवेश करके) नागनाथ की जय हो!

तक्षक — प्रणाम करता हूँ ब्राह्मण देवता। कुशल तो है?

कश्यप — आर्य, क्षत्रियों को घमण्ड हो गया है। उनके सविनय प्रणाम में भी एक तीखा तिरस्कार भरा रहता है। ब्राह्मणों का सम्मान वे सहन नहीं कर सकते। राजमद से वे इतने मत्त है कि अध्यात्म गुरु की अवहेलना क्या, कभी-कभी परिहास तक कर बैठते है — उनके क्रोध को हँसी में उड़ा देते है। यह बात इस विशुद्ध ऋषि-कुल-सम्भूत शरीर को सहन नहीं है। (ठहर कर) नागराज, अभी तक क्षत्रिय स्पष्ट रूप से ब्राह्मणों के नेतृत्व का विरोध नहीं कर सके है। अभी वे प्राचीन संस्कार के वशीभूत है।

तक्षक — तो फिर क्या आज्ञा है?

काश्यप — घबराओ मत। अभी ब्राह्मणों में वह बल है, तप का वह तेज है कि वे नाग-जाति को क्षत्रिय बना ले। तुम लोगों को भी चाहिये कि जहाँ तक हो सके, आर्य-जाति की इन्द्रियपरायणता के सहायक बनो। उनसे अपने रक्त का मिश्रण करो। समय आने पर तुम्हारे ही वंशधर इस भारत के अधिकारी होंगे। पर इसके लिए उद्योग करते रहो।

तक्षक — प्रभो, मणिकुण्डल कौन ब्राह्मण लाया है?

काश्यप — (नेपथ्य की ओर देखकर) लो, वह आ रहा है। हम लोग छिप जाते है। (वासुकि का हाथ पकड़कर जाता है)

(उत्तंक का प्रवेश)

तक्षक — ब्रह्मचारिन्, नमस्कार करता हूँ।

उत्तंक — कल्याण हो! मैं थक गया हूँ । यदि यहाँ विश्राम करूँ तो, आप असन्तुष्ट को न होंगे? क्या आप इस कानन के स्वामी है?

तक्षक — अब तो नहीं हूँ, पर हाँ, कभी था। आप बैठिये।

(उत्तंक बैठता है, फिर थककर रो जाता है। काश्यप का प्रवेश)

तक्षक — क्यों काश्यप, इसने मणिकुण्डल कहाँ रक्खे होंगे?

काश्यप — अपने उष्णीष में। हट जाता हूँ। तुम्हें देखकर मुझे डर लग रहा है। तुम इतने भयानक क्यों दिखाई देते हो?

तक्षक — महात्मन्, आप जब अपना धर्म करने लगते है, जब यज्ञ करने लगते है, तब आप भी मुझे इतने ही भयानक दीख पड़ते है। जब पशुओं की कातर दृष्टि आपको प्रसन्न करती है, तब सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जी काँप उठता होगा।

काश्यप — अजी वह तो धर्म है, कर्तव्य है!

तक्षक — किन्तु हम असभ्य जंगली लोग धर्म को पवित्र, अपनी मानवी प्रवृत्ति से परे, एक उदार वस्तु मानते है। अपनी आवश्यकता को, अपनी लालसामयी दुर्बलता को उसमें नहीं मिलाते। उसे बालक की निर्मल हँसी के समान अछूती रहने देते हैं। पाप को पाप ही कहते है, उस पर धर्म का मिथ्या आवरण नहीं चढ़ाते।

काश्यप — बस करो, नागराज, अभी तुमको यह भी नहीं मालूम कि पाप और पुण्य किसे कहते है। इन सूक्ष्म तत्वों को समझना तुम्हारी मोटी बुद्धि और सामर्थ्य के बाहर है, तो तस्करता करना चाहते हो, वह करो। आर्यों को यह कला नहीं सिखलायी गयी है।

(तक्षक छुरी निकलता है। काश्यप चिल्लाता है — 'हैं, हैं, ब्रह्महत्या न करो।' तक्षक उसे ढकेल कर उत्तंक का उष्णीष लेना चाहता है। उत्तंक जाग उठता है। तक्षक मारना चाहता है। सरमा दौड़ती हुई आती है और तक्षक का हाथ पकड़ लेती है। तक्षक उत्तंक को छोड़कर उठ खड़ा होता है)

सरमा — नृशंस तक्षक!

तक्षक — तुझे इस विश्वासघात का प्रतिफल मिलेगा। परिणाम भोगने के लिए प्रस्तुत हो जा। आज यह छुरी तेरा ही रक्त-पान करेगी।

उत्तंक — पामर! तुझे लज्जा नहीं आती? सोये हुए व्यक्ति को मार डालना चाहता था, अब नारी की हत्या करना चाहता है!

तक्षक — अरे, तुझ में भी नागराज तक्षक को ललकारने का साहस है! देखूँ तो, अपने-आपको या पापिनी सरमा को कैसे बचाता है! (छुरी उठाता है)

उत्तंक — यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरी ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा, तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार नहीं कि वह सत्यशील ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके! पाखण्डी, तेरा पतन समीप है।

(तक्षक छुरा चलाना चाहता है, वासुकि आकर हाथ पकड़ लेता है)

वासुकि — नागराज क्षमा करें। यह मेरी स्त्री है।

तक्षक — वासुकि, तुम विद्रोह करनेवाली को दण्ड से बचाते हो!

वासुकि — फिर भी यह मेरी स्त्री है। नागराज! सरमा और उत्तंक दोनों मुक्त है। वे जहाँ चाहे, जा सकते है।

सरमा — यह आर्य-संसर्ग का ही प्रताप है। नागराज, आप मेरे पति है, किन्तु आपका मार्ग भिन्न है और मेरा भिन्न। फिर भी मेरा अनुरोध है कि जब अवसर मिले, इसी तरह मनुष्यता को व्यवहार में लाइयेगा। अपने आपको सर्प की सन्तान मानकर कुटिलता और क्रूरता की ही उपासना मत कीजिएगा!

वासुकि — क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं? अब मैं तुम्हें न जाने दूँगा।

सरमा — आपको और सब अधिकार है, पर मेरी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का नहीं।

वासुकि — इसका अर्थ?

सरमा — इसका अर्थ यही है कि मैं आपके साथ चलूँगी, पर अपमानित होने के लिये नहीं! आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी।

वासुकि — मैं प्रतिश्रुत होता हूँ।

सरमा — अच्छा बात है।

(सब जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(गुरुकुल में त्रिविक्रम और दो विद्यार्थी)

त्रिविक्रम — अरे चुप भी रहो! क्या टाँय-टाँय कर रहे हो!

पहला विद्यार्थी — अरे भाई, अब दूसरी शाखा का अध्ययन प्रारम्भ करूँगा। यह अब समाप्त हो चली है। थोड़ा-सा और परिश्रम है।

त्रिविक्रम — शाखा! किसकी शाखा?

पहला विद्यार्थी — वेद की।

त्रिविक्रम — वेद! चुप मूर्ख! गुरुजी क्या कोई वृक्ष है, जो उनमें शाखायें होंगी?

पहला विद्यार्थी — भाई हँसी मत करो। मैं श्रुति के लिए कह रहा हूँ।

त्रिविक्रम — सो तो मैं सुनता हूँ। अच्छा बताओ तो पढ़कर करोगे क्या? इस शाखामृग का अनुकरण करने से क्या लाभ होगा?

पहला विद्यार्थी — विद्ययाऽमृतमश्नुते।

त्रिविक्रम — अमृत होकर तुम क्या करोगे? कब तक इस दुरन्तपूरा उदर-दरी को भरोगे? अनन्त काल तक यह महान् प्रयास! बड़ी कठोरता है!

दूसरा विद्यार्थी — और तुम गुरुकुल में क्यों आये हो! सब से तो पूछ रहे हो, पहले अपनी तो बताओ।

त्रिविक्रम —पहले तुम बताओ।

दूसरा विद्यार्थी — प्रश्न मेरा है।

त्रिविक्रम — मैं तो इनसे पूछता था। तुम क्यों बीच में कूद पड़े? अब पहले तुम्हीं बताओ।

दूसरा विद्यार्थी — मैं तो पुरोहित बनूँगा।

त्रिविक्रम — उत्तम! यजमान की थोड़ी-सा सामग्री इतस्ततः करके, कुछ जलाकर, कुछ जल में फेंककर, कुछ वितरण करके और बहुत-सी अपनी कमर में रखकर एक संकल्प का जमाखर्च सुना देना, और उसको विश्वास दिला देना कि अज्ञात प्रदेश में तुम्हारी सब वस्तुयें मिल जायँगी। अरे भाई! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम बन्दर और बकरे को नचाने की विद्या सीख कर डमरू हाथ में लेकर घूमते।

पहला विद्यार्थी — तुम मूर्ख हो! तुम्हारे मुँह कौन लगे!

दूसरा विद्यार्थी — अच्छा तुम क्या करने आये हो? और पढ़कर क्या करोगे?

त्रिविक्रम — मैं! अपनी प्रकृति के अनुसार काम करूँगा, जिसमें आनन्द मिले। और केवल पुरोहिती करने के लिए जो तुम इतनी माथा-पच्ची कर रहे हो, वह व्यर्थ है। भला पुरोहिती में पढ़ने की क्या आवश्यकता है? जो मन्त्र हुआ, उच्च स्वर में अण्ट-शण्ट पढ़ते चले गये और दक्षिणा रखाते गये। बस हो चुका।

दूसरा विद्यार्थी — अच्छा, हम अपने देख लेंगे। तुम तो बताओ कि कौन काम करोगे जिसमें बिना परिश्रम के लोग तुम्हारे अनुकूल रहें।

त्रिविक्रम — किसी श्रीमन्त के यहाँ विदूषक बनूँगा। आदर से आऊँगा, जाऊँगा। कोई काम न धन्धा! मूर्खता से भी लोगों को हँसा लूँगा, निर्द्वन्द्व विचरण करते हुए जीवन व्यतीत करूँगा।

पहला विद्यार्थी — यह क्यों नहीं कहते कि निर्लज्ज बनूँगा।

त्रिविक्रम — अच्छा जाओ, अपना काम देखो। आज पुण्यक उत्सव है। गुरुजी की ओर से निमन्त्रण है।

(दोनों विद्यार्थियों का प्रस्थान। वेद का प्रवेश। उन्हें देखकर त्रिविक्रम ध्यानस्थ हो जाता है)

वेद — बेटा त्रिविक्रम!

(त्रिविक्रम आँखें बन्द किये हुए उच्च स्वर से मन्त्र पढ़ने लगता है)

वेद — अरे त्रिविक्रम!

(वेद को खाँसी आती है त्रिविक्रम उछल कर खड़ा हो जाता है)

त्रिविक्रम — क्या है गुरुजी?
वेद — बेटा, अपनी गुरुआनी को समझाओ! आडम्बर फैलाकर आप भी कष्ट भोगती है, मुझे भी दुःख देती है। समझे!
त्रिविक्रम — गुरुदेव! मेरी समझ में तो कुछ आना असम्भव है। आपने इतना अध्ययन कराया, पर मेरी समझ में कुछ न आया?
वेद — (चौंककर) मूर्ख! मेरा सब परिश्रम व्यर्थ ही गया?
त्रिविक्रम — परिश्रम तो व्यर्थ ही किया जाता है। तिस पर समझने के लिये परिश्रम करना तो सब से भारी मूर्खता है। हट चलिये, वह आ रही है।

(वेद और त्रिविक्रम का प्रस्थान। दामिनी का प्रवेश)

दामिनी — उत्तंक नहीं आया। मेरी कामना के लक्ष्य — उत्तंक! पुष्यक के बहाने मैंने तुझे बुलाया है। एक बार और परीक्षा करूँगी।

(मणिकुण्डल लिये हुए उत्तंक का प्रवेश)

उत्तंक — आर्य्या, मैं उत्तंक प्रणाम करता हूँ।

दामिनी — कौन उत्तंक! तुम आ गये?

उत्तंक — हाँ देवि, मणिकुण्डल भी प्रस्तुत है! (सम्मुख रखता है)

दामिनी — उत्तंक! मुझे अपने हाथों से पहना दो।

उत्तंक — देवि, क्षमा हो, मुझे पहनाना नहीं आता।

दामिनी — उत्तंक! तुम मुझे छूने से हिचकते क्यों हो?

उत्तंक — नहीं देवि, मुझे गुरु-ऋण से मुक्त करें, मैं जाऊँ?

दामिनी — तो चले ही जाओगे? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूँ कि —

उत्तंक — चुप रहो देवि! यदि ईश्वर का डर न हो तो संसार से तो डरो। पृथ्वी के गर्भ में असंख्य ज्वालामुखी हैं, कदाचित् उनका

विस्फोट ऐसे ही अवसरों पर हुआ होगा। तुम गुरु-पत्नी हो, मेरी माता के तुल्य हो। (सवेग प्रस्थान)

दामिनी — धिक्कार है मुझे! (प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(कानन में धनुष पर बाण चढ़ाये हुए जनमेजय)

जनमेजय — कहाँ गया? अभी तो इधर ही आया था?

(भद्रक का प्रवेश)

भद्रक — जय हो देव! मृग अभी इधर नहीं आया, उधर ही गया।

जनमेजय — भद्रक, तुम बता सकते हो कि किस ओर गया?

भद्रक — प्रभो, तनिक सावधान हो जाइये, अभी पता चल जाता है।

(दोनों चुपचाप देखते और सुनते है)

जनमेजय — (धीरे से) अजी देखी, वह उस झाड़ी में छिपा हुआ-सा जान पड़ता है।

भद्रक — नहीं पृथ्वीनाथ, ऐसी जगह नहीं छिपते।

जनमेजय — चुप रहो। निकल जायगा। (बाण चलाता है। झाड़ों में क्रन्दन और धमाका)

जनमेजय — यह क्या?

भद्रक — क्षमा हो देव, मनुष्य का-सा स्वर सुनाई देता है।

(दोनों झपटे हुये जाते है और घायल ऋषि को उठा लाते हैं)

जनमेजय — अनर्थ हो गया! हाय रे भाग्य! आये थे मृगया खेलकर हृदय को बहलाने, यहाँ हो गया ब्रह्म-हत्या का महापातक! तपोनिधे! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा? आप कौन है? आपकी अन्तिम आज्ञा क्या है?

ऋषि — तुम आर्यावर्त्त के सम्राट हो। (ठहर कर) अच्छा शान्त होकर सुनो। अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है। आह! अब मैं नहीं बच सकता। मैं यायावर वंश का जरत्कारु हूँ।

ओह! बड़ी वेदना है! तुम लोग कोमल मृगों पर इतने तीखे बाण चलाते हो! जनमेजय, मैं तुमको क्षमा करता हूँ। किन्तु कर्मफल तो स्वयं समीप आते है, उनसे भाग कर कोई बच नहीं सकता। मेरा पुत्र आस्तीक तुम्हारी समस्त ज्वालाओं को शान्त करेगा। स्मरण रखना, मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियत का दास है। — आह! जल —

(भद्रक जाकर जल लाता है, जनमेजय जल पिलाता है)

जनमेजय — तपोधन, मेरा हृदय मुझे धिक्कार की ज्वाला में भस्म कर रहा है। मैं ब्रह्म-हत्या का अपराधी हुआ हूँ! भगवन् क्षमा करें!

जरत्कारु — राजन्! क्षमा! (छटपटा कर मर जाता है)

(यवनिका)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(तपोवन में आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश)

मणिमाला — भाई! आज तो बहुत विलम्ब हुआ।

आस्तीक — हाँ मणि, आज विलम्ब तो हुआ। हम लोगों ने अपना पाठ समाप्त कर लिया है और पूजा के लिये फूल भी रख दिये है। चलो, उस झरने पर बैठ कर थोड़ा विश्राम करे।

(दोनों आगे बढ़कर बैठते है)

मणिमाला — पिताजी को देखे बहुत दिन हुए। जी चाहता है, एक बार जाकर उनके दर्शन करूँ, और माँ की गोद में सिर रखकर रोऊँ।

आस्तीक — पगली! भला रोने की भी कोई कामना है?

मणिमाला — हाँ भाई! तुम लोगों के तो बड़े-बड़े मनोरथ, बड़ी-बड़ी अभिलाषा होती है, किन्तु हम लोगों के कोमल प्राणों में एक बड़ी करुणामयी मूर्च्छना होती है। संसार को उसी सुन्दर भाव में डूबा दूँ, उसी का रंग चढ़ा दूँ, यही मेरी परम कामना है। कभी-कभी तो

मुझे यह चिन्ता होती है कि ऐसे कोमल हृदय पर हाड़-मांस का यह आवरण क्यों है, जो दिन-रात गर्व से फूला रहता है और हृदय को हृदय से मिलने नहीं देता!

आस्तीक — बहन, तुम न जाने कैसी और कहाँ की बातें करती हो। उन बातों का इस वर्तमान जीवन से भी कोई सम्बन्ध है या नहीं?

मणिमाला — वे इसी लोक की बातें है। मुझसे तो मानो कोई कहता है कि महाशून्य में विश्व इसीलिये बना था। यही उद्देश्य था कि वह एक निर्मल स्रोतस्विनी की तरह नील वनराजि के बीच, यूथिका की छाया में बह चले, और उनकी मृदु वीचि से सुरभित पवन के परमाणु आकाश की शून्यता को परिपूर्ण करें।

आस्तीक — क्या तुम कोई स्वप्न सुना रही हो?

मणिमाला — भाई, यह स्वप्न नहीं है, भविष्य की कल्पना भी नहीं है। जब सन्ध्या को अपने श्याम अंग पर तपन-रश्मियों का पीला अंगराग लगाये देखती हूँ और फिर उस सुनहले शून्य में वसन्त के किसी कोकिल को गाते हुए उड़ जाते देखती हूँ, तब हृदय में जो भाव उत्पन्न होते है, वे स्वयं मेरी समझ में भी नहीं आते। किन्तु फिर भी जैसे कोई कहता हो कि उस सुदूरवर्त्ती शून्य क्षितिज के प्रत्यक्ष से उस कोकिल का कोई सम्बन्ध है।

आस्तीक — क्यों मणि, यह सब क्या है? इसका कुछ तात्पर्य भी है या केवल कुहुक है? इन मांस-पिण्डों में क्यों इतना आकर्षण, और कहीं-कहीं क्यों ठीक इसके विपरीत है? जिसको स्नेह कहते है, जिसको प्रेम कहते है, जिसको वात्सल्य कहते है, वह क्या कभी-कभी चुम्बक के समान उसे साथ के लिए दौड़ पड़ता है, जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं? और जहाँ उसका उद्भव है, वहाँ से क्यों कोई सम्पर्क नहीं?

मणिमाला — मैं समझ गयी भाई? क्या वह बात मुझे नहीं खटकती? बुआ को तुमसे कुछ स्नेह नहीं है। किन्तु भाई, हमारी अयोग्यता को, हमारे अपराध का, दण्ड देकर लोग हमें और भी दूर कर देते है। जिसके हम कोई नहीं है, वह तो अनजान के समान साधारण मनुष्यता का व्यवहार कर सकता है, किन्तु जिससे हमारी घनिष्ठता है, जिससे कुछ सम्पर्क है, वही हमसे घृणा करता है, हमारे प्रति द्वेष को अपने हृदय में गोपनीय रत्न के समान छिपाये रहता है। भाई इसी से कहती हूँ कि माँ की गोद में सिर रख कर रोने को जी चाहता है। मैं स्त्री हूँ, प्रकट में रो सकूँगी। किन्तु तुम लोग अभागे हो, तुमको खुलकर रोने का अधिकार नहीं। रोओगे तो तुम्हारे पुरुषत्व पर धक्का लगेगा। तुम रोना चाहते हो, किन्तु रो नहीं सकते, यह भारी कष्ट है। तुम्हारे पिता नहीं रहे, उनकी हत्या हो गई! और माँ! (आस्तीक की डबडबाई

आँखें देखकर) नहीं-नहीं भाई, क्षमा करो। मैंने तुम्हें रुला दिया, यह मेरा अपराध है। (आस्तीक के आँसू पोंछती है)

आस्तीक — नहीं मणि, मेरी भूल थी। रोना और हँसना ये ही तो मानवी सभ्यता के आधार है। आज मेरी समझ में यह बात आ गई कि इन्हीं के साधन मनुष्य की उन्नति के लक्षण कहे जाते है।

(एक ओर से जनमेजय का प्रवेश, दोनों को देखकर जनमेजय आड़ में खड़ा हो जाता है)

जनमेजय — (स्वगत) मनुष्य क्या है? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, या उसकी क्रीड़ा का उपकरण! फिर क्यों वह अपने आपको कुछ समझता है? आज इस आश्रम के महर्षि से इसका रहस्य पूछना चाहिए! अहा! कैसा पवित्र स्थान है! और यह देवबाला भी कैसी मनोहर है!

(नेपथ्य में संगीत)

जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख पाता है।
मानव, तूने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है॥

आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्ववश तब कैसे था।
महाशून्य के तट में पहला चित्रकार क्यों आता है॥
शुद्ध नाद था बड़ा सुरीला, कोई विकृति न थी उसमें।
कौन कल्पना करके उसमें मींड़ लगाकर गाता है॥
कल्प-कल्प की भाँति दुःख को क्षण भर का सुख भला लगा।
असि-धारा पर धरा हुआ सुख, उससे कैसा नाता है॥
दुख ने क्या दुख दिया तुझे, कुछ इसका कभी विचार किया।
चौंक उठा तू झूठे दुख पर, कुछ भी तुझे न आता है॥
कारण, कर्म न भिन्न कही है, कर्म! कर्म चेतनता है।
खेल खेलने आया है तू, फिर क्यों रोने जाता है॥
इस जीवन को भिन्न मानकर, क्षण-क्षण का विभाग करता।
लीली से तू दुखी बन गया, लीला से सुख पाता है॥
तू स्वामी है, तू केवल है, स्वच्छ सदा तू निर्मल है।
जो कुछ आवे, करता चल तू, कही न आता-जाता है॥

आस्तीक — बहन, माणवक लौट आया है। यह उसी का स्वर है। मैं जाऊँ, उससे मिल आऊँ। तुम अभी ठहरोगी न?

मणिमाला — हाँ भाई, मैंने इस झरने का बहना अभी जी भर नहीं देखा। तुम चलो, मैं भी थोड़ा ठहर कर आती हूँ?

(आस्तीक का प्रस्थान)

जनमेजय — (प्रकट होकर) अहा! कैसा रमणीक स्थान है! (मानो अभी देख पाया हो) अरे! वन में देवबाला-सी आप कौन है?

मणिमाला — मैं नागकन्या हूँ! क्या आप आतिथ्य चाहते है?

जनमेजय — शुभे! क्या यहाँ ऐसा स्थान है?

मणिमाला — आर्य! समीप ही में महर्षि च्यवन का आश्रम है। मेरा भाई उन्हीं के गुरुकुल में पढ़ता है। मैं भी थोड़े दिनों के लिए यहीं आ गई हूँ। ऋषि-पत्नी मुझे भी शिक्षा देती है।

जनमेजय — भद्रे, यदि तुम्हारा भी परिचय पा जाऊँ, तो मैं विचार करूँ कि आतिथ्य ग्रहण कर सकता हूँ या नहीं।

मणिमाला — मैं नागराज तक्षक की कन्या हूँ, और जरत्कारु ऋषि का पुत्र आस्तीक मेरा भाई है।

जनमेजय — यह कैसा रहस्य! क्या कहा जरत्कारु?

मणिमाला — हाँ, यायावर जरत्कारु ने मेरी बुआ नाग कुमारी मनसा से ब्याह किया था।

जनमेजय — नागकुमारी, मैं क्षमा चाहता हूँ। इस समय मैं तुम्हारा आतिथ्य नहीं ग्रहण कर सकता, क्योंकि मुझे एक पुरोहित ढूँढ़ना है। मैं पौरव जनमेजय हूँ।

मणिमाला — (सम्भ्रम से) – स्वागत! माननीय अतिथि, आपको इस गुरुकुल का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करना चाहिये। नहीं तो कुलपति सुनकर हम लोगों पर रुष्ट होंगे।

जनमेजय — उदारशीले, धन्यवाद! इस समय मुझे आवश्यक कार्य है। फिर कभी आकर उनके दर्शन करूँगा।

मणिमाला — मैं समझ गयी। आप मुझे शत्रु-कन्या समझते है, इसीलिये —

जनमेजय — नहीं भद्रे, तुम्हारे सरल मुख पर तो शत्रुता का कोई चिह्न ही नहीं है। ऐसा पवित्र सौन्दर्य मुख-मण्डल तो मैंने कहीं नहीं देखा।

मणिमाला — (लज्जित होकर) आप आर्य जाति के सम्राट है न!

जनमेजय — किन्तु मैं तो तुम-सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ। (जाता है)

मणिमाला — (उधर देखती हुई) ऐसी उदारता-व्यंजक मूर्ति, ऐसा तेजोमय मुख-मण्डल! यह तो शत्रुता करने की वस्तु नहीं है। (कुछ सोचकर) मैं ही भ्रम में हूँ। मैं जिसका सुन्दर व्यवहार देखती हूँ, उसी के साथ मेरा स्नेह हो जाता है। नहीं, नहीं, यह मेरी विश्व-मैत्री का उस सरमा यादवी की शिक्षा का फल है।

किन्तु यहाँ तो अन्तःकरण में एक तरह की गुदगुदी होने लग गयी!

(गुनगुनाते हुए शीला का प्रवेश)

मणिमाला — आओ सखि! मैं तो बड़ी देर से तुम्हारी राह देख रही हूँ। तुमको तो गाने से छुट्टी नहीं मिलती। मार्ग में चलते हुए भी गाती रहती हो।

शीला — सखि! अपना वर ढूँढ़ती फिरती हूँ।

मणिमाला — अरे, तुम्हारा तो ब्याह हो चुका है न?

शीला — क्या तुम पागल हो गयी हो! अभी तो बात पक्की हुई थी।

मणिमाला — हाँ, हाँ, सखि! मैं भूल गई थी।

शीला — और जब किसी से तुम्हारा ब्याह हो जाय, तब भी कभी-कभी इसी तरह पति को भूल जाना, दूसरा वर ढूँढ़ने लगना।

मणिमाला — चलो! तुम भी ठठोल हो। अरे क्या सोमश्रवा तुझे मनोनीत नहीं है?

शीला — अब तो नहीं है।

मणिमाला — क्यों, क्या इतने ही दिनों में बदल गये?

शीला — नहीं, सखि! एक बड़ी भयानक बात हो गई है। भावी पति सोमश्रवा मुझसे ब्याह कर लेने पर पौरव-सम्राट् जनमेजय के राजपुरोहित बनेंगे।

मणिमाला — तब तो तुम्हें और भी प्रसन्न होना चाहिये।

शीला — जो अपने को मनुष्य से कुछ अधिक समझते है, उनसे मैं बहुत डरती हूँ। राज-सम्पर्क हो जाने से उन्हें विश्वास हो जाता है कि हम किसी दूसरे जगत के है।

मणिमाला — किन्तु मैं तो समझती हूँ कि ऐसे तुच्छ विचार रखने वाले साधारण मनुष्यों से भी नीचे है।

शीला — सखि, तुम ऐसा सोच सकती हो, क्योंकि तुम भी नागराज की कन्या हो। किन्तु मैं तो साधारण विप्र-कन्या हूँ।

मणिमाला — अहा! कैसी भोली है! क्या कहना!

शीला — (हँसकर) राजकुमारी, सुना है, आज उनके आश्रम में फिर सम्राट् जनमेजय आनेवाले है।

मणिमाला — सखि, जब तुम सम्राट् की पुरोहितानी होगी, तह हम लोगों पर क्यों कृपा रक्खोगी!

शीला - और यदि कहीं तुम्हीं सम्राज्ञी हो जाओ, तब?

मणिमाला — (लज्जित होकर) चल पगली!

आस्तीक — (प्रवेश करके) महर्षि ने तुम लोगों को बुलाया है।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(पथ में एक ओर से दामिनी और दूसरी ओर से माणवक का प्रवेश)

दामिनी — मैं किधर आ निकली! राह भूल गयी हूँ।

माणवक — आप कहाँ जाना चाहती है?

दामिनी — मैं — मैं —

माणवक — हाँ-हाँ, आप कहाँ जाएँगी?

दामिनी — मैं बता नहीं सकती — मैं जानती ही नहीं।

माणवक — शुभे! संसार में बहुत-से लोग ऐसा है जो जाना तो चाहते है, परन्तु कहाँ जाना चाहते है, इसका उन्हें कुछ भी पता नहीं।

दामिनी — पर क्या आप बतला सकते हो?

माणवक — (स्वगत) यह अच्छी रही! बड़ी विचित्र स्त्री मिली। समझ में नहीं आता कि यह कोई बनी हुई मायाविनी है या सचमुच कोई भूली-भटकी है।

दामिनी — आप बोलते क्यों नहीं?

माणवक — मुझे अधिक बातें करने का अभ्यास नहीं। मैं यही नहीं जानता कि आप कहाँ जाना चाहती है, तब कैसे और क्या बताऊँ! मुझे —

दामिनी — आप कहाँ रहते है?

माणवक — यह न पूछो। मैं संसार की भूली हुई वस्तु हूँ। न मैं किसी को जानना चाहता हूँ और न कोई मुझे पहचानने की चेष्टा करता है। तुमने कभी शरद के विस्तृत व्योम-मण्डल में रुई से पहल के समान एक छोटा-सा मेघ-खण्ड देखा है? उसको देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक वल्लरी की नन्हीं-से पत्ती के छोर पर विदा होने वाली श्यामा रजनी के शोकपूर्ण अश्रु-बिन्दु के के समान लटकते हुए, हिमकण को कभी देखा है? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघ-खण्ड या हिमकण की तरह मेरी

भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ और कब तक रह सकूँगा?

दामिनी — आश्चर्य! तुम तो एक पहली हो।

माणवक — मैं ही नहीं, यह समस्त विश्व भी एक पहेली है। हर्ष-द्वेष, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध —

दामिनी — क्या कहा?

माणवक — प्रतिशोध! क्या ये सब पहेली नहीं?

दामिनी — हाँ हाँ, स्मरण आया — प्रतिशोध! मुझे प्रतिशोध लेना है!

माणवक — किससे? क्या उसे लेकर तुम रख सकोगी? वह जहाँ रहेगा, जलाया करेगा, डंक मारा करेगा और तड़पाया करेगा। उसे तुम सँभाल नहीं सकोगी। और जिसे तुम धारण नहीं कर सकती, उसे तुम लेकर क्या करोगी? छोड़ो, उसके पीछे न पड़ो। देवि, इसी में तुम्हारा कल्याण होगा। एक मैं ही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। चारों ओर मारा-मारा फिर रहा हूँ।

दामिनी — क्या तुमको भी किसी से प्रतिशोध लेना है? वाह! तब तो हम और तुम एक पथ के पाथिक है।

माणवक — क्षमा करो, मैं उस पथ पर बहुत ठोकरें खा चुका हूँ। अब उस पर चलने का साहस नहीं, बल नहीं। तुम जाओ, तुम्हारा मार्ग और है, मेरा और!

दामिनी — तब मुझको ही वहाँ पहुँचा दो।

माणवक — कहाँ?

दामिनी — (कुछ सोचकर) तक्षक के पास।

माणवक — (चौंककर) वहाँ! मैं नहीं जा सकता। और तुम दुर्बल रमणी हो लौट जाओ, दुस्साहस न करो।

दामिनी — नहीं, मुझे वहाँ जाना आवश्यक है। मेरे शत्रु का एक वही शत्रु है। अच्छा, और कहाँ जाऊँ, तुम्हीं बता दो।

माणवक — मैं — नहीं (देखकर) लो वे स्वयं इधर आ रहे है!

(माणवक का प्रस्थान, तक्षक का प्रवेश)

तक्षक — सुन्दरी, इस विजन पथ में, इस बीहड़ स्थान में तुम क्यों आई हो?

दामिनी — क्या आप ही तक्षक है?

तक्षक — क्यों, कुछ काम है?

दामिनी — हाँ, पर पहले अपना नाम बतलाइये।

तक्षक — हाँ, मेरा ही नाम तक्षक है।

दामिनी — मैं प्रतिशोध लेना चाहती हूँ।

तक्षक — किससे?

दामिनी — उत्तंक से, जिससे आप मणिकुण्डल लेना चाहते थे।

तक्षक — तुम कौन हो?

दामिनी — मैं चाहे कोई होऊँ। जो उत्तंक को मेरे अधिकार में कर देगा, उसे मैं मणिकुण्डल दूँगी।

तक्षक — ठहरो, तुम बड़ी शीघ्रता से बोल रही हो।

दामिनी — क्या विश्वास नहीं होता?

तक्षक — होता है, पर वह काम इसी क्षम तो नहीं हो जायगा।

दामिनी — चेष्टा करो। नहीं तो तुम इस योग्य ही न रह जाओगे कि उसे पकड़ सको।

तक्षक — (हँसकर) क्यों?

दामिनी — वह तुमसे बदला ले के लिए जनमेजय के यहाँ गया है बहुत शीघ्र ही तुम उसके कुचक्र में पड़ोगे।

तक्षक — इसका प्रमाण? स्मरण रखना कि तक्षक से खेलना सहज नहीं है। (गम्भीर हो जाता है)

दामिनी — मैं अच्छी तरह जानती हूँ, तभी कहती हूँ।

तक्षक — अच्छा, तो मेरे यहाँ चलो। मैं इसका शीघ्र प्रबन्ध करूँगा। तुम डरती तो नहीं हो।

दामिनी — नहीं। चलो, मैं चलती हूँ। (दोनों जाते है)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(प्रकोष्ठ में जनमेजय और उत्तंक)

जनमेजय — आपकी यह बात मुझे जँच गई है, और मैं ऐसा ही करूँगा भी। किन्तु यह कुचक्र भीषण रूप धारण कर रहा है।

उत्तंक — मैं सब सुन चुका हूँ, और जानता हूँ कि कुछ दुर्बुद्धियों ने यादवी सरमा, तक्षक तथा आपके पुरोहित काश्यप के साथ मिलकर षडयन्त्र रचा है। किन्तु आपको इससे भयभीत न होना चाहिये।

जनमेजय — भगवन्! यह तो ठीक है, पर मुझसे अनजान में जो ब्रह्महत्या हो गयी, उससे मैं और भी खिन्न हूँ। काश्यप मुझ पर

अभियोग लगाते है कि मैंने जानबूझकर यह ब्रह्महत्या की। ब्राह्मण-वर्ग और आरण्यक-मण्डल भी इससे कुछ असन्तुष्ट हो गया है। पौर, जानपद आदि सब लोगों में यह आतंक फैलाया जा रहा है कि राजा यौवन-मद में स्वेच्छाचारी हो गया है, वह किसी बात नहीं सुनता। इधर जब मैं आपसे तक्षक द्वारा अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य सुनता हूँ, तो क्रोध से मेरी धमनियाँ बिजली की तरह तड़पने लगती है। किन्तु मैं क्या करूँ, परिषद् भी अन्यमनस्क है, और कर्मचारी भी इस आतंक से कुछ डरे हुए है। बेमन का काम रहे है।

उत्तंक — लकड़हारे से तो आप सुन ही चुके कि इसी काश्यप ने तक्षक से मिलकर राज-निधन कराया है। और यही लोलुप काश्यप फिर ऐसी कुमन्त्रणाओं में लिप्त हो, तो क्या आश्चर्य?

जनमेजय — होगा, तो फिर मैं क्या करूँ?

उत्तंक — सम्राट को किंकर्त्तव्य विमूढ़ होना शोभा नहीं देता। मनोबल संकलित कीजिये, दृढ़-प्रतिज्ञ हृदय के सामने से सब विघ्न स्वयं दूर हो जाएँगे। सबल हाथों में दण्ड ग्रहण कीजिये। दुराचारी कोई क्यों न हो, दण्ड से मुक्त न रहे। सम्राट्! अपने पिता का प्रतिशोध लीजिये। जिससे इस ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा भी पूरी हो। इन दुर्वृत्त नागों का दमन कीजिये।

जनमेजय — किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह कर्म करने में स्वतन्त्र है?

उत्तंक — अपने कलंक के लिये रोने से क्या वह छूट जायगा? उसके बदले में सुकर्म करने होगे। सम्राट्! मनुष्य जब तक यह रहस्य नहीं जानता, तभी तक वह नियति का दास बना रहता है। यदि ब्रह्महत्या पाप है, तो अश्वमेघ उसका प्रायश्चित भी तो है। अपने तीनों वीर सहोदरो को तीन दिशाओं में विजयोपहार ले आने के लिये भेजिये, और आप स्वयं इन नागों का दमन करने के लिये तक्षशिला की ओर प्रस्थान कीजिये। अश्वमेघ के व्रती होइये। सम्राट्! जब तक मेरी क्रोधाग्नि में दुर्वृत्त नाग जलकर भस्म न होंगे, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। बल-मद से मत्त चाहे कोई व्यक्ति हो, ब्राह्मण की अवज्ञा करके उसका फल अवश्य भोगेगी। बतलाइये, आप नियति द्वारा आयोजित कलंक का प्रतिकार, अपने सुकर्मो से, नियामक बन कर करना चाहते हैं या नहीं? और मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी करना चाहते है या नहीं? अन्यथा मैं दूसरा यजमान ढूँढूँ।

जनमेजय — आर्य उत्तंक! पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेघ पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ होगा।

उत्तंक — सन्तुष्ट हुआ। सम्राट! मेरा आशीर्वाद है कि जीवन की समस्त बाधाओं को हटा कर आपका शान्तिमय राज्य बढ़े। अब शीघ्रता कीजिये। मैं जाता हूँ।

जनमेजय — मैं प्रस्तुत हूँ। आर्य!

(उत्तंक का प्रस्थान। वपुष्टमा का प्रवेश)

वपुष्टमा — जब देखो, तब वही चिन्ता का स्वाँग! आर्यपुत्र क्यों चिन्ता-मग्न है? किस समस्या में पड़े है?

जनमेजय — देवि! यह साम्राज्य तो एक बोझ हो गया है?

वपुष्टमा — तब फिर क्यों नहीं किसी दूसरे के सिर मढते?

जनमेजय — यदि ऐसा कर सकता तो फिर बात क्या थी!

वपुष्टमा — तब यही कीजिये। जो सामने आवे, उसे करते चलिये।

जनमेजय — करूँगा। अब एक बार कर्म-समुद्र में कूद पड़ूँगा, चाहे जो कुछ हो। आलस्य अब मुझे अकर्मण्य नहीं बना सकता। प्रिये, बहुत प्यास लगी है।

वपुष्टमा — कोई है? प्रमदा!

प्रमदा — (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो। क्या आज्ञा है?

वपुष्टमा — रत्नावली से कहो द्राक्षासव ले आवे।

(प्रमदा का प्रस्थान)

वपुष्टमा — आर्यपुत्र! आज रत्नावली का गान सुनिये।

जनमेजय — मेरी भी इच्छा थी कि आज आनन्द-विनोद करूँ। फिर कल से तो नाग-दमन और अश्वमेघ होगा ही।

वपुष्टमा — क्या, नाग-दमन और अश्वमेघ? जब देखो, तब युद्ध-विग्रह। एक घड़ी विश्राम नहीं। पुरुष भी कैसे कठोर होते है!

जनमेजय — यही उनकी भाग्यलिपि है? अदृष्ट है। क्या वे विलास, प्रमोद और ललित कला के सुकुमार अंक में समय नहीं व्यतीत करना चाहते है? किन्तु क्या करें!

वपुष्टमा — और स्त्रियों के भाग्य में है कि अपनी अकर्मण्यता पर व्यंग सुना करें। (रोष करती है)

जनमेजय — प्रिये! ऐसा स्वर क्यों? स्नेह में इतनी रुखाई! (स्नेहपूर्वक हाथ पकड़ता है)

(रत्नावली और प्रमदा का प्रवेश। नृत्य और गान)

मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की तान।
सुखी कर साजन को सजनी, छबीली छोड़ हठीला मान॥
प्रकृति की मदमाती यह चाल, देख ले दृग भर पी ले संग।
डाल दे गलबाही का जाल, हृदय में भर ले प्रेम उमंग॥
कलित है कोमल किसलय कुंज, सुरभि पूरित सरोज मकरन्द।
खोल दे मुख-मण्डल सुख पुंज, बोल दे बजे विपंची वृन्द॥

(जनमेजय और वपुष्टमा स्नेह दृष्टि से परस्पर देखते हैं)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(प्रकोष्ठ में दामिनी)

दामिनी — मेरा जी घबराने लगा है। प्रतिशोध लेने के लिए मैं कैसे भयानक स्थान में आ गयी हूँ! क्या ये सब मनुष्य है? भयानक से भयानक काम करने में भी इन्हें तनिक रुकावट नही। मुझे केवल उत्तंक से ही प्रतिशोध लेना था। यहाँ तो राजा और परिषद सभी के विरुद्ध एक गुप्त षडयन्त्र चल रहा है। दुर्भाग्य

कि मैं भी उसी कुकर्म में सहायक हो रही हूँ! मनुष्य जब एक बार पाप का नागपाश में फँसता है, तब वह उसी मे और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरम्भ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नये-नये रूपों पर आसक्त होना पड़ता है। आज मुझे क्यों सबसे भय लग रहा है? क्या मैं यहाँ से चली जाऊँ?

(मद्यप अश्वसेन का प्रवेश)

अश्वसेन — हहहह! एक, दो, तीन! मुझे भी लोगों ने निरा मूर्ख समझ रक्खा है! किसी प्रकार उस खाण्डव-दाह से निकल भागा, प्राण बचे। अब इस द्वन्द्व में पड़ने की आवश्यकता नहीं। हमारी जाति — ओह! व्यर्थ की बात। यदि उसका नाश ही हुआ तो क्या! हमारा राष्ट्र गया, जाय। मुझे तो स्वर्णकलशवासिनी अप्सरे! तुम्हारी सेवा का अवसर मिले। बस! अच्छा जब तक मैं पी रहा हूँ, किसी कोमल कण्ठ से कुछ गाना चाहिये। कौन है? (देखकर) अरे तुम कौन हो! यहाँ क्यों छिपी हो? तुम सुन्दर तो हो! गाना भी अवश्य जानती होगी, क्योंकि सुन्दर स्त्रियाँ गाना और रोना दोनों अच्छी तरह जानती हैं।

दामिनी — अश्वसेन, आज तुमने अधिक सुरा पी ली है। मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ, मेरा अपमान न करो। मुझे इस समय छोड़ दो।

अश्वसेन — अपमान! यह तो आदर है, शिष्टता है! मेरे साथ नाचना, इसमें अपमान! मैं नागराज कन्या — नहीं, मैं कुमार!

दामिनी — मैं तुम्हारे पिता को बुलाती हूँ, नहीं तो मुझे छोड़ दो।

अश्वसेन — तुम भी कैसी अरसिका हो! इस आनन्द में बुड्ढे पिता का क्या काम? (आगे बढ़ता है)

दामिनी — हटो, नहीं तो अभी —

अश्वसेन — अच्छा, तुम एक बार अत्यन्त क्रुद्ध हो जाओ। फिर मैं तुम्हें मनाऊँगा। बड़ा आनन्द आवेगा — हाँ सुन्दरी! (और मद्य पीता है)

दामिनी — कैसी विडम्बना है! हे भगवान, मेरा उद्धार करो!

अश्वसेन — सुन्दरी, कामकन्दले! तनिक इस सघन घन की ओर देखो। इसके कलेजे में छिपी हुई बिजली को देखो। इन सबको न देखो, तो इस उद्दण्ड वृक्ष से लिपटी हुई लता को ही देखो। (हाथ पकड़ता है)

दामिनी — हटो अश्वसेन, मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूँगी — चाहे प्राण चले जाएँ। दुराचारी छोड़ दे! ईश्वर से डर!

अश्वसेन — (कुछ सँभलकर) सुन्दरी, मैं मनुष्य हूँ। मेरी समझ में यही मनुष्यता है कि रमणीय प्रलोभन और भयानक सौन्दर्य के सामने घुटने टेक दूँ। तुम भय और आश्चर्य से पाप का नाम लेकर मुझे डरा न सकोगी। मैं पाप और पुण्य की सीमा पर खड़ा हूँ, अब मान जाओ।

दामिनी — बचाओ! बचाओ!!

(सवेग मणिमाला का प्रवेश)

अश्वसेन — तुम कौन हो?

मणिमाला — भइया, तुम एक दुर्बल रमणी पर अत्याचार करोगे? मुझे स्वप्न में भी इसका अनुमान न था। मेरे पिता जी की सन्तान होकर तुम ऐसी नीचता करोगे! हाय! इस नाग-कुल में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए, तभी तो उसकी यह दशा है!

अश्वसेन — मणिमाला!

मणिमाला — भाई, तुम देख रहे हो कि नाग-कुल पर कैसी विपत्ति है? फिर भी तुम इस प्रकार से अभिनय कर रहे हो!

अश्वसेन — मणि, मैं लज्जित हूँ।

मणिमाला — अच्छा भाई! पिताजी को अब इस बात की सूचना नहीं होगी। किन्तु! हाय! मेरा हृदय काँप उठता है। भाई, पुरुषोचित काम करो। अत्याचार से पीड़ितों की रक्षा करने में पौरुष का उपयोग करो। तुम वीरपुत्र हो।

अश्वसेन — अब और अधिक लज्जित न करो। मैं सबसे क्षमा प्रार्थी हूँ। लो, मैं अभी रण-प्रांगण को चला! (सवेग प्रस्थान)

दामिनी — अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं रहना चाहती। मणि, मैं जाऊँगी।

मणिमाला — अच्छा, (कुछ ठहर कर) दो-चार दिन में चली जाना। अभी तो मैं आयी हूँ। (हाथ पकड़कर ले जाती है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(कानन के एक कुटीर में तक्षक, वेद, काश्यप, सरमा और कुछ नाग तथा ब्राह्मण बैठे है)

तक्षक — मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ हूँ। कौरवों का नाश होने पर परिषद की सत्ता आप लोगों के हाथ रहेगी, और हम लोग क्षत्रिय होकर आप लोगों के स्वाध्याय तथा शान्ति की रक्षा करेंगे। ब्राह्मणों पर हमारा कुछ भी नियन्त्रण न रहेगा।

काश्यप — हाँ जी, यह तो ठीक ही है।

वेद — किन्तु शक्ति पा जाने पर तुम भी अत्याचारी न हो जाओगे, इसका क्या निश्चय है?

ब्राह्मण — सुनो जी, हम लोग आरण्यक, वानप्रस्थ, शान्त तपोधन ब्राह्मण है। अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए एक शुद्ध राजसत्ता चाहते हैं। हमारा किसी से द्वेष नहीं है।

सरमा — अपने को अलग करके बचे हुओं पर यह दया दिखायी जाती है, किन्तु आप अपने को सर्वोच्च समझते है!

काश्यप — क्यों सरमा, क्या इसमें भी कोई सन्देह है?

सरमा — नहीं आर्य काश्यप! इसमें क्या सन्देह है! आप और भी ऐसे-ऐसे उत्तम काम करें, विप्लव करें, किन्तु आपके सर्वोच्च होने में कौन सन्देह कर सकता है!

तक्षक — सरमा! क्या तुम भी ऐसा कहती हो? अपनी ही अवस्था पर विचार कर देखो। जो राजतन्त्र न्याय का ऐसा उदाहरण दिखा सकता है, क्या यह बदलने योग्य नहीं है।

सरमा — फिर भी एक दस्यु-दल को उसका स्थानापन्न बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है। धर्म का ढोंग करके, एक निर्दोष आर्य-सम्राट् को अपने चुंगल में फँसा कर, उसके पतित होने की व्यवस्था देना, जिससे वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है? सो भी यही तक नहीं, उसके कुल-भर को आर्य-पद से इस प्रकार वंचित कर देने की कुमन्त्रणा कहाँ तक अच्छी होगी।

काश्यप — स्वेच्छाचारिणी! जो अनार्यों की दासी हो चुकी है, जो अपनी मर्यादा बिलकुल खो चुकी है, क्या वह भी ब्राह्मणों के कर्त्तव्य की आलोचना करेगी?

सरमा — तुमने राजसभा में मुझे अपमानित किया था। आज फिर वही बात। ब्राह्मण! सहन की भी सीमा होती है। उस आत्मसम्मान की प्रवृति को तुम्हारे बनाये हुए द्विज-महत्ता के बन्धन नहीं रोक सकेंगे। मैं यादवी हूँ, अपमान का बदला षड्यन्त्र करके नहीं लूँगी। यदि मेरे पुत्र की बाहुओं में बल होगा, तो वह स्वयं प्रतिशोध ले लेगा। मैं अब जाती हूँ, परन्तु मेरी बात स्मरण रखना। (वेग से जाती है)

काश्यप — नागराज, इसे अभी मार डालो! नहीं तो यह सारा भण्डा फोड़ देगी!

(तक्षक दौड़कर उसे पकड़ लाता है, दूसरी ओर से मनसा का प्रवेश)

मनसा — नागराज, क्या करते हो! स्त्रियों पर यह अत्याचार! छोड़ो इसे! पहले अपनी रक्षा करो!

(तक्षक सरमा को छोड़ देता है)

तक्षक — क्या! अपनी रक्षा!

मनसा — हाँ, हाँ, अपनी रक्षा! जनमेजय की सेना फिर तक्षशिला में पहुँच गयी है। भाई वासुकि नाग-सेना एकत्र करके यथाशक्ति उन्हें रोक रहे हैं। आर्यों का यह आक्रमण बड़ा भयानक है। वे तुम लोगों से बढ़कर बर्बरता दिखला रहे हैं। जो लोग बन्दी होते हैं, वे अग्निकुण्ड में जला दिये जाते हैं। गाँव-के-गाँव दग्ध हो रहे हैं। नागजाति बिना रक्षक की भेड़ों के समान भाग रही है। आर्यों की भीषण प्रतिहिंसा जाग उठी है। जनमेजय कहता है कि

पिता को जलाकर मारने का प्रतिफल इन नागों को उसी प्रकार जलाकर दूँगा। हाहाकार मचा हुआ है।

सरमा — क्यों मनसा, अब मैं जाऊँ या तक्षक के हाथों प्राण दूँ? यादवी प्राणों की भिक्षा नहीं चाहती।

मनसा — सरमा! यदि हो सके, तो इस विपत्ति के समय नागों की कुछ सहायता करो।

सरमा — नहीं मनसा! यह आग तुम्हीं ने भड़कायी है। इसे बुझाने का साधन मेरे पास नहीं है।

काश्यप — और मैं, मैं क्या करूँ! हाय रे! मैं क्या — मैं क्या —

मनसा — तुम! तु घृणित पशु हो, चुप रहो!

काश्यप — सरमादेवी! मेरा अपराध — हाय रे क्षमा — ।

सरमा — मनसा! मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि मुझसे नागों का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा। (जाती है)

तक्षक — इधर हम लोग भी तो आर्य-सीमा के भीतर ही हैं! क्या किया जाय, कैसे पहुँचकर वासुकि की सहायता करूँ!

मनसा — चलो! मैं जानती हूँ, एक पथ है, जो तुम्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देगा।

काश्यप — मैं भी चलूँगा! यहाँ नहीं — पर हाय रे! यहाँ मेरा बड़ा धन है!

मनसा — सावधान! नागराज, ऐसे कृतघ्न का विश्वास न कीजिये।

(तक्षक और मनसा दोनों जाते हैं)

काश्यप — तब तो चलो भाइयो, हम भी चले।

सब ब्राह्मण — तुमने व्यर्थ हम लोगों पर भी एक प्रायश्चित चढ़ाया।

काश्यप — क्या मैंने तुम्हें बुलाया था?

पहला ब्राह्मण — काश्यप, यदि हम पहले से जानते कि तुम इतने झूठे हो, तो तुम से बात न करते!

दूसरा ब्राह्मण — तुम इतने नीच हो, यह हम पहले नहीं जानते थे।

तीसरा ब्राह्मण — तुम इतने घृणित हो —

काश्यप — अच्छा बाबा! हम सब कुछ है, तुम लोग कुछ नहीं हो। यदि दक्षिणा मिलती, तब तो चन्दन-चर्चित कलेवर लेकर सब लोग मलय-मन्थर गति से घर जाते और मेरी बढ़ाई करते! किन्तु अब तो व्यवस्था ही उलट गयी।

सब ब्राह्मण — तुमने सबको राजनिन्दा सुनने के पाप का भागी बनाया।

काश्यप — और फिर भी कुछ हाथ न आया! चलो!

(सब जाते हैं)

(सरमा गाती हुई आती है)

बरस पड़े अश्रु-जल, हमारा मान प्रवासी हृदय हुआ।
भरी धमनियाँ सरिताओं-सी, रोष-इन्द्रधनु उदय हुआ॥
लौट न आया निर्दय ऐसा, रूठ रहा कुछ बातों पर।
था परिहास एक-दो क्षण का, वह रोने का विषय हुआ॥
अब पुकारता स्वयं खड़ा उस पार; बीच में खाई है।
आऊँ क्या मैं भला बता दो, क्या आने का समय हुआ॥
जीवन भर रोऊँ, क्या चिन्ता! वैसी हँसी न फिर करना।
कहकर आने लगा इधर फिर क्यों अब ऐसा सदय हुआ॥

नाथ! अभिमान से मैं अलग हूँ, किन्तु स्नेह के अभिन्न हूँ। रमणी का अनुराग कोमल होने पर भी बड़ा दृढ होता है। वह सहज में छिन्न नहीं होता। जब वह एक बार किसी पर मरती है, तब उसी के पीछे मिटती भी है। प्राणेश्वर! इस निर्जन वन में तुम्हारी अप्रत्यक्ष मूर्ति के चरणों पर अभिमानिनी सरमा लोट रही है। देवता! तुम संकट में हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूँ! मेरा अश्रु-जल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन

करेगा, मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बनाकर तुम्हें सुरक्षित रक्खेगी! तुम्हारे लिये अपमानिता सरमा राजकुल में दासी बनेगी। (जाती है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(कानन में अग्निशाला में शीला और सोमश्रवा)

शीला — क्या गुरुजनों के सामने ही ऐसा प्रश्न कीजियेगा?

सोमश्रवा — हाँ, और नहीं तो क्या! पाणिगृहीता भार्या पितृकुल में वास करेगी तो मेरा अग्निहोत्र कैसे चलेगा?

शीला — नागराज की कन्या मणिमाला अब थोड़े ही दिनों तक और यहाँ रहेगी, और भाई आस्तीक का भी समावर्त्तन संस्कार होने वाला है। अभी वह सहमत नहीं होता है, किन्तु कुछ ही दिनों में स्वीकार कर लेगा। तब तक के लिए मैं क्षमा चाहती हूँ।

सोमश्रवा — तो फिर मैं भी यही रहूँ?

शीला — क्यों नहीं! फिर पुरोहित क्यों बने थे?

सोमश्रवा — प्रमादपूर्ण युद्धविग्रह का सम्पर्क मुझे तो नहीं अच्छा लगता। राजा ने मुझे तक्षशिला में बुलाया है। किन्तु देवि, मैं तो नहीं जाता। वह वीभत्स हत्याकाण्ड मुझसे नहीं देखा जायगा।

शीला — तो फिर यहाँ श्वसुर-कुल में रहोगे?

सोमश्रवा — नहीं, अपने पिता के आश्रम में रहूँगा। यहाँ से तो वह समीप ही है। कभी-कभी आकर तुम्हें भी देख जाया करूँगा।

शीला — किन्तु आर्यपुत्र! हम आरण्यकों को नगर में रहना कैसे अच्छा लगेगा?

सोमश्रवा — देवि, मुझे तो राजा की पुरोहिती नहीं रुचती। इन्हीं थोड़े दिनों में इन्द्रप्रस्थ से जी घबरा उठा है। मुझे तो राजा के साथ ही तक्षशिला जाना पड़ता, किन्तु इस प्रस्तुत युद्ध में कल्याण के लिए कई आकर्षण प्रयोग करने है, इसी से मैं यहाँ आरण्यक-मण्डल में चला आया हूँ। तुम भी भी वही चलो। सब लोग मिलते-जुलते रहेंगे।

शीला — जब यहीं समीप में रहना है, तब तो ठीक ही है। किसी से विच्छेद भी न होगा।

(मणिमाला का प्रवेश)

मणिमाला — शीला! बहन, अरे तू इतना लजाती क्यों है। यह लो, यह तो बोलती भी नहीं! तेरा वह परिहास-रसिक स्वभाव, वह विनोदपूर्ण व्यवहार, क्या सब कुछ भूल गयी?

(च्यवन का प्रवेश। सब प्रणाम करते हैं)

च्यवन — आयुष्मन् सोमश्रवा! तुमने राजपुरोहित का पद स्वीकार कर लिया, यह बहुत अच्छा किया।

सोमश्रवा — आर्य! यह सब आप लोगों की कृपा है।

च्यवन — वत्स, राज-सम्पर्क के अवगुण हम ब्राह्मणों को, आरण्यकों को, न सीखने चाहिये। दया, उदारता, शील, आर्जव, और सत्य का सदैव अनुसरण करना चाहिये।

सोमश्रवा — आर्य, ऐसा ही होगा।

च्यवन — वत्स! ऐसा काम करना जिसमें दुरात्मा काश्यप ने ब्राह्मणों की जो विडम्बना की है, वह सब धुल जाय और सब ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता प्रकट हो जाय! अध्यात्म-गुरु जब तक अपना सच्चा स्वरूप नहीं दिखलावेंगे, तब तक दूसरे भला कैसे

धर्माचरण करेंगे! त्याग का महत्त्व, जो हम ब्राह्मणों का गौरव है, सदैव स्मरण रहे। धर्म कभी धन के लिये न आचरित हो, वह श्रेय के लिये हो, प्रकृति के कल्याण के लिये हो, और धर्म के लिये हो। यही धर्म हम तपोधनों का परम धन है। उसकी पवित्रता शरत्कालीन जलस्रोत के सदृश, उसकी उज्ज्वलता शारदीय गगन के नक्षत्र-लोक से भी बढ़ कर और शीतल हो।

सोमश्रवा — आर्य! ऐसा ही होगा। मैंने राजा से प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई धर्म-विरुद्ध कार्य होगा, तो मैं पुरोहिती छोड़ दूँगा। अब मेरे लिये क्या आज्ञा है? मैं पिताजी को क्या उत्तर — !

च्यवन — (हँसकर) शीला तुम्हारे साथ जायगी। उसे कोई कष्ट नहीं होगा। वह दिन में दो बार वहाँ आ-जा सकती है।

मणिमाला — पिताजी! तो फिर मैं सबको एकत्र करूँ? सखियाँ इसकी विदाई करेंगी।

च्यवन — हाँ पुत्रियों, तुम अपने मंगलाचार कर लो!

(सब का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(तक्षशिला की एक घाटी में आर्य-सेना अवरोध किये हुये है। चण्ड भार्गव का प्रवेश)

चण्ड भार्गव — वीरों, तुमने आर्यों के प्रचण्ड भुज-दण्ड का प्रताप दिखला दिया। सम्राट् ने स्कन्धावार से तुम लोगों को बधाई भेजी है। इस पतित और दस्यु अनार्य नागों ने जान लिया कि निष्ठुरता और क्रूरता में भी आर्य-शक्ति पीछे नहीं है। वह मित्रों के साथ जितना स्नेह दिखलाती है, उतना ही शत्रुओं को कठोर दण्ड देना भी जानती है। आज के बन्दी कहाँ हैं?

एक सैनिक — अभी लाता हूँ। (जाकर बन्दी नागों को ले आता है)

चण्ड भार्गव — क्यों, अब तुम्हारी क्या कामना है? दौरात्म्य छोड़कर, आर्य-साम्राज्य की शान्त प्रजा होकर रहना तुम्हें स्वीकृत है या नहीं? तुम दस्युवत्ति छोड़ कर सभ्य होना चाहते हो या नहीं?

एक नाग — आर्य सेनापति! दस्यु कौन है, हम या तुम? जो शान्तिप्रिय जनता पर अपना विक्रम दिखाने का अभिमान करता है, जो 'स्वाहा' मन्त्र पढ़कर गाँव-के-गाँव जला देना अपना धर्म

समझता है, जो एक कि प्रतिहिंसा का प्रतिशोध अनेक से लेना चाहता है, वह दुरात्मा है या हम?

चण्ड भार्गव — हूँ! इतनी ऊर्ज्जस्विता!

नाग — क्यों नहीं! अपना स्वतन्त्रता की रक्षा के विचार से मैं मरने के लिए रणभूमि में आया था। यदि यहाँ आकर बन्दी हो गया, तो क्या मैं लज्जित होऊँ? हाँ, दुःख इस बात का है कि तुम्हें मारकर नहीं मर सका।

चण्ड भार्गव — तुम जानते हो कि इसका क्या परिणाम होगा?

नाग — वही जो औरों का हुआ है! होगा रण-चण्डी का विकट ताण्डव, आर्यों का स्वाहा-गान, और हमारे जीवन की आहुति! नाग मरना जानते है। अभी वे हीन-पौरुष नहीं हुए हैं। जिस दिन वे मरने से डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा। जो जाति मरना जानती रहेगी, उसी को पृथ्वी पर जीने का अधिकार रहेगा।

चण्ड भार्गव — मैं अपना कर्त्तव्य कर चुका। इनकी आहुति दो।

(सैनिक लोग नागों को एक ओर ढकेल कर फूस से घेरकर आग लगा देते है। आर्य सैनिक 'स्वाहा' चिल्लाते हैं। पहाड़ी में से एक गुफा का मुँह खुल जाता है, मनसा और तक्षक दिखायी देते हैं)

चण्ड भार्गव — अरे यही तक्षक है। पकड़ो-पकड़ो!

(चण्ड भार्गव आगे बढ़ता है। बाल खोले और हाथ में नंगी तलवार लिये हुए मनसा आकर बीच में खड़ी हो जाती है। तक्षक दूसरी ओर निकल जाता है। सब आर्यसैनिक स्तब्ध रह जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(पथ में माणवक और दामिनी)

माणवक — अब तुम निरापद स्थान में पहुँच गयी हो, मैं जाता हूँ।

दामिनी --न न न! कही फिर से अश्वसेन न आ जाय। मुझे थोड़ी दूर पहुँचा दो। तुम्हारी बात न मानकर मैंने बड़ा दुःख उठाया। परन्तु मेरा अपराध भूलकर थोड़ा-सा उपकार और कर दो।

माणवक — मैं जनसंसर्ग से दूर रहना चाहता हूँ। मुझे क्षमा करो।

दामिनी — मैं पथभ्रष्ट हो जाऊँगी।

माणवक — सो तो हो चुकी। अब भाग्य में होगा, तो घूम-फिर कर फिर अपने स्थान पर पहुँच ही जाओगी।

(वेद और त्रिविक्रम का प्रवेश)

वेद — वत्स त्रिविक्रम! आज और कितना चलना होगा?

त्रिविक्रम — गुरुदेव, किधर चलना है? जनमेजय के यज्ञ की ओर अथवा गुरु पत्नी को ढूँढ़ने?

वेद — ढूँढ़ तो चुके त्रिविक्रम! वह उल्का-सी रमणी अनन्त पथ में भ्रमण करती होगी। उसके पीछे किस छाया-पथ से जाऊँगा! दामिनी! अब भी मैं तुझे क्षमा करने के लिए प्रस्तुत हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि बड़े-बड़े विद्वान् भी प्रवृत्तियों के दास होते है, फिर ते तो एक साधारण स्त्री ठहरी।

त्रिविक्रम — पर अब वह मिलती कहाँ है?

वेद — जाने उसका भाग्य! चलो, यज्ञशाला की ओर चलें। परन्तु त्रिविक्रम! मुझे भय लग रहा है कि कही इस यज्ञ में कोई भयानक काण्ड संघटित न हो!

त्रिविक्रम — तब तो कुटीर की ओर लौटना ही ठीक होगा।

(दामिनी आकर पैरों पर गिरती है)

वेद — कौन दामिनी!

दामिनी — हाँ आर्यपुत्र! अपराधिनी को क्षमा कीजिये।

वेद — (निश्वास लेकर) क्षमा! दामिनी हृदय से पूछो, वह क्षमा कर सकेगा? परन्तु —

दामिनी — वह मेरा भ्रम था। परन्तु हृदय से नहीं, आप अपनी स्वाभाविक कृपा से पूछ देखिये। वही मुझे क्षमा कर देगी। मेरा और कौन है!

माणवक — आर्य! क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है। मैं भली-भाँति जानता हूँ, मानसिक दुर्बलताओं के रहते हुए भी यह स्त्री आचारतः पवित्र और शुद्ध है।

वेद — दामिनी, उजड़ा हुआ गुरुकुल देखकर क्या करोगी! चलो, यज्ञशाला की ओर ही चले। (माणवक से) भाई तुम कौन हो?

माणवक — यादवी सरमा का पुत्र।

त्रिविक्रम — सरमा तो आजकल जनमेजय के राजमन्दिर में ही है। वह छिपी हुई है तो क्या हुआ, मैं उसे पहचान गया हूँ।

माणवक — तो फिर मैं भी आप लोगों के साथ चलूँगा, एक बार माँ को देखूँगा। (सब जाते है)

(यवनिका)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(वेदव्यास और जनमेजय)

जनमेजय — आर्य! मुझे बड़ा आश्चर्य है!

व्यास — वत्स, वह किस बात का?

जनमेजय — यही की भगवान् बादरायण के रहते हुए ऐसा भीषण काण्ड क्यों कर हुआ? इस गृहयुद्ध में पूज्यपाद देवव्रत के सदृश महानुभाव क्यों सम्मिलित हुए?

व्यास — आयुष्मन्, तुम्हारे पितामहों ने मुझसे पूछकर कोई काम नहीं किया था, और न बिना पूछे मैं उनसे कुछ करने ही गया था, क्योंकि वह नियति थी। दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा-कन्दुक है। अन्ध-नियति कर्तृत्व-मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है, और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट् का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूतहित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।

जनमेजय — भगवन्, इसका क्या तात्पर्य?

व्यास — परमात्मशक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है। इसी का नाम है दम्भ का दमन। स्वयं प्रकृति की नियामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थसिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है। ऐसे कार्य कोई जान-बूझ कर नहीं करता, और न उनका प्रत्यक्ष में कोई बड़ा कारण दिखाई पड़ता है। उलट-फेर को शान्त और विचारशील महापुरुष ही समझते है, पर उसे

रोकना उनके वश की भी बात नहीं है, क्योंकि उसमें विश्व-भर के हित का रहस्य है।

जनमेजय — तब तो मनुष्य का कोई दोष नहीं, वह निष्पाप है!

व्यास —(हँसकर) किसी एक तत्व का कोई क्षुद्र अंश लेकर विवेचना करने से इसका निपटारा नहीं हो सकता। पौरव, स्मरण रक्खो, पाप का फल दुःख नहीं, किन्तु एक दूसरा पाप है। जिन कारणों से भारत युद्ध हुआ था, वे कारण या पाप बहुत दिनों से संचित हो रहे थे। वह व्यक्तिगत दुष्कर्म नहीं था। जैसे स्वच्छ प्रवाह में कूड़े का थोड़ा-सा अंश रुक कर बहुत-सा कूड़ा एकत्र कर लेता है, वैसे ही कभी-कभी कुत्सित वासना भी इस अनादि प्रवाह में अपना बल संकलित कर लेती है। फिर जब वह समूह का ध्वंस होता है, तब प्रवाह में उसकी एक लड़ी बँध जाती है और फिर आगे चलकर वह कहीं-न-कहीं ऐसा ही प्रपंच रचा करती है।

जनमेजय — उनका कहीं अवसान भी है?

व्यास — प्रशान्त महासागर ब्रह्मनिधि में।

जनमेजय — आर्य, कुछ मेरा भी भविष्य कहिये।

व्यास — वत्स, यह कुतूहल अच्छा नहीं। जो हो रहा है, उसे होने दो। अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करने का उद्योग करो — मन को शान्त रखो।

जनमेजय — पूज्यपाद, मुझे भविष्य जानने की बड़ी अभिलाषा है।

व्यास — (ध्यानस्थ होकर) जनमेजय, तुम्हारा भविष्य भी बहुत रहस्यपूर्ण है। तुम्हारा जीवन श्रीकृष्ण के किये हुए एक आरम्भ की इति करने के लिये है। (हँसकर ऊपर देखते हुए) गोपाल, इसे तुम इतने दिनों के लिए स्थगित कर गये थे।

जनमेजय — भगवन् पहेली न बनाइये।

व्यास — नियति, केवल नियति! जनमेजय, और कुछ नहीं। ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेघ करने का जो दृढ संकल्प किया है, उसमें कुछ विघ्न होगा, और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत-सी हिंसाएँ होती आई है, वे बहुत दिनों तक के लिए रुक जाने को है।

जनमेजय — यदि कोई ऐसी बात हो, तो प्रभु, मैं यज्ञ न करूँ!

व्यास — वत्स, तुमको यज्ञ करना ही पड़ेगा। तुम्हारे सिर पर ब्रह्महत्या और इतनी नाग-हत्या का अपराध है। इसी यज्ञ की आज्ञा से ब्राह्मण समाज ने अभी तक तुम्हें पतित नहीं ठहराया है। धर्म का शासन तुम्हें मानना ही पड़ेगा। तुम्हारी आत्मा

इतनी स्वच्छन्द नहीं कि तुम इस प्रचलित परम्परा का उल्लंघन कर सको। अभी तुम्हारे स्वच्छन्द होने में विलम्ब है। तुम्हें तो यह क्रियापूर्ण यज्ञ करना ही पड़ेगा, फल चाहे जो हो। यज्ञेश्वर भगवान् की इच्छा! जाओ जनमेजय तुम्हारा कल्याण हो।

(जनमेजय प्रणाम करके जाता है। वेदव्यास ध्यानस्थ होते है। शीला, सोमश्रवा, आस्तीक तथा मणिमाला का प्रवेश)

शीला — आर्यपुत्र, अभी तो भगवान् ध्यानस्थ हैं।

सोमश्रवा — तब तक आओ, हम लोग इस मन्त्रमुग्ध वन की शान्त शोभा देखें। क्यों भाई आस्तीक, रमणीयता के साथ ऐसी शान्ति कहीं और भी तुम्हारे देखने में आयी है?

आस्तीक — आर्यावर्त्त के समस्त प्रान्तों में इसमें कुछ विशेषता है। भावना की प्राप्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह संगम-स्थली हृदय में कुछ अकथनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उल्लास, उत्पन्न कर देती है! द्वेष यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते थक कर मार्ग में ही कही सो गया है। करुणा आतिथ्य के लिए वन-लक्ष्मी की भाँति आगतों का स्वागत कर रही है। इस कानन के पत्तों पर सरलतापूर्ण जीवन का सच्चा चित्र चमत्कृत हो जाता है।

मणिमाला — भाई, मुझे तो इस दृश्य-जगत् में क्षण-भर स्थिर होने के लिए अपनी समस्त वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। वह करुणा की कल्पना, जो मुझे उदासीन बनाये रखती थी, यहाँ आने पर शान्ति में परिवर्तित हो गयी है। मानव-जीवन को जो कुछ प्राप्त हो सकता है, वह सब जैसे मिल गया हो।

आस्तीक — सुनो! (कान लगाता है)

सोमश्रवा — क्या?

आस्तीक — यहाँ कोई उपदेश हो रहा है। मन को थोड़ा शान्त करो, सब स्पष्ट सुनाई देने लगेगा।

(सब चुप हो जाते हैं)

आस्तीक — (आप-ही-आप) बुला लो, बुला लो, उस वसन्त को, उस जंगली वसन्त को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूख हृदय की धूल में मकरन्द सींचता है! उसे अपने हृदय में बुला लो! जो पतझड़ करके नयीं कोंपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रान्त जगत में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल के सदृश सकरुण आवाहन करता है, जिसमें विश्व-भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है,

एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसन्त को, उस गयी हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेले खेले? विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग गूँज उठे। विश्व-भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय।

व्यास — (आँख खोलते हुए) नमो रुचाय ब्राह्मणे।

सोमश्रवा — आर्य के श्रीचरणों में उपश्रवा का पुत्र सोमश्रवा प्रणाम करता है।

आस्तीक — यायावर वंशी आस्तीक आर्य को प्रणाम करता है।

व्यास — कल्याण हो! सद्बुद्धि का उदय हो!

शीला — आर्य! उपश्रवा की पुत्रवधू भगवान के चरणों में प्रणाम करती है।

मणिमाला — महात्मा के चरणों में नागराज-बाला मणिमाला प्रणाम करती है।

व्यास — कल्याण हो! विश्व-भर के कल्याण में तुम सब दत्तचित्त हो! वत्स सोमश्रवा, तुम राजपुरोहित हुए, यह अच्छा ही हुआ। पर देखो, धर्म का शासन बिगड़ने न पावे।

सोमश्रवा — आर्य, आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने कर्त्तव्य में दृढता पूर्वक लगा रहूँ।

व्यास — वत्स आस्तीक, तुम्हारा प्रादुर्भाव किसी विशेष कार्य के लिए हुआ है। आशा है, तुम वह कार्य सम्पन्न करोगे।

आस्तीक — आर्य, आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने कर्त्तव्य के पालन में सफल होऊँ।

व्यास — पुत्री शीला, तुम आर्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी बनो।

शीला — भगवान् की जैसी आज्ञा! इसी प्रकार आशीर्वाद देते रहिये।

व्यास — नागराज कुमारी, अदृष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिये भी एक बड़ा भारी कर्त्तव्य रख छोड़ा है, जो इस आर्य और अनार्य नहीं नहीं, किन्तु समस्त मानव-जाति के इतिहास में एक नया युग उत्पन्न करेगा। विश्वात्मा तुम्हें सफलता दे।

मणिमाला — भगवन्, आशीर्वाद दीजिये कि ऐसा ही हो।

व्यास — प्रिय वत्सगण, शुद्ध-बुद्धि की शरण में जाने पर वह तुम्हें आदेश करेगी, और सीधा पथ दिखलावेगी। जाओ, तुम सबका कल्याण हो, और सबका तुम लोगों के द्वारा कल्याण हो।

सब — जो आज्ञा! (सब प्रणाम करके जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(प्रकोष्ठ मे वपुष्टमा)

वपुष्टमा — आर्यपुत्र अश्वमेघ के व्रती हुए है। पृथ्वी का यह मनोहर उद्यान रक्त-रंजित होगा! भगवन्! क्या तुम भी बलि से प्रसन्न होते हो? यह तो बड़ा संकट है। मन हिचकता है, पर विवशता यही करने को कहती है। धर्म की आज्ञा और ब्राह्मणों का निर्णय है। बिना यज्ञ किये छुटकारा नहीं। कैसा आश्चर्य है। एक व्यक्ति की हत्या जो केवल अनजान में हो गयी है, विधिविहित असंख्य हत्याओं से छुड़ायी जायगी! अखण्डनीय कर्म-लिपी! तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ में नहीं आता।

प्रमदा — (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो! परम भट्टारक ने सन्देश भेजा है कि मैं गान्धार-विजय करके बहुत शीघ्र ही लौटता हूँ। प्रिय अनुजों के साथ महादेवी यज्ञ-सम्भार का आयोजन करे।

वपुष्टमा — प्रमदा, जब से मैं अश्वमेघ का नाम सुना है, तब से मेरा हृदय काँप रहा है। न जाने क्या होने वाला है।

प्रमदा — महादेवी — भगवान् सब कुशल करेंगे। आप अपने हृदय को इतना दुर्बल बनाती है। सहस्रों राजकुमारों और श्रीमानों के मुकुटमणियों की प्रभा से ये पवित्र चरण रंजित होगे और इन्हें देखकर आर्यावर्त्त की समस्त ललनायें उस माहात्म्य का, उस गौरव का, उच्च कण्ठ से गान करेंगी। भला ऐसा सुअवसर पर आपको प्रसन्न होना चाहिये या उद्विग्न?

वपुष्टमा — उद्विग्न! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है! मेरा चित्त चंचल हो उठा है भविष्य कुछ टेढ़ी रेखा खींचता हुआ दिखायी दे रहा है।

प्रमदा — महादेवी, आपको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं। एक नयी परिचारिका आयी है। आज्ञा हो तो उसे बुलाऊँ। वह बहुत अच्छा गाना जानती है। उसी का कोई गीत सुनकर मन बहलाइये।

वपुष्टमा — जैसी तेरी इच्छा।

(प्रमदा जाती है और परिचारिका के वेश में सरमा को लाती है)

प्रमदा — यही नयी परिचारिका है।

सरमा — सम्राज्ञी को मैं प्रणाम करती हूँ।

वपुष्टमा — (चौंककर) कौन? तुम्हारा नाम क्या नाम है?

सरमा — मुझे लोग कलिका कहते है।

प्रमदा — नाम तो बड़ा अनोखा है! अच्छा, महादेवी को कोई सुन्दर गीत सुनाओ।

कलिका — महादेवी! मुझे तो केवल करुणापूर्ण गीत आते है।

वपुष्टमा — वही गाओ।

(कलिका गाती है)

मन जागो जागो
मोह निशा छोड़ के, मन जागो।
विकसित हो कमल-वृन्द, मधुप मालिका
गूँजती करती पुकार, जागो जागो।
हेम पान-पात्र प्रकृति, सुधा सिन्धु से
भर कर है लिये खड़ी, जागो जागो।

वपुष्टमा — कलिका, तुम्हारे इस गाने का क्या अर्थ है?

कलिका — महादेवी, वही जो लगा लिया जाय।

वपुष्टमा — कुछ और सुनाओ।

कलिका — अच्छा। (गाती है)

फूल जब हँसते है अभिराम
मधुर माधव ऋतु में अनुकूल।
लगी मकरन्द झड़ी अविराम;
कहे जो रोना, उसकी भूल।
लोग जब हँसने लगते है
तभी हम रोने लगते है।

उषा में सीमा पर के खेत
लहलहाते कर मलजय का स्पर्श।
बिखरते हिमकण विकल अचेत,
उसे हम रोना कहें कि हर्ष।
कृषक जब हँसने लगते है,
तभी हम रोने लगते है।
इसी 'हमी' को तुम ले लो नाथ
न लूटो मेरी कोई वस्तु।
उसे दे दो करुणा के हाथ,

सभी हो गया तुम्हारा, अस्तु।

लोग जब रोने लगते है,

तभी हम हँसने लगते है।

वपुष्टमा — सचमुच कलिका, जब एक रोता है, तभी तो दूसरे को हँसी आती है। यह संसार ऐसा ही है।

कलिका — स्वामिनी! केवल दम्भ और कुछ नहीं! साधारण मनुष्यता से कुछ ऊँचे लेने वाला दम्भ, हृदय को बड़े वेग से पटक देता है, जिससे वह चूर हो जाता है! महादेवी, चूर होकर, मार्ग की धूल में मिलकर, समता का अनुभव करते हुए चरण-चिह्नों की गोद में लौटना भी एक प्रकार का सुख है, जो सबकी समझ में नहीं आता!

वपुष्टमा — हाँ! इच्छा होने पर भी मैं ऐसा नहीं कर सकती!

(सोमश्रवा और उत्तंक का प्रवेश)

वपुष्टमा — पौरव कुलवधू का आर्य के चरणों में प्रणाम है।

उत्तंक — कल्याण हो, सौभाग्यवती हो, वीरप्रसूत हो। श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन, ये तीनों पाण्डव-कुल के महावीर विजयोपहार के साथ लौट आये। अश्व भी गान्धार तथा उत्तर-कुरु विजय

करने के लिए प्रेरित किया गया है। स्वयं सम्राट् भी इस बार अश्व की रक्षा के लिए आगे बढ़ेंगे।

वपुष्टमा — आर्य के रहते हुए प्रबन्ध में कोई त्रुटि न होगी। कृती देवरों की सम्वर्धना करने के लिए मैं यज्ञशाला में चलती हूँ। किन्तु प्रभो, यह यज्ञ कैसा होगा?

उत्तंक — जैसे सदैव से होता आया है। सम्राज्ञी, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करने और अपयश से बचने के लिए ही तो यह समस्त आयोजन है। बहुत अनुनय विनय पर कुछ ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिये उद्यत हुए हैं, सो भी जब कुलपति शौनक ने आचार्य होना स्वीकृत किया है, तब।

वपुष्टमा — यह सब करने पर भी क्या होगा?

उत्तंक — राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ करना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है।

वपुष्टमा — तब आर्य इसे धर्म क्यों कहते हैं?

उत्तंक — सम्राज्ञी, क्या धर्म कोई इतर वस्तु है? वह तो व्यापक है। भला बिना उसके कही राष्ट्रनीति और समाजनीति चल सकती है?

वपुष्टमा — मैं तो घबरा रही हूँ।

उत्तंक — कल्याणी, सावधान रहें। आप सम्राज्ञी है, फिर ऐशी दुर्बलता क्यों? नियति का क्रीड़ा-कन्दुक नीचा-ऊँचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुँच ही जाएगा। चिन्ता क्या है? केवल कर्म करते रहना चाहिये।

वपुष्टमा — आर्य, आशीर्वाद दीजिये कि पति देवता के कार्य में मैं सहकारिणी रहूँ, और मरण में भी पश्चात्पद न होऊँ।

उत्तंक — पौरव कुलवधू के योग्य साहस हो, कल्याण हो!

(जाता है)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(पहाड़ की तराई में नाग-सैनिक खड़े हैं। मनसा और उसकी दो सखियाँ गाती है)

क्या सुना नहीं कुछ, अभी पड़े सोते हो
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।
प्रतिहिंसा का विष तुम्हें नहीं चढ़ता क्या

इतने शीतल हो, वेग नहीं बढ़ता क्या
जब दर्प भर अरि चढ़ा चला आता है
तब भी तुममें आवेश नहीं आता है

जातीय मान के शव पर क्यों रोते हो
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो!

धिक्कार और अवहेला की बलिहारी
सचमुच तुम सब हो पुरुष या कि हो नारी
चल जाय दासता की न कही यह छलना
देखते तुम्हारे लांछित हो कुल-ललना

जातीय क्षेत्र में अयश बीज बोते हो
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।

लज्जा मेरा या अपना सुख रखना है
परिणाम सुखद हैं, कड़वा फल चखना है
अपमान शल्य से छिदी हुई है छाती
निज दीन दशा पर दया नहीं क्या आती

अपने स्वत्वों से स्वयं हाथ धोते हो
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।

तक्षक — देवि, जातीयता की प्रतिमूर्ति, तुम्हारी जो आज्ञा होगी, वही होगा! जय, नागमाता की जय!

सब — जय, नागमाता की जय!

वासुकि — हम लोग उपहार लेकर जनमेजय की अगवानी करने नहीं जाएँगे!

नागगण — किन्तु मारेंगे और मर जाएँगे।

मनसा — यही तो वीरों के उपयुक्त आचरण है! अच्छा तो सावधान! अश्व सम्भवतः अब यहाँ आना ही चाहता है, उसके पकड़ना चाहिये।

(आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश)

आस्तीक — क्यों माँ, क्या तुमको रक्त-रंजित धरणी मनोरम जान पड़ती है? एक प्राणी दूसरे का संहार करे, क्या इसके लिए तुम उत्तेजना देती हो? मेरी माँ यह क्या है?

मणिमाला — (तक्षक से) पिताजी, जबकि आर्यों ने इधर उपद्रव करना बन्द कर दिया है, और वे एक दूसरे रूप से सन्धि के अभिलाषी है, तब फिर आप युद्ध के लिए क्यों उत्सुक हैं?

मनसा — बेटी, यदि तू जानती —

मणिमाला — क्या?

मनसा - यही कि तेरे पिता को आग में जलाने के लिये वे ढूँढ़ते फिरते हैं, और इस नाग-जाति को धूल में मिला देना चाहते है।

आस्तीक — क्यों आप अपने के मानव-जाति से भिन्न मानती है? क्या यह आप लोगों के कल्पित गौरव का दम्भ नहीं है।

मनसा — किन्तु वत्स, क्या यह आर्यों का दम्भ नहीं है? क्या वे तुम्हारे इस ऊँचे विचार को नहीं समझते?

आस्तीक — माँ, तुम्हारा कथन ठीक है! किन्तु जब एक दूसरे प्रकार से नाग-जाति के भाग्य का निपटारा होने को है, तब इस युद्ध-विग्रह से क्या लाभ? आर्यों का अश्व आवेगा, घूमकर चला जायगा। हम लोगों की स्वाधीनता पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब हम युद्ध करके उनके सुव्यवस्थित राष्ट्र का नाश नहीं कर सकते, तब उनसे मित्रता रखने में क्या बुराई है? यह तो कल्पित मानापमान के रूप में युद्ध-लिप्सा ही दिखाई देती है।

तक्षक — (स्वगत) क्यों न हो, आर्य-रक्त का कुछ तो प्रभाव होना ही चाहिये।

मनसा — सुना था, मेरी सन्तान से नाग-जाति का कुछ उपकार होगा। इसीलिए मैंने तुझे उत्पन्न किया था। यदि तू तलवार लेकर इस जातीय युद्ध में नहीं सम्मिलित होता, तो आज से तू मेरा त्याज्य पुत्र है।

मणिमाला — बुआ, ऐसा न कहो! भाई आस्तीक!

मनसा — लड़की चुप रह! मुझे तू अभी पहचानती नहीं।

आस्तीक — मैं किस प्रकार इस जाति का सहायता करूँगा, यह मैं नहीं जानता हूँ। तो फिर माँ मैं प्रणाम करता हूँ। तलवार लेकर तो नहीं, पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा। इस क्रोध की बाढ़ में मैं बाँध बनूँगा, चाहे फिर मैं ही क्यों ने तोड़कर बहा दिया जाऊँ। (जाता है)

मणिमाला — फिर मुझे क्या आज्ञा है?

तक्षक — जा बेटी, तू घर जा।

(मणिमाला जाती है)

मनसा — सावधान! वह अश्व आ रहा है।

(अश्व के साथ आर्य-सैनिकों का गाते हुए प्रवेश)

पद-दलित किया है जिसने भूमण्डल को।
निज हेषा से चौंकाता आखण्डल को।
वह विजयी याज्ञिक अश्व चला है आगे।

हम सब रक्षक, देख शत्रुगण भागे॥

यह अरुण पताका नभ तक है फहराती।

जो विजय-गीत मि मलय पवन से गाती॥

जय आर्यभूमि की, आर्य-जाति की जय हो।

अरिगण को भय हो, विजयी जनमेजय हो॥

मनसा — छीन लो, इस अश्व को छीन लो!

(सब नाग चिल्लाकर दौड़ते हैं, युद्ध होता है। नाग अश्व पर अधिकार कर लेते है। दूसरी ओर से चण्ड भार्गव और जनमेजय सैनिकों के साथ आकर नागों को भगाते और अश्व तो छुड़ा ले जाते है। मणिमाला का प्रवेश)

मणिमाला — क्या ही वीर-दर्प से पूर्ण मुखश्री है! प्रणय-वृक्ष, तू कैसे भयानक पानी से टकराने वाले कगार पर लगा है! पिता! नहीं मानोगे! ओह! क्षण भर में कितना भीषण रक्तपात हो गया।

(घायलों को देखती है, मनसा का पुनः प्रवेश)

मनसा — कौन? मणिमाला!

मणिमाला — हाँ बुआ, देखो तुम्हारी उत्तेजना ने क्या परिणाम दिखलाया। आहा! बेचारे का हाथ ही कट गया है!

मनसा — (गम्भीर होकर) बेटी, सचमुच यह भयानक दृश्य है। इसे देखकर तो मेरा भी हृदय काँप उठा है।

मणिमाला — नहीं बुआ, तुम न काँपो। तुम त्रिशूल लिये हुए वज्र कठोर चरणों से इन शवों पर रण-चण्डी की ताण्डव नृत्य करो। संसार भर की रमणीयता और कोमलता वीभत्स क्रन्दन करे, और तुम्हारे रमणीसुलभ मातृभाव की धज्जियाँ उड़ जायँ! विश्व भर में रमणियों के नाम का आतंक छा जाय! सेवा, वात्सल्य, स्नेह तथा इसी प्रकार की समस्त दुर्बलताओं के कही चिह्न तक न रह जाएँ, क्योंकि सुनती हूँ, इन सब विडम्बनाओं से केवल स्त्रियाँ ही कलंकित है। हाँ, बुआ, एक बार विकट हुँकार कर दो!

मनसा — बस बेटी, बस अधिक नहीं। मेरी भूल थी, पर वह आज समझ में आ गयी। यदि स्त्रियाँ अपने इंगित की आहुति न दें तो विश्व में क्रूरता की अग्नि प्रज्वलित ही नहीं हो सकती। बर्बर रक्त को खौला देना, इन्ही दुर्बल रमणियों की उत्तेजनापूर्ण स्वीकृति है का कार्य है। उनका कातर दृष्टि में जो बल, जो कर्त्तव्य-शक्ति है, वह मानव-शक्ति का संचालन करनेवाली है। जब अनजान में उसका दुरुपयोग होता है, तब तत्काल इस लोक में दूसरा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है। बेटी, क्षमा कर, तू देवी है।

मणिमाला — तो चलो बुआ, इन घायलों की शुश्रूषा करें।

मनसा — अच्छा बेटी! (दोनों घायलों को उठाती हैं)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(महल का बाहरी भाग। कलिका-दासी रूप में सरमा आती है)

सरमा — मैं पति-सुख से वंचिता हूँ। पुत्र भी अपमानित होकर रूठ कर चला गया है। जाति के लोगों का निरादर और कुटुम्बियों का तिरस्कार सहकर पेट पालने के लिए अधम दासता कर रही हूँ, तब भी कौन कह सकता है कि 'मैं तुम्हारे साथ हूँ?' जब किसी से सहानुभूति नहीं, जब किसी से सहायता की आशा नहीं, तब भी विश्वास! राजकुल में क्या करने के लिए आयी हूँ। होगा, मेरा कोई काम होगा! मैं उस अदृष्ट शक्ति का यन्त्र हूँ, वह जो मेरे साथ है, मुझसे कोई काम कराना चाहता है।

(प्रमदा का प्रवेश)

प्रमदा — कलिका! तू यहाँ क्या कर रही है। क्या अभी तक शाला में नहीं गयी? महारानी तेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी।

कलिका — प्रमदा! आज इस समय तू ही काम चला दे। मैं रात को रहूँगी। आज अश्व-पूजन होगा। रात भर जागना होगा। नृत्य-गीत देखूँ-सुनूँगी। मेरी प्यारी बहन, आज मेरा जी बेचैन है।

प्रमदा — अरी वाह! मैं तेरा काम करने लगी!

कलिका — मैं तेरे पैरों पड़ती हूँ। बहन! इस समय तो मैं किसी काम की नहीं हूँ।

प्रमदा — क्या तूने कुछ माध्वी पी ली है? कल तो अच्छी भली थी।

कलिका — नहीं बहन, मैं गौड़ी या माध्वी कुछ नहीं पीती। अच्छा तू न करेगी, तो मैं ही चलती हूँ। (रोनी सूरत बनाती है)

प्रमदा — नहीं, मैं तो हँसी करती थी। जा, जब तेरा जी चाहे, तब आइयो, मैं जाती हूँ।

(प्रमदा जाती है। सरमा किसी को आते देखकर छिप जाती है। इधर-उधर देखता हुआ काश्यप आता है)

काश्यप — सन्ध्या हो चली है। आकाश ने धूसर अन्धकार का कम्बल तान लिया है। यह गोधूलि आँखों में धूलि झोंककर काम करने का अभय दान दे रही है। आंगिरस काश्यप की प्रतिहिंसा का फल, उसे अपमानित करके, पुरोहिती छीनकर, शौनक को आचार्य बनाने की मूर्खता का दण्ड आज मिलेगा। ब्राह्मण! आज वह शक्ति दिखला दे कि तुझ में 'शापादपि शरादपि' दोनों प्रकार से दण्ड देने का अधिकार है! ओह, इतनी पुष्कल दक्षिणा! ऐसे महत्त्व का पद! मुझसे सब छीन लिया गया! रोयेगा, जनमेजय तू आठ-आठ आँसू रोयेगा। तेरे हृदय को क्षत-विक्षत करके, तेरी आत्मा को ठोकर लगाकर, मैं दिखला दूँगा कि ब्राह्मण को अपमानित करने का क्या फल है! – अभी नहीं आया?

(तक्षक का छिपते हुए प्रवेश)

तक्षक — कौन है?

काश्यप — मैं, आंगिरस। तुम कौन?

तक्षक — नाग।

काश्यप — प्रस्तुत होकर आये हो?

तक्षक — तुम अपनी कहो।

काश्यप — मैंने सब ठीक कर लिया है। अश्व-पूजन में जाने वाले सब ब्राह्मण हमारे है। वहाँ थोड़ी-सी स्त्रियाँ ही रहेगी। उनसे तो तुम नहीं डरते न?

तक्षक — मेरे केवल पचीस ही साथी आ सके।

काश्यप — इतने से काम हो जायगा। यज्ञ का अश्व तुम ले भागना, और यदि हो सके तो महिषी को भी।

तक्षक — (चौंककर) क्यों उसका क्या काम है?

काश्यप — बताऊँगा! इस समय जाओ, सावधानी से काम करना। थोड़े-से रक्षक रहेंगे, वे भी सोम-पान करके झूमते हुए मिलेंगे। तुम्हें कोई डर नहीं है। जाओ, अब समय हो गया। यदि चूकोगे तो फिर ठिकाना न लगेगा। घात में लग जाओ। सरमा भी यही है, वह तुम्हारा काम करेगी।

तक्षक — अच्छा, जाता हूं। किन्तु काश्यप, अबकी अन्तिम दाँव है। यदि अबकी सफलता न हुई तो फिर तुम्हारी कोई बात न मानूँगा। (तक्षक जाता है)

काश्यप — मरो, कटो, मुझे क्या! घात चल गयी, तो हँसूँगा, नहीं तो कोई चिन्ता नहीं।

(काश्यप का प्रस्थान। सरमा का पुनः प्रवेश)

सरमा — इस नीच ने आज फिर मायाजाल रचा है। अच्छा, आज तो सरमा जान पर खेलकर उस आर्य-बाला की मर्यादा की रक्षा करेगी। उस तिरस्कार का जो वपुष्टमा ने सिंहासन पर बैठ कर किया है, प्रतिफल देने का अच्छा अवसर मिला है। देखूँ, क्या होता है।

(आस्तीक का प्रवेश)

आस्तीक — आर्ये, मैं आस्तीक प्रणाम करता हूँ।

सरमा — कल्याण हो वत्स! तुम यहाँ कैसे आये?

आस्तीक — माँ ने मुझे त्याज्य पुत्र बनाकर निकाल दिया है।

सरमा — (उसके सिर पर हाथ फेरती है) आज से मैं तुम्हारी माँ हूँ। वत्स दुखी न होना। तुम मेरे पास रहो। माणवक और आस्तीक, मेरे दो बेटे थे। एक खो गया, तो दूसरा मिल गया।

आस्तीक — माँ, मुझे आज्ञा दो कि मैं क्या करूँ!

सरमा — आज तुम्हें बहुत बड़ा काम करना होगा। तुम पत्नीशाला के पीछे की खिड़की के पास चलो। जब तक मेरा कण्ठ-स्वर न सुनना, तब तक वहाँ से कही न जाना।

आस्तीक — जो आज्ञा।

(दोनों जाते है। शीला और दामिनी का प्रवेश)

शीला — अहा, बहन दामिनी, अच्छे समय पर आ गयी। क्या यज्ञशाला में चलती हो?

दामिनी — किन्तु, तुमने तो अभी तक वेष-भूषा भी नहीं की।

शीला — वेश-भूषा! क्यों?

दामिनी — क्यों, जब वहाँ बहुत-से कुल-ललनायें और राजकुल की स्त्रियाँ अच्छे-अच्छे गहने-कपड़ों से सजकर आवेंगी, तब क्या तुम इसी वेश में उनमें जा बैठोगी?

शीला — क्यों, क्या इसमें कुछ लज्जा है?

दामिनी — अवश्य! जहाँ जैसा समाज हो, वहाँ उसी रूप में जाना चाहिये।

शीला — विडम्बना है। पवित्र हृदय को इसकी क्या आवश्यकता है? बनावटी बातें क्षणिक बातें होती है, किन्तु जो सत्य है, वह स्थायी होता है। बहन दामिनी, मेरी समझ में तो स्त्रियाँ विशेष शृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता भी खो बैठती

है। वस्त्रों और आभूषणों की रक्षा करने और उन्हें सँभालने में उनको जो कार्य करने पड़ते है, वे ही पुरुषों के लिए विभ्रम हो जाते है। चलने से उन्हें आभूषणों के कारण सँभालकर पैर रखना, कपड़ों को बचाने के लिये समेट कर उठते, हटाते, खींचते हुये चलना - यह सब पुरुषों की दृष्टि को ते कलुषित करता ही है, हमारे लिए भी बन्धन हो जाता है। खुले हृदय से, स्वच्छन्दता से, उठना-बैठना और बोलना-चालना भी दुष्कर हो जाता है। वेश-भूषा के नियमों में उलझकर अस्त-व्यस्त हो जाना पड़ता है।

दामिनी — बहन, तुमने तो यह बड़ी भारी वक्तृता दे डाली। तो फिर क्या संसार में इसका प्रयोग व्यर्थ है?

शीला — मेरी सम्मति तो यह है कि सरलता, हृदय की पवित्रता, स्वच्छता और अपनी प्रसन्नता के लिये उतना ही स्त्री-जन सुलभ सहज शृंगार पर्याप्त है, जो स्वतन्त्रता में बाधा न डालता हो, जो दूसरे का मनोरंजन करने के लिये न हो। कुटिलों का लक्ष्य बनने के लिये कठपुतली की तरह सजना व्यर्थ ही नहीं, किन्तु पाप भी है।

दामिनी — लो, यह व्यवस्था भी हो गयी, किन्तु मैं तो इसे नहीं मानने की।

शीला — देखो, इसी कारण मणिकुण्डलों के लिये, अपने पति के सामने तुम्हें कितना लज्जित होना पड़ा था, और कितना बड़ा अनर्थ तुमने उपस्थित कर दिया था!

दामिनी — (सिर नीचा करके) हाँ बहन, यहाँ तो मुझे हार माननी ही पड़ी! अच्छा, तो चलो। (दोनों जाती हैं)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(पत्नीशाला की पिछली खिड़की के निकट आस्तीक टहल रहा है। योद्धा के वेश में मणिमाला का प्रवेश)

आस्तीक — तुम कौन हो?

मणिमाला — भाई आस्तीक! तुम यहाँ कैसे?

आस्तीक — अरे! मणिमाला, तुम इस वेश में क्यों?

मणिमाला — भाई! आज विषम काण्ड है। पिताजी ने फिर कुछ आयोजन किया है। मैं भी इसीलिये आई हूँ कि यदि हो सके तो उन्हें बचाऊँ।

आस्तीक — मुझे भी सरमा माता ने भेजा है। किन्तु तुम्हारा यहाँ रहना तो ठीक नहीं। जब कोई उपद्रव संघटित होगा, तब तुम यहाँ रहकर क्या करोगी?

मणिमाला — नहीं, मैं तो आज उपद्रव में कूद पडूँगी। क्यों भाई, क्या तुम्हें रमणियों की दुर्बलता ही विदित है, उनका साहस तुमने नहीं सुना?

आस्तीक — किन्तु —

मणिमाला — आज किन्तु-परन्तु कुछ नहीं सुनूँगी। आज मुझे विश्वास है कि पिताजी पर कोई भारी आपत्ति आवेगी।

आस्तीक — क्यों?

मणिमाला — भला कुकर्म का भी कभी अच्छा परिणाम हुआ है? (कान लगाकर सुनती है) भीतर कुछ कोलाहल-सा सुनाई दे रहा है। मैं जाती हूँ)

(जाना चाहती है, आस्तीक हाथ पकड़ कर रोकता है)

आस्तीक — ठहरो मणि! तुम न जाओ।

मणिमाला — छोड़ दो भाई। मैं अवश्य जाऊँगी, इसीलिये वेश बदल कर आयी हूँ।

(मणिमाला हाथ छुड़ाकर चली जाती है। माणवक का प्रवेश)

आस्तीक — कौन? माणवक!

माणवक — भाई आस्तीक!

(खिड़की खुलती है। मूर्च्छिता वपुष्टमा को लिये हुए कई नागों का उसी से बाहर आना, सरमा पीछे से आकर उनको रोकना चाहती है। नागों का वपुष्टमा को लने जाने का प्रयत्न)

माणवक — तुम इसे मेरी रक्षा में छोड़ दो। नागराज की सहायता करो।

(घबराये हुए नाग वपुष्टमा को उसी के हाथ सौंप देते हैं)

सरमा — यहाँ बात मत करो। शीघ्र चलो।

आस्तीक — किन्तु मणिमाला भी यहीं है।

सरमा — आर्य लोग स्त्रियों की हत्या नहीं करते, चलो।

(चारों जाते हैं। रक्षकों से युद्ध करते हुए तक्षक का प्रवेश, और भी आर्य सैनिक आ जाते है। तक्षक और मणिमाला दोनों बन्दी होते हैं)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(वेदव्यास अपने आश्रम में बैठे हैं। माणवक, आस्तीक, सरमा और वपुष्टमा भी हैं)

व्यास — ब्रह्मचक्र के प्रवर्त्तन में कैसी कठोर कमनीयता है! वत्स आस्तीक, मैंने तुमसे जो कहा था, उसे मत भूलना।

आस्तीक — भगवन्! मैं मातृद्रोही हो गया हूँ। मैंने माता की आज्ञा नहीं मानी। मेरे सिर पर यह एक भारी अपराध है।

व्यास — वत्स, सत्य महान् धर्म है। इतर धर्म क्षुद्र हैं, और उसी के अंग हैं। वह तप से भी उच्च है, क्योंकि वह दम्भ-विहीन है। वह शुद्ध-बुद्धि की आकाशवाणी है। वह अन्तरात्मा की सत्ता है। उसके दृढ़ कर लेने पर ही अन्य सब धर्म आचरित होते है। यदि उससे तुम्हारा पद-स्खलन नहीं हुआ, तो तुम देखोगे कि तुम्हारी माता स्वयं तुम्हारा अपराध क्षमा और अपना अपराध स्वीकृत करेगी, क्योंकि अन्त में वह विजयी होता है, जो सत्य को परम ध्येय समझता है।

माणवक — भगवन्, यह बात सर्वत्र तो नहीं घटित होती। क्या इसमें अपवाद नहीं होता? यदि सत्य का फल श्रेय ही होता, यदि पाप करने से लोग प्रत्यक्ष नरक की ज्वाला में जलते, यदि पुण्य करने हुए जीवन को सुखमय बना सकते, तो क्या संसार में कभी इतना अत्याचार हो सकता था?

व्यास — वत्स माणवक, विजय एक ही प्रकार की नहीं है, और उसका एक ही लक्षण नहीं है। परिणाम में देखोगे कि तुम श्रेयस्कर मार्ग पर थे। यदि प्रतिहिंसावश तुमने नागों का साथ दिया था, तो उस अलौकिक प्रभुता ने उसका भी कुछ दूसरा ही तात्पर्य रक्खा था। आज यदि तुम वहाँ न होते, कोई दूसरा नाग होता, तो इस पौरव कुलवधू की क्या अवस्था होती? क्या उस

सम्राट् पर यह तुम्हारी विजय नहीं है, जिसके भाइयों ने तुम्हें पीटा था? तुम्हारे सत्य ने ही तुम्हें विजय दिलायी है।

सरमा — आर्य, श्री चरणों की कृपा से मेरी सारी भ्रान्ति दूर हो गयी, किन्तु एक अवशिष्ट है।

व्यास — वह क्या?

सरमा — महारानी वपुष्टमा का परिणाम चिन्ता का विषय है।

व्यास — है अवश्य, किन्तु कोई भय नहीं। विश्वात्मा सबका कल्याण करता है।

आस्तीक — तब क्या आज्ञा है?

व्यास — ठहरो, इस आश्रम में सब प्राकृतिक साधन पर्याप्त है तुम लोग यहीं रहो। जब तुम लोगों के जाने की आवश्यकता होगी, तब मैं स्वयं भेज दूँगा। अभी तुम लोग विश्राम करो। (वेदव्यास जाते हैं)

वपुष्टमा — बहन सरमा, मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था। आज मुझे तुम्हारे सामने आँख उठाते लज्जा आती है। तुमने मुझ पर जैसी विजय पायी है, वह अकथनीय है।

सरमा — नहीं महारानी, वह आपके सिंहासन का आवेश था। वास्तविक स्थिति कुछ और ही थी, जो सब मनुष्यों के लिए समान है। वहाँ स्त्री-जाति के सम्मान का प्रश्न था, नाग और आर्य-जाति

की समस्या नहीं थी। नाग-परिणय से तो मैं न्याय पाने की भी अधिकारिणी न थी। किन्तु क्या आपको विदित है कि कितने ऐसे शुद्ध आर्यों का भी अधिकारियों के द्वारा प्रतिदिन बहुत अपमान होता है, जो राज-सिंहासन तक नहीं पहुँच पाते। पर अब उन बातों की चर्चा ही क्या!

वपुष्टमा — किन्तु बहन, मैं तो किसी ओर की नहीं रही। सम्राट् की इच्छा क्या होगी, कौन जाने। आर्यावर्त्त भर में यह बात फैल गयी होगी कि सम्राज्ञी —

सरमा — भगवान् की दया से सब अच्छा ही होगा, आप चिन्तित न हों। चलिये, स्नान कर आवें। (दोनों जाती हैं)

आस्तीक — क्यों माणवक, आज तो तुम्हारे समस्त अपमान का बदला चुक गया! क्या अब भी तुम इस दुखिया रानी को शुद्ध हृदय से क्षमा न करोगे।

माणवक — भाई! मैं तो वपुष्टमा को कभी का क्षमा कर चुका। नहीं तो अब तक पकड़कर नागों के हाथ सौंप देता। माँ की आज्ञा मैं टाल नहीं सका। आस्तीक, यदि सच पूछो तो मैंने इस प्रतिहिंसा का आज से परित्याग कर दिया। देखो, इस तपोवन में शस्य श्यामला धरा और सुनील नभ का, जो एक-दूसरे से इतने दूर है, कैसा सम्मिलन है।

आस्तीक —भाई, यह भगवान् बादरायण का आश्रम है। देखो, यहाँ की लता-वल्लरियों में, पशु-पक्षियों में, तापस-बालकों में परस्पर कितना स्नेह है! ये सब हिलते-डुलते और चलते-फिरते हुए भी मानो गले से लगे हुए है। यहाँ के तृण को भी एक शान्ति का आश्वासन पुचकार रहा है। स्नेह का दुलार, स्वार्थ-त्याग का प्यार, सर्वत्र बिखर रहा है।

माणवक — भाई आस्तीक, बहुत दिन हुए, हमने और तुमने एक-दूसरे को गले नहीं लगाया। आओ आज —

आस्तीक — (गले लगाकर) मेरे शैशव-सहचर! वह विशुद्ध क्रीड़ा, वह बाल्यकाल का सुख, जीवन भर का पाथेय है। क्या वह कभी भूलने योग्य है? आज से हम-तुम फिर वही पुराने मित्र और भाई है। जी चाहता है, एक बार फिर हाथ मिलाकर उसी तरह खेले-कूदे।

माणवक — भाई, क्या वह समय फिर आने को है? यदि मिल सके, तो मैं कह सकता हूँ कि उन दस वर्षों के लिए शेष नब्बे वर्षों का जीवन दे देना भी उपयुक्त है। क्या ही रमणीक स्मृति है।

आस्तीक --- किन्तु भाई, हम लोगों का कुछ कर्त्तव्य भी है। दो भयंकर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही है। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।

माणवक — भाई, चिन्ता न करो। भगवान् की कृपा से तुम सफल होगे। प्रभु की बड़ी प्रभुता है।

(दोनों प्रार्थना करते है)

नाथ, स्नेह की लता सींच दो, शान्ति जलद वर्षा कर दो।
हिंसा धूल उड़ रही मोहन, सूखी क्यारी को भर दो॥
समता की घोषणा विश्व में, मन्द मेघ गर्जन कर दो।
हरी भरी ही सृष्टि तुम्हारी, करुणा का कटाक्ष कर दो॥

(प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(कानन में मनसा और वासुकि)

वासुकि — बहन, अब क्या करना होगा? तक्षक बन्दी है। उनके साथ मणिमाला भी है। पहले के भयंकर यज्ञ में जो बात नहीं

होने पाई थी, वही इस बार अनायास हो गयी। अपनी मूर्खता से आज नागराज स्वयं पूर्णाहुति बनने गये।

मनसा — भाई, मुझसे क्या कहते हो! क्या मैं उस उत्तेजना की एक सामग्री नहीं हूँ? हाय-हाय! मैंने ही तो इस नाग-जाति को भड़काया था। आज देख रहे हो, यहाँ कितने घायल पड़े है। जाति के अवशिष्ट थोड़े-से लोगों में भी कितने ही बेकाम हो गये, और कितने जलाये गये। जान पड़ता है कि इस जाति के लिए प्रलय समीप है। इस परिणाम का उत्तरदायित्व मुझ पर है। हा, मैंने यह क्या किया!

(कुछ नागों का प्रवेश)

नाग — नागमाता! आपकी कृपा और सेवा-शुश्रूषा से अब हम लोग इस योग्य हो गये गै कि फिर युद्ध कर सकें। आज्ञा दीजिये, अब हम लोग क्या करें? सुना है, नागराज बन्दी हो गये है। पहले तो उनका उद्धार करना चाहिये।

मनसा - वत्सगण, अब और जन-क्षय कराने की आवश्यकता नहीं है। बन्दी तक्षक जो जनमेजय कभी का जला देता, किन्तु सुना है, उसकी रानी का पता नहीं है, इसलिए अभी कुछ नहीं हुआ।

नाग — तो क्या नागराज जलाये जायँ, और हम लोग यहाँ पड़े-पड़े आनन्द करें! धिक्कार है!

वासुकि — नहीं मनसा, अब मत रोको, अब इस भग्न गृह को बचा रखने से क्या लाभ! इसे गिर जाने दो। दो-चार ठूँठ वृक्षों पर इतनी ममता क्यों? इन्हें सूख जाने दो। जब हरा-भरा कानन जल गया, तब इन्हें भी जल जाने दो। चलो वीरों, जो लोग युद्ध के योग्य है, वे सब एक बार निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठे। यदि औरों को न जला सके, तो स्वयं ही जल जायँ। सारी कथा ही समाप्त हो जाय।

नाग — हम प्रस्तुत है।

वासुकि — तो फिर चलो।

मनसा — क्यों भाई, क्या तुम मेरी बात न सुनोगे?

वासुकि — बहन, तुम्हारी बात सुनने के कारण ही आज तक यह सब हुआ। अब तुम्हारे हृदय में स्त्री-सुलभ करुणा का उद्रेक हुआ है, इसीलिये तुम मुझे दूसरी ओर फेरना चाहती हो। यही तो स्त्रियों की बात है। एक भयानक क्रूरता को ठोकर मारकर जगा चुकी हो, और अब उसे थपकी देकर सुला देना चाहती हो! पर अब यह बात नहीं होने की! मरण के डर से मैं कलंकित जीवन बचाने का दुस्साहस न करूँगा।

मनसा — भाई, तुम्हारी मनसा तुमसे क्षमा चाहती है। जातिनाश कराने का कलंक उसके सिर पर न लगने दो।

वासुकि — अब कोई उपाय नहीं है।

मनसा — (कुछ सोचकर) अच्छा, तुम अवशिष्ट सैनिकों को साथ लेकर चलो। मैं भी चलती हूँ। यदि सन्धि करा सकी, तब ठीक ही है, नहीं तो हम सब लोग जल मरेंगे।

वासुकि — (हँसकर) अभी इतनी आशा है?

मनसा — एक बार आर्यों के महर्षि बादरायण के पास जाऊँगी। सुना है, उनकी महिमा अपूर्व है। सम्भव है, उनसे मिलकर कुछ काम कर सकूँ।

नाग — अच्छी बात है। एक बार और चेष्टा कर देखिये। हम लोग पूर्णाहुति के लिए प्रस्तुत होकर चलते है। किन्तु स्मरण रहे, जिस स्वतन्त्रता के लिए इतना रक्त बहाया गया है, वह स्वतन्त्रता हाथ से जाने न पावे।

मनसा — विश्वास रखो, मनसा कभी अपमान-जनक सन्धि का प्रस्ताव न करेगी। नाग-बाला को भी मरना आता है।

सब नाग — जय, नागमाता की जय।

(दृश्यान्तर)

अष्टम दृश्य

(यज्ञ-शाला में बन्दी तक्षक, मणिमाला, जनमेजय, शौनक, उत्तंक, सोमश्रवा, चण्ड भार्गव आदि)

जनमेजय — इतनी नम्रता और आज्ञापालन का यह परिणाम! इतनी प्रतिहिंसा! प्रभुत्व का इतना लोभ! धन्य हो भूसुरो! तुमने अच्छा प्रतिशोध लिया।

ब्राह्मण — राजन्, लोभ और हठ से जो धर्म आचरित होता है, उसका ऐसा ही परिणाम हुआ करता है। इसमें इन्द्र ने बाधा डाली है।

जनमेजय — चुप रहो। तुम्हें लज्जा नहीं आती! ब्राह्मण होकर ऐसा गर्हित कार्य! शत्रु से मिलकर महिषी को छिपा देना! ये सब मुझे लज्जित करने के उपाय है। मैं अवश्य इसका प्रतिशोध लूँगा। क्रोध से मेरा हृदय जल रहा है। इसी अनलकुण्ड में तुम सबकी आहुति होगी!

सोमश्रवा — राजन्, सुबुद्धि से सहायता लो। प्रमत्त न बनो। हो सकता है कि पदच्युत काश्यप का इसमें कुछ हाथ हो, किन्तु समस्त ब्राह्मणों को क्यों इसमें मिलाते हो?

जनमेजय — तुम लोगों को इसका प्रतिफल भोगना होगा। यह क्षात्र रक्त उबल रहा है। उपयुक्त दण्ड तो यही है कि तुम सबको इसी यज्ञकुण्ड में जला दूँ। किन्तु नहीं, मैं तुम लोगों को दूसरा दण्ड देता हूँ। जाओ, तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ। आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेघ आदि यज्ञ नहीं करेगा। तुम सरीखे पुरोहितों की अब इस देश में आवश्यकता नहीं। जाओ, तु सब निर्वासित हो।

सोमश्रवा — अच्छी बात है, तो जाता हूँ राजन्!

जनमेजय — हाँ हाँ। जाना ही पड़ेगा। सबको निकल जाना पड़ेगा। परन्तु उत्तंक तुम्हारा एक काम अवशिष्ट है।

उत्तंक — वह क्या?

जनमेजय — स्मरण है, किसने मुझे इस कार्य के लिए उत्तेजित किया था?

उत्तंक — मैंने।

जनमेजय — उस दिन हमने कहाँ था कि, 'अश्वमेघ पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ होगा।' सम्भव है कि उस वह केवल एक साधारण-सी बात रही हो। परन्तु आज वही काम होगा।

उत्तंक — राजन्, वह तो हो चुका है। तक्षशिला-विजय में कितने ही नाग जलाये जा चुके हैं।

जनमेजय — परन्तु हवनकुण्ड में नहीं। अश्वमेघ की विधि चाहे जिसकी कही हो, नागराज आज सचमुच होगा, औ वह भी मेरी बनायी हुई विधि से। सोमश्रवा से पूछो कि वे इसके आचार्य होंगे या नहीं।

सोमश्रवा — जब सब ब्राह्मण निर्वासित है, तब मैं ही क्यों यहाँ रहूँगा! और शास्त्र के विरुद्ध कोई नया नियम बनाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। नर-बलि का यह घातक कार्य मुझसे न हो सकेगा।

उत्तंक — सोमश्रवा, बलि से आज हिचकते हो?

जनमेजय — तक्षक ने आज इस राजकुल के साथ जितने दुर्व्यवहार किये है, उनका स्मरण होगा, मन्त्री और उसके सामने उसके कुटुम्ब की आहुतियाँ होगी।

उत्तंक — और पूर्णाहुति में तक्षक।

जनमेजय — ठीक है ब्रह्मचारी।

शीला — बहन मणिमाला, मैं तुम्हारे साथ हूँ। यदि तुम्हें जलावेंगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ जलूँगी।

सोमश्रवा — अच्छा होगा। ब्राह्मण निर्वासित और ब्राह्मणी की आहुति! सम्राट्! विचार से काम कीजिये। ऐसा नही कि दण्डनीय के साथ निरपराध भी पिस जाएँ।

जनमेजय — उत्तंक कुछ मत सुनो। घृत डालकर वह्नि प्रज्वलित करो। (अनुचरों से) एक-एक करके नागों को इसी मे डालो। आज मैं क्षत्रियों के उपयुक्त ऐसा यज्ञ करूँगा, जैसा आज तक किसी ने न किया होगा और न कोई कर सकेगा। इस नाग-यज्ञ से अश्वमेघों का अन्त होगा। विलम्ब न करो। जिसको जाना हो चला जाय।

(उत्तंक अग्नि में घी डालता है। अनुचर नागों को लेकर उसमें डालते हैं, क्रन्दन और हाहाकार होता है)

तक्षक — क्षत्रिय-सम्राट्। क्रूरता में तुम किसी से कम नहीं हो।

जनमेजय — यही तो मैं तुमसे कहलाना चाहता था। अब तुम्हारी बारी है।

(वेद और दामिनी का प्रवेश)

वेद — आयुष्मन् उत्तंक!

उत्तंक — गुरुदेव, प्रणाम।

वेद — उत्तंक उत्तेजित होकर प्रतिक्रिया करने की भी कोई सीमा होती है।

उत्तंक — भगवन्, यह तो मेरा कर्त्तव्य है। कृपया इसमें बाधा न दीजिये।

दामिनी — उत्तंक! हृदय के अतिवाद से वशीभूत होने का मुझ से बढ़कर और कोई उदाहरण न मिलेगा। तुम कुछ मस्तिष्क से काम लो।

उत्तंक — तुम मेरी गुरुपत्नी! आश्चर्य!

दामिनी — उत्तंक, मैं क्षमा चाहती हूँ। आर्यपुत्र ने मुझे क्षमा कर दिया है। तुम भी अब पिछली बातें भूल जाओ और क्षमा करो।

उत्तंक — गुरुदेव समर्थ है, पर मुझमें हृदय है।

दामिनी — हृदय है! तब तो तुम उसकी दुर्बलता से और भी भली-भाँति परिचित होगे!

उत्तंक — समझ गया! यह मेरा दम्भ था। मैं भी क्या स्वप्न देख रहा था। (बैठ जाता है)

जनमेजय — (अनुचरों से) इन अभिनयों से काम न चलेगा। जलाओ दुष्ट तक्षक को।

(अनुचर तक्षक, वासुकि आदि को जलाना चाहते हैं, इतने में व्यास के साथ सरमा, माणवक और आस्तीक का प्रवेश)

व्यास — ठहरो! ठहरो!

जनमेजय — भगवन्, यह पारीक्षित जनमेजय आपके चरणों में प्रणाम करता है।

आस्तीक — मेरा प्रतिफल! मेरा न्याय!

जनमेजय — तुम कौन हो!

आस्तीक — जिस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करने के लिए तुमने अश्वमेघ किया है, मैं उसी ब्रह्महत्या की क्षतिपूर्ति चाहता हूँ। मैं उन्हीं जरत्कारु ऋषि का पुत्र हूँ, जिनकी तुमने बाण चलाकर हत्या की थी।

जनमेजय — आश्चर्य! कुमार! तुम्हारा मुख-मण्डल तो बड़ा सरल है, फिर भी वह क्या कह रहा है! मैं किस लोक में हूँ!

व्यास — सम्राट्, तुम्हें न्याय करना होगा। यह बालक अपने पिता की हत्या की क्षतिपूर्ति चाहता है। आर्य न्यायाधिकरण के समक्ष यह बालक तुम पर अभियोग न लगाकर केवल क्षतिपूर्ति चाहता है। क्या तुम इसे भी अस्वीकृत करोगे?

जनमेजय — मुझे स्वीकार है भगवन्! आस्तीक, तुम क्या चाहते हो? क्या मैं अपना रक्त तुम्हें दूँ?

आस्तीक — नहीं, मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिये। सम्राट, शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिये। यही मेरे लिए यथेष्ठ प्रतिफल होगा।

जनमेजय — (सिर घुमाकर) अच्छी बात है, वही हो। छोड़ दो तक्षक को।

व्यास — धन्य है क्षमाशील ब्रह्मवीर्य! ऋषिकुमार, तुम्हारे पिता धन्य हैं।

(लोग तक्षक को छोड़ देते है। वासुकि और सरमा का मिलन)

सरमा — महाराज, मेरा भी एक विचार है। आप उसका न्याय कीजिये।

जनमेजय — कौन? यादवी सरमा!

सरमा — हाँ, मैं ही हूँ सम्राट्!

जनमेजय — तुम्हारे लड़के को मेरे भाइयों ने पीटा था? तुम क्या चाहती हो?

सरमा — जब आप स्वीकार करते है, त मुझे कुछ न चाहिये। आर्य सम्राट् मुझे केवल एक वस्तु दीजिये, और परिवर्तन में मुझसे कुछ लीजिये भी।

जनमेजय — प्रतिदान?

सरमा — हाँ, सम्राट्!

जनमेजय — वह क्या?

सरमा — इस नागबाला मणिमाला को आप अपनी वधू बनाइये।

(जनमेजय सिर नीचा कर लेता है)

व्यास — किन्तु सरमा, यह तुम अनधिकार चर्चा करती हो। पहले वपुष्टमा को बुलाओ, वे स्वीकृति दें।

सरमा — यही हो। (जाकर वपुष्टमा को ले आती है)

वपुष्टमा — आर्यपुत्र की जय हो?

जनमेजय — षडयन्त्र! यह कभी न होगा! धर्षिता स्त्री कौन ग्रहण करेगा!

व्यास — सम्राट्, तुम्हीं करोगे! जब पुरुषों ने स्त्रियों की रक्षा का भार लिया है, और उनको केवल अपनी सीमा में स्वतन्त्रता मिली है, तब यदि उनकी अरक्षित अवस्था में उन पर अत्याचार होगा, तो उसका अपराध उनके रक्षकों के सिर पर होगा। क्या अबला होने के कारण यही सब ओर से अपराधिनी है? नहीं, मैं कह सकता हूँ कि यह पवित्र है, कमल-वन से निकले हुए प्रभात के मलय-पवन के समान शुद्ध है। इसे स्वीकार करना होगा। वपुष्टमा, आगे बढ़ो।

वपुष्टमा — नाथ! दासी श्रीचरणों की शपथ करके कहती है कि यह पवित्र है। (पैर पकड़ती है)

जनमेजय — (व्यास की ओर देखकर) उठो महिषी, उठो। (उठाता है)

वपुष्टमा — आर्यपुत्र! सरमा देवी की बात माननी ही पड़ेगी। आओ बहन मणिमाला!

सरमा — मणिमाला, तुम सौभाग्यवती हो। इस अवसर पर तुम्हीं प्रेम-शृंखला बनकर इन दोनों क्रुद्ध जातियों को प्रेम-सूत्र में बाँध दो।

शीला — बहन मणि! आज मेरी वह भविष्यवाणी सफल हुई। भला कौन जानता था कि तपोवन में अंकुरित, केवल एक दृष्टि में

वर्द्धित तथा पल्लवित क्षुद्र प्रेमांकुर एक दिन इतना महान् फल देगा!

(रानी मणिमाला के हाथ बन्धन-मुक्त करके जनमेजय को पकड़ा देती है)

वपुष्टमा — यह निर्मल कुसुम तुम्हारे समस्त सन्ताप का हरण करके मस्तक को शीतल करे। (मणिमाला लज्जित होती है)

मनसा — आर्य सम्राट्! मेरा समस्त विद्वेष तिरोहित हो गया। मैं चाहती हूँ आज से नाग-जाति विद्वेष भूल कर आर्यों से मित्र-भाव का व्यवहार करे, और आर्यगण भी उन्हें अनार्य और अपने से बहुत दूर न माने। मैं आस्तीक के नाम पर प्रतिज्ञा करती हूँ कि आज से कोई नाग कभी आर्यों के प्रति विद्रोह का आचरण न करेगा।

व्यास — जब राजकुल ही सम्बन्ध-सूत्र में बँध गया, तब भिन्नता कैसी! इस प्रचण्ड वीर जाति के क्षत्रिय होने में क्या सन्देह हैं!

जनमेजय — ऐसा ही होगा।

सब — जय, नागमाता की जय!

व्यास — ब्रह्ममण्डली, तुम भी पुरानी बातों को विस्मृत करके अपने सम्राट् को क्षमा करो!

जनमेजय — भगवन्! मेरा अपराध क्या है, यह तो मुझे विदित हो जाय।

व्यास — इस षडयन्त्र का मूल काश्यप उपयुक्त दण्ड पा चुका। यज्ञशाला के विप्लव में से भागते समय किसी नाग ने उसकी हत्या कर डाली। सम्राट्, इन ब्राह्मणों ने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है। इनकी क्षमाशीलता तो देखो! तुमने अकारण इन्हें निर्वासन की आज्ञा दी, पर फिर भी इन्होंने शाप तक न दिया। तपस्वी ब्राह्मणों, तुम लोग धन्य हो! तुमने ब्राह्मणत्व का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिखलाया है।

जनमेजय — भगवान् की जैसी आज्ञा (सब ब्राह्मणों से) आप लोग मुझे क्षमा कीजिये।

शौनक — सम्राट्, तुम सदैव क्षम्य हो, क्योंकि तुम्हारे सुशासन से हम आरण्यक लोग शान्तिपूर्वक अपना स्वाध्याय करते है। क्या तुम्हारा एक भी अपराध हम सहन नहीं कर सकते? सहनशील होना ही तो, तपोधन और उत्तम ब्राह्मण का लक्षण है। किन्तु मानूँगा, व्यासदेव, तुम्हारी ज्ञान-गरिमा को, तुम्हारी वृत्ति को, तुम्हारी शान्ति को मानूँगा। आज तक अवश्य कुछ ब्राह्मण तुम्हें दूसरी

दृष्टि से देखते थे, किन्तु नहीं, तुम सर्वथा स्तुत्य और वन्दनीय हो। तुम्हारा अगाध पाण्डित्य ब्राह्मणत्व के ही योग्य है।

व्यास — सम्राट्, तुमने मुझसे एक दिन पूछा था कि क्या भविष्य है। देखा नियति का चक्र! यह ब्रह्मचक्र आप ही अपना कार्य करता रहता है। मैंने कहा था कि यज्ञ में विघ्न होगा। फिर भी तुमने यज्ञ किया ही। किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम-विकास है। यज्ञों का कार्य हो चुका। बालक सृष्टि खेल कर चुकी। अब परिवर्तन के लिए यह काण्ड उपस्थित हुआ है। अब सृष्टि को धर्म-कार्यों में विडम्बना की आवश्यकता नहीं। सरस्वती और यमुना के तट पर शुद्ध और सत्य के समीप ले जाने वाले उपनिषद् और आरण्यक संवाद हो रहे है। इन्हीं महात्मा ब्राह्मणों की विशुद्ध ज्ञान-धारा से यह पृथ्वी अनन्त काल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोक में कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा। सब लोग सुखपूर्वक रहेंगे।

सब — भगवन् की वाणी सत्य हो।

व्यास — विश्वात्मा का उत्थान हो। प्रत्येक हत्तन्त्री में पवित्र पुण्य के सामगान की मीडे लहरा उठे।

(नेपथ्य में गान)

जय हो उसकी, जिसने अपना विश्व-रूप विस्तार किया।
आकर्षण का प्रेम नाम से सब में सरल प्रचार किया॥
जल, थल, नभ का कुहक बन गया जो अपनी ही लीला से।
प्रेमानन्द पूर्ण गोलक को निराधार आधार दिया॥
हम सब में जो खेल रहा अति सुन्दर परछाई-सा।
आप छिप गया आकर हममें, फिर हमको आकार दिया॥
पूर्णानुभव कराता है जो 'अहमिति' से निज सत्ता का।
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणव मध्य गुंजार किया॥

(यवनिका)

प्रायश्चित

पात्र सूची

जयचन्द

मन्त्री

सेनापति

मुहम्मद गोरी

शफकत

चर

गोरी के दरबारी

दो विद्याधरियाँ-विहारिणी, विलासिनी

प्रथम दृश्य

(समय — रात्रि । स्थान — कगार, नदी का किनारा — रण-भूमि)

(दो विद्याधरियों का प्रवेश)

पहली — क्यों री विहारिणी! आज कहाँ घूमने आयी है। यह तो बड़ा भयानक दृश्य है। यह कोई रण-भूमि है क्या?

दूसरी — विलासिनी! तुझे तो अपने गंधमादन-विलास से छुट्टी ही नहीं। क्या मालूम कि संसार में क्या हो रहा है?

पहली — मुझे तो सचमुच ईश्वर का हाल कुछ भी नहीं मालूम। हाँ री सखी! भला यह सब क्या हुआ है?

दूसरी — हा! तुझसे क्या कहे, और तुझे इतना भी नहीं ज्ञात है कि हिन्दू-साम्राज्य-सूर्य्य इसी रण-भूमि-अस्ताचल में डूबा है। चौहान-कुल-भूषण पृथ्वीराज का इसी युद्ध में सर्व्वस्वांत हुआ?

पहली — विहारिणी! भल कह तो, यह वीर कैसे गिराया गया? क्या हाथ में लोहे की कमान नहीं थी? क्या उसका साहस क्षीण हो गया था? आश्चर्य्य! जिस पृथ्वीराज के भुजबल में अनेक वार यवनसमूह पराजित हुआ है, उसका यह परिणाम है?

दूसरी — विहारिणी! यदि भाई का शत्रु भाई न हो — यदि शैलवासिनी सरिता ही शृंग को न तोड़े — तो भला दूसरा क्या कर सकता है?

पहली — क्या यह किसी नीच भारतवासी का ही काम है?

दूसरी — हाँ, पृथ्वीराज के श्वसुर जयचंद का।

पहली — भला सखी! मैं तो सुना था कि जयचंद ने अपनी कन्या का पाणिग्रहण उनके साथ करा दिया और फिर कोई वैमनस्य न रहा, तब ऐसा क्यों हुआ?

दूसरी — प्रतिहिंसा, आत्मसम्मान और दुर्दमनीय वृत्ति के वशीभूत होकर यह सब हुआ है। स्वयं लड़ नहीं सकता था, लड़ने के लिए साधन चाहिए। और फिर किसके साथ! जामाता से प्रकाश्य युद्ध कैसे हो, इसलिये यवन बुलाये गये और आर्य्यसाम्राज्य का नाश किया गया।

पहली — सखी! सखी! हिंसा कैसी बुरी वस्तु है। देख, इसने कैसा भयंकर कार्य्य किया।

दूसरी — सीधी! इस रही-सही "प्रतिहिंसा" को भी भारतवासियों के लिए ईश्वर की दया समझ। जिस दिन इसका लोप होगा, उस दिन से तो इनके भाग्य में दासत्व करना लिखा ही है।

पहली — विहारिणी! तेरी बातें तो सब बेसिर-पैर की होती है। भला प्रतिहिंसा भी कोई अच्छा वस्तु है, जिस पर तू इतना कह गई है।

दूसरी — विलासिनी! जिस दिन से कोई, जाति, अपने आत्मगौरव का अपने शत्रु से बदला लेना भूल जाती है, उस दिन से उसका

मरण होता है। सब, जब अपने व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा करते है, तब उस समष्टि रूपी जाति या समाज की रक्षा स्वयं हो जाती है, और नहीं तो अपमान सहते-सहते उसकी आदत ही वैसी पड़ जाती है। फिर शक्ति का उपयोग नहीं हो सकता, और शक्ति के उपयोग न होने से वह भी धीरे-धीरे उत्सन्न हो जाती है। इसलिए मैं कहती हूँ कि यह थोड़ी बची हुई प्रतिहिंसा यदि जागृत रही, तो फिर भी मनुष्य अपने को समझ सकता है।

पहली — तू तो ज्ञान छाँटने लगती है और ऐसी रूखी बन जाती है कि दया का लेश भी छू नहीं जाता। देख, वह प्यास से एक आहत तड़प रहा है। चल, उसे नदी का जल पिला कर तृप्त करें।

दूसरी — ठहर, देख, यह कौन है। अरे, यह तो दुष्ट जयचंद ही है। सखी, तू भी अन्तरिक्ष में हो जा और मैं भी अन्तरिक्ष होकर इस चाण्डाल से कुछ प्रायश्चित कराना चाहती हूँ। उसी ओर चलें।

(प्रस्थान)

द्वितीय दृश्य

(स्थान — रणभूमि का ही एक हिस्सा। श्मशान — बुझती हुई चिता, अन्धकार)

(जयचंद का प्रवेश)

जयचंद — ह ह ह ह ह, मैं आज पिशाचों की क्रीड़ा देखने आया हूँ। और इस बुझती हुई पृथ्वीराज की चिता को देख कर अपनी हिंसा की आग भी बुझाना चाहता हूँ। (ठहर कर) उसके मस्तक को तो नहीं पा सकता, पर उसकी राख को मैं अवश्य अपने पैरों से कुचलूँगा।

(आकाश से शब्द) – हाँ रे हाँ, पृथ्वीराज के साथ अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी, कन्या की राख को भी तू कुचलेगा।

जयचंद — (भीत होकर — साहस के साथ) नहीं, मैं तो अपने शत्रु की राख को बिखेरना चाहता हूँ।

(आकाश से) – भला, यह तो बता, तूने अपनी कन्या को कैसा सुख दिया।

जयचंद — (गर्व से) अरे तू है कौन, जो व्यर्थ बक-बक करता है। वह जब तक कुमारी रही, फूलों में पली, जब युवती हुई, योग्य पति को वरण किया, इससे बढ़ कर स्त्री को कौन सुख मिलेगा?

(आकाश से) – नराधम! अब उसकी क्या दशा है?

जयचंद — जो आर्य्य ललनाओं की होती है। सुन चुकी होगी, तो मर गई होगी, नहीं तो सुनते ही प्राणत्याग करने का उद्योग करेगी।

(आकाश से) – दुष्ट इसी चिता की धूलि में उस फूल का भी पराग मिला हुआ है, जिसे तूने बड़े स्नेह से अपने हाथ मे रखा था।

जयचन्द — क्या कहा?

(आकाश से) – यही कि इसी चिता की राख में संयोगिता की राख भी मिली है, जिसे तू कुचलेगा।

जयचंद — (करुणार्द्र स्वर से) क्या संयोगिता सती हो गयी?

(आकाश से) हाँ, तूने ही तो अपने हाथ से उसके सती होने की तैयारी की थी।

जयचंद — क्षत्राणी थी। यही ठीक भी था। पर हाय संयोगिता! तू अभी बिना कली की आशालता थी, यही दुःख है — (मोह)

(आकाश से) – अब क्यों रोने लगा? कुचल, उस राख को कुचल, अपनी छाती ठंडी कर!

जयचंद — (आकाश की ओर देख कर) हाय, संयोगिते! मैंने तुझे कुछ भी सुख न दिया! अपने स्वार्थ के लिए, अपनी जिघांसावृत्ति की तृप्ति के लिए, अपने पाले हुए हरिणशावक पर ही शर-सन्धान किया।

(आकाश से) – अभी क्या रोता है, अभी तो तुझे बहुत रोना पड़ेगा। तू ही नहीं, तेरे इस कार्य्य से सारे भारतवासियों को रोना पड़ेगा और उनके घृणा-प्रकाश करने पर तेरी आत्मा सदा रोती रहेगी। पहले, अपने लगाये हुए विष-वृक्ष के फल को चख, फिर तू उसी की लकड़ी से जलाया जायगा कि नहीं, इसकी खोज पीछे करना। अपनी प्रतिहिंसा से तृप्त हो जा। इस राख को, जिसमें संयोगिता और पृथ्वीराज की राख मिली हुई है, अपने पवित्र चरणों से पवित्र तो कर दे।

जयचंद — भाई तुम कौन हो, क्यों मुझे सता रहे हो!

(आकाश से) – अभी तो तू यहाँ पिशाचों की क्रीड़ा देखने आया था और मैंने भी सोच रक्खा था कि तू भी किसी नरपिशाच से कम नहीं। देखें किसकी क्रीड़ा अच्छी होती है। पृथ्वीराज की खोपड़ी एक पिशाच के हाथ में दे और संयोगिता की तू ले ले। दोनों लड़ा कर देख, कौन फूटती है।

जयचंद — हाय हाय! मुझसे घोर दुष्कर्म हुआ।

(आकाश से) – और तुझे घोर प्रायश्चित भी करना होगा।

जयचंद — (हाथ जोड़कर) सच में कोई देवदूत हो। कृपा कर यह बतलाओ कि इसका क्या प्रायश्चित है। मैं उसे अवश्य करूँगा।

(आकाश से) – जामातृवध के लिए शत्रुवध, और देशद्रोह के लिए आत्मवध।

(जयचंद मूर्च्छित होता है। एक मन्द प्रकाश के साथ पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

(राजभवन — कन्नौज)

जयचंद — मन्त्रिवर, उस छली यवन ने क्या विजित भूमि देना अस्वीकार किया?

मंत्री — हाँ महाराज! वह कहता है कि यदि महाराज को फिर दिल्ली का राज्य मिल जायगा, तो उसको कई बार दिल्ली विजय करनी पड़ेगी। इसलिए, वह झंझट नहीं बढाना चाहता।

जयचंद — मन्त्रिवर! क्या सारे पाप का यही परिणाम हुआ?

मंत्री — सो तो हुआ महाराज!

जयचंद — नहीं मन्त्री, ऐसा नहीं होगा। देखो, जब दिल्लीराज ने इस पृथ्वीराज को अपना महाराज्य समर्पित किया था, उसी समय मेरे हृदय-वन में एक विषवृक्ष का बीज, बड़े विषैले काँटे से खोदकर गाडा गया। अब उस वृक्ष को उखाड़ कर क्या उसका सुख न भोग सकूँगा?

मंत्री — महाराज के हाथों भारत-दुर्भाग्य ने सब कुछ कराया। क्या आश्चर्य है कि यह भी हो जाय।

जयचंद — (खड़ा होकर) नहीं, नहीं! खड्गबल से सहायता मिलेगी। जयचंद निरा कायर नहीं है। इस थके हुए लुटेरे को, जिसका बल क्षीण हो गया है, विजय कर लेना कौन-सी बड़ी बात है।

मंत्री — आप जो न करें सो थोड़ा है। मैं आपको सलाह क्या दे सकता हूँ, पर इतना अवश्य कहूँगा कि आप भी सन्नद्ध रहिये। यवन भी इसी ध्यान में है कि अभी पृथ्वीराज अधमरा है।

जयचंद — मन्त्री महाशय, सैन्य सुसज्जित रखने के लिये सेनापति के पास आज्ञापत्र भेज दो। किन्तु फिर युद्ध ... अच्छा। (चमक उठता है) हैं, यह क्या! वह दूर कैसा धुँधला उजाला हो रहा है? अरे... इसमें कोई आकृति, हाँ, हाँ वही तो है,संयोगिता ...।

मंत्री — महाराज! क्या आपको भ्रम हो रहा है? कहाँ ध्यान है।

जयचंद — भ्रम नहीं, मन्त्रिवर, भ्रम नहीं होता है। मैंने प्रायश्चित करने की प्रतिज्ञा की है।

मंत्री — कैसा प्रायश्चित महाराज?

जयचंद — पाप का। मन्त्री, जिसे मैंने किया है। देखो मन्त्रिवर, एक पुच्छ-मर्दिता सिंहिनी-मूर्ति प्रायश्चित करने को अपनी उँगली उठा कर मुझे चिताती है। देखो, वह...।

मंत्री — महाराज! आप कैसी उन्मत्त की-सी बातें कर रहे है। यह समय धैर्य्य का हा। आपको एक प्रबल शत्रु से सामना करना है, उसके सामने क्या आप इसी तरह से अपनी रक्षा करेंगे?

जयचंद — क्या कहा, शत्रु कहाँ है। सभी तो हैं। तुम भी हमारे शत्रु है। क्या तुम नहीं हो? संसार ही शत्रु है, उससे क्या करें। बोलो, कहो कौन मित्र है?

मंत्री — महाराज सावधान रहिये, बड़ा विषम समय है।

जयचंद — हाँ, मन्त्री, क्या कहा विष? हाँ, यह भी तो प्रायश्चित का एक उपकरण है।

मंत्री — हा शोक! (जाता है)

(राजा जयचंद स्तब्ध बैठ जाता है।)

(पट-परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

(दिल्ली दरबार, मुहम्मद गोरी सिंहासनासीन)

दरबारी — शाहंशाह को तख्ते हिन्दोस्तान मुबारक हो।

मुहम्मदगोरी — बहादुर सरदारों! दीन इस्लाम को तख्ते हिन्दोस्तान मुबारक हो।

दरबारी — आमीन, आमीन।

मुहम्मदगोरी — बहादुर शफक़त! आज सचमुच हिन्दोस्तान हलाली झंडे के नीचे आ गया। और यह सब तो एक बात है, दरअसल खुदाये पाक को अपने पाक मजहब की ज़ीनत देना मंज़ूर है। नहीं तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओं पर फतह पाना क्या मुमकिन था?

दरबारी — कभी नहीं, हरगिज़ नहीं।

शफ़कत — लेकिन हुजूर, रायपिथौरा भी एक ही देवसूरत और बहादुर शख्स था। बेहोश होने पर ही कब्जे में आया।

एक दरबारी — अजी, क्या उस मूजी की तारीफ करते हो।

मुहम्मदगोरी — नहीं अनवर! तुम भूल करते हो। हक़ीकत से वह शख्स काबिले तारीफ था। और मुसलमानों को भी वैसा ही मज़हब का पक्का होना चाहिये। देखो, कितनी बेरहमी से उसका कत्ल किया गया, मगर, उस काफिर ने पाक दीन इस्लाम को नहीं कुबूल किया। वाकई बहादुर था।

दरबारी — (सर झुकाकर) बजा इर्शाद।

शफक़त — मगर हुजूर! कमबख्त, काफिर जयचंद भी खूब ही छका। उसने समझ रक्खा था कि 'तख्ते देहली हमीं को मिलेगा।' आपके जवाब ने तो उस पर कोह ढहा दिया होगा। चकनाचूर कर दिया होगा।

मुहम्मदगोरी — (हँसकर) एक ही बेवकूफ है। पूरा उल्लू बना। (कुछ सोचकर) मगर शफक़त, इस दुश्मन को भी लगे हाथ न कमजोर करेंगे तो यह भारी नुकसान पहुँचावेगा।

दरबारी — (खड़े होकर तलवार निकालकर) शाहंशाहे आलम! जंग! फतेह!

मुहम्मदगोरी — बहादुर सरदारों! बैठो। आज फतेह की खुशी मनाओ। कल इसका बहुत जल्द इन्तेज़ाम होगा। (इनाम देता है)

(पटाक्षेप)

पंचम दृश्य

(दुर्ग का एक भाग। जयचंद और मन्त्री)

जयचंद — मन्त्री उन दुष्ट राजाओं ने क्या उत्तर दिया?

मंत्री — महाराज! किसी ने कहा कि — "क्या महाराज फिर कोई राजसूय यज्ञ करेंगे, जो बुलावा हो रहा है? अच्छा उपहार की सामग्री एकत्र करके आता हूँ।" किसी ने कहा — "मैने महाराज की आज्ञा से सेना घटा दी है। जब सब सेना एकत्र होगी, तब आऊँगा।" किसी ने उत्तर दिया कि "जहाँ तक हो सकेगा शीघ्र आऊँगा।"

जयचंद — कहो, कहो, सत्य और शीघ्र कहो।

मंत्री — महाराज! किसी-किसी ने यह भी कहा है कि हम देशद्रोही का साथ न देंगे। यदि यवन लाग आपसे चढ़ आता, तो अवश्य हम उनकी सहायता करते, पर जब उन्होंने स्वयं उसे बुलाया है, तब हम लोग कुछ नहीं कर सकते।

जयचंद — हाँ! मंत्री! जयचंद के अधीन राजाओं और सरदारों को ऐसा कहने का हौसला हो गया? चलो अच्छा हुआ। तुमने रक्षा का क्या उपाय सोचा है?

मंत्री — महाराज! चौहान और राठौर के युद्ध में साहसी, शूर और राजभक्त सेना कट चुकी है, यह तो महाराज को मालूम ही होगा। जो कुछ है, तैयार हो रही है।

(चर का प्रवेश)

चर — महाराज की जय हो! मंत्री महाशय! अभिवादन करता हूँ।

मंत्री — कुशल तो है? कहो क्या समाचार है?

चर — महाराज! यवनों की एक बड़ी सेना, इसी ओर चुप-चाप बढ़ती चली आ रही है। संभव है कि पहर-दो-पहर में वह कन्नौज तक पहुँच जाय।

जयचंद — मंत्री! क्या होगा?

मंत्री — महाराज! आप वीर हैं, युद्ध के लिए प्रस्तुत होइए।

जयचंद — (सोचकर) नहीं मंत्री! इन मेरी पाप-भूषित भुजाओं में अब वह बल नहीं है कि युद्ध करूँ। लो, शीघ्र राजकुमार को बुलाओ। यह राज्य उनका है, अब वही इसकी रक्षा करे। मुझसे कोई संसर्ग नहीं है।

मंत्री — महाराज! वह नये राजकुमार है, भला ऐसे संकट में उनसे रक्षा होगी?

जयचंद — भला मंत्री! तुम नहीं जानते कि मुझे प्रायश्चित करना है। (आकाश की ओर) देखो, देखो, वह कौन मूर्ति है! हाँ हाँ, देवि! क्रुद्ध न हो, मैं अवश्य प्रायश्चित करूँगा। लो मैं जाता हूँ (मन्त्री से) मंत्री! तुम जानो, राजकुमार जाने। कन्नौज राज्य से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। मैं प्रायश्चित करने जाता हूँ।

(प्रस्थान, पटाक्षेप)

छठा दृश्य

(स्थान — गंगातट । जयचंद और साथी)

जयचंद — सैनप! तुम मेरे साथ क्यों आ रहे हो? क्या यहाँ भी कोई सेना है? जाओ, यदि तुम्हारे किये कुछ हो सके, तो कन्नौज की रक्षा करो। और नहीं तो मरने ही की ठीक प्रतिज्ञा हो, तो चलो। गंगा-तट से बढ़कर कौन-सी भूमि है।

सैनप — महाराज, वीरों के लिए रण-गंगा से बढ़कर दूसरा पुण्यतीर्थ नहीं है। परन्तु करूँ क्या, मेरे ऊपर आपकी रक्षा का भार है।

जयचंद — ह ह ह ह ह, पर यह भी जानते हो कि मेरे ऊपर कितने पापों का भार है? भला सब तुम्हारे उठाये उठेगा? मैं तो प्रायश्चित करने जाता हूँ, तुम्हारा तो कोई पापकर्म्म प्रकट प्रकट नहीं है। फिर तुम क्यों चलते हो? जाओ, जल्दी अपने देश का कार्य्य में, अपने हाथों को लगाओ!

सैनप — महाराज आप!

जयचंद — बोलो मत, मैं एक बार फिर उसी गजेंद्र पर चढ़कर प्रायश्चित करूँगा, जिस मदांध पर चढ़ कर मैं भी मदांध हो गया था। हाँ, सैनप, एक बात कहना मैं भूल गया था। कन्नौज निवासियों से कह देना कि तुम्हारे पापी राजा ने, जिनकी तुम लोगों ने बहुत-सी आज्ञाएँ मानी है, एक अंतिम प्रार्थना यह की है कि यदि हो सके, तो शबाबुद्दीन का वध करके उसकी रक्तधारा से दो

एक अँजुली, जयचंद के नाम पर देना क्योंकि पापियों को नरक में यही पीने को मिलता है। अब जाओ।

(सैनप का प्रस्थान, जयचंद का गजारोहण और गंगा में धँसना)

जयचंद — बस महाशय ठहरो! (आकाश की ओर देख कर) देवि! एक तो मैं नहीं कर सका; पर दूसरा तो मेरे वश में है, वह प्रायश्चित करता हूँ। देशद्रोह के लिए आत्मवध। हाँ फिर, इससे बढ़कर दूसरा स्थान कहाँ है? पतितपावनी, प्रणाम (कूद पड़ता है)

(पटाक्षेप)

ध्रुवस्वामिनी

सूचना

विशाखदत्त-द्वारा रचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के कुछ अंश 'शृंगार-प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' से सन् 1923 की ऐतिहासिक पत्रिकाओं में उद्धृत हुए। तब चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के जीवन के सम्बन्ध में जो नयी बातें प्रकाश में आयीं, उनसे इतिहास के विद्वानों में अच्छी हलचल मच गयी। शास्त्रीय मनोवत्ति वालों को, चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न असम्भव, विलक्षण और कुरुचिपूर्ण मालूम हुआ। यहाँ तक कि आठवीं शताब्दी के संजात ताम्रपत्र -

हत्वा भ्रातरंमेव राज्यमहरद्देवीं स दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयन् किल किलौ दाता सगुप्तान्वयः॥

के पाठ में संदेह किया जाने लगा —

किन्तु जिस ऐतिहासिक घटना का वर्णन करते हुए सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने लिखा है -

अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेश-
श्चन्द्रगुप्तां शतपतिमशातयत्।

और ग्यारहवीं शताब्दी में राजशेखर ने भी लिखा है-

दत्वारुद्धगतिं खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्।
यस्मात् खंडित-साहसो निवतृते श्रीरामगुप्तोनपः॥

वह घटना केवल जनश्रुति कहकर नहीं उड़ायी जा सकती।

विशाखदत्त को तो श्री जायसवाल ने चन्द्रगुप्त की सभा का राजकवि और उसके 'देवी चन्द्रगुप्त' को जीवन चित्रण नाटक भी माना है। यह प्रश्न अवश्य ही कुछ कुतूहल से भरा हुआ है कि विशाखदत्त ने अपने दोनों नाटकों का नायक चन्द्रगुप्त-नामधारी व्यक्ति को ही क्यों बनाया। परन्तु श्रीतैलंग ने तो विशाखदत्त को सातवीं शताब्दी के अवन्तिवर्मा का आश्रित कवि माना है।
क्योंकि 'मुद्राराक्षस' की किसी प्राचीन प्रति में उन्हें मुद्राराक्षस के भरत वाक्य 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्त' के स्थान पर 'प्रार्थिवोऽवन्तिवर्मा' भी

मिला। विशाखदत्त के आलोचक लोग उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक नाटककार मानते हैं। उसके लिखे हुए नाटक में इतिहास का अंश कुछ न हो, ऐसा तो नहीं माना जा सकता। राखालसाद बनर्जी, प्रोफेसर अल्वेकर और जायसवाल इत्यादि ने अन्य प्रामाणिक आधार मिलने के कारण ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य मान लिया है। यह कहना कि रामगुप्त नाम का कोई राजा गुप्तों की वंशवली में नहीं मिलता और न ही किसी अभिलेख में उसका वर्णन आया है, कोई अर्थ नहीं रखता। समुद्रगुप्त के शासन का उल्लंघन करके, कुछ दिनों तक साम्राज्य में उत्पात मचाकर जो राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्ध्यान हो गया हो, उसका अभिलेख वंशावली में न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। हाँ, भण्डारकरजी तो कहते हैं कि उसके लघु-काल-व्यापी शासन का सूचक सिक्का भी चला था। 'काँच' के नाम से प्रसिद्ध जो गुप्त सिक्के मिलते हैं वे रामगुप्त के ही हैं। राम के स्थान पर भ्रम से काच पढ़ा जा रहा था। इसलिए बाणभट्ट की वर्णित घटना अर्थात् स्त्रीवेश धारण करके चन्द्रगुप्त का पर-कलह-कामुक शकराज को मारना और ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह इत्यादि के ऐतिहासिक सत्य होने में सन्देह नहीं रह गया है। और मुझे तो इसका स्वयं चन्द्रगुप्त की ओर से एक प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर 'रूपकृति' शब्द का

उल्लेख है। रूप और आकृति को जॉन एलन् ने खींच-तानकर जो शारीरिक और आध्यात्मिक अर्थ किया है, वह व्यर्थ है। रूपकृति विरुद का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदलकर किया है, और जिसका पिछले काल के लेखकों ने भी समय-समय पर समर्थन किया है।

विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक का जितना अंश प्रकाश में आया है, उसे देखकर अबुलहसन अली की बर्कमारिस वाली कथा का मिलान करके कई ऐतिहासिक विद्वानों ने शास्त्रीय दृष्टिकोण रखने वाले आलोचकों को उत्तर देते हुए ध्रुवदेवी के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य तो मान लिया है, किन्तु भण्डारकरजी ने पराशर और नारद की स्मृतियों से काल की सामाजिक व्यवस्था में पुनर्लग्न होने का प्रमाण भी दिया है। शास्त्रों में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरह की बातें मिल सकती हैं, परन्तु जिस प्रथा के लिए विधि और निषेध दोनों तरह की सूचनाएं मिलें, तो इतिहास की दष्टि से वह उस काल में सम्भाव्य मानी जाएंगी। हाँ, समय-समय पर उनमें विरोध और सुधार हुए होंगे और होते रहेंगे। मुझे तो केवल यही देखना है कि इस घटना की सम्भावना इतिहास की दृष्टि से उचित है कि नहीं।

भारतीय दृष्टिकोण को सुरक्षित रखने वाले विशाखदत्त जैसे पण्डित ने जब अपने नाटकों में लिखा है —

रम्यांचारतिकारिणीच करुणाशोकेन नीता दशाम
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चांद्रीकला।

पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेव पुंसः सतो
लज्जाकोपविषाद भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते॥

तो उस नाटक के सम्पूर्ण सामने न रहने पर भी, जिससे कि उसके परिणाम का निश्चित पता लगे, उस काल की सामाजिक व्यवस्था को तो अंशतः स्पष्टीकरण हो ही जाता है।
नारद और पराशर के वचन -

अपत्यार्थम् स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं वीजिनो नराः
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति। (नारद)

नष्टे मृते प्रवृजिते क्लीवे च पतौ।
पंचास्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ (पराशर)

के प्रकाश में जब 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के ऊपर वाले श्लोक का अर्थ किया जाए तो वह घटना अधिक स्पष्ट हो जाती है। रम्या है किन्तु अरतिकारिणी है, में जो श्लेष है, उसमें शास्त्र-व्यवस्था जनित ध्वनि है। और पति के क्लीवजनोचित चरित का उल्लेख, साथ-ही-साथ क्षेत्री-कृता-जैसा परिभाषित शब्द, नाटककार ने कुछ सोचकर ही लिखा होगा।

भण्डारकार और जायसवाल जी, दोनों ही ने अपने लेखों में विधवा के साथ पुनर्लग्न होने की व्यवस्था मानकर ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न स्वीकार किया है। किन्तु स्मृति की ही उक्त व्यवथा में अन्य पति ग्रहण करने के लिए पाँच आपत्तियों का उल्लेख किया है, उनमें केवल मृत्यु होने पर ही तो विधवा का पुनर्लग्न होगा। अन्य चार आपत्तियाँ तो पति के जीवनकाल में ही उपस्थिति होती हैं।

उधर जायसवाल चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त का वध भी नहीं मानना चाहते, तब 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक की कथा का उपसंहार कैसे हुआ होगा? वैवाहिक विषयों का उल्लेख स्मृतियों को छोड़कर क्या और कहीं नहीं है? क्योंकि स्मृतियों के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि वे इस युग के लिए नहीं, दूसरे युग के लिए हैं, परन्तु इसी कलियुग के विधान-ग्रंथ आचार्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मुझे इन स्मृतियों की पुष्टि मिली।

किस अवस्था में एक पति दूसरी स्त्री ग्रहण करता है, इसका अनुसंधान करते हुए, धर्मस्थीय प्रकरण के विवाह-संयुक्त में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं -

वर्षाण्यष्टा वप्रजायमानामपृत्राम् वंध्यां चाकांक्षेत् दशविन्दु,
द्वादश कन्या प्रसविनीम, ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विंदेत्।

8 वर्ष तक वन्ध्या, 10 वर्ष तक विन्दु अर्थात् नश्यत्प्रसूति, 12 वर्ष तक कन्या प्रसविनी की प्रतीक्षा करके पुत्रार्थी दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है। पुरुषों का अधिकार बताकर स्त्रियों के अधिकार की घोषणा भी उसी अध्याय के अन्त में है -

नीचत्वम् परदेशम् वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणभिहंता पतितस्त्याज्यः क्लीवोपवापतिः॥

इसका मेल पराशर या नारद के वाक्यों में मिलता है। इन्हीं अवस्थाओं में पति को छोड़ने का अधिकार स्त्रियों को था। क्योंकि 'अर्थशास्त्र' में आगे भी मोक्ष (divorce) का प्रसंग आता है, उसमें न्यायालय सम्भवतः 'अमोक्षा-भर्तुरकाम्य द्विषती भार्या भार्यायाश्च भर्ता, परस्परं द्वेषानमोक्षः' के आधार पर आदेश देता

था। किन्तु साधारण द्वेष से भी जहाँ अन्य चार विवाहों में मोक्ष हो सकते थे, वहाँ धर्म-विवाह में केवल इन्हीं अवस्थाओं में पति त्याज्य समझा जाता था नहीं तो 'अमोक्षोहि धर्म विवाहानाम्' के अनुसार धर्म-विवाहों में मोक्ष नहीं होता था। दमयन्ती के पुनर्लग्न की घोषणा भी पति के नष्ट या परदेश प्रस्थित होने पर ही की गयी थी।

जायसवालजी अबुलहसन अली की यह बात नहीं मानते कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या की होगी। उनका कहना है कि चन्द्रगुप्त तो भरत की तरह बड़े भाई के लिए गद्दी छोड़ चुका था। उनका अनुमान है कि 'Very likely, it came about in the form of popular uprising.' अब नाटकार के 'अरतिकारिणी' और 'क्लीव' आदि शब्द घटना की परिणति की क्या सूचना देते हैं, यह विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि अबुलहसन की कथा का आधार 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक ही हो। क्योंकि अबुलहसन के लिखने के पहले उक्त नाटक का होना माना जा सकता है।

यह ठीक है कि हमारे आचार और धर्मशास्त्र की व्यावहारिकता की परम्परा विछिन्न-सी है -आगे जितना सुधार या समाज-शास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझकर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते हैं, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घ काल-

व्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधा का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं। इसीलिए डेढ़ हजार वर्ष पहले यह होना अस्वाभाविक नहीं था। क्या होना चाहिए और कैसा होगा, यह तो व्यव-स्थापक विचार करें; किन्तु इतिहास के आधार पर जो कुछ हो चुका या जिस घटना के घटित होने की सम्भावना है, उसी को लेकर इस नाटक की कथावस्तु का विकास किया गया है।

भण्डारकरजी का मत है कि यह युद्ध गोमती की घाटी में अल्मोड़ा जिले के कार्तिकेयपुर के समीप हुआ। जायसवालजी का मत है कि यह युद्ध 374 ई. से लेकर 380 ई. के बीच में कांगड़ा जिले के अबिबाल स्थान में हुआ था, जहाँ कि प्रथम सिक्ख युद्ध भी हुआ था।

प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की साम्राज्य-नीति में विजित राजाओं के आत्म-निवेदन 'कन्योपायन दान' ग्रहण करने का उल्लेख है। मैंने ध्रुवस्वामिनी के गुप्तकाल में आने का वही कारण माना है।

विशाखदत्त ने ध्रुवदेवी नाम लिखा है, किन्तु मुझे ध्रुवस्वामिनी नाम, जो राजशेखर के 'मुक्तक' में आया है, स्त्रीजनोचित सुन्दर, आदर-सूचक और सार्थक प्रतीत हुआ। इसीलिए मैंने उसी का व्यवहार किया है।

~ जयशंकर 'प्रसाद'

चैत्र शुक्ल, 1990

पात्र सूची

ध्रुवस्वामिनी

मन्दाकिनी

कोमा

चन्द्रगुप्त

रामगुप्त

शिखर स्वामी

पुरोहित

शकराज

खिंगिल

मिहिर देव

सामन्त कुमार, शक सामन्त, प्रतिहारी, प्रहरी, दासी, कुबड़ा, बौना, नर्तकियाँ।

प्रथम अंक

(शिविर का पिछला भाग जिसके पीछे पर्वतमाला की प्राचीर है, शिविर का एक कोना दिखलाई दे रहा है जिससे सटा हुआ चन्द्रातप टँगा है। मोटी-मोटी रेशमी डोरियों से सुनहले काम के परदे खम्भों से बँधे हैं। दो-तीन सुन्दर मंच रखे हुए हैं। चन्द्रातप और पहाड़ी के बीच छोटा-सा कुंज, पहाड़ी पर से एक पतली जलधारा उस हरियाली में बहती है। झरने के पास शिलाओं से चिपकी हुई लता की डालियाँ पवन में हिल रही हैं। दो चार छोटे-बड़े वृक्ष, जिन पर फूलों से लदी हुई सेवती की लता छोटा-सा झुरमुट बना रही है।

(शिविर के कोने से ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश। पीछे-पीछे एक लम्बी और कुरूप स्त्री चुपचाप नंगी तलवार लिए आती है)

ध्रुवस्वामिनी — (सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न! (साथ वाली खड्‌गधारिणी की ओर देखकर) क्यों, मन्दाकिनी नहीं आई? (वह उत्तर नहीं देती है) बोलती क्यों

नहीं? यह तो मैं जानती हूँ कि इस राजकुल के अन्तःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला; किन्तु क्या तुम-जैसी दासियों से भी वही मिलेगा? इसी शैलमाला की तरह मौन रहने का अभिनय तुम न करो, बोलो! (वह दाँत निकालकर विनय प्रकट करती हुई कुछ और आगे बढ़ने का संकेत करती है) अरे, यह क्या, मेरे भाग्य विधाता! यह कैसा इन्द्रजाल? उस दिन राजमहापुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था? इस राजकीय अन्तःपुर में सब जैसे एक रहस्य छिपाये हुए चलते हैं, बोलते हैं और मौन हो जाते हैं। (खड्गधारिणी विवशता और भय का अभिनय करती हुई आगे बढ़ने का संकेत करती है) तो क्या तुम मूक हो? तुम कुछ बोल न सको, मेरी बातों का उत्तर भी न दो, इसीलिए तुम मेरी सेवा में नियुक्त की गई हो? यह असह्य है। इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन नहीं मिलेगा क्या जिधर देखो कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूँगे और बहरे...।

(चिढ़ती हुई ध्रुवस्वामिनी आगे बढ़कर झरने के किनारे बैठ जाती है, खड्गधारिणी भी इधर-उधर देखकर ध्रुवस्वामिनी के पैरों के समीप बैठती है।)

खड्गधारिणी — (सशंक चारों ओर देखती हुई) देवि, प्रत्येक स्थान और समय बोलने के योग्य नहीं होते। कभी-कभी मौन रह जाना बुरी बात नहीं है। मुझे अपनी दासी समझिए। अवरोध के भीतर मैं गूँगी हूँ। यहाँ संदिग्ध न रहने के लिए मुझे ऐसा ही करना पड़ता है।

ध्रुवस्वामिनी — अरे, तो क्या तुम बोलती भी हो पर यह तो कहो, यह कपट आचरण किसलिए?

खड्गधारिणी — एक पीड़ित की प्रार्थना सुनाने के लिए। कुमार चन्द्रगुप्त को आप भूल न गई होंगी !

ध्रुवस्वामिनी — (उत्कण्ठा से) वही न, जो मुझे बंदिनी बनाने के लिए गए थे।

खड्गधारिणी — (दाँतों से जीभ दबाकर) यह आप क्या कह रही हैं? उनको तो स्वयं अपने भीषण भविष्य का पता नहीं। प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है। उन्होंने पूछा है कि मेरा क्या अपराध है?

ध्रुवस्वामिनी — (उदासी की मुस्कराहट के साथ) अपराध मैं क्या बताऊँ? तो क्या कुमार भी बन्दी हैं?

खड्गधारिणी — कुछ-कुछ वैसा ही है देवि, राजाधिराज से कहकर क्या आप उनका कुछ उपकार कर सकेंगी?

ध्रुवस्वामिनी — भला मैं क्या कर सकूँगी? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती। मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ!

खड्गधारिणी — तब तो अदृष्ट ही कुमार के जीवन का सहायक होगा। उन्होंने पिता का दिया हुआ स्वत्व और राज्य का अधिकार तो छोड़ ही दिया; इसके साथ अपनी एक अमूल्य निधि भी ... । (कहते-कहते सहसा रुक जाती है।)

ध्रुवस्वामिनी — अपनी अमूल्य निधि! वह क्या?

खड्गधारिणी — यह अत्यन्त गुप्त है देवि, किन्तु मैं प्राणों की भीख माँगते हुए कह सकूँगी।

ध्रुवस्वामिनी — (कुछ सोचकर) तो जाने दो, छिपी हुई बातों से मैं घबरा उठी हूँ। हाँ, मैंने उन्हें देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल अरुण! आह! राज-चक्र सबको पीसता है, पिसने दो, हम निस्सहायों को और दुर्बलों को पिसने दो!

खड्गधारिणी — देवि, वह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गई है, उसकी नन्हीं-नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जायेंगी कि वह किस जाति की है। प्राणों की क्षमता

बढ़ा लेने पर वही काई जो बिछलन बनकर गिरा सकती थी, अब दूसरों के ऊपर चढ़ने का अवलम्बन बन गई है।

ध्रुवस्वामिनी — (आकाश की ओर देखकर) वह बहुत दूर की बात है। आह, कितनी कठोरता है! मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस आता है? कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है, किन्तु उन्हीं का भाई? आश्चर्य!

खड्गधारिणी — कुमार को इतने में ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है। रही अभ्युदय की बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्य पर ही विश्वास है।

ध्रुवस्वामिनी — किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाए।

(खड्गधारिणी खड़ी होती है)

– अच्छा, तो अब तू जा और अपने मौन संकेत से किसी दासी को यहाँ भेज दे मैं अभी यहाँ बैठना चाहती हूँ।

(खड्गधारिणी नमस्कार करके जाती है। एक दासी का प्रवेश)

दासी — (हाथ जोड़कर) देवी, सांयकाल हो चुका है। वनस्पतियाँ शिथिल होने लगी हैं। देखिए न, व्योम-विहारी पक्षियों का झुण्ड भी अपने नीड़ों में प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है। क्या भीतर चलने की अभी इच्छा नहीं है

ध्रुवस्वामिनी — चलूँगी क्यों नहीं? किन्तु मेरा नीड़ कहाँ? यह तो स्वर्णपिंजर है।

(करुण भाव से उठकर दासी के कंधे पर हाथ रखकर चलने को उद्यत होती है। नेपथ्य में कोलाहल — महादेवी कहाँ हैं? उन्हें कौन बुलाने गई है?)

ध्रुवस्वामिनी — हैं-हैं, यह उतावली कैसी?

प्रतिहारी — (प्रवेश करके ... घबराहट से) भट्टारक इधर आये हैं क्या?

ध्रुवस्वामिनी — (व्यंग्य से मुस्कराते हुए) मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं। देखो, किसी कुंज में ढूँढ़ो।

प्रतिहारी — (संभ्रम से) अरे महादेवी! क्षमा कीजिए। युद्ध-सम्बन्धी एक आवश्यक संवाद देने के लिए महाराज को खोजती हुई मैं इधर आ गयी हूँ।

ध्रुवस्वामिनी — होंगे कहीं, यहाँ तो नहीं है।

(उदास भाव से दासी के साथ ध्रुवस्वामिनी का प्रस्थान। दूसरी ओर से खड्गधारिणी का पुनः प्रवेश... और कुंज में से अपना उत्तरीय सँभालता रामगुप्त निकलकर एक बार प्रतिहारी की ओर, फिर खड्गधारिणी की ओर देखता है)

प्रतिहारी — जय हो देव! एक चिन्ताजनक समाचार निवेदन करने के लिए अमात्य ने मुझे भेजा है।

रामगुप्त — (झुँझलाकर) चिन्ता करते-करते देखता हूँ कि मुझे मर जाना पड़ेगा। ठहरो, (खड्गधारिणी से) हाँ जी, तुमने अपना काम तो अच्छा किया, किन्तु मैं समझ न सका कि चन्द्रगुप्त को वह अब भी प्यार करती है या नहीं?

(खड्गधारिणी प्रतिहारी की ओर देखकर चुप रह जाती है)

रामगुप्त — (प्रतिहारी की ओर क्रोध से देखता हुआ) तुमसे मैंने कह दिया न कि अभी मुझे अवकाश नहीं, ठहर कर आना।

प्रतिहारी — राजाधिराज! शकों ने किसी पहाड़ी राह से उतरकर नीचे का गिरि-पथ रोक लिया है। हम लोगों के शिविर का

सम्बन्ध राजपथ से छूट गया है। शकों ने दोनों ही ओर से घेर लिया है।

रामगुप्त — दोनों ओर से घिरा रहने में शिविर और भी सुरक्षित है। मूर्ख! चुप रह... (खड्गधारिणी से) तो ध्रुवदेवी, क्या मन-ही-मन चन्द्रगुप्त को... है न मेरा सन्देह ठीक?

प्रतिहारी — (हाथ जोड़कर) अपराध क्षमा हो देव! अमात्य युद्ध परिषद् में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

रामगुप्त — (हृदय पर हाथ रखकर) युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है। देखती नहीं, जगत की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज!

प्रतिहारी — महाराज, शकराज का संदेश लेकर एक दूत भी आया है।

रामगुप्त — आह! किन्तु ध्रुवदेवी! उसके मन में टीस है (कुछ सोचकर) जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो... नहीं, जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे? भीतर-भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे। (खड्गधारिणी से) सुना न, ध्रुवदेवी से कह देना

चाहिए कि वह मुझे और मुझसे ही प्यार करे। केवल महादेवी बन जाना ठीक नहीं।

(खड्गधारिणी का प्रतिहारी के साथ प्रस्थान और शिखरस्वामी का प्रवेश)

शिखरस्वामी — कुछ आवश्यक बातें कहनी हैं, देव।

रामगुप्त — (चिन्ता से उँगली हिलाते हुए, जैसे अपने आप बातें कर रहा हो) ध्रुवदेवी को लेकर क्या साम्राज्य से भी हाथ धोना पड़ेगा! नहीं, तो फिर (कुछ सोचने लगता है) ठीक, तो सहसा मेरे राजदण्ड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं। (शिखर से) है न! केवल एक तुम्हीं मेरे विश्वासपात्र हो। समझा न! यही गिरि-पथ सब झगड़ों का अन्तिम निर्णय करेगा। क्यों अमात्य, जिसकी भुजाओं में बल न हो, उसके मस्तिष्क में तो कुछ होना चाहिए?

शिखरस्वामी — (एक पत्र लेकर) पहले इसे पढ़ लीजिए! (रामगुप्त पत्र पढ़ते-पढ़ते आश्चर्य से चौंक उठता है)। चौंकिए मत, यह घटना इतनी आकस्मिक है कि कुछ सोचने का अवसर नहीं मिलता।

रामगुप्त — (ठहरकर) है तो ऐसा ही; किन्तु एक बार ही मेरे प्रतिकूल भी नहीं। मुझे इसकी सम्भावना पहले से भी थी।

शिखरस्वामी — (आश्चर्य से) ऐं? तब तो महाराज ने अवश्य ही कुछ सोच लिया होगा। मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।

रामगुप्त — (सशंक) कह दूँ! सोचा तो है मैंने, परन्तु क्या तुम उसका समर्थन करोगे?

शिखरस्वामी — यदि नीति-युक्त हुआ तो अवश्य समर्थन करूँगा। सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल मैंने ही आपका समर्थन किया था। नीति-सिद्धान्त के आधार पर ज्येष्ठ राजपुत्र को... ।

रामगुप्त — (बात काटकर) वह तो... मैं जानता हूँ; किन्तु इस समय जो प्रश्न सामने आ गया है उस पर विचार करना चाहिए। यह तुम जानते हो कि मेरी इस विजय-यात्रा का कोई गुप्त उद्देश्य है। उसकी सफलता भी सामने दिखाई पड़ रही है। हाँ, थोड़ा-सा साहस चाहिए।

शिखरस्वामी — वह क्या?

रामगुप्त — शक-दूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो, उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस संकट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति हैं, उस सबको हम लोग सहज ही हटा सकेंगे।

शिखरस्वामी — भविष्य के लिए यह चाहे अच्छा हो, किन्तु इस समय तो हमको बहुत-से विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।

रामगुप्त — (हँसकर) तुम... तुम्हारी बुद्धि कब काम में आवेगी और हाँ, चन्द्रगुप्त के मनोभाव का कुछ पता लगा?

शिखरस्वामी — कोई नई बात तो नहीं।

रामगुप्त — मैं देखता हूँ कि मुझे पहले अपने अन्तःपुर के ही विद्रोह का दमन करना होगा। (निःश्वास लेकर) ध्रुवदेवी के हृदय में चन्द्रगुप्त की आकांक्षा धीरे-धीरे जाग रही है।

शिखरस्वामी — यह असम्भव नहीं, किन्तु महाराज! इस समय आपको दूत से साक्षात् करके उपस्थित राजनीति पर ध्यान देना चाहिए। यह एक विचित्र बात है कि प्रबल पक्ष सन्धि के लिए सन्देश भेजे।

रामगुप्त — विचित्र हो चाहे सचित्र, अमात्य, तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है, भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों। तो चलो!

(दोनों का प्रस्थान। मन्दाकिनी का सशंक भाव से प्रवेश)

मन्दाकिनी — (चारों ओर देखकर) भयानक समस्या है। मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है। सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूल उड़ती है। (कुछ सोचकर) कुमार चन्द्रगुप्त को यह सब समाचार शीघ्र ही मिलना चाहिए। गूँगी के अभिनय में महादेवी के हृदय का आवरण तनिक-सा हटा है, किन्तु वह थोड़ा-सा स्निग्ध भाव भी कुमार के लिए कम महत्त्व नहीं रखता। कुमार चन्द्रगुप्त! कितना समर्पण का भाव है उसमें और उसका बड़ा भाई रामगुप्त! कपटाचारी रामगुप्त। जी करता है, इस कलुषित वातावरण से कहीं दूर, विस्मृत में अपने को छिपा लूँ। पर मन्दा! तुझे विधाता ने क्यों बनाया (सोचने लगती है) नहीं, मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा। न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना होगा। (गाती है)

> यह कसक अरे आँसू सह जा।
> बनकर विनम्र अभिमान मुझे
> मेरा अस्तित्व बता, रह जा।

बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।

(जाती है। ध्रुवस्वामिनी का उदास भाव से धीरे-धीरे प्रवेश। पीछे एक परिचारिका पान का डिब्बा और दूसरी चमर लिये आती है। ध्रुवस्वामिनी एक मेज पर बैठकर अक्षरों पर उँगली रखकर कुछ सोचने लगती है और चमरधरिणी चमर चलाने लगती है।)

ध्रुवस्वामिनी — (दूसरी परिचारिका से) हाँ, क्या कहा, शिखरस्वामी कुछ कहना चाहते हैं? कह दो, कल सुनूँगी, आज नहीं।

परिचारिका — जैसी आज्ञा। तो मैं कह आऊँ कि अमात्य से कल महादेवी बातें करेंगी?

ध्रुवस्वामिनी — (कुछ सोचकर) ठहरो तो, वह गुप्त साम्राज्य का अमात्य है, उससे आज ही भेंट करना होगा। हाँ, यह तो बताओ, तुम्हारे राजकुल में नियम क्या है? पहले अमात्य की मंत्रणा सुननी पड़ती है, तब राजा से भेंट होती है?

परिचारिका — (दाँतों से जीभ दबाकर) ऐसा नियम तो मैंने नहीं सुना। यह युद्ध-शिविर है न! परम भट्टारक को अवसर न मिला होगा। महादेवी! आपको सन्देह न करना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी — मैं महादेवी ही हूँ न? यदि यह सत्य है तो क्या तुम मेरी आज्ञा से कुमार चन्द्रगुप्त को यहाँ बुला सकती हो? मैं चाहती हूँ कि अमात्य के साथ ही कुमार से भी कुछ बातें कर लूँ।

परिचारिका — क्षमा कीजिए, इसके लिए तो पहले अमात्य से पूछना होगा।

(ध्रुवस्वामिनी क्रोध से उसकी ओर देखने लगती है और वह पान का डिब्बा रखकर चली जाती है। एक बौने का कुबड़े और हिजड़े के साथ प्रवेश)

कुबड़ा — युद्ध! भयानक युद्ध!!

बौना — हो रहा है, कि कहीं होगा मित्र!

हिजड़ा — बहनो, यहीं युद्ध करके दिखाओ न! महादेवी भी देख लें।

बौना — (कुबड़े से) सुनता है रे! तू अपना हिमाचल इधर कर दे - मैं दिग्विजय करने के लिए कुबेर पर चढ़ाई करूँगा।

(उसकी कूबड़ को दबाता है और कुबड़ा अपने घुटनों और हाथों के बल बैठ जाता है। हिजड़ा कुबड़े की पीठ पर बैठता है। बौना एक मोर्छल लेकर तलवार की तरह उसे घुमाने लगता है।)

हिजड़ा — अरे! यह तो मैं हूँ नल-कूबर की वध! दिग्विजयी वीर, क्या तुम स्त्री से युद्ध करोगे? लौट जाओ, कल आना। मेरे श्वसुर और आर्यपुत्र दोनों ही उर्वशी और रम्भा के अभिसार से अभी नहीं आए। कुछ आज ही तो युद्ध करने का शुभ मुहूर्त नहीं है।
बौना — (मोर्छल से पटा घुमाता हुआ) नहीं, आज ही युद्ध होगा। तुम स्त्री नहीं हो, तुम्हारी उँगलियाँ तो मेरी तलवार से अधिक चल रही हैं। कूबड़ तुम्हारे नीचे है तब मैं कैसे मान लूँ कि तुम न तो नल-कूबड़ हो और न कुबेर! तुम्हारे वस्त्रों से मैं धोखा न खाऊँगा। तुम पुरुष हो, युद्ध करो।
हिजड़ा — (उसी तरह मटकते हुए) अरे, मैं स्त्री हूँ। बहनो, कोई मुझसे ब्याह भले कर सकता है, लड़ाई मैं क्या जानूँ?

(दासी के साथ शिखरस्वामी का प्रवेश)

शिखर-स्वामी — महादेवी की जय हो!

(दूसरी ओर से युवती दासी के कन्धे का सहारा लिए कुछ-कुछ मदिरा के नशे में रामगुप्त का प्रवेश। मुस्कराता हुआ बौने का खेल देखने लगता है। ध्रुवस्वामिनी उठकर खड़ी हो जाती है और शिखरस्वामी रामगुप्त को संकेत करता है।)

रामगुप्त — (कुछ भर्राये हुए कण्ठ से) महादेवी की जय हो।

ध्रुवस्वामिनी — स्वागत महाराज!

(रामगुप्त एक मंच पर बैठ जाता है और शिखरस्वामी ध्रुवस्वामिनी के इस उदासीन शिष्टाचार से चकित होकर सिर खुजलाने लगता है)

कुबड़ा — दोहाई राजाधिराज की! हिमाचल का कूबड़ दुखने लगा। न तो यह नल-कूबड़ की बहू मेरे कूबड़ से उठती है और न तो यह बौना मुझे विजय ही कर लेता है।

रामगुप्त — (हँसते हुए) वाह रे वामन वीर! यहाँ दिग्विजय का नाटक खेला जा रहा था क्या?

बौना — (अकड़कर) वामन के बलि-विजय की गाथा और तीन पगों की महिमा सब लोग जानते हैं। मैं तीन लात में इसका कूबड़ सीधा कर सकता हूँ।

कुबड़ा — लगा दे भाई बौने। फिर यह अचल हेमकूट बनना तो छूट जाय!

हिजड़ा — देखो जी, मैं नल-कूबर की वधू इस पर बैठी हूँ।

बौना — झूठ! युद्ध के डर से पुरुष होकर भी यह स्त्री बन गया है।

हिजड़ा — मैं तो पहले ही कह चुकी कि मैं युद्ध करना नहीं जानती।

बौना — तुम नल-कूबर की स्त्री हो न, तो अपनी विजय का उपहार समझकर मैं तुम्हारा हरण कर लूँगा। (और लोगों की ओर देखकर उसका हाथ पकड़ कर खींचता हुआ) ठीक होगा न? कदाचित् यह धर्म के विरुद्ध न होगा!

(रामगुप्त ठठाकर हँसने लगता है)

ध्रुवस्वामिनी — (क्रोध से अकड़कर) निकालो! अभी निकालो, यहाँ ऐसी निर्लज्जता का नाटक मैं नहीं देखना चाहती। (शिखरस्वामी

की ओर भी सक्रोध देखती है, शिखर के संकेत करने पर वे भाग जाते हैं।)

रामगुप्त — अरे, ओ दिग्विजयी! सुन तो (उठकर ताली पीटता हुआ हँसने लगता है। ध्रुवस्वामिनी क्षोभ और घृणा से मुँह फिरा लेती है। शिखरस्वामी के संकेत से दासी मदिरा का पात्र ले आती है, उसे देखकर प्रसन्नता से आँखें फाड़कर शिखर की ओर अपना हाथ बढ़ा देता है) अमात्य, आज ही महादेवी के पास मैं आया और आप भी पहुँच गये, यह एक विलक्षण घटना है। है न (पात्र लेकर पीता है)

शिखरस्वामी — देव, मैं इस समय एक आवश्यक कार्य से आया हूँ।

रामगुप्त — ओह! मैं तो भूल ही गया था! वह बर्बर शकराज क्या चाहता है? मैं आक्रमण न करूँ, इतना ही तो? जाने दो, युद्ध कोई अच्छी बात तो नहीं!

शिखरस्वामी — वह और भी कुछ चाहता है।

रामगुप्त — क्या कुछ सहायता भी माँग रहा है?

शिखरस्वामी — (सिर झुकाकर गम्भीरता से) नहीं देव, वह बहुत ही असंगत और अशिष्ट याचना कर रहा है।

रामगुप्त — क्या? कुछ कहो भी।

शिखरस्वामी — क्षमा हो महाराज! दूत तो अवध्य होता ही है; इसलिए उसका सन्देश सुनना ही पड़ा। वह कहता था कि शकराज से महादेवी ध्रुवस्वामिनी का... (रुककर ध्रुवस्वामिनी की ओर देखने लगता है। ध्रुवस्वामिनी सिर हिलाकर कहने की आज्ञा देती है।) विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था। बीच में ही आर्य समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा में महादेवी के पिताजी ने उपहार में उन्हें गुप्तकुल में भेज दिया, इसलिए महादेवी को वह... ।

रामगुप्त — ऐं, क्या कहते हो? अमात्य, क्या वह महादेवी को माँगता है?

शिखर-स्वामी — हाँ देव! साथ ही वह अपने सामन्तों के लिए भी मगध के सामन्तों की स्त्रियों को माँगता है।

रामगुप्त — (श्वास लेकर) ठीक ही है, जब उसके पास सामन्त हैं, तब उन लोगों के लिए भी स्त्रियाँ चाहिए। हाँ, क्या यह सच है कि महादेवी के पिता ने पहले शकराज से इनका सम्बन्ध स्थिर कर लिया था?

शिखर-स्वामी — यह तो मुझे नहीं मालूम। (ध्रुवस्वामिनी रोष से फूलती हुई टहलने लगती है।)

रामगुप्त — महादेवी, अमात्य क्या पूछ रहे हैं?

ध्रुवस्वामिनी — इस प्रथम सम्भाषण के लिए मैं कृतज्ञ हुई महाराज! किन्तु मैं भी यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढ़ा है?

रामगुप्त — (झेंपकर हँसता हुआ) हें-हें-हें, बताइए अमात्य जी!

शिखरस्वामी — मैं क्या कहूँ? शत्रु-पक्ष का यही सन्धि-सन्देश है। यदि स्वीकार न हो तो युद्ध कीजिए। शिविर दोनों ओर से घिर गया है। उसकी बातें मानिए, या मरकर भी अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा कीजिए। दूसरा कोई उपाय नहीं।

रामगुप्त — (चौंककर) क्या प्राण देने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं? ऊँ-हूँ तब तो महादेवी से पूछिए।

ध्रुवस्वामिनी — (तीव्र स्वर से) और आप लोग कुबड़ों, बौनों और नपुंसकों का नृत्य देखेंगे। मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है?

रामगुप्त — (चारों ओर देखकर) किसने की है, कोई बोलता क्यों नहीं

ध्रुवस्वामिनी — तो क्या मैं राजाधिराज रामगुप्त की महादेवी नहीं हूँ?

रामगुप्त — क्यों नहीं? परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर! (सिर हिलाकर) कदापि नहीं।

ध्रुवस्वामिनी — (निस्सहाय होकर दीनता से शिखरस्वामी के प्रति) यह तो हुई राजा की व्यवस्था, अब सुनूँ, मन्त्री महोदय क्या कहते हैं!

शिखरस्वामी — मैं कहूँगा देवि, अवसर देखकर राज्य की रक्षा करने वाली उचित सम्मति देना ही तो मेरा कर्तव्य है। राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है; किन्तु राज विसर्जन अन्तिम उपाय है।

रामगुप्त — (प्रसन्नता से) वाह! क्या कहा तुमने! तभी तो लोग तुम्हें नीतिशास्त्र का बृहस्पति समझते हैं।

ध्रुवस्वामिनी — अमात्य, तुम बृहस्पति हो चाहे शुक्र, किन्तु, धूर्त होने से ही क्या मनुष्य भूल नहीं सकता? आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहचानने में तुमने भूल तो नहीं की। सिंहासन पर भ्रम से किसी दूसरे को तो नहीं बैठा दिया?

रामगुप्त — (आश्चर्य से) क्या क्या? क्या?

ध्रुवस्वामिनी — कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो। हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।

शिखरस्वामी — (मुँह बनाकर) उँह, राजनीति में ऐसी बातों को स्थान नहीं। जब तक नियमों के अनुकूल सन्धि का पूर्ण रूप से पालन न किया जाय, तब तक सन्धि का कोई अर्थ ही नही।

ध्रुवस्वामिनी — देखती हूँ कि इस राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में रानी की बलि होगी ही।

शिखरस्वामी — दूसरा कोई उपाय नहीं।

ध्रुवस्वामिनी — (क्रोध से पैर पटक कर) उपाय नहीं, तो न हो, निर्लज्ज अमात्य! फिर ऐसा प्रस्ताव मैं सुनना नहीं चाहती।

रामगुप्त — (चौंककर) इस छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा उपद्रव! (दासी की ओर देखकर) मेरा तो कण्ठ सूखने लगा।

(वह मदिरा देती है)

ध्रुवस्वामिनी — (दृढ़ता से) अच्छा, तो अब मैं चाहती हूँ कि अमात्य अपने मन्त्रणा-गृह में जाएँ। मैं केवल रानी ही नहीं, किन्तु स्त्री भी हूँ; मुझे अपने को पति कहलाने वाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।

(शिखरस्वामी का दासियों के साथ प्रस्थान)

रामगुप्त — ठहरो जी, मैं भी चलता हूँ (उठना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी उसका हाथ पकड़कर रोक लेती है।) तुम मुझसे क्या कहना चाहती हो?

ध्रुवस्वामिनी — (ठहरकर) अकेले यहाँ भय लगता है क्या? बैठिए, सुनिए। मेरे पिता ने उपहार-स्वरूप कन्यादान किया था। किन्तु गुप्त सम्राट क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे (घुटने के बल बैठकर) ? देखिए, मेरी ओर देखिए। मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके?

रामगुप्त — (उसे देखता हुआ) तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर; किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नहीं सकता। तुम्हारी सुन्दरता - तुम्हारा नारीत्व - अमूल्य हो

सकता है। फिर भी अपने लिए मैं स्वयं कितना आवश्यक हूँ, कदाचित् तुम यह नहीं जानती हो।

ध्रुवस्वामिनी — (उसके पैरों को पकड़कर) मैं गुप्त-कुल की वधू होकर इस राजपरिवार में आई हूँ इसी विश्वास पर... ।

रामगुप्त — (उसे रोककर) वह सब मैं नहीं सुनना चाहता।

ध्रुवस्वामिनी — मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को — पुरुष को बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।

रामगुप्त — (घबराकर उसका हाथ हटाता हुआ) ओह, तुम्हारा यह घातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है। मैं, नहीं। तुम, मेरी रानी! नहीं, नहीं। जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो?

ध्रुवस्वामिनी — (खड़ी होकर रोष से) निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीव!!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं

करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी (रशना से कृपाण निकाल लेती है)।

रामगुप्त — (भयभीत होकर पीछे हटता हुआ) तो क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

ध्रुवस्वामिनी — तुम्हारी हत्या नहीं, तुम जियो। भेड़ की तरह तुम्हारा क्षुद्र जीवन! उसे न लूँगी! मैं अपना ही जीवन समाप्त करूँगी।

रामगुप्त — किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जाएगा? नहीं, नहीं, ऐसा न करो। हत्या! हत्या!! दौड़ो...। दौड़ो!!

(भागता हुआ निकल जाता है। दूसरी ओर से वेग सहित चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त — हत्या! कैसी हत्या!! (ध्रुवस्वामिनी को देखकर) यह क्या? महादेवी, ठहरिए!

ध्रुवस्वामिनी — कुमार, इसी समय तुम्हें भी आना था! (सकरुण देखती हुई) मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ! मुझे अपने अपमान में निर्वसन-नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं। मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो।

चन्द्रगुप्त — किन्तु क्या कारण सुनने का मैं अधिकारी नहीं हूँ?

ध्रुवस्वामिनी — सुनोगे? (ठहरकर सोचती हुई) नहीं, अभी आत्महत्या नहीं करूँगी। जब तुम आ गए हो तो थोड़ा ठहरूँगी। यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय में, विकासोन्मुख कुसुम में विषैले कीट के डंक की तरह चुभा दूँ या नहीं, इस पर विचार करूँगी। यदि नहीं तो मेरी दुर्दशा का पुरस्कार क्या कुछ और है? हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्म-विज्ञापन का भार ढोती रहूँ। यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है? छुटकारा नहीं। जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही। तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है?

चन्द्रगुप्त — देवि, जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं। गुप्त-कुल लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किसलिए धारण करना चाहती है, सुनूँ भी?

ध्रुवस्वामिनी — नहीं, मैं मरूँगी नहीं! क्योंकि तुम आ गये हो। मेरी शिविका के साथ चामर-सज्जित अश्व पर चढ़कर तुम्हीं उस

दिन आए थे। तुम्हारा विश्वासपूर्ण मुखमण्डल मेरे साथ आने में क्यों इतना प्रसन्न था?

चन्द्रगुप्त — मैं गुप्त-कुल-वधू को आदर सहित ले आने के लिए गया था, फिर प्रसन्न क्यों न होता?

ध्रुवस्वामिनी — तो फिर आज मुझे शक-शिविर में पहुँचाने के लिए उसी प्रकार तुमको मेरे साथ चलना होगा। (आँखों से आँसू पोंछती है!)

चन्द्रगुप्त — (आश्चर्य से) यह कैसा परिहास!

ध्रुवस्वामिनी — कुमार! यह परिहास नहीं, राजा की आज्ञा है। शकराज को मेरी अत्यन्त आवश्यकता है। यह अवरोध, बिना मेरा उपहार दिए नहीं हट सकता।

चन्द्रगुप्त — (आवेश से) यह नहीं हो सकता। महादेवी! जिस मर्यादा के लिए-जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित होना न पड़ेगा। (ठहरकर) और भी एक बात है। मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञातभाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने

केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि... (सहसा चुप हो जाता है।)

ध्रुवस्वामिनी — (आँख बन्द किए हुए कुतूहल-भरी प्रसन्नता से) हाँ-हाँ, कहो-कहो।

(शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त का प्रवेश)

रामगुप्त — देखो तो कुमार! यह भी कोई बात है! आत्महत्या कितना बड़ा अपराध है!

चन्द्रगुप्त — और आप से तो वह भी करते नहीं बनता।

रामगुप्त — (शिखरस्वामी से) देखो, कुमार के मन में छिपा हुआ कलुष कितना... कितना... भयानक है?

शिखरस्वामी — कुमार, विनय गुप्त-कुल का सर्वोत्तम गृह-विधान है, उसे न भूलना चाहिए!

चन्द्रगुप्त — (व्यंग्य से हँसकर) अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय! क्यों, यही तो विनय की पराकाष्ठा है! ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है, जिसमें शील न हो। और शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है। कापुरुष! आर्य समुद्रगुप्त का सम्मान...

शिखरस्वामी — (बीच में बात काटकर) उसके लिए मुझे प्राणदण्ड दिया जाए! मैं उसे अविचल भाव से ग्रहण करूँगा; परन्तु राजा और राष्ट्र की रक्षा होनी चाहिए।

मन्दाकिनी — (प्रवेश करके) राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने में असमर्थ है, तब भी उस राजा की रक्षा होनी ही चाहिए। अमात्य, यह कैसी विवशता है! तुम मृत्युदण्ड के लिए उत्सुक! महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत! फिर यह हिचक क्यों? एक बार अन्तिम बल से परीक्षा कर देखो! बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश!

चन्द्रगुप्त — आह मन्दा! भला तू कहाँ से यह उल्लास-भरी बात कहने के लिए आ गई? ठीक तो है अमात्य! सुनो, यह स्त्री क्या कह रही है

रामगुप्त — (अपने हाथों को मसलते हुए) दुरभिसन्धि, छल, मेरे प्राण लेने का कौशल!

चन्द्रगुप्त — तब आओ, हम लोग स्त्री बन जाएँ और बैठकर रोएँ।

हिजड़ा — (प्रवेश करके) कुमार, स्त्री बनना सहज नहीं है! कुछ दिनों तक मुझसे सीखना होगा। (सबका मुँह देखता है और शिखरस्वामी के मुँह पर हाथ फेरता है) उहूँ, तुम नहीं बन सकते!

तुम्हारे ऊपर बड़ा कठोर आवरण है। (कुमार के समीप जाकर) कुमार! मैं शपथ खाकर कह सकती हूँ कि यदि मैं अपने हाथों से सजा दूँ तो आपको देखकर महादेवी को भ्रम हो जाए।

(चन्द्रगुप्त उसका कान पकड़कर बाहर कर देता है)

ध्रुवस्वामिनी — उसे छोड़ दो, कुमार! यहाँ पर एक वही नपुंसक तो नहीं है। बहुत-से लोगों में किसको-किसको निकालोगे?

(चन्द्रगुप्त उसे छोड़कर चिन्तित-सा टहलने लगता है और शिखरस्वामी रामगुप्त के कानों में कुछ कहता है)

चन्द्रगुप्त — (सहसा खड़े होकर) अमात्य, तो तुम्हारी ही बात रही। हाँ, उसमें तुम्हारे सहयोगी हिजड़े की भी सम्मति मुझे अच्छी लगी। मैं ध्रुवस्वामिनी बनकर अन्य सामन्त कुमारों के साथ शकराज के पास जाऊँगा। अगर सफल हुआ तब तो कोई बात ही नहीं, अन्यथा मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझाना, वैसा करना।

ध्रुवस्वामिनी — (चन्द्रगुप्त को अपनी भुजाओं में पकड़कर) नहीं, मैं तुमको न जाने दूँगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।

रामगुप्त — (आश्चर्य और क्रोध से) छोड़ो-छोड़ो, यह कैसा अनर्थ! सबके सामने यह कैसी निर्लज्जता!

ध्रुवस्वामिनी — (चन्द्रगुप्त को छोड़ती हुई... जैसे चैतन्य होकर) यह पाप है। जो मेरे लिए अपनी बलि दे सकता हो, जो मेरे स्नेह... (ठहरकर) अथवा इससे क्या? शकराज क्या मुझे देवी बनाकर भक्ति-भाव से मेरी पूजा करेगा? वाह रे लज्जाशील पुरुष!

(शिखरस्वामी फिर रामगुप्त के कानों में कुछ कहता है। रामगुप्त स्वीकारसूचक सिर हिलाता है)

शिखरस्वामी — राजाधिराज! आज्ञा दीजिए, यही एक उपाय है जिसे कुमार बता रहे हैं। किन्तु राजनीति की दृष्टि से महादेवी का भी वहाँ जाना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त — (क्रोध से) क्यों आवश्यक है! यदि उन्हें जाना ही पड़ा, तो फिर मेरे जाने से क्या लाभ तब मैं न जाऊँगा।

रामगुप्त — नहीं, यह मेरी आज्ञा है। सामन्त कुमारों के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

ध्रुवस्वामिनी — तो कुमार! हम लोगों का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्ब की आवश्यकता नहीं।

(चन्द्रगुप्त का प्रस्थान। ध्रुवस्वामिनी मंच पर बैठकर रोने लगती है)

रामगुप्त — अब यह कैसा अभिनय! मुझे तो पहले से ही शंका थी और आज तो तुमने मेरी आँखें खोल दी।

ध्रुवस्वामिनी — अनार्य! निष्ठुर! मुझे कलंक-कालिमा के कारागार में बन्द कर, मर्म-वाक्य के धुएँ से दम घोंटकर मार डालने की आशा न करो। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है। (उठकर, हाथ से निकल जाने का संकेत करते हुए) जाओ, मैं एकान्त चाहती हूँ।

(शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त का प्रस्थान)

ध्रुवस्वामिनी — कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन। कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से

मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो। (ठहरकर) जिस आयुविहीन प्रदेश में उखड़ी हुई साँसों पर बन्धन हो - अर्गला हो, वहाँ रहते-रहते यह जीवन असह्य हो गया था। तो भी मरूँगी नहीं। संसार के कुछ दिन विधाता के विधान में अपने लिए सुरक्षित करा लूँगी। कुमार! तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ। ओह, (हृदय पर उँगली रखकर) इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? अब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है, जब ऊपरी मन 'ना' क्यों कह देता है?

चन्द्रगुप्त — (प्रवेश करके) महादेवी, हम लोग प्रस्तुत हैं, किन्तु ध्रुवस्वामिनी के साथ शक-शिविर में जाने के लिए हम लोग सहमत नहीं।

ध्रुवस्वामिनी — (हँसकर) राजा की आज्ञा मान लेना ही पर्याप्त नहीं। रानी की भी एक बात न मानोगे? मैंने तो पहले ही कुमार से प्रार्थना की थी कि मुझे जैसे ले आए हो उसी तरह पहुँचा भी दो।

चन्द्रगुप्त — नहीं - मैं अकेले ही जाऊँगा।

ध्रुवस्वामिनी — कुमार! यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है,

यह जानते हो? मुझसे और तुमसे एक साथ ही छुटकारा! तो फिर वही क्यों न हो हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ। और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास, देख सकूँगी। मेरे सहचरी! तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का?

(दोनों हाथों से चन्द्रगुप्त का चिबुक पकड़ कर सकरुण देखती है।)

चन्द्रगुप्त — (अधखुली आँखों से देखता हुआ) तो फिर चलो।

(सामंतकुमारों के आगे-आगे मंदाकिनी का गंभीर-स्वर में गाते हुए प्रवेश)

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले।
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल चलें ॥
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे।
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चले॥
पृथ्वी की आँखों में बनकर, छाया का पुतला बढ़ता हो।

सूने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिमा को गढ़ता हो ॥
पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता-सा।
कष्टों पर कुछ मुसक्याता-सा, ऊपर ऊँचे सब झेल चले ॥
खिलते हों क्षत के फूल वहाँ, बन व्यथा तमिस्रा के तारे।
पद-पद पर ताण्डव नर्तक हों, स्वर सप्तक होवें लय सारे ॥
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा, हो काँप रही भय-चकित निशा।
हो स्वेद धार बहती कपिशा, ऊपर ऊंचे सब झेल चले ॥
विचलित हो अचल न मौन रहे, निष्ठुर श्रृंगार उतरता हो।
क्रन्दन कम्पन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो ॥
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नील कण्ठ की छाप लिये।
विश्राम शांति को शाप दिए, ऊपर ऊँचे सब झेल चले ॥

(चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के साथ सबका धीरे-धीरे प्रस्थान। अकेली मन्दाकिनी खड़ी रह जाती है।)

(पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

(एक दुर्ग के भीतर सुनहले काम वाले खम्भों पर एक दालान, बीच में छोटी-छोटी-सी सीढ़ियाँ, उसी के सामने कश्मीरी खुदाई का सुंदर लकड़ी का सिंहासन। बीच के दो खंभे खुले हुए हैं, उनके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग से रेशमी पर्दे पड़े हैं, सामने बीच में छोटा-सा आँगन की तरह जिसके दोनों ओर क्यारियाँ, उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखलाई पड़ती हैं।)

कोमा — (धीरे-धीरे पौधों को देखती हुई प्रवेश करके) इन्हें सींचना पड़ता है, नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौंदर्य पर आवरण डाल देती हैं। (देखकर) आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं हैं। इनमें फूल जैसे मुकुलित होकर ही रह गए हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानो इन्हें बल नहीं। (सोचकर) ठीक, इधर कई दिनों में महाराज अपने युद्ध-विग्रह में लगे हुए हैं और मैं भी यहाँ नहीं आई, तो फिर इनकी चिन्ता कौन करता? उस दिन मैंने यहाँ दो मंच और भी रख देने के लिए कह दिया था, पर सुनता कौन है? सब जैसे रक्त के प्यासे! प्राण लेने और देने में पागल! वसन्त का उदास और असल पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है (सीढ़ी पर बैठकर सोचने लगती है) प्रणय! प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र

आलोक की तरह आँखों में प्रकाशपुंज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरण नहीं। तब वही, केवल वही! हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले। प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझकर चलना दोनों बराबर हैं। सुना है दोनों ही संसार के चतुरों की दृष्टि से मूर्ख बनते हैं, तब कोमा, तू किसे अच्छा समझती है? (गाती है)

यौवन! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठे घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में पद बनकर कब तू छली समाया।
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पल भर रुकने वाले! कह तू पथिक! कहाँ से आया

(चुप होकर आँखें बंद किए तन्मय होकर बैठी रह रह जाती है। शकराज का प्रवेश। हाथ में एक लम्बी तलवार लिए चिंतित भाव से आकर इस तरह खड़ा होता है, जिससे कोमा को नहीं देखता।)

शकराज — खिंगिल अभी नहीं आया, क्या वह वंदी तो नहीं कर लिया गया? नहीं, यदि वे अंधे नहीं हैं तो उन्हें अपने सिर पर खड़ी

विपत्ति दिखाई देनी चाहिए। (सोचकर) विपत्ति, केवल उन्हीं पर तो नहीं है, हम लोगों को भी रक्त की नदी बहानी पड़ेगी। चित्त बड़ा चंचल हो रहा है, तो बैठ जाऊँ इस एकान्त में। अपने बिखरे हुए मन को सँभाल लूँ। (इधर-उधर देखता है, कोमा आहट पाकर खड़ी होती है। उसे देखकर) अरे, कोमा! कोमा!

कोमा — हाँ, महाराज! क्या आज्ञा है?

शकराज — (उसे स्निग्ध भाव से देखकर) आज्ञा नहीं, कोमा! तुम्हें आज्ञा न दूँगा! तुम रूठी हुई-सी क्यों बोल रही हो?

कोमा — रूठने का सुहाग मुझे मिला कब?

शकराज — आजकल में जैसी भीषण परिस्थिति में हूँ, उसमें अन्यमनस्क होना स्वाभाविक है, तुम्हें यह भूल न जाना चाहिए।

कोमा — तो क्या आपकी दुश्चिन्ताओं में मेरा भाग नहीं? मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही है?

शकराज — तुम्हारे हृदय को उन दुर्भावनाओं में डालकर व्यथित नहीं करना चाहता। मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है।

कोमा — प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ, मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने आप ही जाला बुनता है। जीवन का

प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिए, महाराज!

शकराज — सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के नाम हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता हूँ! पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है। हाँ, मैं इस युद्ध के लिए उत्सुक नहीं था कोमा, मैं ही दिग्विजय के लिए नहीं निकला था।

कोमा — संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर उस उपद्रव से अलग रह सकते थे।

शकराज — यही तो मुझसे नहीं हो सकता।

कोमा — अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है?

शकराज — (चिढ़कर) यह शिक्षा अभी रहने दो कोमा, मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नहीं बनना चाहता। तुम अभी तक पाषाणी प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ।

कोमा — पाषाणी! हाँ, राजा! पाषाणी के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं। उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति...

शकराज — किन्तु मुझे तो इस समय स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिए —

कोमा — (स्थिर दृष्टि से देखती हुई) मैं ले आती हूँ। आप बैठिए।

(कोमा एक छोटा-सा मंच रख देती है और चली जाती है। शकराज मंच पर बैठ जाता है। खिंगिल का प्रवेश)

शकराज — कहो जी, क्या समाचार है?

खिंगिल — महाराज! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हम लोगों का अवरोध दृढ़ है। उन्हें दो में से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दें अन्यथा मेरे सन्धि के नियमों को स्वीकार करें।

शकराज — (उत्सुकता से) तो वे समझ गए?

खिंगिल — दूसरा उपाय ही क्या था! यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था। उसे इन बीहड़ पहाड़ी घाटियों का परिचय नहीं मिला था। किन्तु सब बातों को समझकर वह अपने नियमों को मानने के लिए बाध्य हुआ।

शकराज — (प्रसन्नता से उठकर दोनों हाथ पकड़ लेता है) ऐं! तुम सच कहते हो? मुझे आशा नहीं। क्या मेरा दूसरा प्रस्ताव भी रामगुप्त ने मान लिया?

(स्वर्ण के कलश में मदिरा लेकर कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है।)

खिंगिल — हाँ महाराज! उसने माँगे हुए सब उपहारों को देना स्वीकार किया और ध्रुवस्वामिनी भी आपकी सेवा में शीघ्र ही उपस्थित होती है।

(कोमा चौंक उठती है और शकराज प्रसन्नता से खिंगिल के हाथों को झकझोरने लगता है)

शकराज — खिंगिल! तुमने कितना सुंदर समाचार सुनाया! आज देव-पुत्रों की स्वर्गीय आत्माएँ प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयों का यह प्रतिशोध है। हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जंगली, बर्बर और असभ्य हैं तो फिर मेरी प्रतिहिंसा ही बर्बरता के भी अनुकूल होगी। हाँ, मैंने अपने शूर-सामन्तों के लिए भी स्त्रियाँ माँगी थीं।
खिंगिल — वे भी साथ ही आएँगी।

शकराज — तो फिर सोने की झाँझवाली नाच का प्रबन्ध करो। इस विजय का उत्सव मनाया जाय और मेरे सामन्तों का भी शीघ्र बुला लाओ।

(खिंगिल का प्रस्थान। शकराज अपनी प्रसन्नता में उद्विग्न-सा इधर-उधर टहलने लगता है और कोमा अपना कलश लिए हुए धीरे-धीरे सिंहासन के पास जाकर खड़ी हो जाती है। चार सामन्तों का प्रवेश। दूसरी ओर से नर्तकियों का दल आता है। शकराज उनकी ओर ही देखता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है। सामन्त लोग उसके पैरों के नीचे सीढ़ियों पर बैठते हैं। नर्तकियाँ नाचती हुई गाती हैं —)

अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है।
भरी ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु-प्रणय-रोष भरा।
वे हँसती हुई दुलार-भरी मधु लहर उठाने वाली है।
भरने निकले हैं प्यार भरे जोड़े कुंजों की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरी में अब तक क्या इनकी प्याली खाली है।

भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग-भरे अधरों से उन्हें लगा ली है।
वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने।
सब झूम रहे अपने सुख में तूने क्यों बाधा डाली है।

(नर्तकियाँ जाने लगती हैं)

एक सामन्त — श्रीमान्! इतनी बड़ी विजय के अवसर पर इस सूखे उत्सव से सन्तोष नहीं होता, जबकि कलश सामने भरा हुआ रखा है।

शकराज — ठीक है, इन लोगों को केवल कहकर ही नहीं, प्यालियाँ भरकर भी देनी चाहिए।

(सब पीते हैं और नर्तकियाँ एक-एक को सानुरोध पान कराती हैं)

दूसरा सामन्त — श्रीमान् की आज्ञा मानने के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं। उन्होंने समझ से काम लिया, नहीं तो हम लोगों को इस रात की कालिमा में रक्त की लाली मिलानी पड़ती।

तीसरा सामन्त — क्यों बक-बक करते हो? चुपचाप इस बिना परिश्रम की विजय का आनन्द लो। लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।

दूसरा सामन्त — (क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे!

तीसरा सामन्त — हाँ जी, तुमसे!

दूसरा सामन्त — तो फिर आओ, तुम्हीं से निपट लें।

(सब परस्पर लड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। शकराज खिंगिल को संकेत करता है। वह उन लोगों को बाहर लिवा जाता है। तूर्यनाद)

शकराज — रात्रि के आगमन की सूचना हो गई। दुर्ग का द्वार अब शीघ्र ही बन्द होगा। अब तो हृदय अधीर हो रहा है। खिंगिल!

(खिंगिल का पुनः प्रवेश)

खिंगिल — दुर्ग-तोरण में शिविकाएँ आ गई हैं।

शकराज — (गर्व से) तब विलम्ब क्यों? उन्हें अभी ले आओ।

खिंगिल — (सविनय) किन्तु रानी की एक प्रार्थना है।

शकराज — क्या?

खिंगिल — वह पहले केवल श्रीमान् से ही सीधे भेंट करना चाहती हैं। उसकी मर्यादा...

शकराज — (ठठाकर हँसते हुए) क्या कहा मर्यादा! भाग्य ने झुकने के लिए जिन्हें विवश कर दिया है, उन लोगों के मन में मर्यादा का ध्यान और भी अधिक रहता है। यह उनकी दयनीय दशा है।

खिंगिल — वह श्रीमान् की रानी होने के लिए आ रही हैं।

शकराज — (हँसकर) अच्छा, तुम मध्यस्थ हो न! तुम्हारी बात मानकर मैं उससे एकान्त में ही भेंट करूँगा! जाओ।

(खिंगिल का प्रस्थान)

कोमा — महाराज! मुझे क्या आज्ञा है

शकराज — (चौंककर) अरे, तुम अभी यहीं खड़ी हो? मैं तो जैसे भूल ही गया था। हृदय चंचल हो रहा है। मेरे समीप आओ, कोमा!

कोमा — नयी रानी के आगमन की प्रसन्नता से

शकराज — (सँभलकर) नई रानी का आना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा, कोमा?

कोमा — (निर्विकार भाव से) संसार में बहुत-सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती हैं, और बहुत-सी अच्छी बातें बुरी मालूम पड़ती हैं।

शकराज — (झुँझलाकर) तुम तो आचार्य मिहिरदेव की तरह दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो।

कोमा — वे मेरे पिता-तुल्य हैं, उन्हीं की शिक्षा में मैं पली हूँ। हाँ, ठीक है, जो बातें राजा को अच्छी लगें, वे ही मुझे भी रुचनी ही चाहिए।

शकराज — (अव्यवस्थित होकर) अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका।

कोमा — राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर अलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गयी हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था? कह दो - कह दो कि वह तेरी भूल थी।

(उत्तेजित कोमा सिर उठाकर राजा से आँख मिलाती है)

शकराज — (संकोच से) नहीं कोमा, वह भ्रम नहीं था। मैं सचमुच तुम्हें प्यार करता हूँ।

कोमा — (उसी तरह) तब भी यह बात?

शकराज — (सशंक) कौन-सी बात?

कोमा — वही, जो आज होने जा रही है! मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो?

शकराज — (बात उड़ाते हुए, हँसकर) पागल कोमा! वह मेरी राजनीति का प्रतिशोध है।

कोमा — (दृढ़ता से) किन्तु राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता?

शकराज — जो विषय न समझ में आवे, उस पर विवाद न करो।

कोमा — (खिन्न होकर) मैं क्यों न करूँ? (ठहरकर) किन्तु नहीं, मुझे विवाद करने का अधिकार नहीं। यह मैं समझ गयी।

(वह दुःखी होकर जाना चाहती है कि दूसरी ओर से मिहिरदेव का प्रवेश।

शकराज — (सम्भ्रम से खड़ा होकर) धर्मपूज्य! मैं वन्दना करता हूँ।

मिहिरदेव — कल्याण हो! (कोमा के सिर पर हाथ रखकर) बेटी! मैं तो तुमको ही देखने चला आया। तू उदास क्यों है

(शकराज की ओर मूक दृष्टि से देखने लगता है)

शकराज — आचार्य! रामगुप्त का दर्प दलन करने के लिए मैंने ध्रुवस्वामिनी को उपहार में भेजने की आज्ञा उसे दी थी। आज रामगुप्त की रानी मेरे दुर्ग में आई है। कोमा को इसमें आपत्ति है।

मिहिरदेव — (गम्भीरता से) ऐसे काम में तो आपत्ति होनी ही चाहिए, राजा! स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।

शकराज — (क्षोभ से) भावी पत्नी?

मिहिरदेव — अरे, क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे? क्या तुमने अपने आचार्य की प्रतिपालिता कुमारी के साथ स्नेह का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है? क्या इसमें भी सन्देह है?

राजा! स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो।

शकराज — मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो।

मिहिरदेव — राजनीति! राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण-भर के लिए तुम अपने को चतुर समझने की भूल कर सकते हो, परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है शकराज! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है।

शकराज — बस, बहुत हो चुका। आपके महत्त्व की भी कोई सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं, तो मैं ही चला जाता हूँ। (प्रस्थान)

मिहिरदेव — चल कोमा! हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।

कोमा — (गद्‌गद कण्ठ से) पिता जी! (खड़ी रहती है)

मिहिरदेव — बेटी! हृदय को सँभाल। कष्ट सहन करने के लिए प्रस्तुत हो जा। प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने को मन नहीं करता। कोमा! छल का बहिरंग सुन्दर होता है — विनीत और आकर्षक भी; पर दुखदायी और हृदय को बेधने के लिए इस बन्धन को तोड़ डाल।

कोमा — (सकरुण) तोड़ डालूँ पिता जी! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलारभरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका - उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जाएँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे? न, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।

मिहिरदेव — (निःश्वास लेकर आकाश को देखते हुए) यहाँ तेरी भलाई होती, तो मैं चलने के लिए न कहता। हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे - झरनों के किनारे, दाख के कुंजों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूँगा।

कोमा — तो चलूँ! (एक बार चारों ओर देखकर) एक घड़ी के लिए मुझे...

मिहिरदेव — (ऊबकर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती। वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है।

कोमा — (उधर देखते हुए) तब एक क्षण मुझे...

मिहिरदेव — पागल लड़की! अच्छा, मैं फिर आऊँगा। तू सोच ले, विचार कर ले (जाता है)।

कोमा — जाना ही होगा! तब यह मन की उलझन क्यों? अमंगल का अभिशाप अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा, और सुख के स्वप्न विलीन हो जाएँगे। मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिए बनावटी व्यवहार करना होगा; पग-पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह न सकेगा। तो चलूँ! यही ठीक है! पिताजी! ठहरिए, मैं आती हूँ।

शकराज — (प्रवेश करके) कोमा!

कोमा — जाती हूँ, राजा!

शकराज — (भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह! भयावनी पूँछ वाला धूमकेतु! आकाश का उच्छृंखल पर्यटक! नक्षत्र लोक का अभिशाप! कोमा! आचार्य को बुलाओ। वे जो आदेश देंगे वही मैं करूँगा। इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा — वे बहुत चिढ़ गए हैं। अब उनको प्रसन्न करना सहज नहीं है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने के लिए मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज — कोमा! पिताजी के साथ... ।

कोमा — पिताजी के साथ।

शकराज — और मेरा प्यार, मेरा स्नेह, सब भुला दोगी? इस अमंगल की शान्ति करने के लिए आचार्य को न समझाओगी?

कोमा — (खिन्न होकर) प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जाएगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकता हो, उसे दृढ़ता का आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका मात्र से दुर्बल-कम्पित और भयभीत हो।

शकराज — (धूमकेतु को बार-बार देखता हुआ) भयानक! कोमा, मुझे बचाओ!

कोमा — जाती हूँ महाराज! पिताजी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

(जाती है। शकराज अपने सिंहासन पर हताश होकर बैठ जाता है।)

प्रहरी — (प्रवेश करके) महाराज! ध्रुवस्वामिनी ने पूछा है कि एकान्त हो तो आऊँ।

शकराज — हाँ, कह दो कि यहाँ एकान्त है। और देखो, यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

(प्रहरी जाता है। शकराज चंचल होकर टहलने लगता है। धूमकेतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है।)

शकराज — तो इसका कोई उपाय नहीं? न जाने क्यों मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा-बुझाकर ले आना चाहिए। (सोचकर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है! तो भी देखूँ, यदि कोमा प्रसन्न हो जाय... (जाता है)।

(स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे और पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्ण-खचित उत्तरीय में सब अंग छिपाए हुए आती है। केवल खुले हुए मुँह पर प्रसन्न चेष्टा दिखाई देती है।)

चन्द्रगुप्त — तुम आज कितनी प्रसन्न हो!

ध्रुवस्वामिनी — और तुम क्या नहीं?

चन्द्रगुप्त — मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव-नक्षत्र इस घोर अन्धकार में अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है। आज महोत्सव है न?

ध्रुवस्वामिनी — लौट जाओ, इस तुच्छ नारी-जीवन के लिए इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।

चन्द्रगुप्त — देवि! यह तुम्हारा क्षणिक मोह है। मेरी परीक्षा न लो। मेरे शरीर ने चाहे जो रूप धारण किया हो, किन्तु हृदय निश्छल है।

ध्रुवस्वामिनी — अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्महत्या-जैसा प्रसंग तो नहीं है।

चन्द्रगुप्त — तीखे वचनों से मर्माहत करके भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पक्ष से विमुख नहीं कर सकता। मैं केवल अपना कर्त्तव्य करूँ, इसी में मुझे सुख है।

(ध्रुवस्वामिनी संकेत करती है। शकराज का प्रवेश। दोनों चुप हो जाते हैं। वह दोनों को चकित होकर देखता है।)

शकराज — मैं किसको रानी समझूँ? रूप का ऐसा तीव्र आलोक!... नहीं, मैंने कभी नहीं देखा था। इसमें कौन ध्रुवस्वामिनी है?

ध्रुवस्वामिनी — यह मैं आ गई हूँ।

चन्द्रगुप्त — (हँसकर) शकराज को तुम धोखा नहीं दे सकती हो। ध्रुवस्वामिनी कौन है? यह एक अन्धा भी बता सकता है।

ध्रुवस्वामिनी — (आश्चर्य से) चन्द्रे! तुमको क्या हो गया है? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई है? या मुझे शकराज से बचा लेने के लिए यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है?

(शकराज चकित होकर दोनों की ओर देखता है)

चन्द्रगुप्त — कौन जाने तुम्हीं ऐसा कर रही हो?

ध्रुवस्वामिनी — चन्द्रे! तुम मुझे दोनों ओर से नष्ट न करो। यहाँ से लौट जाने पर भी क्या मैं गुप्तकुल के अन्तःपुर में रह पाऊँगी?

चन्द्रगुप्त — चन्द्रे कहकर मुझको पुकारने से क्या तात्पर्य है? यह अच्छा झगड़ा तुमने फैलाया। इसीलिए मैंने एकान्त में मिलने की प्रार्थना की थी।

ध्रुवस्वामिनी — तो क्या मैं यहाँ भी छली जाऊँगी

शकराज — ठहरो, (दोनों को ध्यान से देखता हुआ) क्या चिन्ता यदि मैं दोनों को ही रानी समझ लूँ

ध्रुवस्वामिनी — ऐं...

चन्द्रगुप्त — हैं...

शकराज — क्यों, इसमें क्या बुरी बात है

चन्द्रगुप्त — जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है, पहले इसका निर्णय होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी — (क्रोध से) चन्द्रे! मेरे भाग्य के आकाश में धूमकेतु-सी अपनी गति बन्द करो।

शकराज — (धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा) ओह भयानक!

(व्यग्र भाव से टहलने लगता है।)

चन्द्रगुप्त — (शकराज की पीठ पर हाथ रखकर) सुनिए...

ध्रुवस्वामिनी — चन्द्रे!

चन्द्रगुप्त — इस धमकी से कोई लाभ नहीं।

ध्रुवस्वामिनी — तो फिर मेरा और तुम्हारा जीवन-मरण साथ ही होगा।

चन्द्रगुप्त — तो डरता कौन है?

(दोनों ही शीघ्र कटार निकाल लेते हैं)

शकराज — (घबराकर) हैं, यह क्या तुम लोग क्या कर रहे हो? ठहरो आचार्य ने ठीक कहा है, आज शुभ मुहूर्त नहीं। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुलाकर इसका निश्चय कर लूँगा। आज तुम लोग विश्राम करो।

ध्रुवस्वामिनी — नहीं, इसका निश्चय तो आज ही होना चाहिए।

शकराज — (बीच में खड़ा होकर) मैं कहता हूँ न।

चन्द्रगुप्त — वाह रे कहने वाले!

(ध्रुवस्वामिनी मानो चन्द्रगुप्त के आक्रमण से भयभीत होकर पीछे हटती है और तूर्यनाद करती है। शकराज आश्चर्य से उसे सुनता हुआ सहसा घूमकर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है। ध्रुवस्वामिनी झटके से चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ाकर शकराज को घेर लेता है)

शकराज — (चकित-सा) ऐं, यह तुम कौन प्रवंचक?

चन्द्रगुप्त — मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल। मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने। सावधान!

(शकराज भी कटार निकालकर युद्ध के लिए अग्रसर होता है। युद्ध और शकराज की मृत्यु। बाहर दुर्ग में कोलाहल। 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुए रक्तारक्त कलेवर सामन्त-कुमारों का प्रवेश। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को घेरकर समवेत स्वर से 'ध्रुवस्वामिनी की जय हो!')

(पटाक्षेप)

तृतीय अंक

(शक-दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ। तीन मंचों में दो खाली और एक पर ध्रुवस्वामिनी पादपीठ के ऊपर बाएँ पैर पर दाहिना पैर रखकर अधरों से उँगली लगाए चिन्ता में निमग्न बैठी है। बाहर कुछ कोलाहल होता है।)

सैनिक — (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो!

ध्रुवस्वामिनी — (चौंककर) क्या!

सैनिक — विजय का समाचार सुनकर राजाधिराज भी दुर्ग में आ गए हैं। अभी तो वे सैनिकों से बातें कर रहे हैं। उन्होंने पूछा है, महादेवी कहाँ हैं? आपकी जैसी आज्ञा हो, क्योंकि कुमार ने कहा है... !

ध्रुवस्वामिनी — क्या कहा है? यही न कि मुझसे पूछकर राजा यहाँ आने पावें? ठीक है, अभी मैं बहुत थकी हूँ। (सैनिक जाने लगता है, उसे रोककर) और सुनो तो! तुमने यह नहीं बताया कि कुमार के घाव अब कैसे हैं?

सैनिक — घाव चिन्ताजनक नहीं हैं। उन पर पट्टियाँ बँध चुकी हैं। कुमार प्रधान-मंडप में विश्राम कर रहे हैं।

ध्रुवस्वामिनी — अच्छा जाओ। (सैनिक का प्रस्थान)

मन्दाकिनी — (सहसा प्रवेश करके) भाभी! बधाई है। (जैसे भूलकर गई हो) नहीं, नहीं! महादेवी, क्षमा कीजिए।

ध्रुवस्वामिनी — मन्दा! भूल से ही तुमने आज एक प्यारी बात कह दी। उसे क्या लौटा लेना चाहती हो? आह! यदि वह सत्य होती?

(पुरोहित का प्रवेश)

मन्दाकिनी — क्या इसमें भी सन्देह है?

ध्रुवस्वामिनी — मुझे तो सन्देह का इन्द्रजाल ही दिखाई पड़ रहा है। मैं न तो महादेवी हूँ और न तुम्हारी भाभी (पुरोहित को देखकर चुप हो जाती है)।

पुरोहित — (आश्चर्य से इधर-उधर देखता हुआ) तब मैं क्या करूँ?

मन्दाकिनी — क्यों, आपको कुछ कहना है क्या?

पुरोहित — ऐसे उपद्रवों के बाद शान्तिकर्म होना आवश्यक है। इसीलिए मैं स्वस्त्ययन करने आया था; किन्तु आप तो कहती हैं कि मैं महादेवी ही नहीं हूँ।

ध्रुवस्वामिनी — (तीखे स्वर में) पुरोहित जी! मैं राजनीति नहीं जानती; किन्तु इतना समझती हूँ कि जो रानी शत्रु के लिए उपहार में भेज दी जाती है, वह महादेवी की उच्च पदवी से पहले ही वंचित हो गई होगी।

मन्दाकिनी — किन्तु आप तो भाभी होना भी अस्वीकार करती हैं।

ध्रुवस्वामिनी — भाभी कहने का तुम्हें रोग हो तो कह लो। क्योंकि इन्हीं पुरोहितजी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढ़ा था। उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल सम्भाषण करने का अवसर ही न मिला। हाँ, न जाने मेरे किस अपराध पर सन्दिग्ध-चित्त होकर उन्होंने जब मुझे निर्वासित किया, तभी मैंने अपने स्त्री

होने के अधिकार की रक्षा की भीख माँगी थी। वह भी न मिली और में बलि-पशु की तरह, अकरुण आज्ञा की डोरी में बँधी हुई शकदुर्ग में भेज दी गई। तब भी तुम मुझे भाभी कहना चाहती हो?

मन्दाकिनी — (सिर झुकाकर) यह गर्हित और ग्लानि-जनक प्रसंग है।

पुरोहित — यह मैं क्या सुन रहा हूँ? मुझे तो यह जानकर प्रसन्नता हुई थी कि वीर रमणी की तरह अपने साहस के बल पर महादेवी ने इस दुर्ग पर अपना अधिकार किया है।

ध्रुवस्वामिनी — आप झूठ बोलते हैं।

पुरोहित — (आश्चर्य से) मैं और झूठ!

ध्रुवस्वामिनी — हाँ; आप और झूठ, नहीं, स्वयं आप ही मिथ्या है।

पुरोहित — (हँसकर) क्या आप वेदान्त की बात कहती हैं? तब तो संसार मिथ्या है ही।

ध्रुवस्वामिनी — (क्रोध से) संसार मिथ्या है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानती, परन्तु आप, आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है?

पुरोहित — (मन्दाकिनी से) बेटी! तुम्हीं बताओ, यह मेरा भ्रम है या महादेवी का रोष!

ध्रुवस्वामिनी — रोष है, हाँ, में रोष से जली जा रही हूँ। इतना बड़ा उपहास - धर्म के नाम पर स्त्री-आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक परीक्षा मुझसे बलपूर्वक ली गई है। पुरोहित! तुमने जो मेरा राक्षस-विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है! यह जन संहार देखो, अभी उस प्रकोष्ठ में रक्त सनी हुई शकराज की लोथ पड़ी होगी। कितने ही सैनिक दम तोड़ते होंगे, और इस रक्तधारा में तिरती हुई मैं राक्षसी-सी साँस ले रही हूँ। तुम्हारा स्वस्त्ययन मुझे शान्ति देगा?

मन्दाकिनी — आर्य! आप बोलते क्यों नहीं? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार - कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं?

पुरोहित — नहीं, स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्ण अधिकार रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।

ध्रुवस्वामिनी — खेल हो या न हो, किन्तु एक क्लीव पति के द्वारा परित्यक्ता नारी का मृत्यु-मुख में जाना ही मंगल है। उसे स्वस्त्ययन और शान्ति की आवश्यकता नहीं।

पुरोहित — (आश्चर्य से) यह मैं क्या सुन रहा हूँ? विश्वास नहीं होता। यदि ये बातें सत्य हैं, तब तो मुझे फिर से एक बार धर्मशास्त्र को देखना पड़ेगा। (प्रस्थान)

(मिहिरदेव के साथ कोमा का प्रवेश)

ध्रुवस्वामिनी — तुम लोग कौन हो?

कोमा — मैं पराजित शक-जाति की एक बालिका हूँ।

ध्रुवस्वामिनी — और...

कोमा — और मैंने प्रेम किया था।

ध्रुवस्वामिनी — इस घोर अपराध का तुम्हें क्या दंड मिला?

कोमा — वही, जो स्त्रियों का प्रायः मिला करता है-निराशा! निष्पीड़न! और उपहास!! रानी, मैं तुमसे भीख माँगने आई हूँ।

ध्रुवस्वामिनी — शत्रुओं के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। अधिक हठ करने पर दण्ड मिलना भी असम्भव नहीं।

मिहिरदेव — (दीर्घ निःश्वास लेकर) पागल लड़की, हो चुका न? अब भी तू न चलेगी?

(कोमा सिर झुका लेती है)

मन्दाकिनी — तुम चाहती क्या हो?

कोमा — रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री का व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय, हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी — (सोचकर) जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो, जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है। अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है। (सैनिक से) इसे ले जाने दो।

(कोमा का प्रस्थान)

मन्दाकिनी — स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और अवलम्बन खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती हैं और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली मानती है

ध्रुवस्वामिनी — भूल है - भ्रम है। (ठहरकर) किन्तु उसका कारण भी है। पराधीनता की एक परम्परा-सी उनकी नस-नस में - उनकी चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है। उन्हें समझकर भी भूल करनी पड़ती है। क्या वह मेरी भूल न थी - जब मुझे निर्वासित किया गया, तब मैं अपनी आत्म-मर्यादा के लिए कितनी तड़प रही थी और राजाधिराज रामगुप्त के चरणों में रक्षा के लिए गिरी, पर कोई उपाय चला नहीं। पुरुषों की प्रभुता का जाल मुझे अपने निर्दिष्ट पथ पर ले ही आया। मन्दा! दुर्ग की विजय मेरी सफलता है या मेरा दुर्भाग्य, इसे मैं नहीं समझ सकी हूँ। राजा से मैं सामना करना नहीं चाहती। पृथ्वीतल से जैसे एक साकार घृणा निकलकर मुझे अपने पीछे लौट चलने का संकेत कर रही है। क्यों, क्या यह मेरे मन का कलुष है? क्या मैं मानसिक पाप कर रही हूँ? (उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

मन्दाकिनी — नारी हृदय, जिसके मध्य-बिन्दु से हटकर, शास्त्र का एक मन्त्र, कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल

प्रवर्तन-चक्र में घूमने से रोक रहा है, निश्चय ही वह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है।

चन्द्रगुप्त — (सहसा प्रवेश करके) कौन? मन्दा!

मन्दाकिनी — अरे कुमार! अभी थोड़ा विश्राम करते।

चन्द्रगुप्त — (बैठते हुए) विश्राम! मुझे कहाँ विश्राम? मैं अभी यहाँ से प्रस्थान करने वाला हूँ। मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। अब यहाँ मेरा ठहरना अच्छा नहीं।

मन्दाकिनी — किन्तु भाभी की जो बुरी दशा है।

चन्द्रगुप्त — क्यों, उन्हें क्या हुआ? (मन्दाकिनी चुप रहती है) बोलो, मुझे अवकाश नहीं! राजाधिराज का सामना होते ही क्या हो जाएगा — मैं नहीं कह सकता। क्योंकि अब यह राजनीतिक छल-प्रपंच मैं नहीं सह सकता।

मन्दाकिनी — किन्तु उन्हें इस असहाय अवस्था में छोड़कर आपका जाना क्या उचित होगा और... (चुप रह जाती है)

चन्द्रगुप्त — और क्या... वह क्यों नहीं कहती हो?

मन्दाकिनी — तो क्या उसे भी कहना होगा? महादेवी बनने के पहले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था, वह क्या आपसे छिपा है?

चन्द्रगुप्त — किन्तु मन्दाकिनी! उसकी चर्चा करने से क्या लाभ?

मन्दाकिनी — हृदय में नैतिक साहस - वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार, कि अब आपको क्या करना चाहिए (चन्द्रगुप्त चिन्तित भाव से टहलने लगता है। नेपथ्य में कुछ लोगों के आने-जाने का शब्द और कोलाहल) देखूँ तो यह क्या है और महादेवी कहाँ गयीं? (प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त — विधान की स्याही का एक बिन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने सें भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवस्वामिनी मेरी है। (ठहरकर) हाँ, वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्थल से निकली हुई यह मूक स्वीकृति आज बोल रही है। मैं पुरुष हूँ? नहीं, मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही। नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवंचना है। मैं जो हूँ, वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी विडम्बना है! विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी?

(एक ओर से मन्दाकिनी का प्रवेश)

मन्दाकिनी — शकराज का शव लेकर जाते हुए आचार्य और उसकी कन्या का राजाधिकार के साथी सैनिकों ने वध कर डाला!

ध्रुवस्वामिनी — (दूसरी ओर से प्रवेश करके) ऐं!

(सामन्त-कुमारों का प्रवेश)

सामन्त कुमार — (सब एक साथ ही) स्वामिनी! आपकी आज्ञा के विरुद्ध राजाधिकार ने निरीह शकों का संहार करवा दिया है।

ध्रुवस्वामिनी — फिर आप लोग इतने चंचल क्यों हैं? राजा को आज्ञा देनी चाहिए और प्रजा को नत-मस्तक होकर उसे मानना होगा।

सामन्त कुमार — किन्तु अब वह असह्य है। राजसत्ता के अस्तित्व की घोषणा के लिए इतना भयंकर प्रदर्शन! मैं तो कहूँगा, इस दुर्ग में, आपकी आज्ञा के बिना राजा का आना अन्याय है।

ध्रुवस्वामिनी — मेरे वीर सहायकों! मैं तो स्वयं एक परित्यक्ता और हतभागिनी स्त्री हूँ। मुझे तो अपनी स्थिति की कल्पना से भी क्षोभ हो रहा है। मैं क्या कहूँ?

सामन्त-कुमार — मैं सच कहता हूँ, रामगुप्त जैसे राजपद को कलुषित करने वाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं।

विजय का उत्साह दिखाने यहाँ वे किस मुँह से आऐ, जो हिंसक, पाखण्डी, क्षीव और क्लीव हैं।

रामगुप्त — (सहसा शिखरस्वामी के साथ प्रवेश करके) क्या कहा? फिर से तो कहना!

सामन्त कुमार — गुप्त-काल के गौरव का कलंक-कालिमा के सागर में निमज्जित करने वाले...!

शिखरस्वामी — (उसे बीच में ही रोककर) चुप रहो! क्या तुम लोग किसी के बहकाने से आवेश में आ गए हो? (चन्द्रगुप्त की ओर देखकर) कुमार! यह क्या हो रहा है?

(चन्द्रगुप्त उत्तर देने की चेष्टा करके चुप रह जाता है।)

रामगुप्त — दुर्विनीत, पाखण्डी, पामरो! तुम्हें इस धृष्टता का क्रूर दण्ड भोगना पड़ेगा। (नेपथ्य की ओर देखकर) इन विद्रोहियों को वंदी करो।

(रामगुप्त के सैनिक आकर सामन्त-कुमारों को बन्दी बनाते हैं। रामगुप्त का संकेत पाकर सैनिक लोग चन्द्रगुप्त की ओर भी बढ़ते हैं और चन्द्रगुप्त शृंखला में बँध जाता है।)

ध्रुवस्वामिनी — कुमार! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिए यह दण्ड ग्रहण कर रहे हो?

(चन्द्रगुप्त एक दीर्घ निःश्वास लेकर चुप रह जाता है)

रामगुप्त — (हँसकर) कुचक्र करने वाले क्या बोलेंगे?

ध्रुवस्वामिनी — और जो लोग बोल सकते हैं; जो अपनी पवित्रता की दुन्दुभी बजाते हैं, वे सब-के-सब साधु होते हैं न? (चन्द्रगुप्त से) कुमार! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बन्धन नहीं। कहते क्यों नहीं कि मेरा यही अपराध है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया?

रामगुप्त — महादेवी!

ध्रुवस्वामिनी — (उसे न सुनते हुए चन्द्रगुप्त से) झटक दो इन लौह-शृंखलाओं को! यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा। तुम्हारा क्रुद्ध दुर्दैव भी नहीं।

रामगुप्त — (डाँटकर) महादेवी! चुप रहो!

ध्रुवस्वामिनी — (तेजस्विता से) कौन महादेवी! राजा, क्या अब भी मैं महादेवी ही हूँ? जो शकराज की शय्या के लिए क्रीतदासी की तरह भेजी गई हो, वह भी महादेवी! आश्चर्य!

शिखरस्वामी — देवि, इस राजनीतिक चातुरी में जो सफलता...

ध्रुवस्वामिनी — (पैर पटककर) चुप रहो प्रवंचना के पुतले! स्वार्थ से घृणित प्रपंच! चुप रहो।

रामगुप्त — तो तुम महादेवी नहीं हो न?

ध्रुवस्वामिनी — नहीं! मनुष्य की दी हुई मैं उपाधि लौटा देती हूँ।

रामगुप्त — और मेरी सहधर्मिणी?

ध्रुवस्वामिनी — धर्म ही इसका निर्णय करेगा।

रामगुप्त — ऐं, क्या इसमें भी सन्देह!

ध्रुवस्वामिनी — उसे अपने हृदय से पूछिए कि क्या मैं वास्तव में सहधर्मिणी हूँ?

(पुरोहित का प्रवेश। सामने सबको देखकर चौंक उठता है। शिखरस्वामी चले जाने का संकेत करता है।)

पुरोहित — नहीं, मैं नहीं जाऊँगा। प्राणि-मात्र के अन्तस्थल में जाग्रत रहने वाले महान् विचारक धर्म की आज्ञा मैं न टाल सकूँगा। अभी जो प्रश्न अपनी गम्भीरता में भीषण होकर आप लोगों को विचलित कर रहा है, मैं ही उसका उत्तर देने का अधिकारी हूँ। विवाह का धर्मशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्रुवस्वामिनी — आप सत्यवादी ब्राह्मण हैं। कृपा करके बतलाइए...

शिखरस्वामी — (विनय से उसे रोककर) मैं समझता हूँ कि यह विवाद अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नहीं!

ध्रुवस्वामिनी — नहीं, मेरी इच्छा इस विवाद का अन्त करने की है। आज यह निर्णय हो जाना चाहिए कि मैं कौन हूँ?

रामगुप्त — ध्रुवस्वामिनी, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है।

ध्रुवस्वामिनी — मेरी निर्लज्जता का दायित्व क्लीव कापुरुष पर है। स्त्री की लज्जा लूटने वाले उस दस्यु के लिए मैं...।

रामगुप्त — (रोककर) चुप रहो! तुम्हारा पर-पुरुष में अनुरक्त हृदय अत्यन्त कलुषित हो गया है। तुम काल-सर्पिणी-सी स्त्री! ओह, तुम्हें धर्म का तनिक भी भय नहीं! शिखर! इस भी वंदी करो।

पुरोहित — ठहरिए! महाराज ठहरिए!! धर्म की ही बात मैं सोच रहा था।

शिखरस्वामी — (क्रोध से) मैं कहता हूँ कि तुम चुप न रहोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।

(सैनिक आगे बढ़ता है)

मन्दाकिनी — (उसे रोककर) महाराज, पुरुषार्थ का इतना बड़ा प्रहसन! अबला पर ऐसा अत्याचार!! यह गुप्त-सम्राट् के लिए शोभा नहीं देता।

रामगुप्त — (सैनिकों से) क्या देखते हो जी!

(सैनिक आगे बढ़ता है और चन्द्रगुप्त आवेश में आकर लौह-श्रृंखला तोड़ डालता है। सब आश्चर्य और भय से देखते हैं।)

चन्द्रगुप्त — मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूँ। और शिखरस्वामी, तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूँ। तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ। यहाँ अब मैं ही शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूं।

रामगुप्त — (भयभीत होकर चारों ओर देखता हुआ) क्या?

ध्रुवस्वामिनी — (चन्द्रगुप्त से) यही तो कुमार!

चन्द्रगुप्त — (सैनिक से डपटकर) इन सामन्त-कुमारों को मुक्त करो।

(सैनिक वैसा ही करते हैं और शिखरस्वामी के संकेत से रामगुप्त धीरे-धीरे भय से पीछे हटता हुआ बाहर चला जाता है।)

शिखरस्वामी — कुमार! इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए। मुझे आपके आधिपत्य से कोई विरोध नहीं है, किन्तु सब काम विधान के अनुकूल होना चाहिए। मैं कुल-वृद्धों को और सामन्तों को, जो यहाँ उपस्थित हैं, लिवा लाने जाता हूँ।

(सैनिक लोग और भी मंच ले आते हैं और सामन्त-कुमार अपने खंगों को खींचकर चन्द्रगुप्त के पीछे खड़े हो जाते हैं। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त परस्पर एक-दूसरे को देखते हुए खड़े रहते हैं। परिषद् के साथ रामगुप्त का प्रवेश। सब लोग मंच पर बैठते हैं।)

पुरोहित — कुमार! आसन ग्रहण कीजिए।

चन्द्रगुप्त — मैं अभियुक्त हूँ।

शिखरस्वामी — बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई-भाई की तरह गले से लगकर गुप्त कुल का गौरव बढ़ाइए।

चन्द्रगुप्त — अमात्य, तुम गौरव किसको कहते हो? वह है कहीं रोग-जर्जर शरीर अलंकारों की सजावट, मलिनता और कलुष की ढेरी पर बाहरी कुमकुम-केसर का लेप गौरव नहीं बढ़ता। कुटिलता की प्रतिमूर्ति, बोलो! मेरी वाग्दत्ता पत्नी और पिता द्वारा दिए हुए मेरे सिंहासन का अपहरण किसके संकेत से हुआ और छल से...।

रामगुप्त — यह उन्मत्त प्रलाप बन्द करो। चन्द्रगुप्त, तुम मेरे भाई ही हो न! मैं तुमको क्षमा करता हूँ।

चन्द्रगुप्त — मैं उसे माँगता नहीं और क्षमा देने का अधिकार भी तुम्हारा नहीं रहा। आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित की पुकार कर रहे हैं। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपने अपराधों को सुनो।

मन्दाकिनी — (ध्रुवस्वामिनी को आगे खींचकर) यह है गुप्तकुल की वधू।

रामगुप्त — मन्दा।

मन्दाकिनी — राजा का भय मंदा का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती, तो इस अपनी कुल-मर्यादा, नारी को शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। भगवान् ने स्त्रियों को उत्पन्न करके ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है। किन्तु

तुम लोगों की दस्यु-वृत्ति ने उन्हें लूटा है। इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़कर जिन लोगों ने राज-किल्विष किया हो उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।

शिखरस्वामी — तुम क्या कह रही हो?

मन्दाकिनी — मैं तुम लोगों की नीचता की गाथा सुन रही हूँ। अनार्य! सुन नहीं सकते? तुम्हारी प्रवंचनाओं ने जिस नरक की सृष्टि की है उनका अन्त समीप है। यह साम्राज्य किसका है? आर्य समुद्रगुप्त ने किसे युवराज बनाया था? चन्द्रगुप्त को या इस क्लीव रामगुप्त को जिसने छल और बल से विवाह करके भी इस नारी को अन्य पुरुष की अनुरागिनी बताकर दण्ड देने के लिए आज्ञा दी है। वही रामगुप्त, जिसने कापुरुषों की तरह इस स्त्री को शत्रु के दुर्ग में बिना विरोध किये भेज दिया था, तुम्हारे गुप्त-साम्राज्य का सम्राट् है। और यह ध्रुवस्वामिनी! जिसे कुछ दिनों तक तुम लोगों ने महादेवी कहकर सम्बोधित किया है, वह क्या है? कौन है? और उसका कैसा अस्तित्व है? कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिए।

पुरोहित — शिखर, मुझे अब भी बोलने दोगे या नहीं? मैं राज्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता। वह तुम्हारी राजनीति जाने। किन्तु इस विवाह के सम्बन्ध में तो मुझे कुछ कहना ही चाहिए।

एक वृद्ध — कहिए देव, आप ही तो धर्मशास्त्र के मुख हैं।

पुरोहित — विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पद दलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते; परन्तु यह सम्बन्ध उस प्रमाणों से भी विहीन है। और भी (रामगुप्त को देखकर) यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।

रामगुप्त — (खड़ा होकर क्रोध से) मूर्ख! तुमको मृत्यु का भय नहीं!

पुरोहित — तनिक भी नहीं। ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। तुम्हारे बधिक मुझे धार्मिक सत्य कहने से रोक नहीं सकते। उन्हें बुलाओ, मैं प्रस्तुत हूँ।

मन्दाकिनी — धन्य हो ब्रह्मदेव!

शिखरस्वामी — किन्तु निर्भीक पुरोहित, तुम क्लीव शब्द का प्रयोग कर रहे हो!

पुरोहित — (हँसकर) राजनीतिक दस्यु! तुम शास्त्रार्थ न करो। क्लीव! श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किसलिए कहा? जिसे अपनी

स्त्री को दूसरे की अंगगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं वह क्लीव नहीं तो और क्या है? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।

परिषद् के सब लोग — अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।

रामगुप्त — (सशंक और भयभीत-सा इधर-उधर देखकर) तुम सब पाखण्डी हो, विद्रोही हो। मैं अपने न्यायपूर्ण अधिकार को तुम्हारे-जैसे कुत्तों को भौंकने पर न छोड़ दूँगा।

शिखरस्वामी — किन्तु परिषद् का विचार तो मानना ही होगा।

रामगुप्त — (रोने के स्वर में) शिखर! तुम भी ऐसे कहते हो? नहीं, मैं यह न मानूँगा।

ध्रुवस्वामिनी — राम! तुम अभी इस दुर्ग के बाहर जाओ।

रामगुप्त — ऐं? यह परिवर्तन? तो मैं सचमुच क्लीव हूँ क्या?

(धीरे-धीरे हटता हुआ चन्द्रगुप्त के पीछे पहुँचकर उसे कटार निकालकर मारना चाहता है। चन्द्रगुप्त को विपन्न देखकर कुछ लोग चिल्ला उठते हैं। जब तक चन्द्रगुप्त घूमता है तब तक एक सामन्त-कुमार रामगुप्त पर प्रवाह करके चन्द्रगुप्त की रक्षा कर लेता है। रामगुप्त गिर पड़ता है।)

सामन्त-कुमार — राजाधिराज चन्द्रगुप्त की जय!

परिषद् — महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय!

(यवनिका)

राज्यश्री

दयामयी जननी

की

पवित्र स्मृति में

प्राक्कथन

राज्यश्री और हर्षवर्द्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का आधार हर्षवर्द्धन के राजकवि बाण का बनाया हुआ हर्षचरित और चीनी यात्री सुएनच्वांग का वर्णन है। हर्षचरित का वर्णन अपूर्ण है,

अनुमान होता है कि ग्रन्थ की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं, या वह उस कवि की रचना कादम्बरी की भाँति अधूरी-सी रही। कुछ विशेष घटनाओं का वर्णन चीनी यात्री ने किया है। बौद्धधर्म का विशेष पक्षपाती होने के कारण वह उन घटनाओं को नहीं छोड़ सका, जो बौद्धधर्म के अनुकूल हुई थी।

उस समय गुप्तों का प्राधान्य नष्ट हो चुका था। छठी शताब्दी में मालव के यशोधर्मदेव ने जब हूण मिहिरकुल को परास्त किया, तो साम्राज्य-शक्ति मगध से हटकर मालव की शरण में चली गयी, परन्तु यशोधर्मदेव की वंश परम्परा में वह स्थिर न रह सकी। इधर, जो हूण भारत की सीमा के भीतर घुस आये थे, वे कभी न कभी उपद्रव मचा ही देते, इस कारण स्थानीय राज्यों को उनसे बराबर छोटा-मोटा युद्ध करना ही पड़ता। सम्भवतः भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त से उनका आतंक निर्मूल नहीं हुआ था, यद्यपि वे अब भारत-साम्राज्य के विजेता नहीं रहे।

वह सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ था, जब स्थाण्वीश्वर के राजवंश ने प्रबलता प्राप्त की, शक्ति-संचय करके वे हूणों से लड़े। कान्यकुब्ज में मौखरियों का प्राधान्य था और मालव में गुप्तवंश के कुछ फुटकल राजकुमार प्रबल हो गये थे। यशोधर्म का साम्राज्य विभक्त कर स्थान-स्थान पर नवीन राजवंश अधिकार जमा रहे थे। इधर सिकुड़ कर मगध में गुप्तवंश के

महाराजाधिराज अपनी मान-मर्यादा लिये दिन बिता रहे थे। फिर भी गुप्तों के राजकुमारों के ही अधिकार में पूर्वी मालव, मगध और गौड़ था।

गौड़ के एक राजकुमार ने मौखरी और वर्द्धनों की सम्मिलित राजशक्ति को उलट देने का संकल्प किया। बाण ने इसका नाम नरेन्द्रगुप्त लिखा है परन्तु सुएनच्वांग के आधार पर बोधिधम को उखाड़ने वाला शशांक ही गौड़-विद्रोह का कारण माना जाने लगा है, यद्यपि अभी तक यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं हुआ है कि नरेन्द्रगुप्त और शशांक एक ही व्यक्ति है। कुछ लोग हर्षवर्द्धन की माता का नाम ही यशोमती देखकर ही उसे यशोधर्म की दुहिता मान लेने का प्रयास कर रहे हैं। अस्तु, वर्द्धनवंश के प्रभाकर के मरते ही नरेन्द्र के उकसाने से मालव के देवगुप्त ने प्रभाकर के जामाता ग्रहवर्मा से कान्यकुब्ज को छीन लिया और प्रभाकर की दुहिता राज्यश्री को बन्दी बना कर सफलता प्राप्त की। राज्यवर्द्धन ने जब कान्यकुब्ज का उद्धार किया, तो नरेन्द्र ने छल से उसकी हत्या करा दी। हर्ष अभी एक नवयुवक शासक था। बहुत सम्भव था कि थानेसर ही उलट दिया जाता, परन्तु उसने अतुल पराक्रम से उस विपत्ति का सामना किया और मालव तथा गौड़ के षडयन्त्र को ध्वस्त कर दिया। घटनाचक्र से वह समस्त उत्तरापथ का महाराजाधिराज बन गया। हर्षवर्द्धन ने

राजनीति को संयम से चलाया। कामरूप, काश्मीर और वलभी के प्रान्तराज्य उसके अनुगत हो गये। दिवाकरमित्र नामक एक साधु ने राज्यश्री के प्राणों की रक्षा की।

कहा जाता है कि हर्षवर्द्धन ने राज्यश्री के साथ कान्यकुब्ज का संयुक्त-शासन किया और इसलिये बहुत दिनों तक वह केवल राजपुत्र उपाधि धारण किये था, किन्तु बाँसखेड़ा के शिलालेख में वह स्वयं लिखता है — "स्वहस्तोमम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य"। उसका राज्यकाल 605 ईसवीय से आरम्भ होकर 647 ईसवीय तक चलता है।

चीनी-यात्री ने तो हर्ष के काषाय लेने का भी उल्लेख किया है, परन्तु सम्भवतः यह भारत की वही प्राचीन प्रथा थी, जिसका वर्णन कालिदास ने विश्वजित याग के बाद सर्वस्वदान के रूप में किया है — रघु भी सब जीत कर ऐसा ही दान करके अकिंचन हो गये थे, जब कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिए गये थे। हर्षवर्द्धन का बौद्धधर्म की ओर अधिक झुकाव होने के कारण — उनकी भगिनी राज्यश्री का बौद्ध दिवाकरमित्र द्वारा बचाया जाना भी हो सकता है। सम्भवतः धर्म में वे समन्वयवादी थे, सूर्य, शिव और बुद्ध तीनों देवताओं की प्रतिमाएँ आदरणीय थी। प्रधानतः हर्षवर्द्धन के हृदय में धर्म का सात्त्विक रूप व्याप्त था, यद्यपि चीनी-यात्री ने उसके महायान-प्रेमी होने का अधिक वर्णन किया है।

पुलकेशिन चालुक्य ने उनकी विजय को दक्षिण में रोक दिया। वह (हर्षवर्द्धन) भी उत्तरापथ के साम्राज्य से सन्तुष्ट था। राज्यश्री एक आदर्श राजकुमारी थी। उसने अपना वैधव्य सात्त्विकता से बिताया। अनेक अवसरों पर वह हर्ष के लौह-हृदय को कोमल बनाने में कृतकार्य हुई।

यद्यपि इस धर्म-समन्वय के कारण, चीनी-यात्री सुएनच्वांग और मि-यू-कि के अनुसार, स्वयं हर्षवर्द्धन के प्राण लेने तक की चेष्टा भी की गयी थी, परन्तु वह राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा से, बचता ही रहा। कान्यकुब्ज और प्रयाग के दान-महोत्सव वर्णन करते हुए सुएनच्वांग अघाता नहीं। यह सब प्रेरणा राज्यश्री की थी।

इस दृश्यकाव्य का पूर्णरूप 'इन्दु' में पहले निकला, फिर 'चित्राधार' संग्रह में वह पुनर्मुदित हुआ। एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण सी-ही था, इसका वर्त्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित है।

विकटघोष और सुरमा, यद्यपि ऐतिहासिक पात्र नहीं है, परन्तु चीनी यात्री का एक डाकू से पकड़े जाने का उल्लेख मिलता है। हर्षवर्द्धन के जीवन का अन्तिम दृश्य इसमें नहीं दिया गया है, क्योंकि इस रूपक का उद्देश्य है — राज्यश्री का चरित्र-चित्रण।

पात्र परिचय

राज्यश्री — कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मा की रानी

हर्षवर्द्धन — स्थाण्वीश्वर का राजकुमार, फिर भारत का राजा

राज्यवर्द्धन — स्थाण्वीश्वर का बड़ा राजकुमार, हर्षवर्द्धन का बड़ा भाई

दिवाकरमित्र — एक बौद्ध महात्मा

ग्रहवर्मा — कान्यकुब्ज का राजा

नरेन्द्रगुप्त — गौड़ का राजा

देवगुप्त — मालव का राजा

भण्डि — सेनापति

सिंहनाद --- हर्ष का सहकारी सेनापति

सुएनच्वांग — चीनी यात्री

पुलकेशिन् — चालुक्य-नरेश

धर्मसिद्धि, शीलसिद्धि — दो बौद्ध भिक्षु

शान्तिदेव — बौद्ध भिक्षु फिर दस्यु विकटघोष

नरदत्त — देवगुप्त का सैनिक

मधुकर — देवगुप्त का सहचर

सुरमा — एक मालिन

सरला — नरेन्द्र की गायिका

अमला, कमला, विमला-- राज्यश्री की सखियाँ

दौवारिक, सहचर, प्रहरी, दस्यु, सैनिक, प्रतिहारी, दूत, मंत्री, नागरिक इत्यादि।

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(नदी-तट का उपवन)

शान्तिदेव — सुरमा, अभी विलम्ब है।

सुरमा — क्या विलम्ब है प्रियतम — देखो, मैं मल्लिका का क्षुप सींचती हूँ, यह भी मुझे वंचित नहीं रखता — छाया, सुगन्ध और फूलों से जीविका देता है, किन्तु तुम! कितने निष्ठुर हो! तुम्हारी आँखों में दया का संकेत भी नहीं!

शान्तिदेव — मैं भिक्षु हूँ सुरमा! संसार ने मुझे एक ओर ढकेल दिया है — मैं अभी उसी ढालुवें से ढुलक रहा हूँ। रुकने का, सोचने का, अवसर नहीं। मुझे तुम्हारी बात, तुम्हारा स्नेह, एक विडम्बना — एक धोखा-सा जान पड़ता है।

सुरमा — विश्वास करो! मैं आजीवन किसी राजा की विलास-मालिका बनाती रहूँ — ऐसा मेरा अदृष्ट कहे, तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूँ। मेरी प्राणों की भूख आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे?

शान्तिदेव — यह तो हुई तुम्हारी बात, परन्तु मैं क्या चाहता हूँ — यह मैं अभी स्वयं नहीं समझ सका हूँ।

सुरमा — मैं समझ गयी, तुम फूल लेने आकार नित्य बातें बना जाते हो। मुझे एक साधारण पुष्पवाली समझते हो न! और तुम ठहरे कुलीन, क्षत्रिय, तिस पर भिक्षु!

शान्तिदेव — ठहरो सुरमा! जीवन की दौड़ बहुत लम्बी है, उसकी अभिलाषा के लिए इतना चंचल न होना चाहिए।

सुरमा — तुम निर्दय हो, मेरी आराधना का मूल्य नहीं जानते — भिक्षु! तुम्हारा धर्म उसके सामने —

शान्तिदेव — उतावली न हो सुरमा! परीक्षा देने जा रहा हूँ; साथ ही भाग्य की परीक्षा भी लूँगा! महारानी राज्यश्री एक दिन भिक्षुओं

को दान देंगी, मैं भी देखूँगा कि भाग्य मुझे किस ओर खींचता है। फिर मैं तुमसे मिलूँगा। (प्रस्थान)

(देवगुप्त का प्रवेश)

देवगुप्त — वाह! जैसा सुन्दर उपवन है, वैसी ही मालिन! क्यों जी, तुम्हारा नाम सुनूँ तो!

सुरमा — (सलज्ज) मुझे लोग सुरमा करते है।

देवगुप्त — नाम तो बड़ा सुरुचिपूर्ण है! भला, मैं तुम्हारे इस उपवन में कुछ दिन ठहर सकते हूँ।

(सुरमा देवगुप्त को देखती है)

देवगुप्त — तुम तो बोलती भी नहीं हो। यह तुम्हारी मल्लिका का बाल-व्यजन तो अभी अधबना है — धन्य तुम्हारी शिल्प-कुशलता!

सुरमा — मैं अकेली इस उपवन में रहती हूँ, आप एक विदेशी!

देवगुप्त — तो इसमें क्या? सब अकेले ही तो संसार-पथ में निकलते है, किसी का मिल जाना, यह तो उसके भाग्य की बात

है। देखो मुझे यदि तुम न मिल जाती तो कौन आश्रय देता? (हँसता है)

सुरमा — (स्वगत) यह कैसा विलक्षण पुरुष है? उत्तर देते भी नहीं बनता, क्या करूँ?

देवगुप्त — तो मैं तुम्हारे इस उद्यान में दो घड़ी तो विश्राम अवश्य करूँगा। फिर चाहे निकाल देना।

सुरमा — अच्छी बात है। मैं अपनी पुष्प-रचना लेकर राज-मन्दिर जाती हूँ, तब तक आप यहाँ विश्राम कर लीजिये।

देवगुप्त — तो क्या तुम राज-मन्दिर में भी जाती हो?

सुरमा — हाँ! वही से तो मेरी जीविका है।

देवगुप्त — अच्छी बात है सुरमा, तुम हो आओ, मैं तब तक थकान मिटाता हूँ।

(एक वृक्ष के नीचे बैठ जाता है — सुरमा माला बनाती हुई उसे कनखियों से देखती जाती है)

देवगुप्त — वाह! कितना सुरभित समीर है। प्राण तृप्त हो गया, मस्तिष्क हँसने लगा और ग्लानि का कहीं पता नहीं। सुरमा, तुम्हारा स्थान कितना सुरम्य है! – (देखकर) – अरे तुम्हारा बाल-

व्यजन भी बन गया, कितना सुन्दर है! उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है — जिन्होंने इसे बनाया।

सुरमा — (हँसती हुई) आप तो बड़े धृष्ट है... अब मैं जाती हूँ।

(अपनी पुष्प-रचना लेकर इठलाती हुई जाती है)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(कान्यकुब्ज के राजमन्दिर का एक प्रकोष्ठ)

ग्रहवर्मा — (राज्यश्री के साथ चिन्तित भाव से प्रवेश करते हुए) प्रिये, मेरा चित्त आज न जाने क्यों उदासीन हो रहा है, चेष्टा करके भी मैं उसे प्रसन्न नहीं कर पाता हूँ। अनेक भावनाएँ हृदय में उठ रही है, जो निर्बल होने पर भी उद्विग्न कर रही है।

राज्यश्री — नाथ, आप जैसे धीर पुरुषों को — जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शांत है — क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती है? कभी नहीं।

ग्रहवर्मा — इस विश्वव्यापी वैभव के आनन्द में यह मेरा हृदय सशंक होकर मुझे आज दुर्बल बना रहा है।

राज्यश्री — शंका किस बात की प्रियतम?

ग्रहवर्मा — पुण्यभूमि महोदय का सिंहासन, सरल और अनुरक्त प्रजा, सुजला-शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि, स्वास्थ्य का वातावरण और सबसे सुन्दर उत्तरापथ का कुसुम — यह पवित्र मुख — मेरा है, अपना है, फिर भी...

राज्यश्री — (संकुचित होती हुई) तब भी, क्या?

ग्रहवर्मा — तब भी यही कि सुदूर-व्यापी नील आकाश कितने कुतूहलों का, परिवर्तनों की क्रीड़ा-क्षेत्र है। यह आवरण है भी कितना काला — कितना...

राज्यश्री — बस नाथ, बस! क्यों हृदय को दुर्बल बनाकर अनुशोचन बढ़ा रहे हो!

ग्रहवर्मा — मनुष्य-हृदय स्वभाव-दुर्बल है। प्रवृत्तियाँ बड़ी-बड़ी राजशक्तियों के सदृश इसे घेरे रहती है। अवसर मिला कि इस छोटे-से हृदय-राज्य को आत्मसात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती है!

राज्यश्री — व्यर्थ चिन्ता! हृदय को प्रसन्न कीजिए। सम्भव है कि संगीत में मन लग जाय, बुलाऊँ गानेवालियों को?

ग्रहवर्मा — नहीं प्रिये क्षत्रियों का विनोद को मृगया है। इच्छा होती है कि सीमाप्रान्त के जंगल में कुछ दिनों तक मन बहलाऊँ।

राज्यश्री — जैसी इच्छा, मुझे भी आज भिक्षुओं को दान देना है।

ग्रहवर्मा — अच्छी बात है।

(राज्यश्री सहित प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(सुरमा का उपवन)

देवगुप्त — मालव-नरेश, मैं छद्मवेश में अनेक देश देखता फिरा, किन्तु उस दिन मदनोत्सव में जो आनन्द-दायक दृश्य यहाँ देखने में आया, वह क्या कभी भूलने को है! राज्यश्री! आह कितना आकर्षक — कितना सौन्दर्य-मय वह रूप है।

(मधुकर का प्रवेश)

मधुकर — महाराज मालव से एक दूत आया है।

देवगुप्त — उसे बुला लो मधुकर, मैं अब कुछ दिन यही अपना निवास रक्खूँगा।

(मधुकर सस्मिति जाता है और दूत के साथ फिर आता है)

दूत — जय हो देव!

देवगुप्त — कहो, क्या समाचार है?

दूत — महाराज के अनुग्रह से सब मंगल है। मन्त्रिवर ने यह प्रार्थना-पत्र श्री चरणों में भेजा है। (पत्र देता है)

देवगुप्त — (पढ़ता है) स्वस्ति श्री-इत्यादि महाराज की... आज्ञा के अनुसार वीरसेन सेना के साथ निर्दिष्ट स्थान पर प्रेरित हो चुके है। और भी एक सहस्र सैनिक दूत के साथ ही अनेक वेशों में आपके समीप उपस्थित है। संकेत पाते ही एकत्र हो सकेंगे। किन्तु देव, परिणाम-दर्शी होकर कार्य आरम्भ करे — यही प्रार्थना है। (हँसकर पत्र फाड़ता हुआ) मन्त्री वृद्ध हो गये है! जाओ विश्राम करो!

(दूत जाता है। सुरमा का प्रवेश)

देवगुप्त — आओ सुरमा, यह मेरा साथी एक और श्रेष्ठि आ गया है, तुम्हें कष्ट तो न होगा?

सुरमा — (माला एक ओर रखती हुई) कष्ट! ओह! कष्टों का तो अभ्यास हो गया है। अभी राज-मन्दिर से हो आयी। सुना है कि महाराज मृगया के लिए सीमाप्रान्त चले गये है। मैं उन विभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को, अपनी दरिद्रता की हँसी उड़ाते देखती हुई, लौट आयी हूँ। यह मल्लिका का बाल-व्यजन क्या होगा — मेरा दिन भर का परिश्रम!

देवगुप्त — (सहानुभूति से) तो मैं इसे ले सकता हूँ सुरमा!

सुरमा — आप? ले लीजिये!

देवगुप्त — तुम्हारे महाराज कुपित तो न होंगे।

सुरमा — होना है सो हो जाय —श्रेष्ठि, मैं राजा को देखकर बड़ा डरती हूँ! वहाँ जाना होता है तो मैं जैसे आग में, पानी में जा रही हूँ! पैर काँपने लगते है — मानों भूकम्प में चल रही हूँ।

देवगुप्त — और यदि मैं भी कहीं का राजा होऊँ सुरमा!

सुरमा — (देखकर) तुम! तुम राजा नहीं हो सकते, असंभव है। तुम तो हमारे-जैसे ही लोग हो, तुम्हारी मुख की ज्योति — उहूँ, तुम और चाहे कुछ बन जाओ, राजा नहीं हो सकते।

देवगुप्त — वाह सुरमा! तुम सामुद्रिक भी जानती हो!

सुरमा — (पास बैठकर) आह! कितनी सुहावनी रात है — चन्द्रिका के मुख पर कुहरे का अवगुण्ठन नहीं। स्वच्छ अनन्त में देवताओं के दीप झलमला रहे है — कितना सुन्दर है।

देवगुप्त — कितनी भावनामयी यह युवती है — अवश्य इसके हृदय में महत्त्व की आकांक्षा है — (प्रकट) क्यों सुरमा, ऐसी रात तो सुन्दर संगीत खोजती है — तुम कुछ गाना भी जानती हो?

सुरमा — कृत्रिम क्रोध से) वाह! आप तो धीरे-धीरे हाथ-पाँव फैलाते हो।

देवगुप्त — (अनुनय से) सुन्दरी! एक तान! अपराध क्षमा हो! विदेश की यह रजनी आजीवन स्मरण रहेगी — दुहाई है!

सुरमा — मैं जानती हूँ कि नहीं, यह नहीं जानती, पर गाती हूँ — कभी-कभी अपने दुःखी दिनों पर रोती हूँ अवश्य!

देवगुप्त — वही सही सुरमा!

सुरमा — (गाती है) –

आशा विकल हुई है मेरी,
प्यास बुझी न कभी मन की रे!

दूर हट रहा सरवर शीतल,
हुआ चाहता अब तो ओझल,

झुक जाता है पलकें दुर्बल!

ध्वनि सुन न पड़ी नव घन की रे!

ओ बेपीर-पीर! हूँ हारी,

जाने दे, हूँ मैं अधमारी,

सिसक रही घायल दुखियारी —

गाँठ भूल जीवन-धन की रे!

आशा विकल हुई है मेरी।

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(राजमन्दिर के एक प्रकोष्ठ में चिन्तामग्न मन्त्री)

दूत — (प्रवेश करके) आर्य! भयानक समाचार है!

मन्त्री — क्या है?

दूत — सीमाप्रान्त के कानन में महाराज तो सुख-मृगया-विनोद में दिवस-यापन कर रहे हैं; किन्तु —

मन्त्री — कहो-कहो, किन्तु क्या?

दूत — युद्ध की आशंका है! मालवेश्वर की सीमा हमारी सीमा से मिली हुई है, अकारण उनकी सेना आजकल सीमा पर एकत्र होने लगी है और महाराज को चिढ़ाने के लिए जान-बूझ कर कुछ धृष्टता की जा रही है। इसलिए महाराज ने कहा है कि सेनापति को सेना के साथ शीघ्र यहाँ आ जाना चाहिये।

मन्त्री — किन्तु जैसे समाचार नगर के मुझे मिले है, उससे तो मैं स्वयं सशंक हो रहा हूँ। मुझे कान्यकुब्ज के भीतर — नागरिकों में — कुछ सन्देहजनक व्यक्ति होने का पता चला है — (कुछ सोचकर) अच्छा, तुम महाराज से कहना कि मैं सैन्य भेजता हूँ, पर आद्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। मैं नगर-रक्षा के लिए थोड़ी सेना रख लूँगा, क्यों स्थाण्वीश्वर से सहायता मिलने में अभी विलम्ब होगा। मैं वहाँ भी सन्देश भेजता हूँ।

(दूत का प्रस्थान)

तो अब महारानी को भी समाचार देना चाहिये। अब स्मरण आया — आज तो वह दान-पर्व में लगी होगी। तो चलूँ वही। सेना भी तो भेजनी है। जरा भी कैसी भीषण व्याधि है! अहा! हम लोग इसे नित्य देखते है, पर तथागत के समान किसने इस दृश्य से लाभ उठाया? इतने दिन काम किया, अब भी तृष्णा न छूटी! चलूँ — मुझे पहुँचने में भी तो विलम्ब होगा। पहले सेनापति से मिलूँ या महारानी से? – (सोचकर) पहले सेनापति से — यही ठीक होगा।

(प्रस्थान। दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(देव-मन्दिर में राज्यश्री, दान के उपकरण और भिक्षु उपस्थित है)

राज्यश्री — (भिक्षुओं को वस्त्र और धन देती है — शान्तिदेव सामने आता है) तुम्हारा शुभ-नाम भिक्षु?

शान्तिदेव — जय हो! मेरा नाम शान्तिभिक्षु —

(रुककर राज्यश्री की ओर देखने लगता है)

राज्यश्री — भिक्षु, तुमने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है, किन्तु तुम्हारा हृदय अभी —

शान्तिदेव — कल्याणी! मैं, मेरा अपराध —

राज्यश्री — हाँ तुम! भिक्षु! तुम्हें शील-सम्पदा नहीं मिली, जो सर्व-प्रथम मिलनी चाहिए।

शान्तिदेव — मैं सब ओर से दरिद्र हूँ देवि! – (स्वगत) विश्व में इतनी विभूति! और मैं — सिर ऊँचा करके अत्यन्त ऊँचाई की

ओर देखता हुआ केवल उलटा होकर गिर जाता हूँ — चढ़ने की कौन कहे!

राज्यश्री — क्या सोचते हो, भिक्षु!

शान्तिदेव — केवल अपनी क्षुद्रता —

राज्यश्री — तुम संयत करो अपने मन को भिक्षु! श्लाधा और आकांक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड़ चुके हो। यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो, तो मैं पूरी कर सकती हूँ, निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ।

शान्तिदेव — (स्वगत) इतना सौन्दर्य, विभव और शक्ति एकत्र!

राज्यश्री — तुम चुप क्यों हो, भिक्षु!

शान्तिदेव — मुझे जो चाहिए वह नहीं मिल सकता — इसलिये मैं न माँगूँगा।

राज्यश्री — भिक्षु! मेरा व्रत न खण्डित करो।

शान्तिदेव — नहीं, मैं दान न लूँगा, मुझे कुछ न चाहिये (प्रस्थान)

राज्यश्री — विमला! मैं इस प्रसंग से दुःखी हो गयी हूँ।

विमला — चिन्ता न कीजिये देवि, पूजन भी तो हो चुका है। अब पधारिये।

राज्यश्री — चलती हूँ सखि! मेरा हृदय कह रहा है कि महाराज का कोई सन्देश आ रहा है।

विमला — प्रियजन की उत्कण्ठा में प्रायः ऐसा ही भ्रम हुआ करता है।

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी — महादेवी की जय हो! मन्त्री महोदय आ रहे है।

राज्यश्री — आने दो।

मन्त्री — (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो! कुछ निवेदन —

राज्यश्री — कहिये-कहिये —

मन्त्री — सीमाप्रान्त से युद्ध का सन्देश आया है।

राज्यश्री — (स्वस्थ होकर) मन्त्री! इसी बात को कहने में आप संकुचित होते थे! क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ-समाचार कौन होगा! आप प्रबन्ध कीजिये, मैं निर्भय हूँ।

(मन्त्री का प्रस्थान)

राज्यश्री — चलो, सब लोग फिर से विजय के लिए प्रार्थना कर लें।

(सब प्रतिमा के सामने जाकर प्रार्थना करती है, पुष्पांजलि चढ़ाती है, मन्दिर में अट्टहास, राज्यश्री मूर्च्छित होती है, अन्धकार)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(सुरमा का उपवन)

देवगुप्त — सुरमा, तुमको जब बड़े कष्ट से उपवन सींचते देखता हूँ और परिश्रम से फूलों को चुनते और उनकी माला बनाते देखता हूँ, तो मेरा हृदय व्यथित होता है!

सुरमा — क्यों, इतनी सहानुभूति तो आज तक किसी ने मेरे साथ नहीं दिखलायी!

देवगुप्त — मेरा हृदय जाने, इस 'क्यों' का कारण मैं क्या बतलाऊँ। यह कुसुम तो कामदेव की उपासना में मुकुट की शोभा बढ़ा सकता है।

सुरमा — किसी की अधिक प्रशंसा करना उसे धोखा देना है, श्रेष्ठि! तुम्हारा —

देवगुप्त — ठहरो सुरमा! मैं श्रेष्ठि नहीं — आज मैं तुम्हें अभिन्न समझ कर अपना रहस्य कहता हूँ। मैं मालव-नरेश देवगुप्त हूँ।

सुरमा — (आश्चर्य से) क्या!

दूत — (प्रवेश करके) जय हो देव, स्थाण्वीश्वर में प्रभाकरवर्द्धन का निधन हुआ और राज्यवर्द्धन इस समय हूण-युद्ध के लिए पंचनद गये है।

देवगुप्त — अच्छा जाओ!

(दूत का प्रस्थान)

सुरमा — तुम-आप — मालव के —

देवगुप्त — हाँ सुरमा, चलोगी मेरे साथ?

सुरमा — यह भी सत्य है? नहीं महाराज! जैसा आपका वेश कृत्रिम है, वैसे ही यह वाणी भी तो नहीं?

देवगुप्त — नहीं प्रिये, में तुम्हारा अनुचर हूँ।

सुरमा — हे भगवान्! इतना बड़ा सौभाग्य! नहीं, यह मेरे अदृष्ट का उपहास है।

देवगुप्त — सुन्दरी यह उपहास नहीं, सत्य है।

सुरमा — परन्तु शान्तिभिक्षु की प्रतीक्षा!

देवगुप्त — कौन शान्तिभिक्षु? उसे कुछ दान दिया चाहती हो क्या?
सुरमा — नहीं, दे चुकी हूँ!
देवगुप्त — तो दो दो, यह उपवन ही न — तुम्हें अब इसकी आवश्यकता ही क्या?
सुरमा — वहीं करूँगी।
देवगुप्त — मुझे तुमने प्राण-दान दिया, परन्तु देखो, जब तक यहाँ से हम लोग मालव के लिए प्रस्थान न करें यह बात खुलने न पावे।
सुरमा — अच्छा जाती हूँ, विश्वास रखिये (अस्तव्यस्त भाव से उठ कर जाती है)

(मधुकर का प्रवेश)

देवगुप्त — सीमा का क्या समाचार है? वीरसेन की वीरता पर तो मुझे विश्वास है, पर मौखरी भी सहज नहीं. इधर में इतने मनुष्यों के साथ दूसरी राजधानी में पडा हूँ, बड़ी विषय समस्या है। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।
मधुकर — सीमाप्रान्त में विजय मिलने की निश्चित सम्भावना है और यदि ऐसा न हुआ, तो शीघ्र ही मालव पहुँच कर सब दोष मन्त्री के सिर रखकर अलग हो जाइयेगा, सन्धि का प्रस्ताव भेज

दीजियेगा। क्योंकि यह तो प्रसिद्ध है ही कि मालवेश्वर बहुत दिनों से तीर्थ-यात्रा के लिए गये है।

देवगुप्त — मधुकर! देवगुप्त उसी गुप्त-कुल का है, जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप विकम्पित होता था। आज सिंह-विहीन जंगल में स्यारों का राज्य है। मुझे एक बार वही चेष्टा करनी होगी। स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों का ध्वंस करना है।

मधुकर — दैव अनुकूल होने से आपकी इच्छा पूरी होगी।

(चर का प्रवेश)

चर — जय हो देव! सीमाप्रान्त का युद्ध आपके पक्ष में सफल हुआ। ग्रहवर्मा को कड़ी चोट आयी है, क्योंकि वीरसेन ने कान्यकुब्ज की सेना पहुँचने के पहले ही युद्ध आरम्भ कर दिया था। इधर दुर्ग में भी सेन बहुत कम है!

देवगुप्त — मेरा अनुमान है कि मेरे सैनिक उनसे अधिक है। मधुकर! सुनो तो — (कान में कुछ कहता है, प्रकट) जब कुछ और सेना सीमा की ओर चली जाय, तो जिस ढंग से बताया है, उसी प्रकार मेरे सब सैनिक दुर्ग में एकत्र हों। 'विजय' संकेत होगा, जाओ — बस।

(सबका प्रस्थान। दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(प्रकोष्ठ में मूर्च्छित राज्यश्री और सखियाँ)

विमला — सखी! क्या होगा!

कमला — क्या कहूँ, मन्दिर वाली घटना से अभी तक एक बार भी पूरी चेतना नहीं आयी। सखी! यह बात तो आश्चर्यजनक हुई — क्या कोई अपदेवता वहाँ उस दिन आ गया था?

विमला — सखी मैं तो समझती हूँ वही भिक्षु ठठाकर हँस पड़ा और महारानी को प्रतिमा हँसने के अपशकुन की आशंका हुई।

कमला — देख, देख, अब उठ रही है, कुछ कहना चाहती है —

(मन्त्री का प्रवेश, राज्यश्री उठकर प्रलाप करती है)

राज्यश्री — हँस दिया — हाँ, हँस दिया! मेरी प्रार्थना पर हँस दिया! क्या वह अनुचित थी? मेरी बात क्या हँसने योग्य थी? नहीं, नहीं, हँसी का कारण है मेरा निर्बल होना। हँसो और भी हँसो! मेरी

प्रार्थना तुम्हारे कर्कश कठोर अट्टहास में विलीन हो जाय! हा हा हा हा!

मन्त्री — किससे और क्या कहूँ? जिसकी आशंका-मात्र से यह दशा है, उसे वास्तविक समाचार देने का क्या परिणाम होगा? कुटिलते! देख, तूने एक सोने का संसार मिट्टी में मिला दिया।

(प्रतिहारी का त्रस्तभाव से प्रवेश)

प्रतिहारी - आर्य! न मालूम क्यों दुर्ग में बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है। प्रजा कह रही है कि मुझे महाराज की सच्ची अवस्था मालूम होनी चाहिये।

मन्त्री — उन लोगों से कहो कि हम अभी आते है।

(प्रतिहारी का प्रस्थान)

(राज्यश्री उठकर उन्मत्त भाव से टहलती है)

प्रतिहारी — पुनः प्रवेश करके) अनर्थ!

मन्त्री — क्या हुआ? कुछ कहो भी!

प्रतिहारी — उन्हीं प्रजाओं के साथ दुर्ग में सहस्रों शत्रु घुस आये है।

मन्त्री — हूँ! वह प्रजा न थी, जो इस तरह षड्यन्त्र करके दुर्ग में चली आयी? वे शत्रु — (विचारने लगता है)

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक — मन्त्रिवर! दुर्ग-रक्षक सैन्य संग्रह करके आत्म-रक्षा का प्रबन्ध कर रहे है। उन्होंने मुझे यह कहने के लिए भेजा है कि इस उपद्रव का नेता वही दुष्ट वणिक वेशधारी मालवेश है।

मन्त्री — (चौंक कर) क्या मालवेश? अच्छा! जाओ, युद्ध में पीछे न हटना! कान्यकुब्ज के एक भी सैनिक के जीवित रहते देवगुप्त दुर्ग पर अधिकार न करने पावे।

(सैनिक का प्रस्थान)

राज्यश्री — मन्त्री! उसने हँस दिया!

(नेपथ्य में रण-कोलाहल)

मन्त्री — विमला! यहाँ महारानी का रहना ठीक नहीं।

राज्यश्री — महारानी फिर कहाँ जायँगी?

मन्त्री — शत्रु दुर्ग में घुस आये है।

राज्यश्री — जाओं, उन्हें सादर लिवा लाओ।

मन्त्री — हे भगवान्!

(विजयी देवगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश। राज्यश्री मन्त्री का खड्ग ले लेती है और देवगुप्त पर उसे चलाती है, देवगुप्त उसे पकड़ता है और वह मूर्च्छित होती है)

(यवनिका)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(सुरमा का उपवन। अकेले शान्तिदेव)

शान्तिदेव — मैं संसार में अलग किया गया था — किस लिये? पिता ने मुझे भिक्षुसंघ में समर्पण किया था — क्या इसलिये कि मैं धार्मिक जीवन-व्यतीत करूँ? मेरे लिये उस हृदय में दया या सहानुभूति न थी! जब हृदय-कानन की आशा-लता बलवती हुई तो मैं देखता हूँ कि कर्मक्षेत्र में मेरे लिये कुछ अवशिष्ट नहीं। सुरमा — जीवन की पहली चिनगारी — वह भी किधर गयी! धधक उठी एक ज्वाला — राज्यश्री! (सोचकर) – मूर्ख! मैं निश्चय नहीं कर पाता की सुरमा या राज्यश्री, मेरे जलते हुए ग्रहपिण्ड के भ्रमण का कौन केन्द्र है! कान्यकुब्ज में इतना बड़ा परिवर्तन! इधर सुरमा भी न जाने कहाँ गयी! तो क्या करूँ? लौट जाऊँ संघ में? नहीं, संघ मेरे लिए नहीं है। अब यही कुटी में रहूँगा। तो क्या मैं तपस्वी होऊँगा? नहीं, अच्छा तो नियति कराये। (देखकर) – ओह! कैसी काली रात है!

(सोता है। दस्युओं का प्रवेश)

एक — आज जो सेना हम लोगों ने देखी, वह किसकी है?

दूसरा — राज्यवर्द्धन की सेना है। राज्यश्री और ग्रहवर्मा का प्रतिशोध लेने आ रही है।

पहला — तो क्या राज्यश्री भी मार डाली गयी?

दूसरा — नहीं जी, वह तो बन्दी है। इसी गड़बड़ी में तो अपना हाथ लगेगा। क्या बताऊँ, यदि राज्यश्री को हम लोग पा जाते, तो बहुत-सा धन मिलता।

(शान्तिदेव करवटें बदलता हैः

पहला — (उसे देखकर) तू कौन है रे?

शान्तिदेव — विकटघोष!

दूसरा — सो तो तेरे लम्बे-चौड़े हाथ-पैर और कर्कश कण्ठ से ही प्रकट है, पर तू करता क्या है?

विकटघोष — मैं कान्यकुब्ज का दस्यु, मूर्ख! मेरे क्षेत्र में तू क्यों आया?

पहला — भाई विकटघोष! तो हम लोग भी तुम्हें अपना नेता मानेंगे।

विकटघोष — यह बात! फिर राज्यश्री को अकेले लोप करने का प्रयत्न न करना! समझा!

दोनों — नहीं, भला ऐसा भी हो सकता है! परन्तु दस्तुपति, एक और भी सेना गौड़ की आ रही है। इन दोनों के आक्रमण के बीच से राज्यश्री को निकाल ले जाना सहज काम नहीं।

विकटघोष — डरपोक! इसी बल पर दस्यु बना है।

दोनों — नहीं, हम लोग प्राण देने या लेने में पीछे नहीं हटते।

विकटघोष — तो अच्छा बाच है। चलो हम लोग आज राज में दोनों सेनाओं का लक्ष्य तो समझ ले।

दोनों — चलो।

(तीनों का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

दूसरा दृश्य

(वन-पथ। कुछ सैनिकों के साथ भण्डि का प्रवेश)

भण्डि — क्यों जी, अब तो मेरा अनुमान है कि कन्नौज की सीमा समीप है।

एक सैनिक — हम लोग तो आज ही पहुँच गये होते, यदि गौड़राज की प्रतीक्षा में समय नष्ट न किया गया होता।

भण्डि — आज ही तो नरेन्द्रगुप्त शशांक के आने का निश्चय था, और इसी कानन का स्थान नियत था, फिर अभी वे क्यों नहीं आये?

अन्य सैनिक — आवें चाहे न आवें। सेनापति! इस अकारण मैत्री से मेरा चित्त तो बहुत शंकित हो रहा है। महाराजकुमार ने न जाने क्यों उस पर इतना विश्वास कर लिया। क्या हम लोग स्वयं उस दुष्ट मालवपति को दण्ड देने में असमर्थ है...?

भण्डि — यह ठीक है, पर यदि राजनीति मित्रता से सफल होती हो, तो विग्रह करना उचित नहीं। उसकी भी स्थाण्वीश्वर से मैत्री करने की इच्छा है। क्यों? केवल वर्द्धनों का लोहा मानकर!

तीसरा सैनिक — अच्छा, तो अब आप पट-मण्डप में विश्राम करें, महाराजकुमार के पूछने पर आपको मैं सूचना दूँगा। शिविर आपका समीप है।

भण्डि — अच्छा (सामने देखकर) – ये ती कौन अपरिचित-से चले आ रहे है।

(विकटघोष का अपने दो साथियों सहित प्रवेश)

विकटघोष — (प्रणाम करके) सेनापति की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

भण्डि — तुम्हारी क्या अभिलाषा है?

विकटघोष — हम लोग साहसिक है परन्तु अब चारित्र्य और वीरतापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते है। देवगुप्त हमारा चिरशत्रु है, उससे प्रतिशोध लेना हमारा अभीष्ट है।

भण्डि — किन्तु तुम्हारा विश्वास?

विकटघोष — क्या हम ती वीरों से आप डरते है — क्या इतनी बड़ी सेना को हम तीन व्यक्ति वंचित कर सकते है! इतनी मूर्खता मेरे मन में तो नहीं है, सेनापति!

भण्डि — किन्तु...

विकटघोष — किन्तु कौन जन्तु है, मैं नहीं जानता! वीरों के पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं लिखा रहता, सेनापति! यदि आप अविश्वास करते हों, तो हम लोग चले जायँ।

भण्डि — तुम्हारा परिचय?

विकटघोष — मेरा नाम है विकटघोष और ये दोनों मेरे शूर साथी है। मैं आपका उपकार करूँगा, विजय में उपयोगी सिद्ध हो सकूँगा।

भण्डि — क्या?

विकटघोष — मुझे कान्यकुब्ज-दुर्ग के गुप्त मार्ग विदित है, उनके द्वारा सुगमता से आपको विजय मिल सकती है।

भण्डि — (कुछ विचार कर) तुम मुझे तो कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। अस्तु, तुम पंचनद गुल्म में सम्मिलित किये गए। (पूर्व सैनिक से) – गौल्मिक! इन्हें ले जाओ।

(सब जाते है। दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(शिविर। राज्यवर्द्धन, नरेन्द्रगुप्त और भण्डि)

नरेन्द्रगुप्त — दुरात्मा देवगुप्त ने कैसे कुसमय में यह उत्पात मचाया! जब आप दोनों भाई पिता के शोक में व्याकुल थे, तभी उसे नारकीय अभिनय करने का अवसर मिला! अच्छा, धैर्य और शान्ति से अग्रसर होकर...

राज्यवर्द्धन — शान्ति कहाँ, गौड़ेश्वर! अपने इन दुर्वृत्त वैरियों से बदला लेना और तुरन्त दण्ड देना मेरे जीवन का प्रथम कार्य है। अपने बाहुबल से प्रतिशोध न लेकर चित्त को सन्तोष देना मेरा काम नहीं।

नरेन्द्रगुप्त — ऐसा ही होगा।

राज्यवर्द्धन — होगा नहीं, हुआ समझो। राज्यवर्द्धन वह राख का ढेर नहीं जो शुत्र-मुख के पन के धधक न उठे। यह ज्वाला है, उत्तरापथ को जलाकर शान्त होगी। गौड़श्वेर, तुम तो वर्द्धनों के बन्धु हो, परन्तु यह तुमसे न छिपा होगा कि स्थाण्वीश्वर की उन्नति अनेक नरेशों की आँखों में खटक रही है। अभी पंचनद से हूणों को विताड़ित किया और जालन्धर से उदितराज को स्कन्धावार में छोड़ आया, परन्तु मैं देखता हूँ कि हूणों से पहले अपने घर में ही युद्ध करना पड़ेगा।

भण्डि — देव उसके लिये चिन्ता क्या! हमारा शस्त्र-बल उचित दण्ड देने में कभी पीछे न रहेगा। महोदय और मगध तो हम लोगों के मित्र ही है — पश्चिमी आर्यावर्त्त में ही तो संघर्ष है

नरेन्द्रगुप्त — कुछ चिन्ता न कीजिये — गौड़ और मगध की समस्त शक्ति आपके लिये प्रस्तुत है।

राज्यवर्द्धन — भण्डि, महोदय-दुर्ग लेने का क्या उपाय निश्चित किया है? ध्वंस करने की तो मेरी इच्छा नहीं, और अवरोध से भी अधिक दिन बिताना ठीक नहीं।

भण्डि — उसके लिये चिन्ता न कीजिये देव, सब यथासमय आप देखेंगे। विश्राम कीजिए।

(दूत का प्रवेश)

दूत — जय हो, देव!

राज्यवर्द्धन — क्या समाचार है?

दूत — दुर्ग के भीतर बहुत थोड़ी सेना है और देवी राज्यश्री भी वही हैं।

राज्यवर्द्धन — मैं अभी आक्रमण चाहता हूँ।

भण्डि — विश्राम कीजिये। आज भर केवल! कल ही आप देखेंगे कि विजय-लक्ष्मी आपका स्वागत करती है।

राज्यवर्द्धन — ऐसा ही हो, भण्डि!

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ में राज्यश्री और विमला)

विमला — सिर की वेदना तो अब कम है न महादेवी!

राज्यश्री — वेदना रोम-रोम में खटी है, विमला! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचारों और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिये हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी! औषधि न देकर यदि तू विष देती, तो कितना उपकार करती।

विमला — भगवान् पर विश्वास रखिये।

राज्यश्री — विश्वास! सखी, विश्वास तो मेरा प्रत्येक श्वाँस कर रहा है! मैं तो समझती हूँ कि मेरी प्रार्थना — मेरी आर्त्तवाणी — उन कानों में पहुँचती ही नहीं है।

विमला — गर्व से भरे मनुष्यों का ही यह स्वभाव है — जिसके कान मोतियों के कुण्डल से बाहर लदे है और प्रशंसा एवं संगीत की झनकारों से भीतर भी भरे है, वे ही क्रन्दन नहीं सुनना चाहते।

राज्यश्री — जैसी उनकी इच्छा। तो क्या सर्वत्र शत्रु का अधिकार हो गया है?

विमला — दुर्दैव में सब करा दिया।

(देवगुप्त का प्रवेश)

राज्यश्री — कौन!

देवगुप्त — मैं हूँ देवगुप्त। राज्यश्री! तुम्हें स्वस्थ देखकर मैं प्रसन्न हुआ।

विमला — अधखिली वसंत की कली को जलती हुई धूल में गिरा कर भीषण अंधड़ चिल्ला कर कहता है — 'तुम स्वस्थ हो!' शांत सरोवर की कुमुदिनी को पैरों से कुचल कर उन्मत्त गज, उसे सहलाना चाहता है!

देवगुप्त — राज्यश्री! अपनी इन दासियों को मना करो। मैं तुमसे बात करना चाहता हूँ।

राज्यश्री — तुम देवगुप्त? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो — मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ, एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस!

देवगुप्त — सुन्दरी!

राज्यश्री — बस मैं सचेत हूँ देवगुप्त! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी, तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती?

देवगुप्त — तब तुम इस राज-मन्दिर को बन्दीगृह बनाना चाहती हो?

राज्यश्री — नरक में रहना हो सो भी अच्छा!

देवगुप्त — तब यही हो (ताली बजाता है — चार सैनिकों का प्रवेश) देखो आज से ये लोग बन्दी है — सावधान! इनके साथ वही व्यवहार करना होगा।

(प्रस्थान। दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(प्रकोष्ठ में मधुकर — रात्रि)

मधुकर — देखूँ, अब क्या होता है?

(विकटघोष पीछे से आकर चपत लगाता है)

मधुकर — (सिर सहलाता हुआ) क्या यही होना था? भाई तुम तो कौन? मुझसे तुमसे कब का परिचय है? – यह परिचय कैसा?

विकटघोष — यह तुम नहीं जानते — हम तुम साथ ही न वहाँ पढ़ते थे! तुम एक चपत लगाकर गुरुकुल छोड़कर भाग आये और राजसहचर बनकर आनन्द करने लगे। यह उसी का प्रतिशोध है। स्मरण हुआ? मेरा नाम विकटघोष!

मधुकर — (विचारने की मुद्रा में) होगा! होगा भाई, वह तो पाठशाला का लड़कपन था, अब हम तुम दोनों बड़े हो गये। फिर, वैसी बात न होनी चाहिये।

विकटघोष — यह सब तो मित्रता में चलता ही रहता है, पर तुमने मुझे पहचाना ठीक!

मधुकर — ठीक! क्या नाम?

विकटघोष — विकटघोष।

मधुकर — ओह! तब आप शंख-घोष करते। यह मेरी रोएँदार खँजड़ी क्यों बजा रहे थे? आप इतनी रात को अतिथि!

विकटघोष — मैं शीघ्र जाऊँगा।

मधुकर — हाँ! अधिक कष्ट करने की आवश्यकता नहीं — आपको दूर जाना भी होगा?

विकटघोष — चुप रहो, पहले यह तो पूछा ही नहीं कि तुम क्यों आये थे।

मधुकर — आप जाइये, मैं पूछ लूँगा! उधर — (राह दिखलाता है)

विकटघोष — मुझे तुम्हारी महारानी से मिलना है।

मधुकर — तब आपको ठाठ से आना चाहिये था! यह भयानक दाढ़ी और बिच्छू की दुम — नहीं-नहीं डंक-सी मूँछ! उहूँ! आप तनिक भी सहृदय नहीं — इसे कुछ नीची कीजिये!

(हाथ बढ़ाता है)

विकटघोष —- (झटक कर) सीधे बताओ, किधर से जाना होगा?

मधुकर — दो पथ है। एक सुन्दर राजमन्दिर में जाता है, जहाँ श्रीमती सुरमा देवी विराजमान है और दूसरा बन्दीगृह में, जहाँ राज्यश्री है। आप किस रानी से भेट किया चाहते है?

विकटघोष — (चौंक कर) सुरमा! कौन?

मधुकर — अजी! वे नयी रानी है — इस नये राज्य की! समझते नहीं, राजा लोग जब नये राज्य बना सकते है, तो उसमें रानी वही पुरानी रक्खेंगे!

विकटघोष — यह कहाँ की राजकुमारी है?

मधुकर — अरे इसी बुद्धि पर तुम रानी से मिलने चले हो। (उसे छुरा निकालते देख कर डरता हुआ) पहले इसे भीतर करो, नहीं तो मेरे प्राण बाहर आ जायँगे।

विकटघोष — तो बताओ शीघ्र।

मधुकर — वह तो इसी कान्यकुब्ज की एक मालिन है उसे भीतर... (भयभीत होकर छुरे को देखता है!)

विकटघोष — (छुरे को भीतर रखता हुआ सोचता है) तो क्या वही सुरमा! वह रानी! देवगुप्त की प्रणयिनी। उसके यहाँ कौन-सा पथ जायेगा?

मधुकर — वही (सामने दिखाकर) और उधर — (बता कर) आप राज्यश्री से मिल सकते है।

विकटघोष — अच्छा अब तुम विश्राम करो। (उसके हाथ-पैर बाँधने लगता है)

मधुकर — यह क्या? – यह मित्रता है!

विकटघोष — चुप रहो (संकेत करता है)

(दूसरा दस्यु आता है, उसे वहीं छोड़कर विकटघोष चला जाता है। दूसरा दस्यु उसे घसीटकर ले जाता है)

(दृश्यान्तर)

छठवाँ दृश्य

(उपवन में सुरमा और देवगुप्त)

देवगुप्त — आज सुरमा! अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिये प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा!

सुरमा — कितनी मादकता इस प्रशंसा में है, प्रियतम! मुझे अपना स्वरूप विस्मृत होता जा रहा है। मेरा यह सौभाग्य...।

देवगुप्त — सुरमा! मेरे जीवन में ऐसा उन्मादकारी अवसर कभी न आया था। तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती हुई प्याली हो — पागल न होना ही आश्चर्य है, मेरे इस साहस की विजय-लक्ष्मी!

सुरमा — (इधर-उधर देखती हुई) कहाँ हूँ? यह उज्ज्वल भविष्य कहाँ छिपा था? और यह सुन्दर वर्तमान, इन्द्रजाल तो नहीं? (देवगुप्त का हाथ पकड़ कर) क्या यह सत्य है?

(पान-पात्र भर कर देती है)

देवगुप्त — उतना ही सत्य है, जितना मेरा कान्यकुब्ज के सिंहासन पर अधिकार। सुरमा! शंका न करो। दो — एक पात्र।

देवगुप्त — (पीता हुआ) यह देखो सुरमा! नक्षत्र के फूल आकाश बरसा रहा है, उधर देखो चन्द्रमा की स्निग्ध प्रसन्न हँसी तुम्हारा मनुहार कर रही है, जीवन की यह निराली रात है! सुरमा! कुछ गाओगी?

सुरमा — क्यों नहीं प्रियतम! (गाती है)

सम्हाले कोई कैसे प्यार
मचल-मचल उठता है चंचल
भर लाता है आँखों में जल
बिछलन कर, चलता है उस पर
लिये व्यथा का भार
सिसक-सिसक उठता है मन में
किस सुहाग के अपनेपन में
'छुईमुई'-सा होता, हँसता
कितना है सुकुमार

देवगुप्त — सुरमा! तुम कितनी मधुर हो — मेरे जीवन की ध्रुवतारिका!

(नेपथ्य से) – यह तुम्हारे दुर्भाग्य के मन्दग्रह की प्रभा है!

देवगुप्त — (चौंककर) यह कौन?

(नेपथ्य से) – मैं हूँ। सुरमा के उपवन का यक्ष। सावधान! इस — अपनी विपत्ति और अलक्ष्मी से अलग हो जाओ, नहीं तो युद्ध में तुम्हारा निधन होगा।

देवगुप्त — यक्ष? असम्भव! यक्ष और कोई नहीं, मनुष्य है। तुम कौन हो, प्रवंचक?

(नेपथ्य से) – मैं यक्ष हूँ — तुम्हाही इच्छा हो तो बाण चलाकर देख लो — वही फिर लौट कर तुम्हें लगता है कि नहीं। मैं फिर सावधान कर देता हूँ — सुरमा को अभी अपने पास से अलग करो, नहीं तो पछताओगे।

देवगुप्त — तो मैं...

(नेपथ्य से) – हाँ, हाँ, तुम, यदि तुम्हें मृत्यु का आलिंगन न करना हो तो सुरमा के बाहुपाश से अपने को मुक्त करो।

(देवगुप्त भयभीत होकर सुरमा को देखता है। सुरमा हताश दृष्टि से उसे देखती है। दूर से कोलाहल की ध्वनि)

देवगुप्त — यह क्या?

(नेपथ्य से) – यह है तुम्हारी सुख-निद्रा का अन्त-सूचक शत्रु-सेना का शब्द! मूर्ख! अब भी भागो?

(देवगुप्त भयभीत सुरमा को छोड़कर जाता है। 'प्रियतम सुनो-सुनो' — कहती सुरमा रह जाती है। विकटघोष का प्रवेश)

सुरमा — हे भगवान्!

विकटघोष — रमणी! जब तुम्हें कोई चलने को कहता है, तो पैरों में पीड़ा का अनुभव करने लगती हो। जब विश्राम का समय होता है, तो पवन से भी तीव्रगति धारण करती हो। तुम स्नेह में पिच्छिल, जल से अधिक तरल, पत्थर से भी कठोर! इन्द्रधनुष से भी सुन्दर बहुरंगशालिनी स्त्री — तुमको...

सुरमा — तुम कौन हो? यक्ष नहीं, तुम्हारा स्वर तो परिचित-सा है।

विकटघोष — (बनावटी बाल अलग करके) परिचय? तुम लोगों से परिचय आकाश-तट के डूबते हुए तारों का-सा है। उज्ज्वल

आलोक फैलाकर अन्धकार में विलीन हो जाता है। ओह, जब निःश्वास ले-लेकर सिसकती हुई, किसी मूर्ख की छाती पर कुमार कुसुम-सी व्याकुल होकर तुम पतित रहती हो, तब भी तुम्हारे भीतर व्यंग हँसा करता है! जब स्वयं प्राण देने के लिए प्रस्तुत होती हो, तब वह कितने जीवन लेने का प्रस्ताव होता है! प्रवंचना की पुजारिन! युवती, रमणी, सुरमा तुमने! मुझे पहचाना?

सुरमा — पहचानती हूँ शान्तिभिक्षु! मेरा अपराध क्षमा करोगे?

शान्तिदेव — अपराध का पता लगा है अभी, सुरमा? मैंने तो यही कहा था कि 'अभी विलम्ब है, थोड़ा ठहरो' — तब तुमने समीर की-सी गति धारण कर ली — आँधी चल पड़ी। ठहरने का क्षण समय की सारिणी से लोप हो गया — वाह री छलना!

सुरमा — क्षमा करो शान्तिभिक्षु!

शान्तिदेव — अभी नहीं सुरमा! विलम्ब है!

(प्रस्थान। दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(राज्यश्री बन्दीगृह में)

नरदत्त — कौन न कहेगा कि महत्त्वशाली व्यक्तियों के सौभाग्य-अभिनय में धूर्त्तता का बहुत हाथ होता है। जिसके रहस्यों को सुनने से रोम-कूप स्वेद-जल से भर उठें, जिसके अपराध का पात्र छलक रहा है, वही समाज का नेता है। जिसके दण्डनीय कार्यों का न्याय करने में परमात्मा को समय लगे, वही दण्ड-विधायक है। यदि किसी साधारण मनुष्य का यही काम होता, जो महाराज देवगुप्त ने किया है, तो वह चोर, लम्पट और धूर्त आदि उपाधियों से विभूषित होता। परन्तु उन्हें कौन कह सकता है? – (राज्यश्री को देखकर) अहा, कैसा देवी का-सा रूप है! देखते ही श्रद्धा होती है।

(अन्य प्रहरियों का प्रवेश)

नरदत्त — क्यों जी, तुम लोग अब तक कहाँ थे? बड़ा विलम्ब किया!

एक — आपको क्या मालूम नहीं! उधर इतना बखेड़ा फैला है!

नरदत्त — क्या? कुछ सुने भी। हम तो यही थे न!

एक — राज्यवर्द्धन की सेना घुसी चली आ रही है।

नरदत्त — और महाराज?

एक — जायँगे कहाँ? दुर्ग-द्वार पर तो भीषण युद्ध हो रहा है।

(नेपथ्य में रण-वाद्य और कोलाहल)

नरदत्त — अच्छा, तुम लोग सावधान रहना। मैं देख आऊँ!
(प्रस्थान)
दूसरा — क्या कहे, यह चुड़ैल भी हम लोगों के पीछे लगी है, नहीं तो अब तक हम लोग नौ-दो ग्यारह होते!
राज्यश्री — (चैतन्य होकर) क्यों जी, यह युद्ध का शब्द कैसा?
पहला — घबराती क्यों हो? कितनों को मारकर तुम मरोगी!
राज्यश्री — सुखी मनुष्य! तुम मरने से इतना डरते हो। भग्न हृदयों से पूछो — वे मृत्यु की कैसी सुखद कल्पना करते है।
दूसरा — अनागत विपत्ति की कल्पना चाहे जितनी सुन्दर हो, पर आ पड़ने पर मृत्यु की विभीषिका उतनी टाल देने की वस्तु नहीं।
राज्यश्री — अस्त होते हुए अभिमानी भास्कर से पूछो — वह समुद्र में गिरने को कितना उत्सुक है! पतंग-सदृश निराश हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नहीं! और तुम भी सैनिक हो, मरने का ही वेतन पाते हो!
दूसरा — और तुम जीने के लिये?

(रण कोलाहल — विकटघोष का प्रवेश)

विकटघोष — क्यों, यही गप्प लड़ाने का समय है? जाओ, शीघ्र युद्ध में जाओ, महाराज ने बुलाया है, मुझे राज्यश्री को दूसरे स्थान में ले जाने की आज्ञा हुई है।

पहला — तब तो आपके पास कोई आज्ञापत्र होगा? ऐसे हम लोग कैसे टले!

तीसरा — यह तो पागल है, भला आप असत्य कहेंगे। हम लोग जाते है — (स्वगत) किसी प्रकार पिण्ड तो छूटे!

(सैनिकों का प्रस्थान)

विकटघोष — भद्रे! शीघ्र चलो। महाराजकुमार राज्यवर्द्धन का आदेश है कि राज्यश्री को युद्ध से कहीं अलग ले जाओ।

राज्यश्री — क्या? भाई राज्यवर्द्धन!

विकटघोष — हाँ, उन्होंने कहा है कि युद्ध के भीषण होने की सम्भावना है, इसलिए आपको शीघ्र ही किसी सुरक्षित स्थान में पहुँचना चाहिये।

राज्यश्री — तो चलो।

विकटघोष — (कुछ विचार कर ताली बजाता है — दो दस्युओं का प्रवेश) देखो, उसी गुप्त-मार्ग से इन्हें ले चलो, मैं अभी आता हूँ।

(राज्यश्री का दस्युओं के साथ प्रस्थान)

(नेपथ्य से सुरमा का क्रन्दन। रण-कोलाहल। विकटघोष का उस ओर जाना। सुरमा को लिये हुए फिर आना। सुरमा मूच्छिर्त-सी)

विकटघोष — सुरमा! सावधान! नहीं तो प्राण न बचेंगे?

सुरमा — कौन (चैतन्य होकर) शान्ति?

विकटघोष — चुप तुम चाहे कितनी कुटिलता ग्रहण करो; पर मैं तुम्हें...

सुरमा — मेरे शान्ति — मेरे प्रिय!

विकटघोष — इस अभिनय का काम नहीं। चलो, वह देखो, युद्ध समीप आता जा रहा है। अरे, लो वे इधर ही आ रहे है।

(विकटघोष सुरमा को लेकर जाता है। एक ओर से देवगुप्त, दूसरी ओर से राज्यवर्द्धन का प्रवेश)

राज्यवर्द्धन — दुष्ट मालव! अब भागने से काम न चलेगा — सावधान। तेरी नीचता का अन्त समीप है।

देवगुप्त — तो मैं प्रस्तुत हूँ।

(युद्ध — देवगुप्त की मृत्यु)

(यवनिका)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(पथ में)

सुरमा — तब?

विकटघोष — तुम्हारी इच्छा सुरमा! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किये — मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करने वाली वेश्या।

सुरमा — और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो?

विकटघोष — वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी — दूसरे दस्यु — उसे ले भागे।

सुरमा — क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था?

विकटघोष — पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा!

सुरमा — तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते है। विचार लो!

विकटघोष — पतन की चरम सीमा तक चले, सुरमा! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही!

सुरमा — यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकटघोष — तो चलो, गौड़ शिविर में चले।

सुरमा — वहाँ क्या करना होगा!

विकटघोष — वहाँ चलने पर बताऊँगा, पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा — तुम किसी बात को सोचते हो तो बड़ी तीव्रता से!

विकटघोष — यही तो मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा! अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असम्भव है!

(नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश। विकटघोष और सुरमा का छिप जाना)

नरेन्द्रगुप्त — व्यस्य! बड़ी विषम समस्या है। राज्यवर्द्धन आज मेरे शिविर में आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तों का गौरव इन वर्द्धनों के चरणों में लोट रहा है! मुझसे नहीं देखा जाता।

सहचर — इसीलिये तो परभट्टारक ने आपको सुदूर गौड़ में भेज दिया है। आपकी तेजस्विता से आपके कुल के लोग भी सशंक है।

नरेन्द्रगुप्त — किन्तु भभक उठने वाली अग्नि को किसी उपाय से शान्त कर लेना सहज नहीं — मैं इन उपायों से और भी उत्तेजित हो गया हूँ। सम्बन्धी होकर वे मेरी अधम मना करे और मैं शील की आड़ लेकर अपनी दुर्बलता छिपाता फिरूँ? – असम्भव है! आज इसका निबटारा करना है। राज्यवर्द्धन मेरे हाथ में होगा, उसका अन्त होने पर हर्षवर्द्धन — कल का छोकरा — उसे उँगलियों पर नचा दूँगा।

सहचर — परन्तु क्या आप स्वयं हत्या करेंगे?

नरेन्द्रगुप्त — नहीं - यह तो असम्भव है। मुझे एक साहसिक और वेश्या की आवश्यकता है, जिसमें वह प्राणों के साथ कीर्ति से भी वंचित रहे। परन्तु मिले जब तो!

सहचर — यह घटना आकस्मिक रूप से होनी चाहिए। तो फिर कहिये, मैं लाऊँ!

(विकटघोष सुरमा से संकेत करता है, दोनों बाहर आते हैं)

नरेन्द्रगुप्त — तुम लोग कौन हो?

विकटघोष — हम लोग गायक है।

नरेन्द्रगुप्त — (देखकर) क्यों जी, यह तो हम लोगों के काम का मनुष्य हो सकता है? – (विकटघोष से) तुम गायक नहीं हो, तुम्हारे मुख पर तो कला की एक भी रेखा नहीं है। स्पष्ट, रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है।

विकटघोष — जीवन बड़ा कठोर है, इसकी आवश्यकता जो न करावे! सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है।

नरेन्द्रगुप्त — वही तो पुरुषार्थ की बात है, तुममें पूर्ण मनुष्यता है (सुरमा की ओर देखकर) और तुम तो अवश्य गा सकती हो। चलो, मुझे तुम दोनों की आवश्यकता है।

विकटघोष — तो मेरा पुरस्कार?

नरेन्द्रगुप्त — काम देखकर मिलेगा। आज शिविर में राज्यवर्द्धन का निमन्त्रण है, उसी उत्सव में तुम लोगों को चलना होगा।

विकटघोष — (अलग सुरमा से) राज्यवर्द्धन — सुरमा, तुम्हारे भाग्याकाश का धूमकेतु, और मेरे लिए तो सभी शत्रु है। बोलो, क्या कहती हो?

सुरमा — जो करो, मैं प्रस्तुत हूँ। (अलग) हाय, दूसरा पथ, नहीं यदि में कहती हूँ कि नहीं तो, उहूँ... फिर, यही सही, इस ओर से भी प्राण नहीं बचता।

विकटघोष — हम लोग चलेंगे।

नरेन्द्रगुप्त — तो चलो।

(सब जाते है। मधुकर का प्रवेश)

मधुकर — प्राण बचे बाबा, अब इन राजाओं के फेर में न पड़ूँगा। ओह उस विकटघोष का बुरा हो, कहाँ से टपक पड़ा! राज्यश्री भी कहीं इधर-उधर चली गयी होगी। सुरमा का दुर्भाग्य! वह भी कुछ ही दिनों के लिए रानी बन गयी थी? मुझे छुट्टी मिली इस प्रतिज्ञा पर कि मैं राज्यश्री की खोज निकालूँगा; पर जाऊँ किधर! वह बड़े-बड़े शिविर पड़े दिखाई दे रहे हैं, तो उधर ही चलूँ। हूँ, सोंधी वास भी तो आ रही है — चलूँ? नहीं अब भागो, ब्राह्मण देवता!! भीख माँग कर खा लेना ठीक है, पर किसी राजा के यहाँ कदापि न ... (प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(कानन में राज्यश्री को लिये हुए दोनों दस्यु)

राज्यश्री — मैं दुखी हूँ, दस्यु! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नही! इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिये नहीं, पर जीवन? आह! जितनी साँसें चलनी है, वे चलकर ही रुकेगी। तुम मनुष्य होकर हिंस्र पशुओं को क्यों लज्जित कर रहे हो, इस श्मशान को कुरेद कर जली हुई हड्डियों के टुकड़ों के अतिरिक्त मिलेगा क्या?

पहला दस्यु — परन्तु मैं तुमको छोड़ूँ कैसे, क्या करूँ? तुम मुझे कुछ धन दिलवा दो।

राज्यश्री — अर्थी! तुम इतने मूर्ख हो! मेरा राज्य छिन गया, सब कुछ लुट गया, भला अब मैं कहाँ से दिलवा दूँ?

पहला दस्यु — तब मैं तुम्हें किसी के हाथ बेच दूँगा। क्योंजी, यही ठीक रहा।

दूसरा दस्यु — और किया क्या जायगा?

राज्यश्री — तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय! भगवान तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!

(नेपथ्य से गान)

अब भी चेत ले तू नीच
दुःख परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच
शीघ्र तृष्णा-पाश से नर, कण्ठ को निज खींच
स्नान कर करुणा-सरोवर, धुले तेरा कीच

पहला दस्यु — यह क्या?

दूसरा — हम लोग क्या कर रहे हैं?

(दिवाकरमित्र का प्रवेश)

दिवाकरमित्र — क्षणिक संसार! इस महाशून्य में तेरा इन्द्रजाल किसे नहीं भ्रान्त करता! मैंने बहुत दिनों तक शास्त्रों का अध्ययन किया, पण्डितों को परास्त किया, तर्क से कितनों का मुँह बन्द कर दिया, परन्तु क्या मन को शान्ति मिली? नहीं, तब? भगवान् की करुणा का अवलम्ब शेष है। करुणे! इस दुःखपूर्ण धरती को अपनी क्रोड़ में चिरकालिक शान्ति दे, विश्राम दे। (देखकर) – अरे, यह वनलक्ष्मी-सी कौन है? विषाद की यह कालिमा क्यों? और तुम लोग कौन हो, भाई?

दस्यु — हम लोग दस्यु है!

दिवाकरमित्र — और तुम देवी?

राज्यश्री — जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है। देव, मैं एक विपन्न अनाथा हूँ। जीवन का अन्त चाहती हूँ — मृत्यु चाहती हूँ।

दिवाकरमित्र — यह पाप! देवि, आत्मदाह या स्वेच्छा से मरने के लिये प्रस्तुत होना — भगवान की अवज्ञा है। जिस प्रकार सुख-दुःख उसके दान है — उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्रकार भी उसी की धरोहर है। तुम अधीर न हो। क्यों भाई, तुम प्राण चाहते हो या धन?

पहला — मुझे तो धन चाहिये।

दिवाकरमित्र — चलो, मेरे कुटीर पर जो कुछ हो सब ले लो।

दूसरा — किन्तु, मुझे तो अपनी शान्ति दीजिये! देव, मैं इस कर्म से अत्यन्त व्यथित हो गया हूँ। अब अपने पद-रज की विभूति दीजिये।

दिवाकरमित्र — (हँसकर) अच्छा वैसा ही होगा, चलो सब लोग आश्रम पर। रेवा-तट पर कुमार हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन् चालुक्य

का युद्ध चल रहा है। अनेक लोग हताहत हो गये हैं। क्या तुम लोग उन आहतों की सेवा-शुश्रूषा कर सकोगे?

राज्यश्री — क्या? कुमार हर्षवर्द्धन!

दिवाकरमित्र — हाँ, देवी, चलो आश्रम समीप है।

(प्रस्थान। दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(रेवा-तट की युद्ध-भूमि — रणवाद्य बजता है। एक ओर से हर्षवर्द्धन और दूसरी ओर से पुलकेशिन् अपनी सेना के साथ आते हैं)

हर्षवर्द्धन — चालुक्य! तुम वीर हो।

पुलकेशिन् — उत्तरापथेश्वर! अभी मुझे अपनी वीरता की परीक्षा देनी है, क्योंकि विदेशी हूणों को विताड़ित करने वाले महावीर हर्षवर्द्धन के अस्त्र का आज ही सामना है।

हर्षवर्द्धन — पर मैं अब युद्ध न करूँगा। (हाथ उठा कर) ठहरो, कोई अस्त्र न चलावे।

(रण-वाद्य बन्द हो जाते हैं)

पुलकेशिन् — क्यों? युद्ध से विश्राम क्यों?

हर्षवर्द्धन — मुझे साम्राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है। वसुन्धरा के शासन के लिए एक प्रवीर की आवश्यकता होती है, सो इधर दक्षिणापथ में उसका अभाव नहीं। महाराष्ट्र सुशासित वीरनिवास है। मुझे तो उत्तरापथ के द्वार की रक्षा करनी है।

पुलकेशिन् — नहीं नहीं, बातों से काम नहीं चलेगा सम्राट्! आज मुझे क्षात्र-धर्म की परीक्षा देनी है — युद्ध होगा।

हर्षवर्धन — कभी नहीं। यों तुम अपनी विजय-घोषणा कर सकते हो, क्योंकि मेरी गजवाहिनी तुम्हारी अश्वारोहियों से विस्त्रस्त हो चुकी है — परन्तु अब मैं युद्ध न करूँगा, व्यर्थ इतने प्राणों का नाश न होने दूँगा। चालुक्य, मैं सन्धि का प्रार्थी हूँ।

और भी सुनोगे? हम लोग साम्राज्य नहीं स्थापित करना चाहते थे, मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तरापथ हूणों से अरक्षित था, आपाततः मुझे युद्ध करना पड़ा। उधर मेरे मौखरी ग्रहवर्मा का

षडयन्त्र से वध हुआ ही था — भाई राज्यवर्द्धन की भी हत्या हुई। मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूँ। यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सौराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक, एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न चाहिये। यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ — राज-धर्म का पालन कर सकूँ, तो कृतकृत्य हो जाऊँगा।

पुलकेशिन् — उदार महापुरुष। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मेरे शरीर पर हूणों का अहेर करने वाले इन हाथों का प्रहार हो और मैं उसे झेलूँ तो!

हर्षवर्द्धन — मैं इस वीरोन्माद, इस उत्साह का आदर करता हूँ। चालुक्य! मेरा मन व्यथित हो उठा है। मैंने सुना है कि मेरी अनाथा दुखिया बहन कही इसी विन्ध्यपाद में है। मैं अभी जाना चाहता हूँ।

पुलकेशिन् — क्या महारानी राज्यश्री अभी जीवित है?

हर्षवर्द्धन — हाँ, पुलकेशिन्! मुझे अभी-अभी चर ने यह सन्देश दिया है। दक्षिणा-पथेश्वर, मैं अभी विदा चाहता हूँ।

पुलकेशिन् — महावीर, जैसी आप की इच्छा! मैं आपसे सन्धि, युद्ध, सब में अपने को धन्य समझता हूँ।

हर्षवर्द्धन — (हाथ फैलाकर) तो आओ भाई!

(दोनों गले मिलते हैं)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(सरयू का तट — अशोक-कानन। विकटघोष अपने साथी डाकुओं के साथ बैठा हुआ। सामने देवी उग्र तारा की मूर्ति)

विकटघोष — सुरमा, तुम्हारे हाथों में आकर यह कड़वी मदिरा कितनी मीठी, कितनी हल्की हो जाती है --पिलाओ और प्रेयसी!

सुरमा — लो (पिलाती है)।

विकटघोष — अभी तक सब नहीं आये! वह चीनी यात्री अवश्य बड़ा धनी होगा, सुरमा! तब तक तुम कुछ गाओ न!

सुरमा — (गाती है)

> जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
> तब क्यों फिर बात बनाने लगे।

सब रीति प्रतीति उठी पिछ्ली
फिर भी हँसने मुसकाने लगे॥
मुख देख सभी सुख खो दिया था
दुख मोल इसी सुख को लिया था।
सर्वस्व ही तो हमने दिया था
तुम देखने को तरसाने लगे॥

विकटघोष — सुरमा! यह उपालम्भ बड़ा कठोर है! सुरमा, मैं देवलोक से तुम्हारे लिये गिर पड़ा — केवल तुम्हें पाने के लिये, फिर भी यह! (मद्यप की-सी चेष्टा करता है)

(सुएनच्वांग को लिये हुए डाकुओं का प्रवेश)

विकटघोष — हा हा हा हा! आ गया! क्यों धर्म कमाने आया था, तो पूँजी के लिये कुछ रुपये भी लाया था?

सुएनच्वांग — दस्युराज! मैं रुपये लेकर नहीं आया हूँ। मेरे पास थोड़ा-सा धर्म और कुछ शान्ति है — तुम चाहते हो लेना?

विकटघोष — मूर्ख! शान्ति को मैंने देखा है, कितने शवों में वह दिखायी पड़ी! शान्ति को मैंने देखा है दरिद्रों के भीख माँगने में। मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूँ। धर्म को मैंने खोजा — जीर्ण पत्रों

में, पण्डितों के कूटतर्क में उसे बिलखते पाया, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।

सुएनच्वांग — तब क्या चाहिये।

विकटघोष — या तो धन दे या रक्त। जो मुझे धन नहीं देता, उसे मेरी देवी को रक्त देना पड़ता है।

सुएनच्वांग — रक्त से किसकी प्यास बुझती है, जानते हो? – पिशाचों, पशुओं की — तुम तो मनुष्य हो।

विकटघोष — ओह! मेरी प्रतिमा — मेरी क्रूरता की देवी — नरबलि चाहती है। तू बहुत स्वस्थ है — विदेशी। मैंने राज-भक्त से पहले-पहल हाथ रँगा था। वह कितना लाल था! उसका मनोरंजन कितना ललित था! सुरमा! स्मरण है वह राज्यवर्द्धन की हत्या? बड़ी उत्साहवर्धक थी वह!

सुरमा — प्रिय! वह भयानक दृश्य था — आह, मैं गा रही थी, राज्यवर्द्धन के हाथ में मदिरा का पात्र था और तुम थे खड़े। उसकी मदिर दृष्टि मुझ पर पड़ी थी। अनुचर सब मद-विह्वल थे। सहसा तुम्हारी आँखें चमक उठी, ज्योंही राजकुमार ने मेरी ओर हाथ बढ़ाया — दूसरा पात्र माँगा, तुमने कितनी भीषणता से प्रहार किया! वह छुरी पत्थर का कलेजा भी छेद देती — राज्यवर्द्धन तो साधारण मनुष्य था।

विकटघोष — हाँ सुरमा! वह मेरा हाथ! अब तो मैं रक्त देख कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ! यात्री! तो आज ही तुम्हारी बलि होगी, प्रस्तुत रहो!

सुएनच्वांग — मुझे प्रार्थना कर लेने तो।

सुरमा — देवी की जय!

(सुरमा के साथ सब विकट-नृत्य करने लगते है। भिक्षु प्रार्थना करता है। अकस्मात् आँधी के साथ अन्धकार फैलता है। सब चिल्लाने लगते है — "दस्यु पति! उस भिक्षु को छोड़ दो।" "उसी के कारण यह विपत्ति है," "छोड़ो उसे!" – प्रार्थना करते हुए सुएनच्वांग को सब धक्का देकर हटा देते हैं)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(दिवाकरमित्र का तपोवन — एक चिता सजी है)

राज्यश्री — दुःखी को छोड़कर और कोई न मुझसे मिला, मेरा चिर सहचर! परन्तु अब उसे भी छोड़ूँगी। आर्य, मुझे आज्ञा दीजिये। स्त्रियों का पवित्र कर्तव्य पालन करती हुई, इस क्षण-भंगुर संसार से बिदाई लूँ — नित्य की ज्वाला से, यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे।

दिवाकरमित्र — देवि, मैं यह कदापि नहीं कह सकता। यह धर्म नहीं, आत्महत्या है। सती होना जल मरने से ही नहीं हो सकता। यह तो मैं नहीं कह सकता कि इस पुतले को बना कर दुःख का सम्बल देकर विधाता ने क्यों अनन्तपथ का यात्री बनाया, पर इससे इतना भयभीत क्यों रहूँ? उस करुणानिधान की स्नेहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दुःखों में भगवान् के समीप होता है, देवि! उसको...।

राज्यश्री — परन्तु अब इस हृदय में बल नहीं है, महात्मन्! आज्ञा दीजिये। मेरे इस अन्तिम सुख में बाधा न दीजिये। — (प्रार्थना करती है)

जय जयति करुणा-सिन्धु।
जय दीनजन के बन्धु॥
जय अखिल लोक ललाम।
जय जय भुवन अभिराम॥

जय पतित पावन नाम।

जय प्रणत जन सुख धाम॥

जय देव धर्म स्वरूप।

जय जय जगत्पति भूप॥

(चिता प्रज्ज्वलित होती है। राज्यश्री का उसमें प्रवेश करने का उपक्रम। सहसा — 'ठहरो, ठहरो!' का शब्द। वह दस्यु — जो भिक्षु हो गया था — दौड़ता हुआ आता है)

राज्यश्री — अब क्या

भिक्षु — सम्राट् हर्षवर्द्धन आ रहे है।

राज्यश्री — कौन? भैया हर्ष?

(हर्षवर्द्धन का प्रवेश)

राज्यश्री — आओ हर्ष! इस अन्तिम समय में तुम आ गये! मेरा सारा विषाद चला गया।

हर्षवर्द्धन — हे भगवान्! मैं यह क्या देखता हूँ। प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करनेवाले हृदय, और भी वज्र हो जा! बहन, मैंने इतना रक्तपात किया, क्या इसीलिये कि राज्यश्री जल

मरे और अपना दृप्त राजचक्र फिर मेरी असफलता पर एक बार हँस दे? उत्तरापथ के समस्त नरपति आज इन चरणों में प्रणत है। बहन! यह मरण का समय नहीं है, चलो एक बार देखो कि तुम्हारे नीच शत्रुओं का क्या परिणाम हुआ। कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्द्धनवश की एक बालिका उर्जस्वित शासन कर सकती है, यही तो मुझे दिखला देना था।

राज्यश्री — भाई हर्ष, यह रत्नजटित मुकुट तुम्हें भगवान ने इसलिये नहीं दिया कि लाखों सिरों को तुम पैरों से ठुकराओ। मेरी शान्ति ढूँढ़कर तुमने उसे इतनी बड़ी नर-हत्या में पाया! हर्ष! विचार करो, तुमने मेरे सदृश कितनी स्त्रियों को दुखिया बनाया! तुम्हें क्या हो गया था?

हर्षवर्द्धन — (सिर नीचा करके) मेरा भ्रम था! किन्तु अब?

राज्यश्री — अब मुझे आज्ञा दो कि मैं तुम्हारा प्रायश्चित करूँ और सती धर्म का पालन भी।

हर्षवर्द्धन — बहन! हम लोग दो ही तो बचे है। भाई राज्यवर्द्धन की हत्या हुई, अब तुम भी जाना चाहती हो, मेरे वर्द्धन कुल की यह दशा! तो फिर यह हो राज्यश्री!

राज्यश्री — क्या भाई राज्यवर्द्धन भी नहीं रहे?

हर्षवर्द्धन — हाँ बहन! जब उन्होंने दुष्ट मालव को दण्ड देकर कान्यकुब्ज का उद्धार किया, उसी समय बन्धु नामधारी नरेन्द्र ने षड्यन्त्र से उसका प्राणनाश कराया! आज तक भण्डि उसका पीछा कर रहे है, वह भाग रहा है। तो फिर मैं ही क्या करूँगा? – (दिवाकरमित्र से) आर्य! मुझे भी काषाय दीजिये।

राज्यश्री — (चिता से हट जाती है) भाई! तुम भी...! नहीं, ऐसा नहीं होगा। मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी। मेरे अकेले भाई! मुझे क्षमा करो, मैं कठोर हो गयी थी।

हर्षवर्द्धन — बहन! इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है! सब गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से — संसार की एक ठोकर से — निस्सार लगने लगा।

राज्यश्री — भाई! दुःखमय मानव जीवन है। उसे अभ्यास पड़ जाता है, इसीलिए सबके मन में तीव्र विराग नहीं होता। पर, तुम इतने दुर्बल होगे, यह मैं नहीं जानती थी! मैं स्त्री हूँ — स्वभाव-दुर्बल नारी! मेरा अनुकरण न करो, भाई! चलो हम लोग दूसरों के दुख-सुख में हाथ बँटावें।

हर्षवर्द्धन — चलो, पराक्रम से जो सम्पत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है, उसे पात्रों को दे दूँ। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करे।

राज्यश्री — चलो भाई! जहाँ तक बन पड़े, लोक-सेवा करते अन्त में हम दोनों साथ ही काषाय लेंगे।

(सबका प्रस्थान। दृश्यान्तर)

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

(कानन में — साधु के वेष में विकटघोष)

सुरमा — यह आज नया रूप कैसा?

विकटघोष — कान्यकुब्ज में स्वर्ण और रत्न की वर्षा हो रही है सुरमा! राज्यश्री अपने समस्त कोष का अद्भुत दान कर रही है। वहाँ भी लूटना चाहिये न।

सुरमा — अब समझी! मुझे तो तुम्हारा यह रूप देख कर बड़ा सन्देह हुआ था।

विकटघोष — यही न कि मैं फिर साधु तो नहीं हो गया? (हँसता है)

(उसके साथी दस्यु साधु के रूप में आते है)

एक दस्यु — परन्तु अब हम लोग कहाँ चलेंगे, कान्यकुब्ज का दान तो अन्तप्राय है। अब सुना है कि यही प्रयाग में ही फिर से दान होगा। और, वह चीनी भिक्षु भी साथ ही आ रहा है।

विकटघोष — चीनी भिक्षु! – न जाने क्यों उसे इतना आदर मिल रहा है!

दूसरा दस्यु — और साथ-ही-साथ धन भी सुना है कि पंचनद के उदितराज, कामरूप के कुमारराज, वलभी के ध्रुवभट भी यही आ रहे हैं और सम्राट् हर्षवर्द्धन सर्वस्व दान करेंगे।

सुरमा — तो मैं भी चलूँगी।

विकट — इसी रूप में?

(सुरमा नेपथ्य में जाती है और अवधूती बनकर आती है।

सुरमा —

अलख अरूप

तेरा नाम, सब सुखधाम,

जीवन ज्योति स्वरूप।

मंगल गान, एक समान,

सब छाया की धूप॥

अलख अरूप

(सब गाते हुए जाते है।)

(दो बौद्ध साधुओं का प्रवेश)

धर्मसिद्धि — इतना अपमान! यह चीनी भिक्षु भयानक पण्डित निकला!

शीलसिद्धि — महायान! तान्त्रिक उपासनाओं से भरा हुआ एक इन्द्रजाल! उसकी उन्नति! भगवान् तथागत! तुम्हारे सत्य का इतना दुरुपयोग!

धर्मसिद्धि — अज्ञान प्रायः प्रबल हो जाता है, और असत्य अधिक आकर्षक होता है, किन्तु चीनी यात्री और हर्ष दोनों ही इसके प्रधान कारण है।

शीलसिद्धि — फिर उपाय?

धर्मसिद्धि — उपाय होगा। देखा नहीं — यह दस्युओं का दल साधु बन कर आ रहा है। दान का अतिरूप है यह; जब ऐसे लोग भी उस पुण्यभाग के अधिकारी होंगे, तब वह स्वयं विकृत होगा। चलो महास्थविर से कहना हा।

शीलसिद्धि — वे तो अत्यन्त उत्तेजित है।

धर्मसिद्धि — चलो भी।

(प्रस्थान। दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(प्रयाग में गंगा-तट पर हर्षवर्द्धन सपरिवार)

राज्यश्री — भाई, भण्डि ने क्या कहा?

हर्षवर्द्धन — गुप्तकुल का दुर्नाम नरेन्द्र प्राणों के लिए अत्यन्त भयभीत है। वह सन्धि का प्रार्थी है और वह कहता है कि उस हत्या में वेश्या का सम्पर्क था, उसका नहीं।

राज्यश्री — फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई, जाने दो! आज हम लोग दान देने चल रहे है, क्षमा करो भाई!

हर्षवर्द्धन — तब तुम्हारी इच्छा। मेरा हृदय नहीं क्षमा करेगा, मैं अशक्त हूँ।

(एक दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक — जय हो देव!

हर्षवर्द्धन — क्या है?

दौवारिक — महाश्रमण पर आज एक भयानक आक्रमण हुआ था, किन्तु वे बच गये।

हर्षवर्द्धन — महाश्रमण पर! उपद्रवी पकड़े गये?

दौवारिक — नहीं देव! वे निकल भागे। ऐसा विदित होता है कि महाश्रमण के प्राण लेने का षडयन्त्र था, जिसके भीतर धार्मिक द्वेष काम कर रहा था।

हर्षवर्द्धन — धर्म में भी यह उपद्रव! राज्यश्री, देखो बहन! सब स्थानों पर क्षमा की एक सीमा होती है — (दौवारिक से) जाओ डौड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया, तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।

राज्यश्री — चलो भाई! हम लोग यह महासमारोह दूर से देखें।

(सबका प्रस्थान। दूसरी ओर से दो भिक्षुओं का प्रवेश)

पहला — यही होना चाहिये। अब धर्म नहीं बचेगा।

दूसरा — अब दूसरा उपाय नहीं।

पहला — तो फिर वही ठीक किया जाय।

दूसरा — वह तो प्रस्तुत है!

पहला — तो फिर चलो।

(दोनों का प्रस्थान। दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(प्रयाग का दूसरा भाग। सुरमा का प्रवेश)

सुरमा — जैसे अंतिम अभिनय हो! आज यह क्या होगा? बड़ा उत्पात ऐसे ही चला करेगा? असम्भव है। तो? मैंने रोक नहीं लिया, नहीं मानता — हत्या करते-करते कितना निर्दय-हृदय हो गया है! और मैं कहाँ चल रही हूँ, वही जीवन, किन्तु वह धीर धारा

न रही? ठठा कर हँसना, नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आन्दोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा! राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है — पता चलता है कि मैं कहाँ हूँ! चलूँ, रोक सकूँ!

(सुरमा का प्रस्थान, दो नागरिकों का व्यग्र भाव से प्रवेश)

पहला - इतना बड़ा उत्पात!

दूसरा — होम करते हाथ जले!

पहला — ना भाई! कितने ही ढोंगी घुस आते है — अधिक पुण्य भी करने में कितना पाप हो सकता है!

दूसरा — परन्तु वह राजा का प्रताप था! सुना नहीं कि उस नीच हत्यारे का हाथ काँप कर रह गया।

पहला — पकड़ लिया गया कि नहीं?

दूसरा — चलो देखा जाय।

(दोनों का प्रस्थान। दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(बुद्ध-प्रतिमा के सम्मुख सम्राट हर्षवर्द्धन और प्रमुख सामन्तगण — तथा चीनी यात्री सुएनच्वांग)

(हर्षवर्द्धन सब मणि रत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है)

हर्षवर्द्धन —(राज्यश्री से) दो बहन। एक वस्त्र।

(राज्यश्री देती है)

हर्षवर्द्धन — क्यों मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न? मैं आज सबसे अलग हो रहा हूँ — यदि कोई शत्रु मेरा प्राणदान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

("जय महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन की जय" — का तुमुल घोष)

सुएनच्वांग — यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

(विकटघोष को लिये हुए प्रहरियों का प्रवेश)

राज्यश्री — महाश्रमण, मुझे भी एक वस्त्र दीजिये।

सुएनच्वांग — सर्वस्व दान करने वाली देवी! मैं तुम्हें कुछ दूँ — यह मेरा भाग्य! तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत में जो मैंने सीखा है, वह जाकर अपने देश में सुनाऊँ। लो देवि! – (वस्त्र देता है)

(हर्ष और राज्यश्री एक-एक वस्त्र में खड़े होते हैं)

भण्डि — देव, यह दान तो हो चुका, अब मैं भी कुछ माँगता हूँ — न्याय दीजिये।

हर्षवर्द्धन — यह! साहसिक! क्यों तुम मेरे प्राण चाहते थे न?

भण्डि — देव! यही नीच है, जिसने कुमार राज्यवर्द्धन की हत्या की थी। मैंने इसे भागते हुए देखा था, परन्तु उस समय मैं नरेन्द्र के पीछे पड़ा था।

हर्षवर्द्धन — क्या? यही है?

सब लोग — वध करो! वध करो!!

राज्यश्री — ठहरो (देखकर) मुझे स्मरण हो रहा है। हाँ, वही तो है! तुम तो भिक्षु शान्तिदेव थे!

विकटघोष — हाँ देवि!

हर्षवर्द्धन — क्या? भिक्षु!

राज्यश्री — हाँ, यह भिक्षु था, भाई! मैंने इससे कहा था — 'तुम संयत करो अपने मन को श्लाघा और आकांक्षा का पथ बहुत पहले छोड़ चुके हो' परन्तु यह हे भगवान्!

विकटघोष — मेरे वध की आज्ञा दीजिये। ओह! प्राण जल रहे है। रोम-रोम से चिनकारियाँ निकल रही है... दण्ड! दण्ड! हे भगवान्!

राज्यश्री — आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई! आज महावत का उद्यापन है। क्यों एक यही दान रह जाय — इसे प्राणदान दो भाई!

("देवी राज्यश्री की जय" — का तुमुल घोष)

सुरमा — (दौड़ती हुई आयी) मुझे भी महारानी! स्त्री की मर्यादा! करुणा की देवी! राज्यश्री! मुझे भी दण्ड!

राज्यश्री — अरे तू मालिन!

सुरमा — हाँ भगवति! मेरा प्रायश्चित?

राज्यश्री — महाश्रमण! आज इसका प्रायश्चित चित्त-शुद्धि-पूर्वक काषाय लेने में है। आप इन दोनों को भी काषाय दीजिये।

(महाश्रमण आगे बढ़कर दो काषाय देते है। विकटघोष का बन्धन खोला जाता है)

सुएनच्वांग — 'दस्युराज! मैं रुपये लेकर नहीं आया हूँ। मेरे पास थोड़ा-सा धर्म है और कुछ शान्ति — तुम चाहते हो लेना?' – मैंने यही एक दिन तुमसे कहा था, वही आज भी कहता हूँ।

(विकटघोष और सुरमा दोनों महाश्रमण के पैर पर गिरते हैं। थालों में मणि, आभूषण और वस्त्र लिये कुमारराज, उदितराज इत्यादि आते है)

हर्षवर्द्धन — यह क्या है?

कुमारराज — उसी धर्म की रक्षा के लिए बोधिसत्व का व्रत ग्रहण कीजिये। आप भिक्षु होकर लोक का कल्याण नहीं कर सकते — राजदण्ड से ही आपका कर्त्तव्य पूर्ण होगा। लोक-सेवा छोड़कर आप व्रत-भंग न कीजिये।

सुएनच्वांग — हाँ महाराज! इस धर्मराज्य का शासन करने के लिए आपको राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करना ही पड़ेगा।

राज्यश्री — भाई! यहाँ त्याग का प्रश्न नहीं है। यह लोक-सेवा है। ऐसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त की ही उत्तम-श्री है।

(हर्ष नत होकर मुकुट और राजदण्ड ग्रहण करता है)

(जयघोष)

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन की जय!" "जय देवी राज्यश्री की जय!"

(आलोक — पुष्पवर्षा)

(समवेत स्वर से)

करुणा-कादम्बिनी बरसे!
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम-प्रचार रहे जगतीतल दया-दान बरसे।
मिटे कलह शुभ शान्ति प्रकट हो अचर और चर से।

(यवनिका)

विशाख

परिचय

भारत के प्राचीन इतिहास की जैसी कमी है वह पाठकों से छिपी नहीं है। यद्यपि धर्म-ग्रन्थों में सूत्र-रूप से बहुत-सी गाथाएँ मिलती है किन्तु वे क्रमबद्ध और घटना-परम्परा से युक्त नहीं है। संस्कृत-साहित्य में इतिहास नाम से लब्ध-प्रतिष्ठ केवल राजतरंगिणी नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। कल्हण पण्डित ने अपने पूर्व के कई इतिहासों और उनके लेखकों का उल्लेख किया है पर वे अब नहीं मिलते। यह नाटक, राजतरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है जिसका समय निर्धारण करना एक कठिन और इस नाटक से स्वतन्त्र विषय होगा। फिर भी उसका कुछ दिग्दर्शन करा देना इस परिचय का एक अंग होगा। राजतरंगिणी का क्रम-बद्ध इतिहास तृतीय-गोनर्द से प्रारम्भ होता है जिसे कि कल्हण से पहले के विद्वानों ने लिखा है। इसके पहले के बावन राजाओं का नाम नहीं मिलता, क्योंकि युधिष्ठिर के

समकालीन आदि गोनर्द से काश्मीर का इतिहास क्रमबद्ध करने के लिये इतने राजा जान-बूझ कर भुला दिये जाते हैं, अथवा वे कोई वास्तविक राजा थे ही नहीं, केवल समय को पूरा करने के लिए उनके अस्तित्व की कल्पना कर ली गयी है। कल्हण से पहले के विद्वानों ने इस विस्तृत समय को 2268 वर्ष रक्खा है। कल्हण ने, कल्यब्द के 652 वर्ष बीतने पर भारत-युद्ध हुआ, ऐसा मानकर, उस समय को 1266 वर्ष की संख्या से घटा दिया है। और, आदि-गोनर्द से लेकर दूसरे गोनर्द तक और लव से लेकर शनीचर तक, फिर अशोक से लेकर अभिमन्यु तक कुल 17 राजाओं की सूची उस बावन विस्मृत राजाओं में से खोज निकाली गयी है, जिस सम्भवतः पद्ममिहिर, हेलाराज इत्यादि पण्डितों ने ताम्रशासन, विजयस्तम्भ, आज्ञापत्र तथा दानपत्र इत्यादि देखकर जैसे-तैसे ठीक किया था। इनका राज्यकाल जो कि इस ग्रन्थ में निर्धारित है, कहाँ तक ठीक है इसकी समीक्षा करनी होगी।

नवाविष्कृत ऐतिहासिक युग का प्रसिद्ध सम्राट अशोक मौर्य अब अनजाने हुए इतिहास का बनावटी राजा न रहा। इसका समय अच्छी तरह निर्धारित हो चुका है। राजतरंगिणी के मत से इसका राज्यकाल गत-कलि 1634 से आरम्भ होकर गत-कलि 1695 तक है। कलि-संवत् ई. सन् से 3101 वर्ष पहले आरम्भ होता है। 3101 में से 1734 घटा देने से प्रकट होता है कि ईसा से 1367

वर्ष पहले राजतरंगिणी के मत से अशोक हुआ। अशोक आदि दो-चार प्रसिद्ध और ऐतिहासिक राजाओं का समय 150 वर्ष उन माने हुए 1266 विस्मृत वर्ष में से निकाल कर यदि वह काल्पनिक 1100 वर्ष इस 1367 बी.सी. में से निकाल दिया जाय तो 267 बी.सी. अशोक का राज्यकाल आधुनिक ऐतिहासिक के मत से मिलता जुलता सा दिखाई पड़ता है।

एक लेखक महोदय ने राजतरंगिणी के अशोक को अशोक मौर्य न होने का कोई प्रमाण न देकर केवल 1100 वर्ष का अन्तर देखकर उसे एक दूसरा अशोक मान लेना चाहा है जिसका कि कोई प्रमाण नहीं है और जब कि उसके बाद पाँच छः राजाओं के अनन्तर कनिष्क का नाम आता है जिसे कि अब ऐतिहासिक लोग प्रसिद्ध कुशान सम्राट मानते है और नागार्जुन का उसका समकालीन होना बौद्ध लोग भी स्वीकार करते है जैसा कि राजतरंगिणी में भी मिलता है, तब हम इस राजतरंगिणी के 1367 बी.सी. वाले अशोक को इतिहास सिद्ध 267 बी.सी. का क्यों न मान ले। क्योंकि मेरी समझ में विस्मृत राजाओं का 1100 वर्ष का समय ही यह सारा भ्रम डाले हुये है। इतिहास को, प्रावीनता-सम्पन्न करने का प्रयत्न-रूपी 1100 वर्ष का काल्पनिक समय निकाल देने से यह इतिहास क्रम से चला चलेगा। आगे भी चलकर क्षति-पूर्ति स्वरूप 100 से लेकर 300 वर्ष तक राज्य

करना। इसी रणादित्य के बाद विक्रमादित्य और बालादित्य का नाम आता है जिनका समय 495 और 536 बी.सी. मिलता है।

ऊपर के विवरण से निर्धारित किया गया है कि विस्मृत राजाओं का काल्पनिक काल (जैसा कि अशोक और कनिष्क का समय मिलान करने से स्पष्ट होता है) मन-गढ़न्त-सा है।

राजतरंगिणी के मत से इस नाटक के प्रधान पात्र नरदेव का राज-काल वि. पू. 970 है। उसमें 57 वर्ष जोड़ देने से 1027 ई. पू. समय निकलता है। वह काल्पनिक 1100 वर्ष का काल घटा देने से यह घटना ईसा से पहली शताब्दी की प्रतीत होती है या इससे एक या आधी शताब्दी और पीछे की हो सकती है।

इस प्रकार यह घटना संवत 1400 वर्ष पहले की है। उस समय की रीति-नीति का परिचय होना कठिन तो है, फिर भी जहाँ तक हो सका है उसी काल का चित्रण करने का प्रयत्न किया गया ।

पात्रों में प्रेमानन्द और महापिंगल आदि दो-एक कल्पित है, जो मुख्य काल के विरुद्ध नहीं।

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

नरदेव — काश्मीर का राजा

महापिंगल — राजा का सहचर

सुश्रवा — नाग सरदार

विशाख — ब्राह्मण नागरिक

प्रेमानन्द — संन्यासी

सत्यशील — कानीर विहार का बौद्ध महन्त

स्त्री-पात्र

चन्द्रलेखा — सुश्रवा की कन्या

इरावती — चन्द्रलेखा की बहिन

रमणी — सुश्रवा की बहिन

तरला — महापिंगल की स्त्री

रानी — नरदेव की स्त्री

सरला — गायिका

नाग, भिक्षु, दौवारिक, दासी, सैनिक, प्रहरी इत्यादि।

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(स्थान — काश्मीर का एक कुंज, पास ही हरा-भरा खेत, शिला-खण्ड पर बैठा हुआ स्नातक विशाख)

विशाख — (आप ही आप)

वरुणालय चित्त शान्त था;
अरुणा थी पहली नयी उषा,
तरुणाब्ज अतीत था खिला,
करुणा की मकरन्द वृष्टि थी,
सुषमा वनदेवता बनी —
करती आदर थी अनन्त की,
कल कोकिल कल्पनावली,
मुद में मंगल गान गा रही,
स्मृतियाँ सब जन्म-जन्म की —
खिलती थी सुमनावली बनी,
वह कौन? कहाँ? न ज्ञात था,
तम-सन्ध्या उसको छिपा गयी,

न भविष्य रहा समीप में —
किसको चंचल चित्त सौंप दूँ?

शैशव! जब से तेरा साथ छूटा तब से असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला। इन विहंगमों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता। यौवन सुख के लिये आता है — यह एक भारी भ्रम है। आशामय भावी सुखों के लिए इसे कठोर कर्मों का संकलन ही कहना होगा। उन्नति के लिए मैं भी पहली दौड़ लगाने चला हूँ। देखूँ, क्या अदृष्ट में है। थोड़ा विश्राम कर लूँ, फिर चलूँगा। (वृक्ष से सहारे टिक जाता है।)

(चन्द्रलेखा अपनी बहिन इरावती के साथ मलिन वेश में उसी खेत में आती है, सेम की फलियाँ तोड़ती है, विशाख उसे देखता है।)

विशाख — (मन में)

ऐसा सुन्दर रूप और वेश ऐसा मलिन!
सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लाता है।
कुसुम रज से ढँका भी हो कमल फिर भी सुहाता है॥

विधाता की लीला! ठीक भी है, रत्न मिट्टियों में से ही निकलते हैं। स्वर्ग से जड़ी हुई मंजूषाओं ने तो कभी एक भी रत्न उत्पन्न नहीं किया। (फिर देखकर) इनकी दरिद्रता ने इन्हें सेम की फलियों पर ही निर्वाह का आदेश किय है।

(फलियाँ तोड़कर वृक्षों के नीचे विश्राम करती हुई दोनों गाती हैं)

चन्द्रलेखा —

सखी सी! सुख किसको है कहते?
बीत रहा है जीवन सारा केवल दुख ही सहते॥
करुणा, कान्त कल्पना है बस; दया न पड़ी दिखायी।
निर्दय जंगल — कठोर-हृदय है, और कहीं चल रहते॥
सखी री! सुख किसको है कहते?

विशाख — (सामने जाकर) देवियों! आप कौन है? क्या कृपा करके बतावेंगी कि आपका दुःख किस प्रकार बाँटा जा सकता है? सौन्दर्य में सुर-सुन्दरियों को भी लज्जित करने वाली आप लोग क्यों दुखी है? और, ये फलियाँ आप क्यों एकत्र कर रही है?

इरावती — (भयभीत होकर) क्षमा कीजिये, मैं अब कभी इधर न आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है इसी से आज सेम की

फलियाँ, पेट भरने के लिए, अपने बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली है। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूँ।

(सब फलियाँ उझल देती है।)

चन्द्रलेखा — हा निर्दय दैव!

विशाख — डरो मत, डरो मत। मैं इस कानन या क्षेत्र का स्वामी नहीं हूँ। मैं तो एक पथिक हूँ। आप लोगों का शुभ नाम क्या है, परिचय क्या है?

इरावती — हम दोनों सुश्रवा नाग की कन्यायें है। किसी समय मेरा पिता इस रमाण्याटवी प्रदेश का स्वामी था, और तब — सब तरह के सुखों ने हम लोगों के शैशव में साथ दिया था। पर हा!

विशाख — उन बीती बातों को सोचकर हृदय को दुखी न बनाओ। अपना शुभ नाम बताओ।

इरावती — मेरा नाम इरावती है और इस मेरी छोटी बहिन का नाम चन्द्रलेखा है।

विशाख — सच तो —

> घने घन-बीच कुछ अवकाश में यह चन्द्रलेखा-सी।
> मलिन पट में मनोहर निकष पर हेम-रेखा-सी।

(चन्द्रलेखा लज्जित होती है और हट जाती है।)

इरावती — भद्र, हम लोग दारिद्रय-पीड़िता है, फिर आप भी उपहास करके अपमानित करते है!

विशाख — देवी, क्षमा करना। मेरा अभिप्राय ऐसा कभी नहीं था — (रुक कर) – हाँ आप लोगों की यह दशा कैसे हुई?

इरावती — देव! हम नागों की सारी भू-सम्पत्ति का हरण करके इस क्षत्रिय राजा ने एक बौद्धमठ में दान कर दिया है!

विशाख — (स्वगत) क्यों न हो, इसी को आजकल धर्म्म कहते हैं। किसी भी प्रकार से उपार्जित धन को धर्म्म में व्यय करने का अधिकार ही कहाँ है। ऐसों को धर्मात्मा करें कि दुष्टात्मा! क्योंकि वे यह नहीं जानते कि दूसरों का गला काट कर कोई धर्मशाला, मठ या मन्दिर बना देने से ही उनका पाप नहीं धुल जाता है। (प्रकट) अच्छा फिर —

इरावती — हम लोग तब से अन्नहीन, दीन-दशा में, इस कष्टमयी स्थिति में जीवन व्यतीत कर रही है। इन क्षेत्रों का अन्न यदि गिरा पड़ा भी बटोर ले जाती हूँ तो भी डर कर, छिप कर।

विशाख — आप लोगों के पिता से कहाँ भेंट हो सकती है? अभी तो मैं तक्षशिला से पढ़कर लौटा आ रहा हूँ, संसार में मेरा अभी कुछ समझा हुआ नहीं है। इसलिये व्यवहार की दृष्टि से यदि मेरा कोई प्रश्न अनुचित भी हो तो, देवियों! क्षम्य है?

इरावती — फिर आप क्यों इस पचड़े में पड़ते है?

विशाख — उपाध्याय ने यह उपदेश दिया है कि दुखी की अवश्य सहायता करनी चाहिए। इसलिये मेरी इच्छा है कि मेरी सेवा आप लोगों के सुख के लिये हो।

इरावती — भद्र! आपकी बड़ी दया है किन्तु आप झंझट में न पड़े।

विशाख — (स्वगत) मैं तो कभी न पड़ता यदि इस संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में यह चन्द्रलेखा न दिखाई पड़ती। (प्रकट) संसार में रह कर कौन इससे अलग हो सकता है!

चन्द्रलेखा — (स्वगत) धन्य पर-दुःख कातरता!

इरावती — रमणकह्नद पर मेरे पिता रहते है, वहीं आप उनसे मिल सकते है। (बौद्ध महन्त को आते देख) – यह महन्त बड़ा ही भयानक है। आप इससे सचेत रहियेगा। यह देखिये आ रहा है। अब हम लोग चली जायें,नहीं तो...

विशाख — घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है, आप लोग जायँ। मैं अभी कुछ उससे बातचीत करूँगा।

(चन्द्रलेखा और इरावती जाती है। बौद्ध भिक्षु का प्रवेश)

महन्त — (आप ही आप) ऐसा खेत किसी का भी नहीं। किन्तु हाँ जानवरों से बढ़कर उन लोगों से इसकी रक्षा होनी चाहिए जो दो पैर पशु है! (गाता है)

> जीवन भर आनन्द मनावे,
> खाये पीये जो कुछ पावे।
> लोग कहें छोड़ो यह तृष्णा — लिपट रही है साँपिन कृष्णा,
> सुखद बना संसार कुहक है, क्यों छुटकारा पावे।
> जननी अपनी हाथों से जब, बालक को ताड़न करती तब
> रोकर करुणाप्लुत हो सुत फिर माँ को उसी बुलावे।
> उसी तरह से दुख पाकर भी, मानव रोकर या गाकर भी,
> संसृति को सर्वस्व मानता, इसमें ही सुख पावे।

विशाख — (सामने आकर) महास्थविर, अभिवादन करता हूँ।

भिक्षु — धर्म-लाभ हो। किन्तु यह तो कहो, इस तरह तुम यहाँ क्यों छिपे हो मेरा खेत तो...

विशाख — चर नहीं गया, आप घबरायें नहीं।

भिक्षु — नहीं, नहीं इससे हमारे जैसे अनेक धार्मिक और निरीह व्यक्तियों का निर्वाह होता है, इसलिए इसकी रक्षा करनी उचित है।

विशाख — आपको यह भूमि किसने दी है? आपका इस पर कैसा अधिकार है?

भिक्षु — (क्रोध से) तू कौन? राजा का साला कि नाती कि घोड़ा; तुझसे मतलब?

विशाख — मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया हा कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं।

भिक्षु — और तुझे है? चला जा सीधे यहाँ से, नहीं तो अभी खेत की चोरी में पकड़ा दूँगा, यह लम्बी-चौड़ी बहस भूल जायेगी। अरे दौड़ो-दौड़ो!

विशाख — (एक ओर देखकर) अरे वह देखो भेड़िया आया!

(भिक्षु घबरा कर गिर पड़ता है और विशाख चला जाता है)

भिक्षु — (इधर-उधर देखकर उठता हुआ) – धत् तेरे की! धूर्त बड़ा दुष्ट था। चला गया, नहीं तो मारे डण्डों के, मार डण्डों के — (डण्डा पटकता है) खोपड़ी तोड़ डालता।

(सुश्रवा नाग गाता हुआ आता है)

उठती है लहर — हरी -हरी
पतवार पुरानी, पवन प्रलय का कैसा किये पछेड़ा है।
        उठती है लहर — हरी-हरी।
निस्तब्ध जगत है, कहीं नहीं कुछ फिर भी मचा बखेड़ा है
        उठता है लहर — हरी-हरी।
नक्षत्र नहीं है कुहू निशा में बीच नदी में बेड़ा है।
        उठती है लहर — हरी-हरी।
'हाँ पार लगेगा घबराओ मत' किसने यह स्वर छेड़ा है?
        उठती है लहर — हरी-हरी।

भिक्षु — ऐ बेड़ा बखेड़ा! खेत मत रौंद, नहीं तो पैर तोड़ दूँगा।

सुश्रवा — नहीं महाराज, मैं तो पगडण्डी से जा रहा हूँ।

भिक्षु — मुझी को अन्धा बनाता है!

सुश्रवा — हा दुर्दैव! यह हमारे पितृ-पितामहों की भूमि थी, उसी पर चलने में यह कदर्थन!

भिक्षु — क्या! क्या! क्या! तेरे पितृ-पितामहों की भूमि थी? अरे मूर्ख, भूमि किसकी हुई है? यदि तेरे बाप-दादों की थी तो मेरे भी लकड़दाता, नकड़दादा या किसी खपड़दादा की रही होगी। क्या तू इस पर चल-फिर कर अपना अधिकार जमाना चाहता है? निकल जा यहाँ से, चला जा — (उसे ढकेलता है, सुश्रवा गिर कर उठता है:

सुश्रवा — जब तुमको इतनी तृष्णा है तो फिर मैं तो बाल-बच्चों वाला गृहस्थ हूँ; यदि मेरे मुँह से दबी हुई आत्मश्लाघा निकल ही पड़ी तो फिर उस पर इतना क्रोध क्यों? तुम जानते हो, मैं वही सुश्रवा नाग हूँ जिसके आतंक से यह रमणक प्रदेश थर्राता था! अभी भी तुम्हारे जैसे कीड़ो को मसल डालने के लिये इन वृद्ध बाँहों में कम बल नहीं है।

भिक्षु — (डरता हुआ भी घुड़क कर) चुपचाप चला जा, नहीं तो कान सीधे कर दिये जायँगे।

सुश्रवा — क्या मैंने कुछ अपराध किया है जो दब कर चला जाऊँ? ठहर जा, अभी कचूमर निकालता हूँ? (डण्डा उठाता है)

भिक्षु — (स्वगत) डण्डा तो मेरे पास भी है पर काम गले से लेना चाहिये। (प्रकट) अरे दौड़ो, यह मुझे मारता है; कोई विहार में है कि नहीं ई ई ई?

(पाँच-सात युवा भिक्षु निकल पड़ते है और उस वृद्ध सुश्रवा को पकड़ लेते हैं। दौड़ती हुई चन्द्रलेखा आती है)

चन्द्रलेखा — मैं तो खोज रही थी, अभी ही घर से निकल पड़े है। जाने दो। क्षमा करो। मुझे मार लो। मेरे बूढ़े पिता को छोड़ दो।

(घुटने के बल बैठ जाती है)

भिक्षु — अरे र र, यह कहाँ से आ गई! छोड़ो जी, उस बूढे को छोड़ दो! जब यह स्वयं कहती है तो उसे छोड़ दो. इसे ही पकड़ लो!

(सब भिक्षु आपस में इंगित करते हुए बूढ़े को छोड़ कर चन्द्रलेखा को पकड़ ले जाते है। महन्त भी जाता है। सुश्रवा मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(स्थान — राजद्वार के समीप छोटा-सा उपवन, महापिंगल और विशाख)

महापिंगल — क्यों, हमको जानते है — हम कौन है?

विशाख — क्षमा कीजियेगा, अभी तक पूरी जानकारी नहीं है। फिर भी आप मनुष्य है, इतना तो अवश्य कह सकूँगा।

महापिंगल — मूर्ख, महामूर्ख; विदित होता है कि अभी तुम कोरे बछड़े हो। पाठशाला का जुआ फेंक कर या तोड़-ताड़कर भगे हो! राजसभा के विनय-पाठ तुमको सिखाये नहीं गये क्या? बताओ तो तुम्हारा कौन शिक्षक है, उसे अभी शिक्षा दूँगा!

विशाख — मेरे शिक्षक आपकी तरह कोई दुमदार वा उपाधिधारी जीव नहीं है। उन्हीं के यहाँ तुम्हारे ऐसे कोड़ियों पशु, राजमान्य मनुष्य बनाये जाते है।

महापिंगल — मैं उन महाराज की, जिनके यहाँ बुद्धि नाटकों के स्वगत की तरह रहती है, आँख, नाक और कान हूँ, तुम नहीं जानते?

विशाख — आँख, नाक और कान? कदापि नहीं, हाँ चरण वा चरण-रज हो सकते हो।

महापिंगल — चुप रह, क्या बड़-बड़ करता है।

विशाख — धन्य! ऐसे शब्द मुँह से निकालना आप ही को आता है। भला कहिए, बुद्धि नाटकों के स्वगत की तरह कैसी?

महापिंगल — जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते है, वह दर्शक-समाज वा रंगमंच तो सुन लेता है, पर पास खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है, उसी तरह राजा की बुद्धि, देश-भर का न्याय करती है, पर राजा को न्याय नहीं सिखा सकती।

विशाख — फिर आप लोगों का कैसे निर्वाह होता है?

महापिंगल — अरे लण्ठ! अभी मूर्खता का क, ख, ग, घ, पढ़ रहा है! तुझे यह पूछना चाहिये कि हमारे ऐसे दुमदारों के बिना विचारे राजा की क्या स्थिति होती? वे कैसे रहते? उठ-बैठ सकते कि नहीं? उनकी समझ की ज्वाला में आहुति पड़ती कि नहीं?

विशाख — अस्तु-अस्तु, वही कहिये, वही कहिये।

महापिंगल — महाराज को हमारे ऐसे यदि दो-चार चाटुकार सामन्त न मिलते तो उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो जाता — और उनकी हाँ में हाँ न मिलने से फिर भयानक वात की संग्रहणी हो जाती और निरीह प्रजा से अनेक विधानों से कर न मिलने के कारण उन्हें उपवास करके ही अच्छा होना पड़ता था।

विशाख — (बात को दूसरे रुख पर ले जाने के लिए) मेरा मन गाना सुनना चाहता है।

महापिंगल — तो क्या तुमने यह कोई नाट्य-गृह समझ रखा है?

विशाख — खेद, साहित्य और संगीत तो सुयोग्य नागरिकों को ही आता है। मैंने आपके गाने की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसी से — हाँ।

महापिंगल — (प्रसन्न होकर) तुम रसिक भी हो। अच्छा-अच्छा, सुनाऊँगा, ठहरो, चित्त उसके अनुकूल हो जाय — (खाँसता है)

विशाख — (अलग) मुझे तो बच्चा, तुमसे काम निकालना है। (प्रकट) चित्त को भी स्वर के साथ मिलाना पड़ता है! संगीत क्या साधारण...

महापिंगल — तुमने भी कैसी अच्छी संगीत-विज्ञान की बात कही है, वाद्य तो पीछे मिलता है, पहले मन तो मिले।

विशाख — मन मिलने से कण्ठ मिलता है।

महापिंगल — यथार्थ है, क्या कहा — वाह वाह! अच्छा गाता हूँ — (खाँसता है)

(महापिंगल भीषण स्वर में गाता है)

मचा है जग भर में अन्धेर।
उल्टा-सीधा जो कुछ समझा वही हो गया ढेर।
बुद्धि-अन्ध के हाथों जैसे कोई लगी बटेर,
किसी तरह से करो उड़नछू औरों का धन ढेर।
बक-बक करके चुप हो दो बस चतुर हुए, क्या देर?
चलती है यह चला करेगी चालें इसकी घेर।
चतुर सयाने किया करेंगे इसमें हेराफेर ।
मचा है जग भर में अन्धेर।

विशाख — धन्य धन्य, क्या गाया!

महापिंगल — तुम्हारा सिर! और क्या? ऐसा मूर्ख तो देखा नहीं। कहाँ से यहाँ चला आया; निकल जा यहाँ से! कोई है?

विशाख — क्षमा हो, मुझसे अपराध क्या हुआ? मैं तो एक क्षुद्र-जीव आपका शरणागत हूँ।

महापिंगल — हाँ, बच्चा! अब तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। बड़े लोगों का चित्त अव्यवस्थित रहता है, वह अपना भूला हुआ क्रोध कभी अचानक ध्यान कर लेने पर, इसी तरह बिगड़ बैठते हैं। उस समय उनकी बातों से इसी तरह ठण्डा करना चाहिये। अब तुमको राजा का दर्शन मिलेगा।

विशाख — (अलग) – हे भगवान्. तो क्या ये आदमी भी काटने वाले कुत्तों से कम है! उनको क्रोध का रोग होता है या अभिमान और गर्व दिखलाने का यह बहाना है? (प्रकट) श्रीमन् कब?

महापिंगल — अच्छा फिर कभी आना। क्या राजा लोग इस तरह शीघ्र किसी से भेंट करते है हैं। हाँ तुम्हारा अभीष्ट क्या है? सो तो कहो।

विशाख — कुछ नहीं, एक सुन्दरी की कुछ करुण कथा निवेदन करनी है। उसके दुःख-मोचन की प्रार्थना है।

महापिंगल — क्या विरह-निवेदन! तब तो महाराज से तुम्हें शीघ्र मिला दूँगा। किन्तु गड़बड़ बातें न कहना।

विशाख — श्रीमान् राज-सहचर हैं। बौद्ध साधु की कुकर्म-कथा राजा के कानों तक पहुँचाना मेरा अभीष्ट है, उसने एक सुन्दरी को अपने मठ में बन्द कर रक्खा है।

महापिंगल — सुन्दरी और साधु का सरल प्रयोग है — साधु वर्ण विन्यास है, सु... सा...साहित्य का सुन्दर समावेश है। फिर तुम्हारे-से अरसिक उसमें गड़बड़ क्यों मचाना चाहते हैं?

विशाख — श्रीमन्! आपके कानों ने आपकी बुद्धि को मूर्ख बनाया है। साधु ने सुन्दरी को पकड़ मँगाया है, कुछ सुन्दरी ने साधुता नहीं ग्रहण की है।

महापिंगल — सत्य है क्या? बौद्ध भिक्षु होकर अपने मठ में उसने स्त्री रख ली है!

विशाख — वे तो उसे मठ नहीं, विहार कहते हैं!

महापिंगल — अच्छा चलो, तुम्हें राजा से मिलाता हूँ।

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(स्थान — राज-सभा; महाराज नरदेव सिंहासनासीन हैं। नर्त्तकी नाचती और गाती है)

कुंज में वंशी बजती है!

स्वर में खिंचा जा रहा मन, क्यों बुद्धि बरजती है,
सन्ध्या रागमयी — तानों का भूषण सजती है,
दौड़ चलूँ, देखूँ लज्जा अब मुझको तजती है,
कुंज में वंशी बजती है!

नरदेव — वाह वाह? कुछ और गाओ —

(नर्त्तकी नमस्कार करके फिर गाती है)

आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला!
शीतल निभृत प्रभात में, बैठ हृदय के कुंज,
कोकिल कलरव कर रहा, बरसाता सुख पुंज,
देख मंजरित रसाल हिला?
आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला?
चन्दन-वन की छाँह में, चलकर मन्द समीर,
अब मेरा निःश्वास हो, करता किसे अधीर,
मधुप क्यों मंजु मुकुल से मिला?
आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला!

नरदेव — प्रतिहारी! इन्हें पुरस्कार दिखाओ।

प्रतिहारी — जो आज्ञा। (नर्त्तकी जाती है)

नरदेव — आज महापिंगल दिखाई नहीं देता है, कहाँ है?

सभासद — महाराज, आज उसके यहाँ प्रीति-भोज है। हम सबों का न्योता है। उसी में व्यस्त होगा।

महापिंगल — (दौड़ा हुआ आता है) – दोहाई महाराज, झूठ बिल्कुल झूठ! यह सब हमारा घर खा डालना चाहते है। लम्बी-चौड़ी प्रशंसा करके, तुम्हारे नाम जो है सो, सब खा गये। और न्योता सिर पर। हम बुलायें या नहीं, ये सब आप ही नाई बनकर अपने को न्योंत लेते है।

सभासद — पृथ्वीनाथ! यह बड़ा कंजूस है। नित्य कहता है कि आज खिलायेंगे, कल खिलायेंगे, कभी इसने हाथ भी न धुलाया।

महापिंगल — कोई है जी, लाओ पानी, इनका हाथ धुला दो, तनिक मुँह तो देखो, पहले उसे धो लो! कहीं से माल उठा लाये हैं, जो है सो तुम्हारे नाम, खिलाओ! खिलाओ! और जब खा-पी चुके तब बड़े भारी शास्त्री की तरह आलोचना करने लगे। उसमें नमक विशेष था, खीर में मीठा कुछ फीका था। लड्डू गीला था, ऐं?

सभासद — वह तो जब हम लोग सन्ध्या को पहुँचेंगे तब मालूम होगा?

महापिंगल —अरे बाबा तुम्हें प्रीति-भोज ही लेना है तो उन मालदार महन्तों के यहाँ क्यों नहीं जाते, जहाँ नित्य मालपुआ और

लड्डू बना करते है। यदि कुत्ते की तरह बाहर भी बैठे रहोगे, तो जूठी पत्तलों से पेट भर जायगा।

सभासद — तुम बड़े असभ्य हो!

महापिंगल — और यह बड़े सभ्य है, जो बिना बुलाये भोजन करने को प्रस्तुत है। जाओ-जाओ, बड़े-बड़े विहारों में यदि तुम मिट्टी फेंकते तो भी तुम लड्डू के लिए लालायित न रहते।

नरदेव — आज तो बौद्ध महन्त और विहारों के पीछे बहुत पड़ रहे हो! कुशल तो है?

महापिंगल — महाराज! अब तो मैं तपस्या करूँगा कि यदि पुनर्जन्म हो, तो मैं किसी विहार का महन्त होऊँ। राज-कर से मुक्त, अच्छी खासी जमींदारी, बड़े-बड़े लोग सिर झुकावे और चेली लोग पैर दबावें, तुम्हारे नाम जो है सो।

नरदेव — चुप मूर्ख! भिक्षुओं के साथ हँसी ठीक नहीं, वे पूजनीय हैं।

महापिंगल — क्षमा हो पृथ्वीनाथ, उसी झगड़े में देर हुई है। अभी उनकी साधुता का सुन्दर नमूना ड्योढ़ी पर है। यदि आज्ञा हो तो बुलाऊँ।

नरदेव — क्यों कोई आया है?

महापिंगल — हाँ, दुःखी बिनती सुनाने आया है।

नरदेव — उसे बुलाओ।

महापिंगल — जो आज्ञा — (जाता है, विशाख को लेकर आता है)

विशाख — जय हो देव! राज्य-श्री बढ़े! प्रजा का कल्याण हो।

नरदेव — प्रणाम ब्राह्मण देवता — कहिये क्या काम है?

विशाख — राजन्! पुण्य को पाप न होने देना, आप ही से प्रबल प्रतापी नरेश का कर्तव्य है।

नरदेव — उसका अर्थ सविस्तार कहिये।

विशाख — कानीर विहार का बौद्ध महन्त जिसे राज्य की ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिली है, प्रमादी हो गया है। दीन-दुखियों की कुछ नहीं सुनता — मोटे निठल्लों को एकत्र कर के विहार में विहार कर रहा है। एक दरिद्र नाग की कन्या को अकारण पकड़ कर अपने मठ में बन्द कर रक्खा है। उसका वृद्ध पिता दुखी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है।

नरदेव — क्या? मेरे राज्य में ऐसा अन्याय और सो भी राजधानी के समीप ही! भला वह किसकी कन्या है?

विशाख — पृथ्वीनाथ, सुश्रवा नाग की उसी की भूमि अपहृत करके — आपके स्वर्गीय पिता ने विहार में दान कर दिया था।

मन्त्री — चुप मूर्ख, राज-सभा में तुझे बोलना नहीं आता, अपहृत कैसी? भूमि का अधिपति तो राजा है, वह जब जिसे चाहे दे सकता है।

विशाख — क्षमा मन्त्रिवर! क्षमा! बोलना तो आता है; परन्तु क्या राजसभा में सत्य उपेक्षित रहता है? यदि ऐसा हो, तो हम क्षम्य हैं। क्योंकि, हम अभी गुरुकुल से निकले हैं, राज-व्यवहार से अनभिज्ञ हैं।

नरदेव — बस ब्राह्मणदेव पर्याप्त हुआ (मन्त्री से) क्यों मन्त्रिवर! क्या यही प्रबन्ध राज्य का है? खेद की बात है। अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय, और गुप्त रीति से। देखो आलस न हो! हम स्वयं इसका न्याय करेंगे।

महापिंगल — स्वामी, ये भी तो 'ग्राम कण्टक' है। इनकी खोज लेनी चाहिये। शास्त्र में लिखा भी है, 'कण्टकेनैव कण्टक' जो है सो।

नरदेव — चुप रहो, तुम्हारी बातें अच्छी नहीं लगती मन्त्री शीघ्र प्रबन्ध करो, बस जाओ।

(मन्त्री और विशाख तथा महापिंगल जाते है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(स्थान -विहार के समीप का पथ)

(एक रँगीला साधु गाता हुआ आता है।)

साधु —

तू खोजता किसे, अरे आनन्दरूप है।
उस प्रेम के प्रभाव ने पागल बना दिया।
सब को ममत्व मोह का आसव पिला दिया॥
अपने पर आप मर रहा यह भ्रम अनूप है॥
यह सत्य यही स्वर्ग यही पुण्य-घोष है।
सत्कर्म कर्मयोग यही विश्व कोश है॥
किसने कहा कि झूठ है संसार कूप है॥
सेवा, परोपकार, प्रेम सत्य कल्पना।
इनके नियम अमोघ और झूठ जल्पना॥
हो शान्ति की सत्ता वही शक्ति-स्वरूप है॥
आसक्ति अन्य पर न किसी अन्य के लिये।
उसका ममत्व घूम रहा चेतना लिये॥

सर्वस्व उसी का वही सब का स्वरूप है॥
वह है कि नहीं है? विचित्र प्रश्न मत करो।
इस विश्व दयासिन्धु बीच सन्तरण करो॥
वह और कुछ नहीं, विशाल विश्व-रूप है;
तू खोजता किसे अरे आनन्दरूप है॥

भिक्षु — (विहार से निकाल कर) वन्दे!

साधु — स्वस्ति! आनन्द! कहो जी, इस विहार का क्या नाम है और इसके स्थविर कौन है?

भिक्षु — महाशय, आर्य सत्यशील इस विहार के स्थविर हैं, और कानीर विहार इसका नाम है।

साधु — वाह, क्या यहाँ आतिथ्य के लिए भी कोई प्रबन्ध है? क्या कोई श्रमण अतिथि रूप से यहाँ थोड़ा विश्राम कर सकता है?

भिक्षु — आर्य, आपका शुभ नाम सुनूँ, फिर जाकर स्थविर से निवेदन करूँ।

साधु — कह देना कि प्रेमानन्द आया है।

(भिक्षु भीतर जाकर लौट आता है।)

भिक्षु — चलिये, आतिथ्य के लिए हम लोग प्रस्तुत हैं।

(बड़बड़ाता हुआ विशाख आता है।)

विशाख — (आप ही) – सिर घुटाते ही ओले पड़े। कोई चिन्ता नहीं। इसी में तो आना था। झंझट जितनी जल्द आवे — आवे चली जावे तो अच्छा! अच्छा हम जो इस पचड़े में पड़े तो हमको क्या? परोपकार! ना बाबा! झूठ बोलना पाप है। चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि यह धर्म-भाव न जगता। मैंने सुना है कि मेरे गुरुदेव श्री प्रेमानन्द आये है और इसी अधर्म विहार में ठहरे हैं। वह भिक्षु तो मुझे देखते काटने को दौड़ेगा; फिर भी कुछ चिन्ता नहीं, गुरुदेव का तो दर्शन अवश्य करूँगा (उच्च स्वर में) अजी यहाँ कौन है?

भिक्षु — (बाहर निकल कर) क्या है जी, क्या कोलाहल मचाया है?

विशाख — गुरुजी यहाँ पधारे हैं, मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ।

भिक्षु — कौन? तुम्हारे गुरुजी कौन है; एक प्रेमानन्द नाम का संन्यासी आया है। क्या वही तो तुम्हारा गुरु नहीं है?

विशाख — क्या तुम उसी स्थविर के चेले हो, जिसने एक अनूढ़ा कन्या को पकड़ कर रक्खा है?

भिक्षु — क्या तुम झगड़ा करने आये हो?

विशाख — क्या तुमको शील और विनय की शिक्षा नहीं मिली है?

भिक्षु — अशिष्ट पुरुषों के लिये अन्य प्रकार का शिष्टाचार है। और अब तुम यहाँ से सीधे चले जाओ, इसी में तुम्हारी भलाई है?

विशाख — बस! मिट्टी के बर्तन ही आँच में तड़क जाते हैं। नये पशु एक ही प्रहार में भड़क जाता हैं। यह राजपथ है, यहाँ से हटाने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बस अब तुम्हीं अपने विहार-बिल में घुस जाओ!

भिक्षु — (कमर बाँधता हुआ) तो क्या तुम नहीं जाओगे?

विशाख — समझ लो, कही गाँठ पड़ जायगी तो कमर न खुलेगी, और तुम्हें ही व्यथा होगी (हँसता है)

(सत्यशील और प्रेमानन्द निकल पड़ते हैं।)

सत्यशील — क्या है? क्यों झगड़ते हो? (विशाख को देखता हैं।)

प्रेमानन्द — विशाख! यह क्या है? (विशाख अभिवादन करता हैं।)

विशाख — गुरुदेव आपका यहाँ आना सुनकर मैं भी चला आया।

प्रेमानन्द — क्या तुम अभी अपने घर नहीं गये?

विशाख — गुरुकुल से निकलते ही कर्त्तव्य सामने मिला। आपकी आज्ञा थी कि सेवा, परोपकार और दुखी की सहायता मनुष्य के प्रधान कर्त्तव्य है।

प्रेमानन्द — भला! तुम्हारे कार्य का विवरण तो सुनूँ।

विशाख — मुझे कहने में संकोच होता है।

प्रेमानन्द — नहीं। संकोच की क्या आवश्यकता है, स्पष्ट कह सकते हो।

विशाख — आपने जिनका आतिथ्य ग्रहण किया है, इन्हीं महात्मा ने एक कुटुम्ब को बड़ा दुखी बनाया है, और उनकी कन्या को अपने विहार में बन्द कर रक्खा है।

प्रेमानन्द — सत्यशील, क्या यह सत्य है?

सत्यशील — तुम कौन होते हो। अजी तुमने किस संघ की उपसम्पदा ग्रहण की है? केवल सिर घुटा लेने से ही श्रमण नहीं होता, हाँ। पहले अपनी तो कहो, तुम्हें प्रश्न करने का क्या अधिकार है? क्या आतिथ्य की यही प्रतिकार है? बस चले जाओ सीधे, हाँ!

प्रेमानन्द — मैं शाश्वत संघ की अनुयायी हूँ। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना मेरा कर्त्तव्य है। तो भी संसारी नियम, जिसमें

समाज का सामंजस्य बना रहे, पालनीय हैं, और तुम उससे उपेक्षा दिखलाते हो। क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे?

सत्यशील — तुम्हें यहाँ से जाना है या नहीं?

विशाख — गुरुदेव, सहनशीलता की भी सीमा होती है। अब आप इस पाखण्डी से बात न कीजिये। घड़ा भर गया है! स्वतः फूटेगा।

प्रेमानन्द —

मना आनन्द मत, कोई दुखी है।
सुखी संसार है तो तू सुखी है॥
न कर तू गर्व औरों को दबा कर।
कठिनता से दबाकर तू दुखी है॥

–बस चले जाओ। अपने विहार में विहार करो। किन्तु यह ध्यान रखना, तुम्हें इसका प्रतिफल मिलेगा।

सत्यशील — भला, भला! बहुत-सा देखा है।

(सत्यशील और भिक्षु जाते हैं।)

प्रेमानन्द — बेटा विशाख! तुम अब कहाँ जाओगे?

विशाख — गुरुदेव! कृपा कर बतलाइये कि आप यहाँ कैसे? मुझे जहाँ आज्ञा मिलेगी वही जाऊँगा!

प्रेमानन्द — (कुछ विचार करके) ठीक है, तेरा मार्ग भिन्न है, तुझे आवश्यकता है। जब तक सुख भोग कर चित्त को उनसे नही उपराम होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता है। तुझे कर्मयोग के व्यावहारिक रूप का ही अनुकरण करना चाहिये।

विशाखा — भगवन्, सुख भोग कर भी बहुत लोग उससे नहीं घबराते है और शान्ति को नहीं पाते है?

प्रेमानन्द — और यह भी देखा गया है कि बिना कुछ भी सुख किये, किशोर अवस्था में ही कितनों को पूर्ण शान्तिमय वैराग्य हो जाता है। इसका कारण केवल संस्कार है। इसलिये वैराग्य अनुकरण की वस्तु नहीं है, जब वह अन्तरात्मा में विकसित हो, जब उलझन की गाँ सुलझ जावे, उसी समय हृदय स्वतः आनन्दमय हो जाता है —

समीर स्पर्श कली को नहीं खिलाता है।
विकस गयी, खुली, मकरन्द जब कि आता है॥

विशाख — देव! फिर परिश्रम की कोई आवश्यकता नहीं। वह तो जब आने को होगा, आवेगा।

प्रेमानन्द — विशाख उधर देखो; कमल पर भँवरों को —

मधुमत्त मिलिन्द माधुरी,
मधुराका जग कर बिता चुके।
अरविन्द प्रभात में भला,
फिर देता मकरन्द क्यों उन्हें?

–सन्ध्या के मधु ने रात भर भ्रमरों को आनन्द-जागरण में रखा, सबेरे ही फिर मिला, दिन भर फिर मस्त। हृदय-कमल जब विकसित हो जाता है, तब चेतना बराबर आनन्द मकरन्द पान किया करती है जिसमें नशा टूटने न पावे। सत्कर्म हृदय को विमल बनाता है और हृदय में उच्च वृत्तियाँ स्थान पाने लगती हैं; इसलिये सत्कर्म-कर्मयोग को आदर्श बनाना, आत्मा की उन्नति का मार्ग स्वच्छ और प्रशस्त करना है।

विशाख — फिर क्या आज्ञा है?

प्रेमानन्द — यही की जब तक शुद्ध-बुद्धि का उदय न हो, तब तक स्वार्थ-प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है। तुम्हारा उद्देश्य उत्तम होना चाहिये। जो कर्त्तव्य है उसे निर्भय होकर करो।

विशाख — (चरण पकड़ कर) वही होगा गुरुदेव! कृपा बनी रहे। हाँ, आपने क्या गुरुकुल छोड़ दिया? अब वहाँ पर कौन है?

प्रेमानन्द — स्थान कभी खाली नहीं रहते, अब वह सब अच्छा नहीं लगता। परिव्राजक होकर प्रकृति का दर्शन करूँ, यही अभिलाषा है —

घबराना मत इस विचित्र संसार से।
औरों को आतंक न हो अविचार से॥
कमी नहो आनन्द-कोश में, पूर्ण हो।
कहीं न चालों में पड़ कोई चूर्ण हो॥
सीधी राह पकड़ कर सीधे चले चलो।
छले न जाओ औरों को भी मत छलो॥
निर्बल भी हो, सत्य-पक्ष मत छोड़ना,
शुचिना से इस कुहक-जाल को तोड़ना॥

(प्रस्थान। दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(स्थान — संधाराम का एक अंश)

(बन्दिनी चन्द्रलेखा गाती है।)

देखी नयनों ने एक झलक,
वह छवि की छटा निराली थी।
मधु पीकर मधुप रहे सोये,
कमलों में कुछ-कुछ लाली थी।
सुरभित हाला पी चुके पलक;
वह मादकता मतवाली थी।
भोले मुख पर वे खुले अलक,
सुख की कपोल पर लाली थी।
देखी नयनों ने एक झलक॥

(स्वगत) हा! प्रेम का विकास और विपत्ति का परिहास साथ-ही-साथ दोनों उबल पड़े; हृदय में विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही थी, उसी में प्रणय सुधाकर ने शीतलता की वर्षा की, मरुभूमि लहलहा उठी। इस कुत्सित कोठरी में आँख बन्द कर उसी स्वर्ग का आनन्द लेती हूँ। निष्ठुर पाखण्ड ने मुझे कितना प्रलोभन दिया। यदि एक बार देख लेने पाती! पिताजी तो मुक्त है, इरावती बहिन उनकी सेवा कर लेगी। मैं तो इस दुःख व सुखी जीवन से छुट्टी पाने के लिए प्रस्तुत हूँ।

(घबराये हुए एक भिक्षु का प्रवेश, बाहर कोलाहल)

भिक्षु — भाग चाण्डाली! तेरे कारण सब सत्यानाश हुआ। निकल! क्या अब उठा नहीं जाता?

चन्द्रलेखा — क्यों, बात क्या है? क्या अब मैं चली जाऊँ?

भिक्षु — हाँ, हाँ, चली जाओ। अभी जाओ।

(दूसरी ओर से नरदेव और पकड़ा हुआ सत्यशील आता है।)

नरदेव — (चन्द्रलेखा को देखकर, आप ही आप) आह! ऐसा रंग तो मेरे रंगमहल में भी नहीं। (प्रकट) क्यों सत्यशील, तुम्हारे सत्य और शील का यही न प्रमाण है?

सत्यशील — नरेश, यह प्रव्रज्या ग्रहण करने आयी है।

चन्द्रलेखा — कभी नहीं! यह झूठा है। मेरे बूढे पिता को मारता था, मैं छुड़ाने आयी। बस मुझे ही पकड़ कर इसने यहाँ बन्द कर रखा है। यह दुराचारी है नरनाथ!

नरदेव — (स्वगत) – रूप की सत्ता ही ऐसी है। कौन इससे बच सकता है? (प्रकट) किन्तु सत्यशील! तुम तो अधम कीट हो, तुम्हारे लिये यही दण्ड है कि तुम लोगों का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाय, नहीं तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे! सेनापति! सब विहारों को — राज्य-भर में जलवा दो।

सेनापति — जो आज्ञा।

नरदेव — इस मिथ्याशील को इसी कोठरी में बन्द करो, और इस विहार में भी आग लगवा दो। अभी।

सेनापति — जैसी आज्ञा।

(राजा और चन्द्रलेखा तथा अन्य लोग खड़े होकर आग लगते देखते हैं। झपटते हुए प्रेमानन्द और विशाख का प्रवेश)

प्रेमानन्द — राजन् क्रोध से न्याय नहीं होता। यह क्या अनर्थ कर रहे हो? धर्म का तुम नाम उठी देना चाहते हो, सो भी उसी की दुहाई देकर! अन्य विहार व भिक्षुओं ने क्या किया था?

नरदेव — (हँसकर) आप भी तो ऐसे ही परिव्राजक है न। ऐसों को ऐसा ही कड़ा दण्ड देना चाहिए। चुप रहिये।

प्रेमानन्द — मैं वैसा भिक्षु नहीं। राजन्, सत्ता का अपव्यय न करो। सत्ता-शक्तिमानों को निर्बलों की रक्षा के लिए मिली है, औरों को डराने के लिए नहीं। प्रजा के पाप का फल या परिणाम ही न्याय है। तब, राजा और पाप करके पाप नहीं दबाना चाहिये। न्याय के दोनों ही आदेश है, दण्ड और दया। इसलिए

शासक के आचरण ऐसे होने चाहिए जिससे प्रजा को उत्तम आदर्श मिले, प्रजा में दया आदि सद्‌गुणों का प्रचार हो।

नरदेव — (सिर झुकाकर) जैसी आज्ञा।

प्रेमानन्द — यह अपनी आज्ञा बन्द करो कि सब विहार जला दिए जायँ। सुन्दर आराधना की, करुणा की भूमि को नृशंसता-बर्बरता का राज्य न बनाओ। तुम नहीं जानते कि 'यथा राजा तथा प्रजा।'

नरदेव — वैसा ही होगा।

विशाख — हटिये यहाँ से वह देखिये जली हुई दीवार गिरना चाहती है।

(सब लोग हटते है। दीवाल गिरती है।)

(यवनिका)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(स्थान — पहाड़ी झरने के समीप विशाख और चन्द्रलेखा)

विशाख — चन्द्रलेखा! यह कैसा रमणीक प्रदेश है? जी नहीं ऊबता। वनस्थली भी ऐसी मधुरिमामयी होती है, इसका मुझे कभी ध्यान नहीं था। हम लोग क्या सदैव इसी तरह प्रकृति सुन्दर भ्रूभंगी देखते जीवन व्यतीत कर सकेंगे?

चन्द्रलेखा — विशाख! कौन कह सकता है? क्या क्षितिज की सीमा से उठते हुए नीलनीरद खण्ड को देखकर कोई बतला देगा कि यह मधु फुहारा बरसावेगा कि करकापात करेगा। भविष्य को भगवान् ने बड़ी सावधानी से छिपाया है और उसे आशामय बनाया है।

विशाख — प्रिये! आज मैं भी क्या उस आशामय भविष्य का आनन्द मनाऊँ, हृदय में रसीली वंशी बजाऊँ? क्या मैं...

चन्द्रलेखा — (बात काट कर) बस, उसे हृदय से उठकर मस्तिष्क तक ही जाने दो, रसना पर लाने में रस नहीं है।

विशाख — (व्याकुल होकर) मैं कहूँगा —

हृदय की सब व्यथायें मैं कहूँगा।
तुम्हारी झिड़कियाँ सौ-सौ सहूँगा॥
मुझे कहने न दो, फिर चुप रहूँगा।
तुम्हारी प्रेम धारा में बहूँगा॥
हृदय अपना तुम्हीं को दे दिया है।
नहीं; तुमने स्वयं ही ले लिया है॥

चन्द्रलेखा — अब तुम्हीं बताओ कि मैं क्या कहूँ? मुझे तो तुम्हारी तरह कवितायें कण्ठस्थ नहीं! हृदय के इस बनिज-व्यापार को मैं अच्छी तरह नहीं जानती। फिर भी...

विशाख — फिर भी; फिर वही, उतना ही कह दो।

चन्द्रलेखा — यही कि जब तुमसे बात-चीत होने लगती है तब मेरा मन न जाने कैसा-कैसा करने लगता है। तुम्हारी सब बात स्वीकार कर लेने की इच्छा होती है। तो भी...

विशाख — तो भी! फिर वही तो भी। अरे तो भी क्या?

चन्द्रलेखा — यही की मुझे अपने बूढ़े बाप की गोद से छीन लिया चाहते हो — यह बड़ी भयानक बात है।

विशाख — तो क्या मैं इतना निष्ठुर हूँ, मुझे तुम्हें कहीं लेकर चला जाना नहीं हैं। मैं तो केवल आज्ञा चाहता हूँ कि...

चन्द्रलेखा — (बात काट कर) कि नहीं!

विशाख — तो अब मैं कुछ न कहूँ। (जाना चाहता है)

चन्द्रलेखा — सुनो तो, कहाँ जा रहे हो?

विशाख — जहाँ भाग्य ले जावे।

चन्द्रलेखा — तब तो तुम बड़े सीधे मनुष्य हो। अच्छा आओ, चलो, उस कुंज से कुथ दाड़िम तोड़ लें।

विशाख — (गम्भीर होकर) नहीं चन्द्रलेखा, परिहास का समय नहीं है। तुम देख रही हो कि समीप ही बड़ी गहरी खाई है और तुम अपनी सहारे की डोरे खींच लिया चाहती हो (सामने दिखाता है)

चन्द्रलेखा — (घबरा उसे पकड़ लेती है) – हाँ-हाँ, तो क्या तुम उसमें कूद पड़ोगे! ऐसा न करना, मैं तुम्हारी हूँ।

(नेपथ्य से) – अन्त को तू गयी

चन्द्रलेखा — इरावती बहिन है क्या?

विशाख — मैं तो एक दृष्टान्त दिया था। सचमुच तुम तो घबरा गई हो। अच्छा इस घबराहट ने ही मेरा काम कर दिया...

इरावती — (प्रवेश करते) और इस बेचारी को बेकाम कर दिया।

(चन्द्रलेखा लज्जित होती हैं)

इरावती — चन्द्रलेखा! बुआ इधर ही आ रही हैं। वह कुछ कहना चाहती है।

(रमणी का प्रवेश)

रमणी — वत्स विशाख! तुम दोनों का अनुराग देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। भाई सुश्रवा भी आज ही कल में आने वाले है। राजा नरदेव ने उनकी सारी सम्पत्ति जो विहार मे मिली है, लौटा दी है। (चन्द्रलेखा से) बेटी चन्द्रलेखा, मैंने जो तुमसे कहा है उन बातों को कभी न भूलना।

चन्द्रलेखा — बुआ! आपकी शिक्षा मैं सादर ग्रहण करती हूँ।

(रमणी जाती है। कुछ सखियाँ आती हैं।)

पहली — अरी चन्द्रलेखा! तूने अपना ब्याह भी ठीक कर लिया, हम लोगों को पूछा तक नहीं।

दूसरी — अरी वाह! इसमें पूछने की कौन-सी बात है। ऐसा तो तू भी करेगी।

तीसरी — अरी! चल, क्या तेरी ही तरह सब हैं?

चौथी — तुम सब पगली हो! पहले अभी वर-वधू का स्वागत कर लो। आ इरावती, तू भी हम लोगों के संग आ।

(विशाख और चन्द्रलेखा को घेरकर सब गाती और नाचती हैं।)

> हिये में चुभ गयी, हाँ ऐसी मधुर मुसकान।
> लूट लिया मन, ऐसा चलाया नैन का तीर-कमान॥
> भूल गयी चौकड़ी, प्राण में हुआ प्रेम का गान।
> मिले दो हृदय, अमल अछूते, दो शरीर इक प्रान॥

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(महापिंगल का घर)

महापिंगल — कौन कहता है कि मैं नीरस हूँ। प्रेम-रस यदि मेरे रोम-कूपों से निकाला जाय तो चार-चार रहट चलने लगें। अब मैं

प्रेम करूँगा! प्रेम! अच्छा वह जो उस दिन सन्ध्या को वितस्ता के तट पर बाल खोले सुन्दरी बैठी थी। है तो अच्छी, पर बाल उसके झाड़ू की तरह लम्बे थे। ऊँह, वह नहीं। अच्छा वह, हाँ हाँ! परन्तु नहीं, उसकी नाक इतनी लम्बी थी कि सुवा केला की फली समझकर ठोर चलाने लगे। नहीं-नहीं, वह तो मेरे प्रेम के योग्य नहीं। अच्छा! वह तो ठीक रही, न-न-न बाप रे! उसकी आँखें देखकर डर लगता है। जैसे किसी ने मार दिया हो और वह निकली पड़ती हों। भाई, मुझे तो कोई समझ में नहीं आती। अरे यहाँ कोई है (इधर-उधर देखकर) कोई नहीं है कि मुझे इस विपत्ति में सलाह दे। इसीलिये तो बड़े आदमी पार्श्वचर रखते है (सोचता है) हा-हा-हा-हा, बुद्धू ही रहे। कहाँ-के-कहाँ दौड़े गये, पर अपना सिर नहीं टटोला। अरे, वह मेरी घरवाली। नहीं-नहीं उसके दोनों नथुने दो भयानक सुरंग के मुँह-से खुले रहते हैं, कभी ऊँघते हुए उसी में न घुस जाऊँ। ना बाबा, हाँ, अब याद आया, धत् तेरे की, उस दिन सुश्रवा नाग के यहाँ जो मैं गया था तो एक चन्द्रलेखा थी, दूसरी कौन थी? वह इरावती, अहा हा, मैं तो प्रेमी हो गया। राजा, चन्द्रलेखा और इरावती पर मैं आसक्त हुआ। हो गया। अब मैं प्रेम करने लगा। तनिक लम्बी-लम्बी साँस तो लूँ। आँखों से आँसू बहाऊँ। प्रिये, प्रियतमे! इस दास...

(लेट जाता है। तरला आकर धौल जमाती है)

तरला — बुढ़ापे में प्रेम की अफीम खाने चला है।

महापिंगल — (घबराकर हाथ जोड़ता हुआ) नहीं, मैं तो अफीम नहीं भाँग पीता हूँ। भाँग तो अभी है न?

तरला — पिलाती हूँ। तुझे संखिया घोलकर पिलाती हूँ। कौन निगोड़ी है, जिस पर तुझे बुढ़ापे में मरने का सुख मिलने वाला है।

महापिंगल — (उसी तरह) कोई नहीं, कोई नहीं, तुम्हारी चंचलता की शपथ।

तरला — कोई नहीं। अभी क्या कहते थे बैल के भाई! हम लोगों ने तो कभी दूसरे की ओर हँसकर देखा कि प्रलय मचा, व्यभिचारिणी हुई, और तुम्हारे ऐसे साठ वर्ष के खपट्टों को प्रेम वाले दूध के दाँत जमे।

महापिंगल — (बिगड़ कर) क्या कहा, मैं साठ वर्ष का हूँ। यह मुझे नहीं सहन हो सकता, अभी मेरी मूँछे काली है। आँखों में लाली है। (उँगली पर गिनता हुआ) चालीस पाँच पैंतालिस तीन अड़तालीस वर्ष ग्यारह महीना एक पक्ष एक सप्ताह छः दिन पाँच पहर एक घड़ी सबा दण्ड साढ़े तीन पल का हूँ। तात्पर्य, पचास वर्ष से भी कम से भी कम का हूँ।

तरला — (सफेद बालों का गुच्छा पकड़ कर खींचती हुई) और यह क्या है!

महापिंगल — दुहाई है। मेरे बाल नहीं। ये काले हैं, हाँ-हाँ चूना लग गया है। शास्त्र की आज्ञा से अभी मैं ब्याह, प्रेम या और इसी तरह का सब गड़बड़ कर सकता हूँ। दुहाई है। मेरे बाल काले है।

तरला — चूना लगा है तुम्हारे मुँह में।

(महापिंगल मुँह पोंछने लगता है। तरला हँसती है और बाल खींचती है)

महापिंगल — देखो यह हँसी अच्छी नहीं लगती। छोड़ दो।

तरला — प्रेम करोगे? सहज में?

महापिंगल — अरे, तुम बड़ी मूर्खा हो। वह सब एक स्वाँग था। भला राजा-का-सा रूप न धरें तो मिल क्या। अभी तक तुम्हारा चन्द्रहार नहीं बन सका, जब राजा को अपने ढंग का बनाऊँ तब तो काम हो।

तरला — हाँ, सच तो। मेरा चन्द्रहार लाओ।

महापिंगल — देखो कैसी पिघल गई। गर्म कढ़ाई में घी हो गई। गहने का जब नाम सुना, बस पानी-पानी।

तरला — बातें न बनाओ। लाओ मेरा हार।

महापिंगल — अभी तार लगे न हार मिले। तुम तो बीच में ही बिल्ली की तरह रास्ता काटने लगी।

तरला — तब? अब की ला दोगे।

महापिंगल — अच्छा। पर कान में एक बात तो सुन जाओ।

तरला — जाओ, जाओ, मैं नहीं सुनती।

महापिंगल — तब फिर।

तरला — अच्छा। अच्छा।

(दोनों हाथ मिलाकर गाते हैं)

> लगा दो गहने का बाजार।
> कुछ है चिन्ता नहीं और क्या मिले नहीं आहार
> नाक छेद लो, कान छेद लो, किसको अस्वीकार।
> सोना-चाँदी उसमें डालो, तब हो पूरा प्यार

(दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक — शीघ्र चलिये, महाराज ने बुलाया है।

महापिंगल — अरे हम नहीं — (भागता है। उसके पीछे दौवारिक जाता है।)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(राजकीय उद्यान। नरदेव अकेला गाता है)

छाने लगी जगत में सुषमा निराली।
गाने लगी मधुर मंगल कोकिलाली॥
फैला पराग, मलयानिल की बधाई।
देत मिलिन्द कुसुमाकर की दुहाई॥

(स्वगत) यह हृदय ही दूसरा हो गया है या समय ही। मन अकस्मात् एक मनोहर मूर्ति का एकान्त-भक्त होता जा रहा है। चित्त में अलस उदासी विचित्र मादकता फैला रही है। आप-ही-

आप चुटीला मन और भी घायल होने के लिये ललच रहा है। कौन है? प्रतिहारी!

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी — जय हो देव! क्या आज्ञा है!

नरदेव — महापिंगल को शीघ्र बुलाओ।

प्रतिहारी — जो आज्ञा पृथ्वीनाथ, मन्त्री महोदय बाहर खड़े हैं।

नरदेव — नहीं समय नहीं है। कह दो फिर आवें। तुम जाओ।

(प्रतिहारी सिर झुका कर जाता है)

(स्वगत) जब चित्त को चैन नहीं, एक घड़ी का अवकाश नहीं — शान्ति नहीं, तो ऐसा राज लेकर कोई क्या करे, केवल अपना सिर पीटना है। वैभव केवल आडम्बर के लिये है। सुख के लिए नहीं। क्या वह दरिद्र किसान भी जो अपनी प्रिया के गले में बाँह डालकर पहाड़ी निर्झर के तट पर बैठा होगा, मुझसे सुखी नहीं है? किसी भी देश के बुद्धिमान शान्ति के लिए सार्वजनिक नियम बनाते है, किन्तु वह क्या सबके व्यवहार में आता है? जिस प्रतारणा के लिए शासक दण्ड-विधाता है, कभी उन्हीं अपराधों को

स्वयं करके दण्डनायक भी छिपा लेता है। घींगा-घींगी, और कुछ नहीं। राजा नियम बनाता है, प्रजा उसको व्यवहार में लाती है। उन्हीं नियमों में जनता बँधी रहती है। राजा भी अपने बनाये हुए नियमों में मकड़ी और जाला की तरह मुक्त नहीं, किन्तु कभी-कभी उल्टा लटक जाता है। उस रमणी को बरजोरी अपने वश में करने के लिए जी मचल रहा है, किन्तु नीति! नियम!! आह! हमारा शासन मुझे ही बोझ हो रहा है, मन की यह उच्छृंखलता क्यों है?

महापिंगल — (प्रवेश करके) क्यों क्या वह बन्दर भाग गया? अरे कोई दूसरी सिकड़ी लाओ। नहीं तो अश्वशाला की रखवाली कौन करेगा?

नरदेव — (हँसता हुआ) अरे मूर्ख! बन्दर नहीं भागा है।

महापिंगल — फिर यह विचारों की चौलती क्यों चल रही है?

नरदेव — दुष्ट! भला क्या तूने मेरे हृदय को घुड़साल समझ रक्खा है।

महापिंगल — तो फिर और क्या! संकल्प-विकल्प सुख-दुःख, पाप-पुण्य, दया-क्रोध इत्यादि की जोड़ियाँ इसी घुड़साल में बँधती है।

नरदेव — पर लात तुम्हीं खाते हो। (हँसता है)

महापिंगल — और पीड़ा आपको हो रही है?

नरदेव — सच तो पिंगल! आज चित्त बड़ा उदास है, कही भी मन नहीं लगता।

महापिंगल — मन बैठे-बैठे चरखे की तरह घूमता है। यदि रथ के चक्के की तरह आप भी घूमने लगिये, फिर तो वह धुरे की तरह स्थिर हो जायेगा।

नरदेव — (हँसकर) तो कहाँ घूमने चलूँ?

महापिंगल — देव! मृगया के समान और कौन विनोद है।

नरदेव — विषम-वन की ओर चलूँ?

महापिंगल — नहीं, नहीं, उधर तो फाड़ खाने वाले जन्तु मिलते है। रमण्याटवी की ओर चलिए, जहाँ मेरे खाने योग्य कुछ मिले।

नरदेव — डरपोक। अच्छा उधर ही सही!

महापिंगल — (अलग) बहुत शीघ्र प्रस्तुत हो गये। उधर तो सोंधी बास आती है (प्रकट) अच्छा तो मैं अश्व प्रस्तुत करने को कहता हूँ।

नरदेव — शीघ्र (महापिंगल जाता है) उधर वसन्त की वनश्री भी देखने में आवेंगी, साथ ही मनोराज्य की देवी की भा दर्शन होगा। अहा!

(महापिंगल दौड़ता हुआ आता है)

महापिंगल — महाराज! विनोद यही हो गया। आ गयी, सरला गाना सुनाने आ गयी है। दुहाई है, आज इसका नृत्य देखिये। कल मृगया को चलिये।

नरदेव — अच्छा।

(सरला आती है और गाती है)

मेरे मन को चुरा के कहाँ ले चले।
मेरे प्यारे मुझे क्यों भुला के चले॥
ऐसे जले हम प्रेमानल में जैसे नहीं थे पतंग जले!
प्रीति लता कुम्हिलाई हमारी विषम पवन बन कर क्यों चले।

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(रमण्याटवी में — विशाख का गृह, चन्द्रलेखा और विशाख)

विशाख — अच्छा तो प्रिये! अब मैं जाता हूँ। शीघ्र ही लौटकर यह मुखचन्द्र देखूँगा।

चन्द्रलेखा --ना,ना --मैं न जाने दूँगी, तुम्हें कही जाने की क्या आवश्यकता है? मैं कैसे रहूँगी?

विशाख — मुझे कमी तो किसी बात की नहीं है; फिर भी उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है। उसका चित्त आलसी हो जाता है, इसलिये कुछ थोड़ा भी इधर-उधर कर आऊँगा तो मन भी बहल जायगा और कुछ लाभ भी हो जायगा।

चन्द्रलेखा — क्या इतने ही दिनों में तुम्हारा मन ऊब गया? क्या मुझसे घृणा हो गयी? लाभ; यह तो केवल बहाना है। हा!

विशाख — बस इसी से तो मैं कुछ कहता नहीं था। क्या मैं भी तुम्हारी तरह बैठा रहूँ? पर्याप्त सुख तुम्हें देना क्या मेरा कर्त्तव्य नहीं है? सुख क्या बिना सम्पत्ति के हो सकता है? तुम्हें मैं क्या समझाऊँ?

चन्द्रलेखा — बस-बस रहने दो। मैं जो तुम्हें पाकर अपने सुख में कोई भी कमी नहीं देखती हूँ —

सुख की सीमा नहीं सृष्टि में नित्य नये ये बनते हैं।
आवश्यकता जितनी बढ़ जावे उतने रूप बदलते हैं॥
सच्चा सुख, सन्तोष जिसे है उसे विश्व में मिलता है।

पूर्ण काम के मानस में बस शान्ति-सरोरुह खिलता है॥

मुझे तो जीवनधन! तुम्हें पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नहीं। पर तुम्हारे मन में न जाने कितनी अभिलाषायें है।

विशाख — संसार उन्नति का साथी है, क्या मुझे उससे अलग रहना चाहिये? क्या इसमें तुम मेरे प्रणय की कमी समझती हो?

चन्द्रलेखा — मैं क्या जानू कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ! मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आ जायें किन्तु —

अकेली छोड़कर जाने न दूँगी।
प्रणय को तोड़कर जाने न दूँगी॥
तुम्हें इस गेह से जाने न दूँगी।
हृदय को देह से जाने न दूँगी॥

विशाख — तो मुझे क्या करोगी?

चन्द्रलेखा — प्रियतम!

बनाकर आँख की पुतली तुम्हें।
तुम्हारे साथ मैं खेला करूँगी॥

विशाख — इस अनुरोध से जीवन सार्थक हुआ। अब तो मेरा ही मन कही नहीं जाना चाहता। अच्छा, तब तक मैं यही थोड़ी दूर टहल आऊँ। क्या तुम भी मेरे साथ चलोगी?

चन्द्रलेखा — अच्छा, जब तक मैं धान रखवाती हूँ, तब तक तुम आ जाना।

विशाख — अभी आता हूँ। (जाता हूँ)

(दूसरी ओर से घोड़ा आकर धान खाने लगता है। चन्द्रलेखा स्वयं उसे हटा देती है। नरदेव और महापिंगल का प्रवेश)

नरदेव — स्वेद से भीगे हुए घोड़े की पीठ पर कैसी सुन्दर सुकुमार कर की छाप थी? महापिंगल, यही स्थान है न? अहा —

स्वीकृति प्रेम प्रशस्ति पर कंचन कर की छाप।
हमें ज्ञात होती सखे, मिटा हृदय का ताप॥

(महापिंगल चन्द्रलेखा को दिखाता है)

महापिंगल — पर यह तो कहिये आप बिना कहे-सुने किसी के घर में क्यों चले गये?

नरदेव — इस सुहावने कानन में किसी का घर है, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और बिना कहे-सुने ही तो अतिथि आते हैं।

महापिंगल — न-न-न! आपके-से अतिथि तो दूर ही से दण्डवत। (चन्द्रलेखा की ओर देख कर) क्यों सुन्दरी। (राजा भी उसे देखता है)

चन्द्रलेखा — राजा को पहचान कर नमस्कार करती है) पृथ्वीनाथ, यह दासी आपसे क्षमा माँगती है। मैंने जाना कि घोड़ा श्रीमान् का ही है।

महापिंगल — हाँ, हाँ, उसे जानने की क्या आवश्यकता थी जिसने धान खाया उसने चपत पाया।

नरदेव — यह तुम्हारा ही घर है? सुन्दरी!

चन्द्रलेखा — यह झोंपड़ी दासी की है। श्रीमान्, यदि मृगया से थके हुए हों तो विश्राम कर लें। मैं आतिथ्य करने के योग्य नहीं, तब भी दीनों की भेंट फलमूल स्वीकार कीजिये।

महापिंगल — मैं तो हिरन के पीछे चौकडी भरते-भरते थक गया हूँ। अब तो बिना भोजन किये मैं चल नहीं सकता जो है सो क्या नाम, एक पग भी।

(बैठ जाता है। चन्द्रलेखा राजा के लिये मंच लाती है। नरदेव भी बैठता है।

नरदेव — तो फिर सुन्दरी! तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ।

चन्द्रलेखा — (दूध लाती है) श्रीमान्, कष्ट क्यों हो? जो लब्ध पदार्थ है उन्हें आदरणीय अतिथि के सामने रखने में मुझे कुछ संकोच नहीं है, और कृत्रिमता का यहाँ साधन भी नहीं है।

(राजा और महापिंगल दूध पीते है)

महापिंगल — तृप्त हुआ — अब आशीर्वाद क्या दूँ (कुछ ठहर कर) अच्छा तुम राजरानी हो।

चन्द्रलेखा — ब्राह्मण देवता, यह कैसा अन्याय! आप मुझे शाप न दीजिये। मेरी इस झोंपड़ी में राजमंदिर से कही बढ़कर आनन्द है। हमारे नरपति के सुराज्य में हम लोगों को कानन में भी सुख है।

महापिंगल — ठीक है। खटमल को पुरानी गुदड़ी में ही सुख है। राज-सुख क्या सहज लभ्य है?

चन्द्रलेखा — ह क्या! प्रलोभन है या परिहास है?

नरदेव — नहीं, नहीं, प्रिये, यह नरदेव सचमुच तुम्हारा दास है।

चन्द्रलेखा — तो क्या मैं अपने को अधर्म के पंजे में समझूँ और नीति को केवल मौखिक कल्पना मान लूँ।

नरदेव — डरो मत, मैं तुम्हारा होकर रहूँगा। क्या मेरी इस प्रार्थना पर तुम न पिघलोगी।

चन्द्रलेखा — राजन् मुझसे अनादृत न हूजिये, बस यहाँ से चले जाइए।

महापिंगल — अच्छा-अच्छा — जो है सो क्या नाम — चलिये महाराज!

(दोनों जाते है)

चन्द्रलेखा — भगवान्! तूने रूप देकर यह भी झंझट लगाया। देखूँ इसका क्या परिणाम होता है। प्राणनाथ से मुझे यह बात न कहनी चाहिये, उनका चित्त और भी चंचल हो जायगा। अब तो एक वही इससे बचा सकता है। प्रभो! एक तुम्हीं इस दुःख से उबारने में समर्थ हो। दीनों की पुकार पर तुम्हीं तो आते हो। आओगे? बचाओगे नाथ! कितना ही दुःख दो, फिर भी मुझे विश्वास है कि तुम्हीं मुझे उनसे उबारोगे, तुम्हीं सुधारोगे, विपद-भंजन! –

कार्तिक, कृष्णा कुहू क्रोध से काले कारका भरे हुए,
नीरद जलधि क्षुब्ध हो भीमा प्रकृति, हृदय भय भरे हुए।
खोजा हमने हाथ पकड़ ले साथी कोई नहीं मिला,
दीप मालिका हुई वही पर तेरी छवि की, प्राण मिला।

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(एक बौद्ध संन्यासी और नागरिक)

भिक्षु - अमिताभ यह कैसा जनपद है जहाँ भिक्षुओं को देखकर कोई वन्दना भी नहीं करता, भिक्षा की तो कौन कहे? (नागरिक को देखकर) उपासक! धर्मलाभ हो।

नागरिक — मुझे तुम्हारा धर्म नहीं चाहिये। दया कीजिये, यहाँ से किसी और स्थान को पधारिये।

भिक्षु — क्यों यहाँ पर क्या भगवान् की कृपा नहीं है? क्या यह उनके करुणाराज्य के बाहर है?

नागरिक — मुझे इन चाटूक्तियों के उत्तर देने का अवकाश नहीं। भस्मावशेष विहार और भग्नस्तूपों से तुम्हें इसका उत्तर मिलेगा। तुम लोगों को गृहस्थ मोटा बनाकर अब अपना अपकार न करावेंगे। बढ़ो यहाँ से! (जाता है)

भिक्षु — धर्म भी क्या अधर्म हो जाता है? पुण्य क्या पाप में परिवर्तित होता है? भगवन्, यह तुम्हारे धर्मराज की कैसी व्यवस्था है? क्या धर्म में भी प्रतिघात होता है? उसका भी पतन और उत्थान है?

(महापिंगल का प्रवेश)

महापिंगल — एक दिन भीख न मिली और धर्म पर पानी फिर गया, सारी करुणा और विश्वमैत्री कर्पूर हो गयी, क्या श्रमणजी?

भिक्षु — उपासक! बात तो तुम यथार्थ कह रहे हो किन्तु तथागत के धर्म में ऐसी शिथिलता क्यों?

महापिंगल — अजी धर्म जब व्यापार हो गया और उसका कारबार चलने लगा फिर तो उससे हानि और लाभ दोनों होगा। इसमें चिन्ता क्या है। तुम्हें भोजन की आवश्यकता हो तो चलो मेरे साथ। किन्तु थोड़ा काम भी करना होगा।

भिक्षु — और यदि मैं काम न करूँ तो?

महापिंगल — भोजन न मिलेगा। मेरे ही यहाँ नहीं, प्रत्युत इस देश-भर में। शीघ्र बोलो, स्वीकार है?

भिक्षु — क्या करना होगा?

महापिंगल — जितने टूटे हुए विहार है उनमें से जिसके चाहो स्थविर बन जाओ।

भिक्षु — परिहास न करो, टूटे विहारों के लिए कोई लंगड़ा भिक्षु खोज लो।

महापिंगल — अजी, राजा प्रसन्न होंगे तो तुम्हारे लिए उसको फिर से बनवा देंगे, किन्तु हाँ, काम करना होगा।

भिक्षु — अभी तो काम भी नहीं समझ में आया।

महापिंगल — रमण्यटवी में एक दम्पति रहते है। स्त्री का नाम है चन्द्रलेखा। वह परम सुन्दरी है, इसी कारण महाराज उसको चाहते है।

भिक्षु — तो इसमें मैं क्या करूँ?

महापिंगल — चैत्य की पूजा करने जब वह जाती है तब तुम वहाँ के देवता बनकर उसे आज्ञा दो कि वह राजा से प्रेम करे।

भिक्षु — तो फिर क्या होगा?

महापिंगल — होगा क्या — तुम धर्म-महामात्य होगे और मैं दण्डनायक हूँगा। चन्द्रलेखा रानी होगी।

भिक्षु — और यदि न करूँ?

महापिंगल — तब तो राज्य-रहस्य जाननेवाला मुण्डित मस्तक लोटन-कबूतर हो जायगा।

भिक्षु — तथागत! यहाँ मैं क्या करूँ? (कुछ सोच कर) अच्छा मुझे स्वीकार है।

(दोनों जाते है)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(अँधेरी रात। स्थान — चैत्य भूमि — प्रेमानन्द वहीं पर बैठा है)

प्रेमानन्द —

मान लूँ क्यों न उसे भगवान?
नर हो या किन्नर कोई निर्बल या बलवान,
किन्तु कोश करुणा का जिसका हो पूरा, दे दान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान?
विश्व-वेदना का जो सुख से करता है आह्वान,
तृण से त्रायस्त्रिंश तक जिसका समसत्ता का भान।
माल लूँ क्यों न उसे भगवान?
मोह नहीं है किन्तु प्रेम का करता है सम्मान,

द्वेषी नहीं किसी का, तब सब क्यों न करें गुणगान।

मान लूँ क्यों न उसे भगवान?

–यह चैत्य है। इसमें बुद्ध का शव-भस्म है। भस्म से ही यह रक्षित है। और भी कितने जीवों का भस्म इसी स्थान पर पहले भी रहा होगा। चींटे यहाँ भी शव को खा गये होंगे। वे ही शव होगे और फिर वही भस्म होगा, उसी में फिर चींटे होंगे, ऐसा सुन्दर परिणाम संसार का है! अजी, अब तो मैं यहाँ से इस समय कहीं नहीं जाता। थोड़ी देर तक पड़ा-पड़ा चोरों को धोखा दूँगा, फिर देखा जायगा। इस अँधेरी रात में किसी गृही को क्यों दुःख दूँ!

(प्रेमानन्द एक ओर लेट जाता है। भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु — भयानक रात है — अभी तो सन्ध्या हुई है, किन्तु विभीषिका ने अपनी काली चादर अच्छी तरह तान ली है। मैं तो यहाँ नहीं ठहरूँगा, चाहे बधिक सिर भले काट ले, पर यह प्रतिक्षण भय से बीसों बास मरना तो नहीं अच्छा। कीड़े-मकोड़े से? ऊँह! वह विषैले! जाने दो उनका ध्यान करना भी ठीक नहीं। फिर भाग चलूँ। क्या चन्द्रलेखा आधी रात को आती है? वह डरती नहीं, कामिनी है कि डाकिनी! अच्छा बैठ जाऊँ?

(बैठता है। प्रेमानन्द नाक बजाता है, जिसे सुनकर भिक्षु चौंक कर खड़ा हो जाता है:

भिक्षु — नमो तस्स.. नमो ..न न मैं नहीं भगवतो.. भग जाता हूँ (काँपता है, शब्द बन्द होता है, भिक्षु फिर डरता हुआ बैठता है)

प्रेमानन्द — (अलग खड़ा होकर) देखूँ तो यह दुष्ट आज कौन कुकर्म करता है।

(फिर छिप जाता है। भिक्षु काँपता हुआ सूत्र-पाठ करने लगता है। लोमड़ी दौड़ कर निकल जाती है, भिक्षु घबड़ा कर जप-चक्र फेंक उसे मारता है।)

प्रेमानन्द — (स्वगत) वाह, जप-चक्र तो सुदर्शन चक्र का काम दे रहा है! देखूँ इसकी क्या अभिलाषा है।

भिक्षु — (टूटा हुआ जप-चक्र लेकर बैठते हुए) आज कैसी मूर्खता में हम लगे हैं — यहाँ तो भगवान् लोमड़ी के रूप में आकर भाग जाते है और मुझे भी भगाना चाहते है, क्या करूँ? अभी वह नहीं आयी। जब अपने पहले दिनों में, किसी की आशा में मैं अभिसार

बैठता था, तब इससे भी बढ़ी हुई भयानकता मेरा कुछ नहीं कर सकती थी, किन्तु अब वह वेग नहीं रहा, वह बल नहीं रहा! नहीं तो क्या बताऊँ — (अकड़ता है) अच्छा कोई चिन्ता नहीं, देखा जायगा। अब तो बिना काम किये मैं टलने वाला नहीं। (दूर से प्रकाश होता है) – अरे यह यहा — हाँ-हाँ, वही चन्द्रलेखा आती है! छिप जाऊँ! (चैत्य की दूसरी ओर छिप जाता है)

(हाथ में छोटा-सा दीप लिये चन्द्रलेखा आती है और दीप चैत्य के समीप रखकर नमस्कार करती है)

चन्द्रलेखा — भगवन्! अपनी कल्याण-कामना के लिए मैं यह दीप प्रति सन्ध्या को जलाती हूँ। करुणासिन्धु? तुम कामना-विहीन हो, पर मैं अबला स्त्री और गृहस्थ, सुख की आशाओं से लदी हुई — फिर क्योंकर कामना न करूँ? आप विश्व के उपकार में व्यस्त है, किन्तु मेरा यह नव गठित छोटा-सा विश्व मेरे ऊपर निर्भर करता है, चाहे यह मेरा अहंकार ही क्यों न हो, किन्तु मैं इसे त्यागने में असमर्थ हूँ! मेरा वसन्तमय जीवन है। प्रभो! इसमें पतझड़ न आने पावे! मेरा कोमल हृदय छोटे सुख में सन्तुष्ट है, फिर बड़े सुख वाले उसमें क्यों व्याघात डालते है! क्या उन्हें इतने

में भी ईर्ष्या है जो संसार भर का सुख अपनाना चाहते हैं? इसका क्या उपाय है! हमारे सम्बल तुम्हीं हो नाथ! (गाती है)

कर रहे हो नाथ, तुम जब, विश्व-मंगल-कामना,
क्यों रहें चिन्तित हमीं, क्यों दुःख का हो सामना?
क्षुद्र जीवन के लिये, क्यों कष्ट हम इतने सहें —
कर्णधार! सम्हाल कर, पतवार अपनी थामना।

(नमस्कार करती है और फूल चढ़ाती है)

– आज देर हो गई। नित्य यहाँ पर आती हूँ। किन्तु आज-सा हृदय कभी भयभीत नहीं हुआ। घर तो समीप ही है, चलूँ!

(दीप बुझ जाता है — चन्द्रलेखा त्रस्त होती है)

भिक्षु — (चैत्य की आड़ से) चन्द्रलेखा, तेरी धर्मवृत्ति देखकर मैं प्रसन्न हुआ।

(चन्द्रलेखा घुटना टेक देती है)

चन्द्रलेखा — बड़ी कृपा, धन्य भाग्य!

भिक्षु — (चैत्य की आड़ से) किन्तु मैं तुझे सुख देना चाहता हूँ।

चन्द्रलेखा — भगवान् की करुणा से मैं सुख पाऊँगी।

भिक्षु — (चैत्य की आड़ से) तू नरदेव की रानी हो जा!

चन्द्रलेखा — (तमक कर) हैं — यहाँ यही भगवान् की वाणी है? या आप मेरी? परीक्षा लेना चाहते है। नहीं भगवन्, ऐसी आज्ञा न दीजिये। मैं सन्तुष्ट हूँ।

भिक्षु — (चैत्य की आड़ से) तुझे होना पड़ेगा।

चन्द्रलेखा — तब तू अवश्य इस चैत्य का कोई दुष्ट अपदेवता है। मैं जाती हूँ, आज से इस राख के टीले पर कभी नहीं आऊँगी!

(जाना चाहती है, भिक्षु बड़ा भयानक गर्जन करता है। चन्द्रलेखा घबड़ा कर गिर पड़ती है)

प्रेमानन्द — (निकल कर) डरो मत, डरो मत, मैं आ गया।

(प्रेमानन्द भिक्षु को पकड़ कर उसका गला दबाता है, वह चिल्लाता है) – हाय-हाय! यहाँ तो कोई यक्ष है। छोड़ दे, अब मैं ऐसा न करूँगा।

प्रेमानन्द — (भिक्षु को चन्द्रलेखा के सामने लाता हुआ) बेटी! डरो मत, यह पाखण्डी भिक्षु था। भगवान् किसी का पाप की आज्ञा नहीं देते, धैर्य धरो।

(तलवार लिये हुए विशाख का प्रवेश)

विशाख — गुरुदेव! प्रणाम। प्रिये, यह क्या!

प्रेमानन्द — यह दुष्ट भिक्षु चन्द्रलेखा को डरा कर राजकीय प्रलोभन देता था। मैं यही था, चन्द्रलेखा-सी सती का इन्द्र भी अपकार नहीं कर सकता। किन्तु अब इसे अकेली पूजा को न भेजना।

विशाख — क्यों रे दुष्ट। काट लूँ तेरा मुड़ा हुआ सिर!

(तलवार उठाता है, भिक्षु गिर पड़ता है। प्रेमानन्द उसे रोक लेता है)

प्रेमानन्द — क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है विशाख!

(यवनिका)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(स्थान — वितस्ता का तट, नरदेव और महापिंगल)

नरदेव — पिंगल! तुम जानते हो कि प्रतिरोध से बड़ी शक्तियाँ रुकती नहीं प्रत्युत उनका वेग और भी भयानक हो जाता है। वही अवस्था मेरे प्रेम की है। इसने कोमलता के स्थान पर कठोरता का आश्रय लिया है। माधुर्य छोड़ कर भयानक रूप धारण किया है।

महापिंगल — किन्तु मुझे तो प्रेम की जगह यह कोई प्रेत समझ पड़ता है, जो आपके हृदय पर अधिकार जमाये है।

नरदेव — क्या मेरे प्रेम की तू अवहेलना किया चाहता है? क्या उसकी परीक्षा लिया चाहता है? अभी मैं उसकी आज्ञा से, यह अपनी कटार अपने वक्षस्थल में उतार सकता हूँ।

(कटार निकलता है)

महापिंगल — यथार्थ है श्रीमान्, उसे भीतर कीजिये; नहीं तो मेरी बुद्धि घूमने चली जायगी। अपना हृदय क्या वस्तु है उसकी आज्ञा लिये बिना सहस्रों के हृदय का रक्त यह कटार पी सकती है, और क्या प्रेम इसे कहते है। हाँ जी, कुछ ऐसा-वैसा नहीं, प्रेम भी तो राजाओं का है।

(एक सुन्दर नाव पर रानी का प्रवेश, डाँड़ चलाने वाली सखियाँ गा रही हैं।)

नदी नीर से भरी।
संचित जल ले शैल का, हुई नदी में बाढ़।
मानस में एकत्र था, इधर प्रणय भी गाढ़॥
नेह नाव उतरा चली, लगते हलके डाँड़।
लगती है किस कूल पर, बस्ती है कि उजाड़॥
मेरी स्नेह की तरी।

नरदेव — अहा! महारानी भी आज इधर आ गयी।

महापिंगल — (धीरे से) भागिये।

महारानी — (नाव से उतर कर) महाराज! दासी का आगमन कुछ कष्टदायक तो नहीं हुआ?

नरदेव — भला प्रिये, यह क्या कहती हो!

महापिंगल — सच बोलिये पृथ्वीनाथ!

महारानी — (हँसकर) क्या कहता है पिंगल?

महापिंगल — जंगल में मंगल।

महारानी — प्राणनाथ! आज कितने दिनों पर दर्शन हुए।

नरदेव — क्या मैं कही बाहर गया था?

महारानी — मैं तो अपने को दूर ही समझती हूँ।

महापिंगल — यह रेखागणित का सिद्धान्त तो मेरी समझ में न आया।

महारानी —

दूर जब हो गया कहीं मन से
क्या हुआ तन लगा रहे तन से।
स्वप्न में सैर सैकड़ों योजन
कर चुका मन, न छू गया तन से॥

नरदेव — (लज्जित होकर) प्रिये, यह क्या कह रही हो!

महारानी — नाथ! कैसा शोचनीय प्रसंग है कि मैं ऐसा कहूँ —

मधुपान कर चुके मधुप, सुमन मुरझाये,
शीतल मलयानिल गया, कौन सिंचवाये?

पत्ते नीरम हो गये सुखा कर डाली,

चलती उपवन में लूह कहाँ हरियाली?

नरदेव — (हाथ पकड़कर) प्रिये, तुमको ऐसी बातें न कहनी चाहिए।

महारानी — वही तो मैं चाहती थी, किन्तु प्राणनाथ की कल्याण-कामना मुझे मुखर बनाती है।

नरदेव — क्या मुझसे तुम विशेष बुद्धिमती हो?

महारानी — यह मैंने कह कहा? पर राज्य की व्यवस्था देखिये, कैसी शोचनीय है! आपकी मानसिक अवस्था तो और भी...

नरदेव — बस जाओ, इन बातों को मैं सुनना नहीं चाहता। जी बहलाने के लिये कुछ दिन उपवन में चला आया, यही क्या बड़ा भारी अन्याय हुआ?

(बौद्ध भिक्षु को लिये प्रहरियों का प्रवेश)

भिक्षु — न्याय! न्याय!! मैंने क्या किया है, हाय, हाय!!

नरदेव — क्या बात है?

प्रहरी — महापिंगलजी ने कहा कि यह भिक्षु राजाज्ञा से कारागार में रक्खा जाय। वह वहाँ नहीं रहता, अपना सिर पटक कर प्राण देना चाहता है।

महापिंगल — तो तुम लोगों को इस मुड़े हुए सिर के लिए इतनी चिन्ता क्यों है, ले जाओ इसे।

महारानी — भिक्षु का क्या अपराध है?

नरदेव — मैं तो नहीं जानता, क्यों जी क्या बात है?

भिक्षु — महापिंगल ने मुझे धमकाया कि यदि तुम उस पुराने चैत्य पर जाकर चन्द्रलेखा को डरा करके महाराज से मिलने पर न विवश करोगे तो तुम शूली पर चढ़ाये जाओगे।

(नरदेव और रानी महापिंगल को देखते है, महापिंगल भागना चाहता है)

महारानी — सावधान होकर खड़े रहो। कहो, क्या तुमने महाराज के आदेश से ही यह काम कराया था?

नरदेव — मैंने कब इसे कहा ...

महापिंगल — महाराज, जब आप इतने व्याकुल हुए कि हाँ... तब मैंने ऐसा प्रबन्ध किया था, जो है सो —

नरदेव — तुम झूठे हो।

महारानी — प्रहरियों, इस भिक्षु को छोड़ दो और महापिंगल को बाँध लो।

(प्रहरी आगे बढ़ते हैं)

महापिंगल — दुहाई! चन्द्रलेखा मुझे नहीं प्यारी थी महाराज! आप बचाइये, नहीं तो फिर...

नरदेव — प्रिये! उसे जाने दो, वह मूर्ख है।

महारानी — महाराज! आप देश के राजा है और हमारे पति है, क्या इसी तरह राज्य रहेगा? क्या अन्याय का घड़ा नहीं फूटेगा? क्या आपको इसका प्रतिफल नहीं भोगना पड़ेगा? मान जाइये। ऐसे कुटिल सभासदों का संग छोड़िये। इसे दण्ड पाने दीजिये।

महापिंगल — दुहाई महाराज! चन्द्रलेखा के डर से यह मुझे मरवाना चाहती है, न्याय-वाय कुछ नहीं।

नरदेव — (स्वगत) आह चन्द्रलेखा! (प्रहरियों से) छोड़ो जी, जाओ तुम लोग!

महापिंगल — बड़ी दया हुई। इसी रानी की सौतिया-डाह से तो वह झिझकती है।

महारानी — चुप नरक के कीड़े! तेरी जीभ बिजली से भी चपल है।

नरदेव — रानी! तुम अब जाओ, अपने महल में जाओ।

महारानी — आपने कुपथ पर पैर रक्खा है और मैं आपको बचा न सकी। परिणाम बड़ा ही भयंकर होने वाला है। वह मैं नहीं देखना चाहती। किन्तु, कहे जाती हूँ कि अन्याय का राज्य बालू की भीत है। अब मैं रहकर क्या करूँगी, मैं चली, किन्तु सावधान! (नदी में कूद पड़ती है)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(विशाख और चन्द्रलेखा प्रकोष्ठ में)

विशाख — प्रिये, क्या किया जाय?

चन्द्रलेखा — भगवान ही सहाय है। धैर्य धारण करो।

विशाख — कामान्ध नरपति से रक्षा कैसे होगी? चलो प्रिय! हिमवान की बहुत-सी सुरक्षित गुफाएँ है, प्रकृति के आश्रय में वही सुख से रहेंगे।

चन्द्रलेखा — मैं तो अनुचरी हूँ। किन्तु अब समय कहाँ है, पिताजी को तो समाचार भेज चुकी हूँ।

विशाख — हाँ, जो विपत्ति में आश्रय है, जो परित्राण है, वही यदि विभीषिकामयी कृत्या का रूप धारण करे तो फिर क्या उपाय है! राजा के पास प्रजा न्याय कराने के लिये जाती है, किन्तु जब वही अन्याय पर आरूढ़ है तब क्या किया जाय! (कुछ सोचता है) – कोई चिन्ता नहीं प्रिये! डरो मत।

(महापिंगल का प्रवेश)

महापिंगल — विशाख! मैं तुम्हारी भलाई के लिये कुछ कहना चाहता हूँ।

विशाख — बस चुप रहो, तुम ऐसे नीचों का मुँह भी देखने में पाप है।

महापिंगल — चन्द्रलेखा को राजा के महल में जाना ही होगा। क्यों तब और व्यर्थ प्राण जावें।

(विशाख तलवार खींच लेता है)

विशाख — अच्छा सावधान! इस अपमान का प्रतिफल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जा।

(महापिंगल भागना चाहता है, चन्द्रलेखा बचाना चाहती है, किन्तु विशाख की तलवार उसका प्राण संहार कर देती है)

चन्द्रलेखा — अनर्थ हो गया प्राणनाथ! यह क्या अब तो भविष्य भयानक होकर स्पष्ट है।

विशाख —

मरण जब दीन जीवन से भला हो,
सहे अपमान क्यों फिर इस तरह हम।
मनुज होकर जिया धिक्कार से जो,
कहेंगे पशु गया-बीता उसे हम

(सैनिकों का प्रवेश। विशाख को घेर लेते है। वह तलवार चलाता हुआ बन्दी होता है। चन्द्रलेखा भी पकड़ ली जाती है)
(सुश्रवा का प्रवेश)

सुश्रवा — यह क्या अनर्थ है?

सैनिक — देखता नहीं है — राजानुचर महापिंगल का यह शव है। इसी विशाख ने अभी इसकी हत्या की है।

सुश्रवा — क्यों वत्स विशाख! यह क्या सत्य है?

विशाख — सत्य है। इसने मेरा अपमान किया और मेरे सामने मेरी स्त्री को प्रलोभन दिया — उसे सामान्य वेश्या से भी नीच समझ लिया!

सैनिक — इसका निर्णय तो महाराज स्वयं करेंगे। अब चलो यहाँ से!

सुश्रवा — ठीक तो, किन्तु यह बताओ चन्द्रलेखा ने क्या अपराध किया है — उसे क्यों ले जाते हो?

चन्द्रलेखा — मुझे जाने दो बाबा! मैं साथ जा रही हूँ। कोई चिन्ता नहीं।

सैनिक --- बूढ़े! चुप रह। राजाज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं कर रहे है।

(दोनों को लेकर जाता है। रमणी और इरावती तथा कुछ नागों का प्रवेश)

सुश्रवा — चन्द्रलेखा गई, विशाख भी गया, हा...

रमणी — आने में देर हुई, कोई चिन्ता नहीं।

पहला नाग — देवी! तब क्या उपाय है?

दूसरा नाग — चन्द्रलेखा का उद्धार करना ही होगा।

तीसरा नाग — चाहे प्राण भले ही जायँ, इससे पीछे न हटूँगा, जो देवी की आज्ञा हो।

चौथा नाग — तो मैं जाता हूँ और भाइयों को बुलाता हूँ।

रमणी - शीघ्र जाओ।

(प्रेमानन्द का प्रवेश)

प्रेमानन्द — किन्तु क्या अन्याय का प्रतिफल अन्याय है? क्या राजा मनुष्य नहीं है? रक्त-मांस का उसका भी शरीर है, फिर क्या उसे भ्रम नहीं हो सकता?

रमणी — भ्रम नहीं, यह स्पष्ट समझ कर किया गया, अन्याय है।

प्रेमानन्द — रमणी! अग्नि में घी न डालो! समझ से काम लो।

रमणी — तो हम लोग चुपचाप बैठे?

इरावती — और, बहिन चन्द्रलेखा को न खोजें?

प्रेमानन्द — देश की शान्ति भंग करना और निरपराधों को दुख देना — इसमें तुम्हें क्या मिलेगा? देखो, सावधान हो, इस उत्तेजना राक्षसी के पीछे न पड़ो — एक अपराध के लिए लाखों को दण्ड न दो! हरी-भरी भूमि के लिये पत्थर वाले बादल न बनो! अन्यथा पछताओगे।

सुश्रवा — तब क्या करें?

प्रेमानन्द — सत्य को सामने रक्खो, आत्मबल पर भरोसा रक्खो, न्याय की माँग करो।

सब — अच्छा तो पहले यही किया जाय।

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(तरला का गृह)

भिक्षु — (आप-ही-आप) जब भिक्षु होने पर भी माँगे भीख न मिली, तो हम क्या करे? ऐं बोलो! आकाश की स्याही को चन्द्रमा की

चाँदनी से कब तक धोया करें? बिल्ली कब तक छीछड़ों से अपनी जी चुरावे। गड़बड़झाला न करें तो क्या करें। भगवान तुम चाहे कुछ हो, पर संकट के समय कभी काम आ जाते हो, ऐं बोलो, फिर क्यों न तुम्हें मान लेने के लिये जी चाहे। लेकिन हाँ, सब उसी समय तक, फिर, तुम हो — हुआ करो।

अरे बाप रे! (काँपता है) जब चन्द्रलेखा का पति तलवार निकाल कर — ओह! नहीं, बच गये — बच; अजी हाँ, वह भी बिल्ली की राह काटने वाली सायत थी। चलो अब तो पौ बारह है — भरा घड़ा मिला है! चुप, क्या बकता है। अरे निर्भयानन्द, तुझे क्या हो गया है — (सोचकर) हाँ यह यक्षिणी सोना बनाने वाली। आ तो इस टूटे-फूटे घर में सोने की पाटी, पन्ने का पावा, चाँदी की चूल्ही और मिट्टी की तावा? अगड़-बगड़ साध तो झगड़ (तरला को आते देख आँख मूँद कर बैठ जाता है)

(पोटली लिए हुए तरला का प्रवेश)

तरला — लीजिये महाराज! यह भिक्षा प्रस्तुत है। दरिद्र की रूखी-सूखी ग्रहण कीजिये। जूठन गिरा कर मेरा घर पवित्र करिये।

भिक्षु — (आँख खोलकर) उपासिका! तू आ गई। अहा, कैसी पवित्र मूर्ति है! तुझे शान्ति मिले। अरे यह क्या लायी, भिक्षा? नहीं-नहीं, तू

बड़ी दुखी है, मैं तेरी भिक्षा ग्रहण नहीं करूँगा। मैं यों ही प्रसन्न हूँ। (जाना चाहता है)

तरला — (स्वगत) अहा कैसे महात्मा है (प्रकट) भगवान्, मुझसे अवश्य कोई अपराध हुआ, आप रूठे जाते है। दया कीजिये। क्षमा दीजिये।

भिक्षु — नहीं-नहीं, दरिद्र की भिक्षा सच्चे साधु नहीं लेते। तुझे दुःख होगा, अपने को बचा, कोई-न-कोई भगवान् का भक्त मिल ही जायगा। मुझे समाधि में ज्ञात हुआ कि तुझे बड़ा कष्ट है।

तरला — (रोने लगती है) भगवान् यह क्या! आप तो अन्तर्यामी है। आप सत्य कहते है - मैं सचमुच ही बड़ी दुखिया हूँ। अभी थोड़े दिन हुए, मेरे स्वामी किसी दुष्ट के हाथ मारे गये है, और मेरे लिये कुछ जीवन-वृति भी नहीं छोड़ गये है।

भिक्षु — (स्वगत) मैं जानता हूँ तू महापिंगल की स्त्री है। उसी दुष्ट ने मेरी दुर्दशा करायी। राजा का सहचर ही था, बड़ा मालदार रहा है। अच्छा — (प्रकट) विचार था कि तुझे दुःख से बचा लें, किन्तु नहीं, वैसा करने से हम विरक्त लोगों को बड़े झगड़े में पड़ना पड़ता है — सब पीछे लग जाते हैं। (सोचने का ढोंग करता है) नहीं-नहीं, फिर फिर भी दया आती है।

तरला — भगवान्, दया कीजिये, मेरा उपकार कीजिये — मैं दासी हूँ!

भिक्षु — एक बार दया कर देने से हल्ला मच जाता है, सभी तंग करने लगते हैं कि मुझे भी धनी बना दो। किन्तु तुझ पर तो...

तरला — (स्वगत) क्या यह सोना बनाना जानते है? (प्रकट) फिर क्यों नहीं दया करते! यह दुखिया भी सुखी होकर आपका गुण-गान करेगी!

भिक्षु — अच्छा, आँख मूँद कर हाथ जोड़, मैं भी देखूँ तेरा भाग्य कैसा है। — (तरला वैसा ही करती है) इचिलु मिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिचिट खिचिट फट् (ठहरकर) ठीक है, खोल दे आँख।

तरला — (आँख खोल कर) क्या देखा भगवन्!

भिक्षु — समुद्र की रेत की तरह!

तरला — क्या रेत की तरह?

भिक्षु — हाँ, रेत की तरह लम्बा-चौड़ा चमकता हुआ उज्जवल...

तरला — उज्ज्वल! क्या उज्ज्वल!

भिक्षु — (क्रोध से) तेरा — कपाल और क्या?

तरला — (पैर पकड़ कर) खुल गये, भाग्य खुल गये!

भिक्षु — (सिर हिलाता है) खुल गये, अवश्य खुल गये। पर तू सब से कहेगी और मैं तंग किया जाऊँगा।

तरला — कभी नहीं, जो आज्ञा कीजिये।

भिक्षु — (कड़क कर) अच्छा तो ला फिर जो तेरे पास चाँदी-ताँबा हो। ताँबा-चाँदी हो जाय, चाँदी सोना हो जाय — (ऐंठता हुआ) चल तो स्वर्णयक्षिणी — हाँ देर न कर!

(तरला घर में जाकर गहने निकाल लाती है। भिक्षु उसे देखकर विचित्र चेष्टा करता है)

भिक्षु — अच्छा, इचिलु मिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिचिट खिचिट फट् स्वर्ण कुरु-कुरु स्वाहा — (गड्ढा दिखा कर) रख दे इसी में (रखने पर उसे ढँक देता है) आँखें बन्द कर हाथ जोड़ (तरला वैसे ही करती है। भिक्षु मन्त्र पढ़ता है, वह पढ़ती है)

भिक्षु — अच्छा तो देख।

तरला — देखूँ क्या, आँखें तो बन्द है, खोल दूँ?

भिक्षु - न न न न न, ऐसा न करना नहीं तो सब छू मन्तर!

तरला — तब क्या करूँ?

भिक्षु — सुन, जब तक हम देवता की पूजा करके ध्यान लगाते है, नैवेद्य चढ़ाते है, समझा न — बोलो कहो।

तरला — बोलो कहो क्या कहूँ!

भिक्षु — चुप रहो, जो मैं कहता हूँ वह।

तरला — वही तो।

भिक्षु — नैवेद्य लगाने पर सब एक दम छू मन्तर।

तरला — सब एकदम छू मन्तर! (सिर हिलाती है)

(भिक्षु पूजा का ढोंग करता है। तरला आँखें बन्द किये है। भिक्षु गड्ढे में से सब निकाल कर बाँधता है)

भिक्षु — उपासिका, मैं इसी चतुष्पथ पर यज्ञ-बलि देकर आता हूँ। तब इसको खोलना होगा। बस सब एकदम छू मन्तर!

तरला — सब छू मन्तर?

भिक्षु — तब तक आँख न खोलना, नहीं तो सब...

तरला — क्या छू मन्तर?

भिक्षु — हाँ-हाँ, चुप होकर मन्त्र का जप-ध्यान करो।

(तरला 'खिचिट स्वाहा' जपती है। भिक्षु सब लेकर चम्पत हो जाता है। तरला थोड़ी देर बाद आँख खोलती है। गड्ढा खाली देख कर कहती है) – हाय रे सब छू मन्तर!

(गिर पड़ती है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(स्थान — राज-दरबार। राजा नरदेव सिंहासन पर। विशाख और चन्द्रलेखा बन्दी के रूप में)

नरदेव — क्यों विशाख! हमारे उपकारों का क्या यही प्रतिफल है कि तुम मेरा अपमान करते हुए मेरे सहचर की हत्या करो? तुम्हारा इतना साहस!

विशाख — नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाता है जब कि अभियोग ही उल्टा हो और जो अभियुक्त हो — वही न्यायाधीश हो!

नरदेव — ब्राह्मणत्व की भी सीमा होती है, राज्यशासन के वह वहिर्भूत नहीं है। क्या अपने दण्ड पर तुम्हें ध्यान नहीं है?

विशाख — न्याय यदि सचमुच दण्ड देता है तो मैं नहीं कह सकता कि हम दोनों ने, किसे वह पहिले मिलेगा।

नरदेव — चुप रहो। दौवारिक!

दौवारिक — (प्रवेश करके) पृथ्वीनाथ! क्या आज्ञा है?

नरदेव — इस विशाख ने अपराध स्वीकार किया है। इसका सर्वस्व अपहरण करके इसे केवल राज्य से बाहर कर दो।

चन्द्रलेखा — और मुझे क्या आज्ञा है?

नरदेव — तुम्हारा विचार फिर होगा।

चन्द्रलेखा — मेरा अपराध?

नरदेव — मैं सब बातों का उत्तर देने को बाध्य नहीं।

विशाख — तो मैं भी बाहर जाने को बाध्य नहीं।

नरदेव — इतनी धृष्टता! प्रहरी, ले जाओ इसे।

चन्द्रलेखा — मुझे भी।

नरदेव — (क्रुद्ध होकर) दोनों को ले जाओ, शूली दे दो!

(बाहर कोलाहल होता है)

नरदेव — देखो तो बाहर क्या है!

(एक बाहर जाकर देखकर आता है)

दौवारिक — महाराजाधिराज, नाग जाति की एक बड़ी जनता महाराज से प्रार्थना करने आई है।

नरदेव — उसमें से थोड़े लोग याँ आवे।

(दौवारिक जाकर कुछ नाग सरदारों को ले आता है)

नाग — न्याय! न्याय!!

नरदेव — कैसा आतंक है! क्यों तुम लोग चिल्ला रहे हो?

सुश्रवा — आपके सैनिकों ने मेरी कन्या चन्द्रलेखा और जामाता विशाख को अकारण पकड़ रखा है, उसे छोड़ दो।

नरदेव — उसने हत्या की थी। उसके अपराधों का विचार हुआ कि वह देश से निकाला जाय। इसलिए तुम लोगों को अब उस विषय में कुछ न बोलना चाहिए।

नाग-रमणी — तो सारे सभासदों और नागरिकों के सामने राजा! मैं तुम्हें अभियुक्त बनाती हूँ। जो दोष कि एक निरपराध नागरिक को देश-निकाला दे सकता है वही अपराध देखूँ तो सत्ताधारी का क्या कर सकता है? क्या तुम चन्द्रलेखा पर आसक्त नहीं हो, और क्या तुमने एकान्त में उससे प्रणय-भिक्षा नहीं की थी? क्या तुम्हारी ओर से प्रेरित होकर महापिंगल नहीं गया था? क्या अपने पति को

छोड़कर चन्द्रलेखा को राजरानी बनने का घृणित प्रस्ताव नहीं किया? बोलो, उत्तर दो।

नरदेव — अभागिनी! क्या तेरी मृत्यु निकट है? क्या स्त्री होने की ढाल तुझे उससे बचा लेगी? अपनी जीभ रोक!

चन्द्रलेखा — यह सब सत्य है कि राजा नरदेव ने मेरी प्रणय-कामना में पड़कर यह अनर्थ करा रहे है — धर्म की दुहाई!

जनता — अनर्थ! न्याय के नाम पर अत्याचार!! इसका सुविचार होना चाहिये।

नरदेव — क्या तुम लोगों को कुछ विचार नहीं है कि हम न्यायाधिकरण के सामने है।

जनता — न्यायाधिकरण में क्या अत्याचार ही होता है? हम अन्यायपूर्ण आज्ञा नहीं मानेंगे।

नरदेव — तुम लोग शान्ति के साथ घर लौट जाओ।

जनता — तो हमें चन्द्रलेखा और विशाख मिल जायँ।

नरदेव — कभी नहीं। अपराधी इस तरह नहीं मुक्त हो सकता। नियम यों नहीं भंग किये जा सकते।

जनता — तो हम भी नहीं टलेंगे!

(प्रेमानन्द का प्रवेश)

प्रेमानन्द — राजन् सावधान! यह क्या? बच्चे जब हठ करें तो क्या पिता भी रोष से उन्हीं का अनुकरण करे? क्या राजा प्रजा का पिता नहीं है जो एक बार उसका मचलना नहीं सम्हाल सकता?

नरदेव — यह मठ नहीं है भिक्षु! तुम्हें यहाँ बोलने का अधिकार नहीं है।

प्रेमानन्द — राजन्! सुविचार कीजिये।

नरदेव — महादण्डनायक!

दण्डनायक — क्या आज्ञा है महाराज।

नरदेव — इन लोगों को बाहर निकाल दो और चन्द्रलेखा और विशाख को अभी शूली न दी जावे।

प्रेमानन्द — उन्हें छोड़ दीजिये। राजन् प्रजा को सुख दीजिये। क्या आप ही ने इसी एक स्त्री पर अत्याचार होने के कारण सैंकड़ो विहार नहीं जलवाये? क्या वह न्याय दूसरों के लिए ही था? भगवान् की सर्वहारिणी योगमाया की यह उज्ज्वल सृष्टि है। नरनाथ! वह तुम्हारा न्याय नहीं थी, न्याय का अभिमान मात्र था। आज तुम वही पाप कर रहे हो! कैसा रहस्यमय प्रतिघात है। इसी से कहता हूँ कि भगवान् की करुणा ही सबको न्याय देती है। तुम मान जाओ।

नरदेव — चले जाओ संन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो? यह नहीं हो सकता। निकालो जी, इन्हें बाहर करो।

सब नाग — तब हम लोगों पर उत्तरदायित्व नहीं, और बिना विशाख और चन्द्रलेखा को लिये हम नहीं जायँगे।

नरदेव — (कड़क कर) मारो इन दुष्टों को।

(सैनिक प्रहार करते है। 'आग आग!' – का हल्ला। नरदेव घबरा कर भीतर भागता है। चन्द्रलेखा और विशाख को लेकर नाग लोग भागते है। आग फैल जाती है। अग्नि में घुसकर प्रेमानन्द राजा को उठा लाता है और पीठ पर लाद कर चला जाता है।)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(कानन में इरावती का कुटीर)

इरावती — (प्रवेश करके) क्रोध! प्रतिहिंसा और भयानक रक्तपात!! यह क्या सुन रही हूँ भगवन् तुमने चिरकाल से मनुष्य को किस

मायाजाल में उलझाया है! वह अपनी पाशववृत्ति के वशीभूत होकर उपद्रव कर ही बैठता है — सब समझदारी, सारा ज्ञान, समस्त क्रमागत उच्च सिद्धान्त बुल्लों के समान विलीन हो जाते है. और उठने लगती है भयानक तरंगें! चन्द्रलेखा को लेकर इतना बड़ा उपद्रव हो जायगा, कौन जानता था। अहा स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द, करुणा और दया सब विलीन हो गये — केवल क्रूरता, प्रतिहिंसा का आतंक रह गया। इतना दुःखपूर्ण संसार क्यों बनाया मेरे देव! यह तुम्हारी ही सृष्टि है — करुणासिन्धु! मेरे नाथ!

(प्रार्थना करती है)

दीन दुखी न रहे कोई,
सुखी हों सब लोग।
देश समृद्धि प्रपूरित हो — जनता नीरोग,
कूटनीति टूटे जग में — सबसे सहयोग
भूप प्रजा समदर्शी हों-- तज कर सब ढोंग।
दीन दुखी न रहे कोई।

(अचेत नरदेव को लिए, प्रेमानन्द का प्रवेश)

इरावती — (देख कर) अहा, घायल है कोई! और आप महात्मा! इन्हें ढोकर ले आ रहे हैं — तो क्या मैं भी कोई सेवा कर सकती हूँ?

प्रेमानन्द — (नरदेव को लिटाते हुए) सेवा करने का सभी को अधिकार है देवि! इसे थोड़ा-सा दूध चाहिये।

(इरावती जाती है, प्रेमानन्द किसी जड़ी का रस नरदेव के मुँह में टपकाता है। वह कुछ चैतन्य होता है। इरावती दूध लाती है)

प्रेमानन्द — अभी तुम्हें बल नहीं है। लो, थोड़ा-सा दूध पी लो (इरावती दूध पिलाती है)

नरदेव — (स्वस्थ होकर) देवदूत! मेरे अपराध क्षमा कीजिये।

प्रेमानन्द — अपराध! अपराध तो नरदेव! एक भी क्षमा नहीं किये जाते और उसी अवस्था में अपराधों से अच्छा फल होता है! सज्जनों के लिए वही उदाहरण हो जाता है। किन्तु तुम्हें तो पूर्ण दण्ड मिला और अब तुम तपाये हुए सोने की तरह हो गये। अभी तुम्हारी व्यथायें शान्त नहीं हुई, इसलिए तुम लेटो। थोड़ी-सी जड़ी और लाकर तुम्हारे अंगों पर मल दूँ, जिससे तुम पूर्ण स्वस्थ हो जाओ। (जाता है)

नरदेव — हाय हाय, मैंने क्या किया — एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी! मैंने सोचा था कि नदी को अपने बाहुबल से सन्तरण कर जाऊँगा, पर मैं स्वयं बह गया। सत्य है, परमात्मा की सुन्दर सृष्टि को, व्यक्तिगत मानापमान, द्वेष और हिंसा से किसी को भी आलोड़ित करने का अधिकार नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि दूसरों के दोष दिखाने वाले घटनाचक्र से जब स्वयं किसी अन्याय को करने लगते है तो पशु से भी भयानक हो जाते है। न्याय और स्वतन्त्रता के बदले 'घोर आवश्यक' बताने वाले परतन्त्रता के बन्धन का पाश अपने हाथ में लेकर मानवसमाज के सामने प्रकट होते है। इसीलिये प्रकृति के दास मनुष्य को — आत्मसंयम, आत्मशासन की पहली आवश्यकता है। नहीं तो वह प्रमादवश अनर्थ ही करता है...।

प्रेमानन्द — (प्रवेश करके) ठीक है नरदेव! यह विचार तुम्हारा ठीक है। प्रमाद, क्रोध, उद्वेग आदि स्वप्न है, अलीक है। किन्तु क्या इसे पहले भी विचार किया था? क्या मानवता का परम उद्देश्य तुम्हारी अविचार-वन्या में नहीं बह गया था? विचारो, सोचो, फिर राजा होना चाहते हो?

नरदेव — नहीं भगवन्! अब नहीं। उस प्रमादी मुकुट को मैं स्वीकार नहीं करूँगा। हृदय में असीम घृणा है। उसे निकालने दीजिये। गुरुदेव, मैं आपकी शरण हूँ, मुझे फिर से शान्ति दीजिये।

प्रेमानन्द — नरदेव! तुम आज सच्चे राजा हुए। तुम्हारे हृदय पर आज ही तुम्हारा अधिकार हुआ। तुम्हारा स्वराज्य तुम्हें मिला। हृदय राज्य पर जो अधिकार नहीं कर सका, जो उसमें पूर्ण शान्ति न ला सका, उसका शासन करना एक ढोंग करना है। भगवान् तुम्हारा सार्वत्रिक कल्याण करेंगे।

(चन्द्रलेखा का एक बालक को गोद में लिए हुए आना)

चन्द्रलेखा — महात्मन्! यह बालक राजमन्दिर में मिला है। उत्तेजित नागों ने इसे राजकुमार समझ कर मार डालना चाहा। पर मैं किसी तरह इसे बचा लायी।

नरदेव — (देखकर) भगवन्, तू धन्य है, इस प्रकाण्ड दावाग्नि में नन्हीं-सी दूब तेरी शीतलता से बची रही। मेरे प्यारे बच्चे।

प्रेमानन्द — मूर्तिमती करुणे! तुम्हारा जीवन सफल हो! स्त्री जाति का सुन्दर उदाहरण तुमने दिखाया। नरदेव को मार कर भी तुमने जिलाया।

चन्द्रलेखा — अरे नरदेव... मैं तो पहचान भी न सकी...

नरदेव — देवि, क्षमा हो। अधम के अपराध क्षमा हों।

(बच्चे को गोद में लेता है)

चन्द्रलेखा — राजन्, रूप की ज्वाला ने तुम्हें दग्ध कर दिया, कामना ने तुम्हें कलुषित कर दिया, क्या मेरा कुछ इसमें सहयोग था! नहीं, इस सोने के रंग ने तुम्हारी आँखों में कमल रोग उत्पन्न कर दिया। तुम्हें सर्वत्र चम्पकवर्ण दिखलाई देने लगा। पर क्या यह रंग ठहरेगा। किन्तु इस दुखद घटना का इतिहास साक्षी रहेगा, तुम्हारी दुर्बलता की घोषणा किया करेगा। परमात्मा तुम्हें अब भी शान्ति दे!

विशाख — (प्रवेश करके) यह क्या, तुम नरदेव हो? अभी जीवित हो!

प्रेमानन्द — विशाख, वत्स! प्रतिहिंसा पाशववृत्ति है। नरदेव अब संन्यासी हो गया है। उसे राष्ट्र से कोई काम नहीं। यदि मेरा कहा मानो, तो तुम अपने सज्जनता के हृदय से इन्हें क्षमा कर दो, और इस बालक को ले जाकर प्रजा के अनुकूल राजा बनने की शिक्षा दो। तुम्हें भी कर्म करने के बाद मेरे ही पथ पर शान्ति पाने के लिए आना होगा।

विशाख — जैसा आज्ञा।

नरदेव — भाई विशाख, मुझे क्षमा करना।

विशाख — भगवान् क्षमा करें।

नरदेव — शान्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रेमानन्द — प्रार्थना करो, तुम्हें शान्ति मिलेगी।

नरदेव — (हाथ जोड़कर बैठकर)

हृदय के कोने कोने से

स्वर उठता है कोमल मध्यम, कभी तीव्र होकर भी पंचम,

मन के रोने से।

इन्दु स्तब्ध होकर अविचल है, भाव नहीं कुछ वह निर्मल है

हृदय न होने से।

उसे देख सन्तोष न होता, वह मेघों में छिप कर सोता,

तेजस खोने से।

तुम आओ तब अच्छा होगा हृदय भाव कुछ सच्चा होगा,

तेरे टोने से।

किन्तु हुआ अब लज्जित हूँ मैं कर्म फलों से सज्जित हूँ मैं,

उनके बोने से।

आवृत हो अतीत सब मेरा, तूने देखा, सब कुछ मेरा,

पर्दा होने से।

(यवनिका)

सज्जन

पात्र सूची

नटी

सूत्रधार

युधिष्ठिर

भीम

अर्जुन

नकुल

सहदेव

द्रौपदी

दुर्योधन

दुःशासन

कर्ण

शकुनी

चित्रसेन (गन्धर्वराज)

सेनापति (गन्धर्व सेना का)

विद्याधर सैनिक

राक्षस

विदूषक

सज्जन

नान्दी — (छप्पय)

अजय किरातहि देखि चकित ह्वै कै निज छन में।
पूजन लाग्यो करन सुमन चुनि सुन्दर घन मैं॥
लखि किरात के गले सोई कुसुमन की माला।
अर्जुन तब करि जोरि कह्यो अस कौन दयाला॥
गुन गहत जौन शठता किये, सो क्षमहु नाथ वितरहु विजय।
इमि प्रमुदित पूजित विजय, सो जयशंकर जय जयति जय॥

(सूत्रधार आता है)

(चारों ओर देखकर) – अहा, आज कैसा मंगलमय दिवस है, हमारे प्यारे सज्जनों की मण्डली बैठी हुई है, और सत्प्रबन्ध देखने की इच्छा प्रकट कर रही है। तो मैं भी अपना प्यारी को क्यों बुलाऊँ। (नेपथ्य की ओर देख कर) प्यारी, अरी मेरी प्रानप्यारी!

(नेपथ्य में से आती हुई)

नटी — क्या है क्या?

सूत्रधार — यही है कि, जो है सो– (शिर खुजलाता है)

नटी — कुछ कहोगे कि, केवल जो है सो।

सूत्रधार — यह कि, तुम्हारा नाक-भौंह चढ़ाना देख कर हमारे चित्त में यह इच्छा होती है कि, कोई वीर-रस का अभिनय आज इन सज्जनों को दिखाऊँ, क्योंकि —

> सत्कविता हितकर वचन, सज्जनहीं के हेत।
> विधुलखि चन्द्रमणी द्रवै, काँच ध्यान नहिं देत॥

नटी — तो कौन प्रबन्ध?

सूत्रधार — यह भी हमहीं से पूछोगी, हमने तो तुम्हीं से मंत्रणा करना विचारा था, क्योंकि —

> दुख में मित्र समान अरु गृह में गृहिणी होत।
> जीवन की सहचरी सो रमणी रस की सोत॥

नटी — (हँसकर) आज तो बड़ी सज्जनता सूझी है। अच्छा तो "सज्जन" नामक प्रबन्ध क्यों न दिखाया जाय? प्रबन्ध भी छोटा और मनोरम है।

सूत्रधार — अच्छा सोचा। पर प्रिये! कुछ अपने मधुर कण्ठ से गाकर सुनाओ, क्योंकि —

पशुहुँ मोहत जाहि सुनि, उपजावत अनुराग।
चित्त प्रफुल्लित करन हित, और कौन जस राग॥

और ऋतु भी शरद का कैसा मनोहर है!

भयो विमल जल लोल नलिनि की अवली फूली।
सारस करत कलोल मयूरी बोलन भूली॥
निर्मल नील अकास कास फूलै कूलन में।
शीतल मंद सुवास पवन खेलै फूलन में॥

(नेपथ्य में से मृदंग का शब्द सुनाई पड़ता है)

नटी — अब तो महाराज दुर्योधन के सभा ही में गाना आरम्भ हुआ है।

सूत्रधार — क्या अभिनय आरम्भ हुआ? तो चलो जल्दी चले।

(दोनों जाते हैं)

प्रथम दृश्य

(द्वैत सरोवर का निकटवर्ती कानन। पट-मंडल में दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण, शकुनी प्रभृति बैठे हैं और उनकी स्त्रियाँ भी पार्श्व में बैठी है। नृत्य हो रहा है)

गाने वाली गाती है —

सदा जुग जुग जीओ महाराज।
सुखी रहो सब भाँति अनन्दित, भोगो सब सुख साज।
नित नव उत्सव होय मगन मन, विनवै राज समाज॥

कर्ण — वाह! वाह! क्या अच्छा गाया!

(दुर्योधन अँगूठी देता है)

कर्ण — कुछ और गाओ।

(गाने वाली पुरस्कार लेकर गाती है)

पियो प्रिय प्रेमपूर प्याला।

सुन्दर रूप सुजान तैसही, अहै सुगन्धित हाला।

हिय की दरस मिटाव वेगही, काहे करत बेहाला॥

पियो प्रिय प्रेमपूर प्याला।

(नाचती हुई गाती है। दुर्योधन पुरस्कार में हार देता है। अभिनन्दन करके गाने वाली चली जाती है।)

दुर्योधन — मित्र कर्ण! पाण्डवों को हमारे आने का पता लगा कि नहीं?

कर्ण — अवश्य ही उन्हें ज्ञात होगा।

दुःशासन — वे पाँचों इस समय अकेले होंगे, समय तो अच्छा है।

कर्ण — चुप... हाँ हमारे विभव को देखकर वे अवश्य ईर्ष्या से जलते होंगे, और हम लोगों के आने का तात्पर्य भी तो यही है।

दुर्योधन — (ऊर्ध्व साँस लेकर) जब से अर्जुन के अस्त्र-प्राप्ति की बात हमने सुनी है, तब से हमारे मन में बड़ी आशंका है।

कर्ण — कुछ आशंका नहीं है।

जो चण्ड आप भुजदण्ड रहे सहारे।

है नित्य नूतन हिये महँ ओज धारे॥

उद्योग सों विरत होय कबौ न हेली।
लक्ष्मी सदा रहत तासु बनी सुचेली॥

दुर्योधन — क्यों न हो मित्र कर्ण! तुम ऐसा न कहोगे तो कौन कहेगा (कर्ण सिर हिलाता है))

विदूषक — (स्वगत) देखो केवल कर्ण से सलाह लेने वाले मनुष्यों की क्या दशा होती है। मनुष्यों! तुम्हें ईश्वर ने आँख भी दिया है, उससे कार्य लिया करो, हमारे राजा दुर्योधन का तो केवल कर्ण ही मित्र है, और होना भी चाहिए, क्योंकि धृतराष्ट्र का पुत्र है।

कर्ण — ओ बतोलिये! क्या बड़बड़ाता है?

विदूषक — (हाथ जोड़कर) जी धर्मावतार! कुछ नहीं।

कर्ण — झूठ बोलता है, और मुँह के सामने।

दुर्योधन — चला जा सामने से।

कर्ण — जा मुँह मत दिखा।

(विदूषक मुँह बना कर मुँह फेर लेता है।)

दुर्योधन — (झिझक कर) बाहर जाओ।

विदूषक — जाता हूँ सरकार! (विदूषक बाहर जाता है)

कर्ण — इसके सामने मंत्रणा करना ठीक नहीं है।

शकुनी — मंत्रणा क्या है? मृगया खेलने चलोगे न? (इंगित करता है) पशु भी तो इसी वन में हैं।

कर्ण और दुर्योधन — हाँ, हाँ, ठीक है।

(आपस में इंगित कर चुप रह जाते है)

(नेपथ्य में)

“अरे छोड़ छोड़, गरदन दुखती है, धीरे से पकड़े रह, बतलाता हूँ।”

(सब आश्चर्य से देखते हैं। विदूषक को पकड़े हुए एक राक्षस आता है)

कर्ण — (क्रोधित होकर) तू कौन है? नहीं जानता कि किसके सामने खड़ा है?

राक्षस — (उसे छोड़ कर) जानता हूँ! बुद्धि की जिसे अजीर्ण है और जिसे कर्ण का ही सहारा है, उस कौरवाधिपति के सामने।

कर्ण — (उठ कर)

रे नीच मीच तव कंध नगीच आई

जो कौरवाधिप समीप करै ढिठाई,
क्यों ह्वै अभीत इत आवन दुष्ट कीन्ह्यों,
वेगै बताव मम खड्ग कबौं न चीन्ह्यो,

दुःशासन — (राक्षस से) क्यों, तू क्यों यहाँ आया है?

राक्षस — महाराज गन्धर्वाधिराज चित्रसेन ने कहा है कि दुर्योधन से कहा कि मृगया खेलने का विचार यहाँ न करें। उत्सव कर चुके, अब यदि अपना कुशल चाहें तो यहाँ से हस्तिनापुर को प्रयाण करें।

कर्ण — (क्रोधित होकर) जा जा, अपने स्वामी से कह दे कि हम लोग अवश्य मृगया खेलेंगे।

राक्षस — अच्छा (सिर हिलाता जाता हुआ जाता है, और विदूषक की टाँग पकड़कर खींचता जाता है)

विदूषक — अरे छोड़ दुख मत दे, मैं तो जिसकी विजय होगी, उसी के पक्ष में रहूँगा।

(राक्षस उसे छोड़कर चला जाता है।)

(पट परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

(स्थान — द्वैत सरोवर। मृगया के वेश में दुर्योधन और कर्ण इत्यादि बाण धनुष पर चढ़ाए हुए एक मृग के पीछे चले आते हैं)

दुर्योधन — (चारों ओर देखता हुआ) है! मृग कहाँ भागा?

मृग की बात कहाँ कहौ, वीर देखि डरि जात।
अस्त्र सामुहे दृढ हृदय, किये कौन ठहरात॥

दुःशासन — हाँ, हाँ, ठीक है ('मृग की बात' इत्यादि फिर से पढ़ता है)

दुर्योधन — अहा हा! यह स्थान भी कैसा मनोरम है, सरोवर खिले हुए कमलों के पराग से सुरभित समीर इस वन्य प्रदेश को आमोदमय कर रहा है —

दुःशासन — नील सरोवर बीच
इन्द्रीवर अवली खिली।

कर्ण — मनु कामिनि कचवीच,
नीलम की वेदी लसै॥

दुर्योधन — जलमहँ परसि सुहात,

कुसुमित शाखा तरुन की।

कर्ण — मनु दरपन दरसात,

निज मुख चूमत कामिनी॥

दुर्योधन — सारस करत कलोल,

सारस की अवलीन में।

कर्ण — मनु नरपति को गोल,

चक्रवर्ति विहरण करै॥

शकुनी — वाह! अंगराज ने तो आज उपमा की झड़ी लगा दी (कुछ सुनकर) वे कौन है। (नेपथ्य में से) यही है, यही है (सब चकित होकर देखते है)

(यक्षगण की सेना का प्रवेश)

सेनापति — तुम लोग यहाँ से शीघ्र चले जाओ।

कर्ण — (तलवार पर हाथ रखकर) तू कौन है?

सेनापति — मैं स्वामी के आज्ञानुसार शिष्टता के साथ कह रहा हूँ, नहीं तो दूसरी प्रकार से आप लोगों का आदर किया जाएगा। क्योंकि —

प्रथम राखि महामति मान को।

शुचि बतावहिं नीति विधान को॥
यदि न मानहिं मूरख टेक सों।
तब करे हठि दण्ड अनेक सों॥

(दुर्योधन क्रोध दिखलाता है।)

कर्ण — (तलवार निकाल कर) अपनी चपल जीभ को रोक और अपनी रक्षा कर!

(दोनों तलवार निकाल कर युद्ध करते हैं। इतने में विद्याधरों को साथ में लिए हुए चित्रसेन का प्रवेश)
(गन्धर्वों को ससैन्य देखकर सब का खड़े हो जाना। आगे बढ़कर और मुँह फेर कर दुर्योधन टहलने लगता है और उसकी सेना श्रेणीबद्ध खड़ी हो जाती है।)

चित्रसेन — कौरवपति! तुमको बहुत समझाया गया, परन्तु तुमने हठ न छोड़ा।

(दुर्योधन अनसुनी करता है)

चित्रसेन — है, इतना घमण्ड?

बार बार सानुनय कह्यो यद्यपि मम अनुचर।
तबहु न मान्यो मूढ प्राह सन्निकट द्वैत सर॥
मृगया खेलन लग्यो जहाँ मम विहरण को थल।
प्रहरी वर्जन करयो तिन्है मारयो तेहिपै खल॥
जानत नाहिं प्रचण्ड भुजन को पामर! मेरे।
चंचल दृढ कोदण्ड और नाराच करेरे?
अबहुँ न क्यों हटि जात, मानि के आज्ञा मेरी।
क्षमा किये बहु बार, अवज्ञा को हम तेरी॥

(दुर्योधन क्रोध से तलवार खींचता है)

दुःशासन — महाराज! सावधान रहिये।

कर्ण — बस, बहुत बड़बड़ा मत, नहीं तो ये अँगुलियाँ वीणा बजाने योग्य न रह जायँगी। अह ह ह ह दुष्ट!

सुधर साजि मनोहर रूप को
नित रिझावहिं जो सुर भूप को,
तिनहि संग बजावहु बीन को,
तुमहिं संगर की मति दीन को?

और यदि न मानेगा तो (दाँत पीस कर)

क्रोधानलज्ज्वलित भीम करालिका-सी,
संहारवारिणि हँसै जिमि कालिका-सी।
सो चंचला असि जबै चमकै लगैगी,
तेरो सुरक्त करि पान महा पगैगी॥

गन्धर्व — अच्छा फिर बचाओ अपने को!

(सब तलवार निकाल कर लड़ते है। युद्ध में कर्ण सबको भगाने का साहस करता है और विक्रम दिखाता है। इतने में पीछे से राक्षसों की सेना आती है और सबको घेर लेती है।)

(पट परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

(स्थान — कानन, पर्ण-कुटीर। चारों ओर शान्ति विराज रही है। एक सघन वृक्ष के नीचे युधिष्ठिर और अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी के सहित बैठे हुए हैं)

युधिष्ठिर — अहा! प्रकृति की गति कैसी अनोखी है —

मध्याह्न में महत तेज लखात जाको।
आकाश मध्य कोउ देखि सकै न जाको।
सो दिव्य देव दिननाथ लहै प्रतीची,
ह्वै कै सुरंजित लखात सबै नगीची।

अर्जुन — महाराज, यह तो ठीक ही है--

जो जाइ पश्चिम दिखा महँ मोद माते,
ह्वै वारुणी विवस मोह तरंग राते।
देखे तिन्हैं पतित लोग सबै हँसाहीं,
प्राची दिशा शशि मिसै हँसती सदा हीं॥

द्रौपदी — तो इससे क्या —

आदित्य के उदय के पहले निशा मे।
घोरान्धकार बढ़ि जात लखौ अमा मे॥
उद्योग में तदपि घूमत आस धारे।
ह्वै अस्त है उदय होत प्रभू सहारे॥

नकुल और सहदेव — आर्य! प्यास लगी है।

युधिष्ठिर — (मुँह फेर कर) हा दैव! यही सब देखना है। हाय हाय! ये सुकुमार राजकुमार और यह कराल कानन —

जिन कबहुँ न दीन्है पाँवहू को धरा मे।

तिन समिध बटोरै और करै मृत्यका में॥

समुझत रतनों को भार सों जे उतारें।

वह कुसुम जुही के भूषनों को सुधारें॥

(उसास लेकर)

हे विश्वम्भर!

जिनहिं बढ़ायो मान सों, न करु तासु अपमान।

कुलवारन को कुल यही, रहै जगत सनमान॥

नकुल और सहदेव — आर्य! अभी जल नहीं आया?

युधिष्ठिर — (नेपथ्य की ओर देखकर) बच्चा घबराओ मत, वह भीम आते है।

(भीम का जल लिए प्रवेश। भीम लोटा रख कर जोर से हँसता है। युधिष्ठिर और अर्जुन पूछते हैं, पर वह केवल हँसता है)

युधिष्ठिर — (हँस कर) वत्स भीम! क्या है?

भीम —(हँसते हुए) आर्य! कुछ नहीं, बहुत अच्छा हुआ।

युधिष्ठिर — अरे सुनूँ भी, क्या अच्छा हुआ।

भीम — अच्छा कहूँ, नहीं नहीं नहीं नहीं, आपसे नहीं। धनंजय! इधर आओ तुमसे कह दे। महाराज से तुम्हीं कहो, हमको तो हँसी रोके से नहीं रुकती है (हँसता है। युधिष्ठिर इंगित करते है। अर्जुन उठ कर जाते हैं। भीम कुछ कान में कहता है)

अर्जुन — (युधिष्ठिर के पास आकर) आर्य! भीम जल लेने के लिये द्वैत सरोवर पर गये थे, वहाँ देखा तो दुर्योधन और गन्धर्वों में घोर युद्ध हो रहा है, फिर परिणाम यह हुआ कि वे सब दुर्योधन को पकड़ ले गये।

युधिष्ठिर — (खड़े होकर) वत्स भीम! तुम वहाँ रहो और और तुम्हारे सम्मुख दुर्योधन को पकड़ कर वे सब ले जायँ और तुम कुछ न करो! छिः छिः!

भीम — महाराज! इसी सज्जनता के कारण तो आपकी यह दशा है। मैं तो ऐसी बातों का पक्षपाती नहीं हूँ।

युधिष्ठिर —

> विपत्ति में मानव को निरेखि के,
> सुखी करै चित्त सुमोद लेखि के।
> अहै वही नीच महान नारकी,
> तजौ यही बात बुरे विचार की॥

वत्स भीम! शत्रु को दुःखी देखना और घृणित उपाय से बल-प्रयोग करने को क्रूरता कहते हैं। तुम वीर हो, वीरता को ग्रहण करो —

अरिहूँ से छल करै नहीं, सन्मुख रन रौपै।
दृढ कर में करवाल गहै मिथ्या पर कोपै॥
दुखी करै नहिं द्विज, सुरभी, अबला नारी को।
लक्षण ये सब सत्य-वीर-व्रत के धारी को॥

(भीम कुछ कहना चाहता है, इतने में रोते हुए दासी और रानियों का प्रवेश)

दासी और रानी — धर्मावतार! रक्षा कीजिए!

युधिष्ठिर — क्या है क्या?

दासी — भीष्मादि गुरुजनों के मना करने पर भी कौरवनाथ विहार करने के हेतु यहाँ आये थे, सो अकारण गन्धर्वों के साथ युद्ध हो गया, गन्धर्व लोग कौरवपति को समित्र बाँधे लिये जाते है, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये!

युधिष्ठिर — वत्स अर्जुन! जाओ, उन्हें शीघ्र छुड़ा लाओ —
(दासियों से) – क्यों, वे कितनी दूर गये हैं?

दासी — अभी वह वहीं होंगे महाराज! रक्षा कीजिये!

(अर्जुन जाते हैं।)

(पट परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

(स्थान — द्वैत सरोवर। दुर्योधन को पकड़े हुए विद्याधर ले जाने को उत्सुक हैं)

विद्याधर — चल, अब चलता क्यों नहीं, लड़ने के लिए तो बहुत बल था।

दूसरा — शकुनी, कोई जुए की चाल यहाँ भी सोच रहे हो क्या?

तीसरा — यह न समझना कि निकल भागेंगे।

कर्ण — (क्रोध से) क्या बकबक करता है, अपना काम कर, चलते है न।

विद्याधर — ओ हो! इन्हें अपमान के साथ नहीं ले चलना होगा, उचित मान की आवश्यकता है।

चित्रसेन — क्यों दुष्टों! अब छल से पाण्डवों को मारने का विचार न करोगे (विद्याधर से) – आओ, अब इन सबको ले चलें।

(इतना कह कर चित्रसेन ज्यों ही चलने को उद्यत होता है, वैसे ही अर्जुन का प्रवेश करता है)

अर्जुन — ठहरो, ठहरो, तुम लोगों का प्रधान कौन है?

सेनापति — (आगे निकल कर, खड़ा हो जाता है) हम है हम! तुम्हें क्या कहना है?

अर्जुन — यही कि यदि अपनी कुशल चाहते हो, तो इन लोगों को छोड़ दो।

सेनापति — वाह! वाह! आप छुड़ाने आये है, दर्पण तो यहाँ मिलेगा नहीं, द्वैत सरोवर के जल में जरा मुँह देख आओ!

अर्जुन — (क्रोधित होकर) –

कंटक नहिं पददलित होत मारग में जौ लौं।
मुख की तीछनता को त्यागत है नहीं तो लौं।
नीच प्रकृति जन मानत नाहिन है बातन ते।
ये पूजा के जोग सदा ही है लातन ते।

दुष्टों! फिर भी समझाता हूँ — मान लो। इन लोगों को छोड़ दो।

दुर्योधन — मैं तुम्हारी दया नहीं चाहता।

कर्ण — (सगर्व) –

सहै अनेकन कष्ट पै, लहै सदा ही मान।
अरि सों दया न चाहते, साँचे वीर महान।

अर्जुन — (सिर हिलाकर) मैं तुमसे कुछ नहीं कहना चाहता। (विद्याधर से) हाँ इतनी देर में क्या सोचा?

सेनापति — जा जा, अपना काम कर।

अर्जुन — (दाँत पीस कर) –

ह्वै सावधान सब रक्षहु आपने को।
देखो प्रचण्ड भुजदण्ड बलै घनों को॥
बैरी कराल वन दाहन ज्वालिका-सी।
मेरि अहै सुबसि विद्युत मालिका-सी॥

(अर्जुन तलवार निकाल कर आक्रमण करता है, और सब दुर्योधनादि को घेर कर लड़ते है। किन्तु घोर युद्ध के उपरान्त अर्जुन से व्यथित होकर सब भागते है, और उसी समय चित्रसेन

का प्रवेश होता है। अर्जुन उस पर भी झपटता है। चित्रसेन हटकर वार करता है। दोनों में द्वन्द्व युद्ध होता है।)

चित्रसेन — बस मित्र बस, बहुत हुआ।

अर्जुन — (छोड़कर) – हैं, मित्र चित्रसेन! तुम कहाँ?

(दोनों गले से गले मिलते है। सब आश्चर्य से देखते हैं)

अर्जुन — मित्र! क्षमा करना, युद्ध-विप्लव में सहसा आपको न पहिचान सका।

चित्रसेन — मित्र! कुछ नहीं, यह केवल संयोग था। कहो, तुम कैसे यहाँ आये? युद्ध क्यों हुआ?

अर्जुन — महाराज की आज्ञा हुई कि दुर्योधनादिकों को गन्धर्व लोग पकड़े लिए जाते है, अतएव उन्हें शीघ्र जाकर छुड़ाओ।

चित्रसेन — (आश्चर्य से) महाराज ने आज्ञा दी! (सोचकर) अहा! यह बात सिवा धर्मराज के किसके हृदय में आ सकती है! देखो —

लाक्षागृह में जारन चाह्यो, जुआ खेल्यो।
छल सों सब करि हरण, दियो बनवास अकेल्यो॥
कानन हूँ मे आयो छल से जो मारन को।

त्यहि अरिहू पै दया करै, अस मनिधारन को॥

अच्छा चलिये। (विद्याधरों से) चलो, इन्हीं इसी प्रकार से महाराज के सन्मुख ले चलो। (अर्जुन से) आओ मित्र धनंजय! हम लोग भी चले।

(दोनों आगे-आगे हाथ में हाथ मिलाकर जाते हैं। पीछे-पीछे विद्याधर लोग दुर्योधनादि को बाँध कर ले चलते हैं।)

(पट परिवर्तन)

पंचम दृश्य

(महाराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेवादि द्रौपदी के सहित बैठे हुए हैं।)

युधिष्ठिर — प्रिये कृष्णा! कुमुदिनीनायक के सुप्रकाश में कानन कैसा प्रतीयमान हो रहा है —

युधिष्ठिर — तिमिर गगन माही, चन्द्र आभा प्रकासै।

द्रौपदी — जिमि सुमति लहते चित्त से धर्म भासै॥

युधिष्ठिर — उदय रजनी में जो सदा ते धारै।

द्रौपदी — जिमि सुजन कुसंगौ में परे पुण्य धारै॥

युधिष्ठिर — कुमुदिनी विकसानी इन्दु की मूर्ति देखे।

द्रौपदी — शुभमति सुधरैहै ज्यों विवेकै सुपेखे॥

युधिष्ठिर — उडुगन जुरि आये चन्द्र सो चारु घेरे।

द्रौपदी — जिमि शुभ फल आवै सज्जनों पे घनेरे॥

(सबको लिए अर्जुन का प्रवेश)

अर्जुन — आर्य के चरणकमलों में सेवक का नमस्कार।

युधिष्ठिर — वत्स धनंजय! निरन्तर विजयी हो!

(सब अभिनन्दन करते हैं।)

(युधिष्ठिर उठकर दुर्योधनादिक का बंधन खोलते हैं। नेपथ्य में धर्मराज की जय-जय की ध्वनि होती है। फूलों की वर्षा होती है। सब यथोचित बैठते हैं।

युधिष्ठिर — वत्स दुर्योधन, सब कुशल है।

दुर्योधन — (लज्जित होकर) – महाराज की कृपा से।

चित्रसेन — महाराज सुरेन्द्र ने आपको आशीर्वाद कहा है। उन्हें कौरवपति का असत्परामर्श ज्ञात हो गया था था, इस कारण उन्होंने हमको भेजा। हमने इन्हें बहुत बार समझाया पर इन्होंने न माना, इस कारण इनके साथ हमें ऐसा व्यवहार करना पड़ा, अतएव क्षमा चाहते हैं।

युधिष्ठिर — जाने दो उस बात को। देवराज से हमारा अभिवादन कहना और कहना हम उनकी कृपा के लिये कृतज्ञ हैं।

चित्रसेन — अच्छा महाराज! (एक विद्याधर को इंगित करता है, और वह चला जाता है।)

युधिष्ठिर — वत्स सुयोधन! तुम गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल नहीं चलते, यह अच्छा नहीं करते। देखो, साम्राज्य का भार तुम्हारे ऊपर है, यह संसार में कैसा गुरुतर कार्य है? यह स्वयं जानते हो किन्तु फिर भी ऐसी चूक तुमसे क्यों होती है, सो ज्ञात नहीं होता। संसार में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि-स्वरूप समझा जाता है, अतएव तुम्हें बहुत समझ कर चलना चाहिए।

> खल को शासन करै शरासन दृढ करि धारे।
> अनुचर आस न रहै सिंहासन नित्य सुधारे॥
> पास न राखै नीच, तिन्हैं नाशन हित सोचै।

जासन मानै प्रजा सदा विश्वास न मोचै॥
सबहीं सों नहिं लड़ै अड़ै नहिं नीचजनों से।
नहिं आलस में पड़ै कड़ै बरतै न जनों से॥
तजि मर्याद न बढ़ै चढ़ै आभा नित दूनी।
सबहिं मोद सो मढ़ै बढ़ै कीरति चौगुनी॥

और —

नीति प्रीति युत प्रजा सों, पालत है जो राज।
सिंहासन सोहत सदा, ताही को सुख साज॥

युधिष्ठिर — जाओ राज्य करो।

(विद्याधरी गण माला लिये हुए आती हैं और गाती हुई नाचती हैं)

धर्म को राज सदा जग होवै।
सुख सों पूरि रहै पुहुमी यह —
नित नव मंगल होवै॥
सत्कविता सज्जनता ही पर
प्रेम सबहि को होवै।
सज्जन की जय धर्मराज की —
विजय सदा ही होवै॥
धर्म को राज सदा जग होवै —

(युधिष्ठिर के गले में सब माला पहिराती हैं, सब धर्म की जय कहते हैं)

(पटाक्षेप)

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

परिचय

इस नाट्य-रचना का आधार दो मन्तव्यों पर स्थिर किया गया है; जिनके सम्बन्ध में हमें कुछ कहना है — पहला यह कि उज्जयिनी का पर-दुःख-भंजक विक्रामादित्य, गुप्त-वंशीय स्कन्दगुप्त था और दूसरा यह की मातृगुप्त ही दूसरा कालिदास था, जिसने 'रघुवंश' आदि काव्य बनाये।

स्कन्दगुप्त का विक्रमादित्य होना तो प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध होता है। शिप्रा से तुम्बी में जल भरकर ले आनेवाले और चटाई पर सोनेवाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त के ही साम्राज्य के खण्डहर पर भोज के परमार पुरखों ने मालव का नवीन साम्राज्य बनाया था। परन्तु मातृगुप्त के कालिदास होने में अनुमान का विशेष सम्बन्ध है। हो सकता है कि आगे चलकर कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जाय, परन्तु हमे उसके लिए कोई आग्रह नहीं। इसलिए हमने नाटक में मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है। मातृगुप्त का काश्मीर का शासन और तोरमाण का समय तो निश्चित-सा

है। विक्रमादित्य के मरने पर उसका दिया काश्मीर-राज्य वह छोड़ देता है और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का निर्धारित होता है। इसलिए नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है। बन्धुवर्मा, चक्रपालित, पर्णदत्त, शर्वनाग, भटार्क, पृथ्वीसेन, खिंगिल, प्रख्यातकीर्ति, भीमवर्मा (इसका शिलालेख कौशांबी में मिला है) गोविन्दगुप्त आदि सभी ऐतिहासिक व्यक्ति है।

इसमें प्रपंचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र है। स्त्री-पात्रों में स्कन्द की जननी का नाम मैंने देवकी रखा है। स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में — 'हतरिपुरिव कृण्णो देवकीमभ्युपेत' मिलता है। सम्भव है कि स्कन्द की माता के नाम — देवकी से ही — कवि को यह उपमा सूझी हो। अनन्तदेवी का तो स्पष्ट उल्लेख पुरगुप्त की माता के रूप में मिलता है। यही पुरगुप्त स्कन्दगुप्त के बाद शासक हुआ। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र — दोनों हो सकते है। विजया, कमला, रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नामधाररिणी स्त्री की भी उस काल में सम्भावना है, तब भी ये कल्पित है। पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि — जहाँ तक सम्भव हो सका, नहीं होने दी गयी है, फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पड़ा — केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिए।

विक्रमादित्य

जिनके नाम से विक्रमीय संवत् का प्रचार है, भारत के उस आबाल-वृद्ध परिचित, प्रसिद्ध विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ विद्वान लोग स्वीकार नहीं करते। इसके अनेक कारण है। इसका कोई शिलालेख नहीं मिलता। विक्रमीय संवत् का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। स्वयं मालव के अति प्राचीनकाल से एक मालव-संवत् का प्रचार था। जैसे — 'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये' – इत्यादि। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि गुप्तवंशीय प्रतापी द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही असली विक्रमादित्य था, उसी ने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया और प्रचलित मालव-संवत् के साथ अपनी 'विक्रम' उपाधि जोड़कर विक्रमीय-संवत् का प्रचार किया।

परन्तु यह मत निस्सार है; क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम तो चन्द्रगुप्त था, पर उपाधि विक्रमादित्य थी, उसने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकारि होना विक्रमादित्य होने के लिए आवश्यक था, चन्द्रगुप्त द्वितीय के शकारि होने का हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। पर चन्द्रगुप्त उज्जयिनी-नाथ न होकर पाटलिपुत्र के थे। उनके शिलालेखों में

गुप्त-संवत् व्यवहृत है, तब वह दो संवतों के अकेले प्रचारक नहीं हो सकते। विक्रमादित्य उनकी उपाधि थी — नाम नहीं था। इन्हीं के लिए 'कथासरित्सागर' में लिखा है — 'विक्रमादित्यइत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके' सिकन्दरसानी और आलमगीरसानी के उदाहरण पर मानना होगा कि जिसकी ऐसी उपाधि होती है उसके पहले उस नाम का कोई व्यक्ति भी हो चुका होता है। चन्द्रगुप्त का राज्यकाल 3850413 ईसवीय तक माना जाता है। तब यह भी मानना पड़ेगा कि 385 के पहले कोई विक्रमादित्य हो गया है, जिसका अनुकरण करने पर उक्त गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य का उपाधि से अपने को विभूषित किया। तख्तेशाही के शिलालेख का जो गोडोफोरस का है, काल 103 ईसवीय है। तत्कालीन ईसाई कथाओं के आधार पर जो समय उसका निर्धारित होता है, उससे वह विक्रमीय संवत् ही ठहरता है। तब यह भी स्थिर हो जाता है कि उस प्राचीनकाल में शक-संवत् के अतिरिक्त, एक संवत् का प्रचार था — और वह विक्रमीय था। मालव लोग उसके व्यवहार में 'मालव' शब्द का प्रयोग करते थे।

चन्द्रगुप्त का शक-विजय

कहा जाता है, गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव और सौराष्ट्र के पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित किया, जो शक थे। इसलिए यही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। सौराष्ट्र में रुद्रसिंह तृतीय के बाद किसी के सिक्के नहीं मिलते; इसलिए यह माना जाता है कि इसी चन्द्रगुप्त ने रुद्रसिंह को पराजित करके शकों को निर्मूल किया। पर, बात कुछ दूसरी है। चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही भारत की विजय-यात्रा की थी। हरिषेण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आर्य्यावर्त्त के विजित राजाओं में एक-एक नाम रुद्रदेव भी है। सम्भवतः यही रुद्रदेव स्वामी रुद्रसेन था, जो सौराष्ट्र का भी क्षत्रप था। तब यह विजय समुद्रगुप्त की थी, फिर चन्द्रगुप्त ने किन शकों को निर्मूल किया? चन्द्रगुप्त का शिलालेख बेतवा और यमुना के पश्चिमी तट पर नहीं मिला। समुद्रगुप्त के शिलालेख से प्रकट होता है कि उसी ने विजय-यात्रा से राजाओं को भारतीय पद्धति के अनुसार पराजित किया। तात्पर्य, कुछ लोगों से नियमित 'कर' लिया इत्यादि। चन्द्रगुप्त के पहले ही यह सब हो चुका था, वस्तुतः वे सब शासन से स्वतन्त्र थे। तब कैसे मान लिया जाय कि सौराष्ट्र और मालव के शकों चन्द्रगुप्त ने निर्मूल किया, जिसका उल्लेख स्वयं चन्द्रगुप्त के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता।

गुप्तवंशियों की राष्ट्रनीति सफल हुई, वे भारत के सम्राट् माने जाने लगे। पर स्वयं चन्द्रगुप्त का समकालीन नरवर्मा (गंगधार के शिलालेख में) और वह भी मालव का, स्वतन्त्र नरेश माना जाता है। फिर मालव-चक्रवर्ती उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य और सम्राट् चन्द्रगुप्त, जो मगध और कुसुमपुर के थे, कैसे एक माने जा सकते है? चन्द्रगुप्त का समय 416 ई. तक है। इधर मन्दसोर वाले 424 ई. के शिलालेख में विश्ववर्मा और उसके पिता नरवर्मा स्वतन्त्र मालवेश है। यदि मालव गुप्तों के अधीन होता तो अवश्य किसी गुप्त राजाधिराज का उसमें उल्लेख होता; जैसा कि पिछ्ले शिलालेखों में — जो 437 ई. का है — कुमारगुप्त का उल्लेख है — 'वनातंवांतस्कुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति'। इससे वह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का सम्पूर्ण अधिकार मालव पर नहीं था, वह उज्जयिनीनाथ नहीं थे, उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी। तब उनके पहले विक्रमादित्य — 365 से पूर्व हुए थे। हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम विक्रमादित्य का अनुसंधान मिलता है। गाथा 'सप्तशती' – एक प्राचीन गाथाओं का संग्रह — 'हाल' भूपति के नाम से उपलब्ध है। पैठन में इसकी राजधानी थी। इसका समय ईसवीय सन् की पहली शताब्दी है। महापहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद ने अभिनन्य के रामचरित ने — हालेनोत्तम पूजयाकविवृष श्रीपालितो लालितः ख्यातिं कामपि

कालिदास कवयो नीता शकारातिना — उद्धृत करते माना है कि श्रीपालित ने राजा 'हाल' के लिए यह 'गाथा शप्तशती' बनायी। इसमें एक गाथा पाँचवे शतक की है —

संवाहरण सुहरस तोसिएण देन्तेह तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्रमादित्य चरितं अणु सिक्खिअंतिस्सा 64

ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए, इसके मानने को यह एक प्रमाण है। जैन-ग्रंथ कालकाचार्य-कथा में उज्जयिनी-नाथ विक्रम का मध्यभारत के शकों को परास्त करना लिखा है। प्रबन्धकोष में लिखा है महावीर स्वामी के मोक्ष पाने पर 473 वर्ष विक्रमादित्य हुए। भारत की परम्परागत कथाओं में प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य गन्धर्वसेन का पुत्र था। टाड ने राजस्थान के राजकुलों का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि तुअरवंश पाण्डव वंश की एक शाखा है, जिसमें संवत् प्रचारक विक्रम और अनंगपाल का जन्म हुआ था। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'राजावली' में दिल्ली के राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिल्ली के राजा राजपाल का राज्य कुमायूँ के पहाड़ी राजा शुकवन्त ने छीन लिया। उसे विक्रमादित्य ने मारकर दिल्ली का उद्धार किया। इधर प्रसिद्ध विद्वान् स्मिथ ने लिखा है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के शकों का उत्थान हुआ जो भारत में उसी के लगभग घुसे।

'Branches of the Barbarian stream which penetrated the Indian passes, deposited, settlements at Taxila in the Punjab and Mathura on the Jamuna.

Yet another section of the horde at a later date perhaps about middle of the first century after Christ pushed on southwards and occupied the peninsula of Sourashtra or Kathiawara founding a 'sak' dynasty which lasted until it was destroyed by Chandragupta about A.D. 390. The Satraps of Mathura were closely connected with those of Taxila and belong to the same period about 50 B.C. or later'

पिछली शक-शाखा के सम्बन्ध में, जो सौराष्ट्र गई, यह कहा जा रहा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे निर्मूल किया, पर वास्तव में 385 ई. तक समुद्रगुप्त जीवित थे और उन्हीं के समय में 382 ई. तक के शक सिक्के मिलते है। बाद के सिक्के बिना संवत् के है। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सामने क्षत्रपों का प्रताप निस्तेज हुआ, फिर बिना संवत् के सिक्के वहाँ प्रचलित हुए। तात्पर्य, उक्त समुद्रगुप्त के समय 385 ई. के पूर्व ही सौराष्ट्र की शकशाखा का ह्रास हुआ। चन्द्रगुप्त का राज्यरोहण काल 380 ई. मानते है। परन्तु उसका सबसे पहला शिलालेख उदयगिरि के गुप्त संवत् 82 (ई. 401) का मिलता है। सौराष्ट्र के जो सिक्के चन्द्रगुप्त के माने जाते है, वे गुप्त संवत् 90 (ई. 409) के हैं, इसके पहले के नहीं। शक क्षत्रपों के अंतिम सिक्कों का समय 311-389

ई. है। अच्छा, इन सिक्कों के बाद (389 से लेकर 409 ई.) 20 वर्ष तक किन सिक्कों का प्रचार रहा, क्योंकि चन्द्रगुप्त के सिक्कों के देखने से उसका सौराष्ट्र-विजय 409 ई. से पहले का नहीं हो सकता (जब के उसके सिक्के हैं) फिर इधर उदयगिरि वाला लेख भी ई. 401 के पहले का नहीं है। तब यह महज ही अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण-काल 385 या 380 ई. में मान लिया जाता है जिससे सौराष्ट्र-विजय का श्रेय उसी को मिले। वास्तव में समुद्रगुप्त के ही समय में शक-विजय हुआ। हरिषेण की विजय-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित राजाओं की नामावली में रुद्रदेव का भी उल्लेख है और रुद्रदेव सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों में रहा होगा। चन्द्रगुप्त ने भी पिता के अनुकरण पर विजय-यात्रा की थी, जैसा कि उसके उदयगिरि वाले शिलालेख से स्पष्ट है परन्तु उसके शासन-काल में मालव स्वतन्त्र था। समुद्रगुप्त के बाद मालव और सौराष्ट्र स्वतन्त्र राष्ट्र गिने जाते थे। गंगधार और मंदसोर के दोनों शिलालेखों को देखने से सूचित होता है कि नरवर्मा और विश्ववर्मा मालव के स्वतन्त्र नरेश थे। कुमारगुप्त के समय में बन्धुवर्मा ने सम्भवतः 424-437 ई. के बीच गुप्त-साम्राज्य के अधीन होना स्वीकार किया।

चन्द्रगुप्त के शक-विजय का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है — 'अरिपुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्तः शकनरपतिं

अशातयत्।' यह शक विजय किस प्रान्त में हुआ, इसका ठीक उल्लेख नहीं पर कुछ लोग अनुमान करते है कि कुशानों के दक्षिणी शक-क्षत्रप से 400 ई. से समीप प्रतिष्ठान का उद्धार चन्द्रगुप्त ने किया। जब, आंध्र राजाओं से लड़-झगड़ कर वे शक क्षत्रप स्वतन्त्र हो गये थे तब चन्द्रगुप्त ने दक्षिण के उन स्वतन्त्र शकों को पराजित करने के लिये जिस उपाय का अवलंबन किया था — उसका उल्लेख 'कथा सरित्सागर' की चौथी तरंग से भी प्रकट है।

मथुरा के शक-शासकों का नाश, जो शकों की पहली शाखा के थे, किसने किया — इस सम्बन्ध में इतिहास चुप है। राजबुल, षोडाश और खर्रओष्ठ नाम के तीन शक नरेशों के ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा पर शासन करने का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। षोडाश ने आर्य-शासक रामदत्त से दिल्ली और मथुरा छीनकर शक-राज्य प्रतिष्ठित किया था। 'राजावली' में इसका उल्लेख है कि विक्रमादित्य ने पहाड़ी राजा शुकवन्त से दिल्ली का उद्धार किया। शुकवन्त सम्भवतः विदेशी षोडाश का ही विकृत नाम हैं, क्योंकि ईसा की पहली शताब्दी के बाद उस प्रान्त में उन शकों का शासन निर्मूल हो गया। इन लोगों को पराजित करने वाला वही विक्रमादित्य हो सकता है — जो ईसवीय पहली शताब्दी का हो।

जैसलमेर के इतिहास में भट्टियों का वर्णन यहाँ बड़े काम का है। उन्होंने लिखा है कि विक्रमीय संवत् 72 में गजनी-पति गज का पुत्र शालिवाहन मध्य एशिया की क्रान्तियों से विताड़ित होकर भारतवर्ष चला आया, और उसने पंजाब में शालिवाहनपुर (शालपुर या शाकल) नाम की राजधानी बसाई। स्मिथ ने जिस दूसरी शक-शाखा का उल्लेख किया है, उसके समय से भट्टियों के इस शालिवाहन का ठीक-ठीक मिल जाता है। शकों के दूसरे अभियान का नेता वही शालिवाहन था, जिसके सम्बन्ध में 'भविष्य पुराण' में लिखा है —

एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहन भूपतिः।
विक्रमादित्य पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्

कुछ लोग 'पौत्रश्च' अशुद्ध पाठ के द्वारा भ्रान्त अर्थ निकालते हैं, जो असम्बद्ध है। विक्रमादित्य के पौत्र का राज्य अपहरण करनेवाला शालिवाहन विदेशी था। प्रबन्ध चिन्तामणि में भी शालिवाहन को नागवंशीय लिखा है। गजनी से आया हुआ शालिवाहन एक शक था। सम्भवतः उसी ने शक-राज्य की स्थापना की और शक-संवत् का प्रचार किया। इसके पिता के ऊपर जिस खुरासान के फरीदशाह के आक्रमण की बात कही जाती है; वह पार्थियानरेश 'मिथ्राडोटस' का पुत्र 'फराटस' द्वितीय रहा होगा।

उस काल में युवेचि, पार्थियन और शकों में भयानक संघर्ष चल रहा था। गजनी के शकों को भी इसी कारण अपना देश छोड़कर रावी एवं चिनाव के बीच में 'शाकल' बसाना पड़ा। मिथ्राडोटस द्वितीय आदि के शासनकाल में भारतवर्ष का उत्तर-पश्चिमीय भू-भाग बहुत दिनों तक इन्हीं शकों के अधिकार में रहा। कभी पार्थियन, कभी शक और कभी युवेचि जाति की प्रधानता हो जाती थी। उसी समय में मालवों को पराजित करके शकों ने पंजाब में अपने राज्य की स्थापना क थी। स्मरण रखना होगा कि मालव से यहाँ उस राष्ट्र का सम्बन्ध है जो पाणिनि के समय में मालव-क्षुद्रकगण कहे जाते थे और सिकन्दर के समय में 'Malloi and Azodrapai' के नाम से अभिहित थे।

इस प्राचीन मालव की सीमा पंजाब में थी। विक्रमादित्य और शकों का प्रथम कहरूर-युद्ध मुलतान से पचास मील दूर दक्षिण-पूर्व में हुआ था और शालिवाहन के नेतृत्व में शकों के आक्रमण से मालवों को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। सम्भवतः वर्तमान मालव देश उसी काल में मिलाया गया और जहाँ पर इन मालवों ने शकों से पराजित होकर नयी राजधानी बसाई वह मन्दसोर और उज्जयिनी थी।

शालिवाहन की इस विजय के बाद उसी के वंश के लोग राजस्थान से होते हुए सौराष्ट्र तक फैल गये और वे पश्चिमीय-

क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। चष्टन और नहपान आदि दक्षिण तक इसकी विजय-वैजयन्ती ले गये। नहपान को कुन्तलेश्वर सातकर्णि ने पराजित किया। 'कथा-सरित्सागर' से पता चलता है कि भरुकच्छ देश से भी शकों की सत्ता सातकर्णि ने उठा ली और 'कालाप' व्याकरण के प्रवर्त्तक शर्ववर्मा को वहाँ का राज्य दिया। शालिवाहन के सेनापतियों ने दक्षिण में शक-संवत् का अपने शासन-बल से प्रचार किया। उत्तरी भारत में आक्रमण और संघर्ष बराबर होते रहे इसलिए उज्जयिनी में वे अधिक समय तक न ठहर सके। शक क्षत्रपों ने सौराष्ट्र में अपने को दृढ किया और नवीन मालव — जिसे दक्षिण मालव भी कहते हैं — शीघ्र स्वतन्त्र होने के कारण अपने पूर्व-व्यवहृत मालव-संवत् का ही उपयोग करता रहा।

ऊपर के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रथम विक्रमादित्य — गंधर्वसेन का पुत्र — मालवगण का प्रमुख अधिपति रहा। उसने मथुरा वाली शक-शाका का नाश किया, और दिल्ली का उद्धार करके जैत्रपाल को वहाँ का राज्य दिया।

संवत् 1699 अगहन सदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुंतल' की प्राचीन प्रति से — जो पं. केशवप्रसादजी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है — दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है —

"आर्ये रसभाववशेषु दीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्य
साहसांकस्याभिरूप भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदास
प्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तल नाम्नानवेन
नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।"

"भवतु तवबिडौजाःप्राज्यवृष्टिःप्रजासुत्वमपिविततं यज्ञो वज्रिणं
भावयेथा।
गण शत परिवर्तैरेवमन्योन्य
कृत्यैर्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाधनीयै॥"

इसमें नीचे रेखा किये हुए दोनों स्थलों पर ध्यान देने से दो बातें निकलती है। पहली यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुन्तल में है, उसका नाम विक्रमादित्य और 'साहसांक' इसकी उपाधि है। दूसरे भरत वाक्य में 'गण' शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गण राष्ट्र — दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई सम्बोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गणराष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है इसी के एकाधिपत्य में मालवगण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित हुए हों।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य मालव का अधिपति नहीं था, वह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य था। उसने स्त्री-वेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला था। पर, पश्चिमी मालवा और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते थे, क्योंकि नरवर्म्मा और विश्ववर्मा का मालव में और स्वामी रुद्रसिंह आदि तीन स्वतन्त्र नरपति-नाम सौराष्ट्र के शकों के मिलते है। इसके लेख आकर, उदयगिरि और गोपाद्रि तक ही मिलते है। जैसा विक्रमादित्य का चरित्र है, उशके विरुद्ध इसके सम्बन्ध में कुछ गाथायें मिलती है। अपने पिता समुद्रगुप्त की विजयों के आधार पर किसी शक-नरपति को मार कर, इसने भी पहली बार विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी. यह असली विक्रमादित्य के बारबर अपने को समझता था।

'कथा सरित्सागर' और 'हर्षचरित' से लिये अवतरणों पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि यह शक-विजय किसी छ्ल से मिली थी। तुआर (शिवप्रसाद के मतानुसार पंवार) या मालवगण के प्रमुख अधीश्वर से भिन्न यह पाटिलपुत्र का विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त था, जिसका समय 385 (400 ?) से प्रारम्भ होकर 413 ई. तक था।

कुछ लोगों का मत था कि मालव का यशोधर्म देव तीसरा विक्रमादित्य था। परन्तु जिस 'राजतरंगिणी' से इसके विक्रमादित्य होने का प्रमाण दिया जाता है, उसमें यशोधर्म के साथ विक्रम

शब्द का कोई उल्लेख नहीं है। उसके शिलालेखों, सिक्कों में भी इसका नाम नहीं है। यशोधर्म के जयस्तम्भ में हूण मिहिरकुल को पराजित करने का प्रमाण मिलता है, परन्तु यह शकारि नहीं था। यह अनुमान भी भ्रान्त है कि इसी यशोधर्मदेव ने मालव संवत् के साथ विक्रम नाम जोड़कर विक्रम संवत् का प्रचार किया, क्योंकि उसी के अनुचरों के शिलालेख में मालवगण-स्थिति का स्पष्ट उल्लेख है —

पंचसु शतेसु शरदां यातेष्वेकान्नवति सहितेषु।
मालवगण स्थिति वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु॥

अलबेरूनी के लेख से यह भ्रम फैला है, परन्तु वही अपनी पुस्तक में दूसरी जगह कहकर युद्ध के विजेता विक्रमादित्य से संवत् प्रचारक विक्रमादित्य को भिन्न मानकर अपनी भूल स्वीकार करता है। डाक्टर हार्नेली और स्मिथ कहरूर युद्ध के समय में मतभेद रखते हैं। हार्नेली उसे 544 में और स्मिथ 528 ईस्वी में मानते है। कहरूर का रणक्षेत्र कई युद्धों का रंगस्थल है — जैसा कि पिछले काल में पानीपत। शकों और हूणों के आक्रमणकाल में प्रथम विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त और यशोधर्म ने वहीं विजय प्राप्त की। अलबेरूनी ने पिछले युद्ध का ही विवरण सुनकर अपने को भ्रम में डाल दिया। जिन लोगों ने यशोधर्मदेव को 'विक्रमादित्य'

सिद्ध करने की चेष्टा की है, वे 'राजतरंगिणी' का नीचे लिखा हुआ अवतरण प्रमाण में देते हैं —

'उज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः एकच्छत्रचक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत' इस श्लोक के 'श्रीमान् हर्ष' पर भार डालकर असम्भावित अर्थ किया जाता है। पर हर्ष — विक्रमादित्य से यशोधर्म का क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं होता। इसी हर्ष-विक्रमादित्य के लिए कहा जाता है कि उसने मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया। परन्तु इतिहास में पाँचवीं और छठीं शताब्दी में किसी हर्ष नामक राजा के उज्जयिनी पर शासन करने का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत दिनों के बाद ईसवीय सन् 970 के समीप मालव में श्रीहर्षदेव परमार का राज्य करना मिलता है। राजतरंगिणी के अनुसार उक्त हर्ष-विक्रमादित्य का काल वही है, जब काश्मीर में गांधार वंश का 'तोरमाण' युवराज था। तोरमण के शिलालेखों से यह सिद्धि हो जाता है कि उसके पिता तुंजीन वा प्रवरसेन का समकालीन स्कन्दगुप्त मालव का शासक हो सकता है। तब क्या आश्चर्य है कि लेखक के प्रमाद से 'राजतरंगिणी' में हर्ष का उल्लेख हो गया हो और शुद्ध पाठ 'श्रीमान् स्कंदापराभिधः' हो। क्योंकि इसी तोरमाण ने 500 ईसवीय में गुप्तवंशियों से मालव ले लिया था, तब मातृगुप्त वाली घटना 500 ईस्वी के पहले की है। जो लोग यशोधर्म को विक्रमादित्य मानते हैं, वे यह भी कहते है

कि मिहिरकुल को पराजित करने में यशोधर्म और नरसिंहगुप्तबालादित्य दोनों का हाथ था, परन्तु यह भी भ्रम है। नरसिंह गुप्त 528 या 544 ईसवीय तक जीवित नहीं थे। यशोधर्म का समकालीन बालादित्य द्वितीय हो सकता है।

श्री काशी प्रसाद जयसवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यह प्रमाणित किया है कि यशोधर्म्म कल्कि थे। कल्किपुराण (जीवानन्द संस्करण) में लिखा है —

प्रसीद जगतांनाथ धर्मवर्म्म रमापते॥ अध्याय 3॥

मुने किमंत्र कथनं कल्किना धर्मवर्म्मणा ॥ अध्याय 4॥

तब 'राजतरंगिणी' का यह अवतरण और भी हमारे मत को पुष्ट करता है कि यशोधर्म्मदेव से पहले विक्रमादित्य हुए थे —

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः।

शकान्दिनाश्य येनादौ कार्य्य भारो लघूकृतः ॥ तरंग 3॥

भावी कल्कि यशोधर्म्म के कार्य-भार को लघु कर देने वाले विक्रमादित्य उनसे साठ वर्ष पहले ही हुए थे, और वह थे — श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त । इस तरह 'राजतरंगिणी' के 'श्रीमान् हर्षपराभिधः' के शुद्ध पाठ से 'श्रीमान् स्कंदापराभिधः' की संगति भी लग जाती है।

इन तीसरे विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध में 'कथासरित्सागर' का विषमशील लंबक सविस्तार वर्णन करता है। उज्जयिनीनाथ (महेंद्रादित्य) का पुत्र यह विक्रमादित्य 'म्लेच्छाक्रांते च भूलोके' उत्पन्न हुआ और इसने —

'मध्यदेशः स सौराष्ट्रः स बङ्गाङ्गा च पूर्व दिक्
स कश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वेश'

इतिहास में सम्राट कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य प्रसिद्ध है। इसके चाँदी के सिक्कों पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेंद्रादित्य' स्पष्ट लिखा मिलता है। इसी के समय में मालव में स्वतन्त्र नरेश विश्ववर्म्मा के पुत्र बन्धुवर्म्मा ने अधीनता स्वीकार कर ली। विक्रमाब्द 480 तक गंगधार के शिलालेख द्वारा — मालव का स्वतन्त्र रहना प्रमाणित है, परन्तु 529 विक्रमाब्द वाले मन्दसोर के शिलालेख में 493 विक्रमीय में कुमारगुप्त की सार्वभौम सत्ता मान ली गई। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में मालव गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में नरवर्म्मा और विश्ववर्मा मालव के स्वतन्त्र नरेश थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि नर्मदा के निकटवर्ती पुष्यमित्रों ने जब गुप्त-साम्राज्य से युद्ध प्रारम्भ किया था तभी कुमार स्कन्दगुप्त ने नेतृत्व में गुप्त-साम्राज्य की सेना ने उज्जयिनी पर अधिकार

किया। इन्हीं स्कन्दगुप्त का सिक्कों में 'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त' के नाम से उल्लेख मिला है। इनके शिलालेख से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित था, म्लेच्छों और हूणों से आर्यावर्त आतंकित था। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए इन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताई। हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकंपित हुई जिसने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके पर्णदत्त को वहाँ का शासक नियुक्त किया — वे स्कन्दगुप्त ही थे — जूनागढ़ वाले लेख में इसका उल्लेख है। स्कन्दगुप्त की प्रशंसा में उसमें लिखा है —

"अपिच जितमिव तेन प्रथयन्ति यशांसिय यस्य
रिपवोप्यामूल भग्नदर्पा विर्वचना म्लेच्छदेशषु"

पर्णदिव के पुत्र चक्रपालित ने सुदर्शन झील का संस्कार कराया था; अनुमान होता है कि अंतिम शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ईसवीय सन् 447 के करीब हुई थी। स्कन्दगुप्त को सौराष्ट्र के शकों और तोरमाण के पूर्ववर्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ा। इधर वैमातृक भाई पुरगुप्त से आंतरिक द्वन्द्व भी चल रहा था। उस समय की विचलित राजनीति को स्थिर करने के लिए प्राचीन राजधानियों — पाटलिपुत्र या अयोध्या से दूर — एक केन्द्र-स्थल में अपनी राजधानी बनाना आवश्यक था। इसलिए वर्तमान मालव की मौर्यकाल की अवंती नगरी को ही स्कन्दगुप्त

ने अपने साम्राज्य का केन्द्र बनाया और शकों तथा हुणों को परास्त करके उत्तरीय भारत से हूणों तथा शकों का राज्य निर्मूल कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

'विक्रमादित्य' उपाधि के लिए शकों का नाश करना एक आवश्यक कार्य था। पिछले काल में इसीलिए विक्रमादित्य का एक पर्य्याय 'शकारि' भी प्रचलित था और स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है परन्तु यशोधर्म के समय शकों का राज्य कही न था। यही बात 'राजतरंगिणी' के 'शकान्यिनाश्य येनादौ कार्य भारो लघूकृतः' से भी ध्वनित होती है। मन्दसोर वाले स्तम्भ में यशोधर्म का शकों के विजय करने का उल्लेख नहीं है, हूणों के विजय का है। मन्दसोर के यशोधर्म के विजय-स्तम्भ का भी वही समय है, जो वराहदास या विष्णुवर्द्धन के शिलालेख का है। गोविन्द की उत्कीर्ण की हुई दोनों प्रशस्तियाँ है। उसका समय 632 ई. का है। मिहिरकुल ही भारी विदेशी शत्रु था, यह बात उक्त समय जयस्तम्भ से प्रतीत होती है। मिहिरकुल 532 ई. के पहले पराजित हो चुका था, तब वह कौन-सा युद्ध 544 में हुआ था — यह नहीं कहा जाता — जिसके द्वारा यशोधर्म के 'विक्रम' होने की घोषणा की जाती है, इसी से हार्नेली के विरुद्ध स्मिथ ने यशोधर्म द्वारा मिहिरकुल के पराजित होने का काल 628 ई. माना है।

परन्तु वे उस युद्ध को 'कहरूरयुद्ध' कहकर सम्बोधित नहीं करते। कहरूरयुद्ध 544 में नहीं हुई जैसा कि फर्गुसन, कीलहार्न, हार्नेली आदि का मत है — प्रत्युत — पहले — बहुत पहले 457 ई. के समीप, दूसरी बार हो चुका है। संभवतः सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गांधार के हूण-तुंजीन की सम्मिलित वाहिनी को 'कहरूर-युद्ध' में पराजित कर स्कन्दगुप्त ने आर्यावर्त की रक्षा की। अच्छा, जब 528 ई. में मिहिरकुल पर विजय निश्चित-सी है तब 'कहरूर-युद्ध' के ऊपर विक्रमादित्य को यशोधर्म माननेवाला सिद्धान्त निर्मूल हो जाता है, क्योंकि 532 के विजय-स्तम्भ तथा शिलालेख में मालवगण-स्थित का उल्लेख है — विक्रम संवत का नहीं, और 532 के पहले ही यशोधर्म हूण-विजय करके सम्राट आदि पदवी धारण कर चुका था; फिर 544 ईसवीय के किसी काल्पनिक युद्ध का आवश्यकता नहीं है।

'राजतरंगिणी' और 'सुंगयुन' के वर्णन मिलाने पर प्रतीत होता है कि हूणों का प्रधान केन्द्र गांधार थी। वहीं से हूण राजकुमार अपनी विजयिनी सेना लेकर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य-स्थापन करने गये। राजतरंगिणी का क्रम देखने से तीन राजाओं का नाम आता है — मेघवाहन, तुंजीन और तोरमाण। गांधार के मेघवाहन के समय में काश्मीर उसके शासन में हो गया था। उसके पुत्र तुंजीन ने काश्मीर की सूबेदारी की थी। यही तुंजीन प्रवरसेन के

नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने झेलम पर पुल बनवाया। 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत-काव्य इसी के नाम से अंकित है। गांधार-वंशीय हूण तुंजीन का समय और स्कन्दगुप्त का समय एक है, क्योंकि उसके पुत्र तोरमाण का काल 500 ई. स्मिथ ने सिद्ध किया है। सम्भवतः स्कन्दगुप्त के द्वारा हूणों के कश्मीर राज्य से निकाले जाने पर मातृगुप्त वहाँ का शासक था। यह उज्जयिनी-नाथ कुमारगुप्त-महेन्द्रादित्य का पुत्र स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य ही था — जिसने सौराष्ट्र आदि से शकों का और कश्मीर तथा सीमा-प्रान्त से हूणों का राज्य-विध्वंस किया और सनातन आर्य-धर्म की रक्षा की — म्लेच्छों से आक्रांत भारत का उद्धार किया। 'भितरी' के स्तम्भ में अंकित 'जगतिभुजबलाढ्यो गुप्तवंशैकवीरः। प्रथित विपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः विनयबलसुनीतैर्विक्रमेण क्रमेण।' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य ही द्वितीय 'कहरूर-युद्ध' का विजेता — 'तृतीय विक्रम' है।

पिछले काल के स्वर्ण के सिक्कों को देखकर लोग अनुमान करते है कि उसी के समय में हूणों ने फिर आक्रमण किया और स्कन्दगुप्त पराजित हुए। वास्तव में ऐसी बात नहीं। तोरमाण के शिलालेखों के संवत् को देखने से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त पहले ही निधन को प्राप्त हुए और दुर्बल पुरुगुप्त के

हाथों में पड़कर तोरमाण के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विध्वंस किया गया और गोपाद्रि तक उसके हाथ में चले गये।

कालिदास

विक्रम के साथ कालिदास का कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि एक का समय-निर्धारण करने में दूसरे की चर्चा आवश्यक-सी हो जाती है। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि 57 ईसवीय पूर्व में मालव के प्रथम विक्रमादित्य हुए और दूसरे विक्रमादित्य का समय 385 (400 ?) ईसवीय से 413 ईसवीय तक है। इनका सम्पूर्ण नाम श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। ये मगध के सम्राट थे। सम्भवतः इन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई थी। तीसरे विक्रमादित्य श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य थे। वर्तमान मालव के प्रधान नगर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनायी थी। गुप्त राजवंश के अन्तर्कलह का निवारण करने के लिए और हूणों तथा शकों से प्रायः मुठभेड़ रहने के कारण इन्हें मगध और कोसल छोड़ना पड़ा। कालिदास के सम्बन्ध में भी राजशेखर का एक श्लोक जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' और हरिकवि की 'सुभाषितावली' में मिलता है —

'एकोपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु'

एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुए, राजशेखर की इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि उस शताब्दी तक तीन कालिदास हो चुके थे। परन्तु वर्तमान आलोचकों का मत है कि कालिदास दो तो अवश्य हुए है एक 'रघुवश', 'शाकुन्तल' आदि के कर्त्ता और दूसरे को 'नलोदय' तथा 'पुष्पबाण-विलास' आदि के रचयिता।

यह विभाग साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से किया गया गै। शृंगार-तिलक जैसे साधारण ग्रन्थों को महाकवि कालिदास की कृति ये लोग नहीं मानना चाहते, इसलिए एक छोटे कालिदास को मान लेना पड़ा। बड़े कालिदास के लिए कुछ समीचीन समालोचकों का मत है कि ये 'शाकुन्तल' और 'रघुवंश' के कर्त्ता, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में हुए। इनका मत है कि 'आसमुद्रक्षितीशानाम' 'इदं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यैः' 'ज्योतिष्मतीचन्द्रमसैव रात्री' इत्यादि स्थानों में 'इन्दु' और 'चन्द्र' शब्दों से समुद्रगुप्त के वंशधर चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर कालिदास का संकेत है और इसलिए महाकवि कालिदास मगध के गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजकवि थे।

इस परांजपे आदि विद्वानों का मत है कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में शुंगों के इतिहास का सूक्ष्म विवरण दिया है,

जैसा कि उस काल में बहुत ही थोड़े समय के पीछे का कवि लिख सकता है। पटवर्धन और वैद्य महोदय कालिदास को 56 ईसवीय पूर्व का मानते है और भी कई विद्वान इनके समर्थक है। काव्यों में ज्योतिष सम्बन्धी ज्यामिति और होरा आदि ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी शब्दों को देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि 'रघुवंश' आदि के रचयिता कालिदास छठी शताब्दी में रहे होगे। उनके नाम से प्रसिद्ध 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ को भी — ज्योतिष सम्बन्धी गणनाओं के अनुसार — अनेक लोगों ने यह स्थिर किया है कि यह ग्रन्थ भी छठीं शताब्दी क है; इसलिए इन ग्रन्थों के रचयिता कालिदास छठीं शताब्दी में उत्पन्न हुए और वे यशोधर्मदेव के सभासद थे। इस तरह महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं —

1. 57 ईसवीय पूर्व में मालव में कालिदास हुए।
2. ईसा के चौथे शतक में चन्द्रगुप्त द्वितीय मगधनरेश के समकालीन कालिदास थे।
3. मालव नरेश यशोधर्मदेव के सभासद थे

'शृंगार तिलक' आदि ग्रन्थों के कर्त्ता कालिदास को प्रायः सब लोग इन महाकवि कालिदास से भिन्न और सबसे पीछे का — सम्भवतः नवम या दशम शताब्दी का मानते है। हम केवल महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में ही विवेचन करना चाहते हैं।

मालव के प्रथम विक्रमादित्य को लोग इसलिए नहीं मानते कि उनका कही ऐतिहासिक उल्लेख उन लोगों को नहीं मिला और विक्रम संवत् प्राचीन शिलालेखों में मालवगण के नाम से प्रचलित है। परन्तु ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि वास्तव में 57 ईसवीय पूर्व में एक विक्रमादित्य हुए। इस मत को न माननेवाले विद्वानों ने विक्रमादित्य को 'चन्द्रगुप्त द्वितीय' कहकर कालिदास का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रघुवंश' में जो संकेत से गुप्तवंशी सम्राटों का उल्लेख है, उसकी संगति इस प्रकार लगाई गई। परन्तु आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त का समय प्रमाणित करने के लिए जो अवतरण दिये गये हैं उनमें चन्द्रगुप्त का तो स्पष्ट उल्लेख है ही नहीं, हाँ, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का उल्लेख अधिक और स्पष्ट है। यदि वे सब संकेत भी गुप्तवंशियों के ही सम्बन्ध में मान लिए जायँ तो यह समझ में नहीं आता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक कवि के भावी राजाओं का वर्णन कैसे कर दिया। जबकि गुप्तवंश मे उत्तराधिकार का नियम निश्चित नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो, समुद्रगुप्त अपनी योग्यता से ही युवराज हुए और चन्द्रगुप्त भी, रघुवंश में कुमार और उनके बाद स्कन्दगुप्त का वर्णन कैसे आया? चन्द्रगुप्त के समय गुप्त साम्राज्य का यौवनकाल था, फिर अग्निवर्ण जैसे राजा का चरित्र दिखाकर 'रघुवंश' का अन्त —

चन्द्रगुप्त के समसामयिक और उनकी सभा के कालिदास — कैसे लिख सकते है? वास्तव में रघुवंश की-सी दशा गुप्तवंश की हुई। अग्निवर्ण के समान ही पिछले गुप्तवंशी विलासी और हीन वैभव हुए। तब यह मानना पड़ेगा कि गुप्तवंश का ह्रास भी कालिदास ने देखा था और तभी — 'रघुवंश' काव्य की रचना की थी।

ईसवी पूर्व पहली शताब्दी के कालिदास के लिए भी उधर प्रमाण मिलते है। इसलिए यह समस्या उलझती जा रही है, इसका मूल कारण है — एक ही कालिदास को काव्यों और नाटकों का कर्त्ता मान लेना। हमारी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाटककार कालिदास भिन्न-भिन्न थे और नलोदय आदि के कर्त्ता कालिदास अन्तिम और तीसरे थे। इस प्रकार जल्हण की 'कालिदास-त्रयी' का भी समर्थन हो जाता है और सब पक्षों के प्रमाणों की संगति भी लग जाती है। यद्यपि 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' का श्रेय एक ही कालिदास को देने का संस्कार बहुत ही प्राचीन है। विश्व-साहित्य के इन दो ग्रन्थ-रत्नों का कर्त्ता एक ही कालिदास को न मानने से श्रद्धा बँट जाने का भय इसमें बाधक है। परन्तु पक्षपात और रूढ़ि को छोड़कर विचार करने से यह बात ठीक ही जँचे गी। हम ऊपर पहले ही कह आये है कि तीन कालिदास हुए; परन्तु जो लोग दो ही कालिदास की उत्पत्ति मानते है, वे ही बता सकते हैं कि प्रथम कालिदास तो महाकवि

हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम नाटक तथा काव्य बना डाले, अब वह कौन-सी बची हुई कृति थी जिस द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि मिली? क्योंकि यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उनका नाम कालिदास था। जैसा कि प्रायः किसी वर्तमान कवि को, उसकी शैली की उत्तमता को देखकर ही किसी प्राचीन उत्तम कवि के नाम से सम्बोधित करने की प्रथा-सी है। अस्तु हम नाटककार कालिदास को प्रथम और ईसा पूर्व का कालिदास मानते हैं। कारण —

1. नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

2. 'रघुवंश' आदि असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से भरा साहित्य है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं है। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शान्ति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिन्धु-तट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड़ चुका था। 'शकुन्तला' में हस्तिनापुर के सम्राट 'वनपुष्प' माला-धारिणी यवनियों से सुरक्षित दिखायी देते है। यह सम्भवतः उस

प्रथा का वर्णन है जो यवन सिल्यूकस की कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य और उसके बाद शुंग-वंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ईसा पूर्व पहली शताब्दी में रहा हो। यह काल ईसा पूर्व पहली शताब्दी में रहा होगा।
नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं हुए थे। क्योंकि शकुन्तला में धीवर के मुख से कहलवाया है — 'पशुमारणकर्म्म दारुणोप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रिय' – और भी — 'सरस्वती श्रुतिर्महती न हीयताम्' – इन शब्दों पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिए है, उनमें सौमिल्ल और कविपुत्र के नाटयरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है।

3. नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण के राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।

4. 'ज्यामिति' और 'होरा' इत्यादि शब्दों जिनका प्रचार भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समीप हुआ, नाटक में नहीं पाये जाते और

'शाकुन्तल' की जिस प्रति का हम उल्लेख कर चुके है, उसमें स्पष्टरूपेण विक्रमादित्य से गणराष्ट्र का सम्बन्ध संकेतित है और कालिदास का उस नाटक सा स्वयं प्रयोग करना भी ध्वनित होता है। यह अभिनय 'साहसांक' उपाधिकारी विक्रमादित्य नाम के मालव-गणपति की परिषद् में हुआ था। इसलिए नाटककार कालिदास ईसापूर्व पहली शताब्दी के है।

5. नाटकों की प्राकृत में मागधी-प्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकड़ों वर्ष पीछे कहाँ था? पाँचवीं-छठवीं शताब्दी में महाराष्ट्री प्राकृत प्रारम्भ हो गई थी और उस काल में ग्रन्थों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुन्तल' आदि की प्राकृत में बहुत से प्राचीन प्रयोग मिलते है जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नहीं था।

इसलिए नाटककार कालिदास का होना, विक्रमादित्य प्रथम (मालव-पति) के समय — ईसा पूर्व पहली शताब्दी में ही निर्धारित किया जा सकता है।

काव्यकार कालिदास अनुमान से पाँचवीं शताब्दी के उत्तार्द्ध और छठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। वे काश्मीर के थे, ऐसा लोगों का मत है। 'मेघदूत' में जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर-वियोग का वर्णन है। यदि ये काश्मीर के न होते तो विल्हण को यह लिखने का साहस न होता —

'सहोदरा कुंकुस्रकेसराणां सार्धन्तनूतं कवितावितलासा।

न शारदादेशमपास्य दृष्टंस्तेषां यदन्यत्र मयाप्ररोहः॥'

पाँच सौ वर्ष के प्राचीन 'पराक्रम बाहु चरित' से इसका उल्लेख है कि सिंहल के राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) से कालिदास की बड़ी मित्रता थी। उसने कालिदास को वहाँ बुलाया था। (महावंश के अनुसार इनका राज्यकाल 511 से 524 ई. तक है) यह राजा अच्छा कवि था। 'जानकी हरण' इसका बनाया हुआ ग्रन्थ है।

जानकी हरणं कर्त्तृ रघुवंशे स्थिते सति

'कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदिक्षमः'

सोढ्ढल की बनाई हुई 'उदय-सुन्दरी-कथा' में एक श्लोक है —

'ख्यातः कृती कोपि च कालिदासः शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य

वाणीमिषाच्चण्ड मरीचिगोत्र सिन्धौः परंपारमवाप कीर्तिः।

वभूवुरन्येपि कुमारदासः' – इत्यादि।

हमारा अनुमान है कि 'सिन्धोः परंपार' में कालिदास और कुमारदास के सम्बन्ध की ध्वनि है।

'ज्योतिर्विदाभरण' को बहुत से लोग ईसवीय छठवीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं और हम भी कहते हैं कि वह ईसवीय पाँचवीं शताब्दी के अन्त और छठवीं के प्रारम्भ होनेवाले कालिदास की

कृति है। नाटककार के पीछे भिन्न एक दूसरे कालिदास के होने का और केवल काव्यकार का उसमें एक स्पष्ट प्रमाण है।

'काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंश पूर्व ततोननुकियचन्छ्ब तिकर्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं श्री कालिदास कवितोहि
ततोबभूव।'

इस श्लोक में छठवीं और पाँचवीं शताब्दी के ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास अपने को केवल काव्यत्रयी का ही कर्त्ता मानते है, नाटकों का नाम नहीं लिया है। इसलिए यह दूसरे कालिदास — नृपसखा कालिदास या दीपशिखा कालिदास कहिये — पाँचवीं-छठवीं शताब्दी के कालिदास है। 'अस्तिकश्चिद्वाग् विशेषः' वाली किंवदन्ती भी यही सिद्ध करती है कि काव्यकार कालिदास नाटककार से भिन्न हुए। 'कालिदास' उनकी उपाधि हुई, परन्तु वास्तविक नाम क्या था?

'राजतरंगिणी' में एक 'विक्रमादित्य' का वर्णन है, जिसने प्रसन्न होकर काश्मीर देश का राज्य 'मातृगुप्त' नाम के कवि को दे दिया था। डाक्टर भाउदाजी का मत है कि यह मातृगुप्त ही कालिदास है। मेरा अनुमान है कि मातृगुप्त कालिदास तो थे, परन्तु द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन, मातृगुप्त और विक्रादित्य — ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठीं शताब्दी के माने जाते हैं।

महाराष्ट्री भाषा के काव्य 'सेतुबन्ध' (वह मुह बह) प्रवरसेन के लिए कालिदास ने बनाया था। ऊपर हम कह आये हैं कि मातृसेन का वही समय है जो काश्मीर में प्रवरसेन का है। इसका नाम 'तुंजीन' भी था। सम्भवतः इसी की सभा में रहकर कालिदास ने अपनी जन्मभूमि काश्मीर में यह पहली कृति बनाई, क्योंकि उस समय प्राकृत का प्रचार काश्मीर में अधिक था और यह वही प्राकृत है —

जो उस समय समस्त भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत थी, इसलिए इसका नाम महाराष्ट्री था।

कुछ लोगों का विचार है कि यह काव्य कालिदास का नहीं है क्योंकि पहले विष्णु की स्तुति के रूप में मंगलाचरण किया गया है, परन्तु यह तर्क निस्सार है। कारण, 'रघुवंश' में विष्णु की स्तुति कालिदास ने की है और 'सेतुबन्ध' में तो स्पष्ट रूप से लिखा मिलता है कि 'इ अ सिरि पवर सेण विरहइ कालिदास कए' जब यह काव्य प्रवरसेन के लिए बनाया गया तो यह आवश्यक है कि उनके आराध्य विष्णु की स्तुति की जाय। प्रवरसेन ने जयस्वामी नामक विष्णु की मूर्त्ति बनवाई थी। वस्तुतः कालिदास के लिए शिव और विष्णु में भेद नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कपर कह आये हैं शाकुन्तल के प्राकृत से सेतुबन्ध की प्राकृत अत्यन्त अर्वाचीन है। इसलिए उसे काव्यकार कालिदास का मान लेने में

कोई आपत्ति नहीं है। कालिदास के संस्कृत-काव्यों तथा इस महाराष्ट्री काव्य में कल्पना-शैली और भाव का भी साम्य है। कुछ उदाहरण लीजिये —

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुनाफेनिलम्बुराशिम् — (रघुवंश)

दीसई सेउ महा वह दोहाइअ पुब्व पच्छिम दिसा भाअम् — (सेतुबन्ध)

छाया पथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृत चारुतारम् — (रघुवंश)

मलअसुवेलालग्गो पडिट्ठियो णहणि हम्मिसागर सलिले — (सेतबन्ध)

रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुररस्तात् — (मेघदूत)

णिअच्छाआवइ अरसामलइअसाअरोअर जलद्धंतं — (सेतुबन्ध)

ऐसा जान पड़ता है कि किसी कारण से प्रवरसेन और मातृगुप्त (कालिदास) में अनबन हो गयी और उसे राज्यसभा तथा कश्मीर को छोड़कर मालव आना पड़ा। शास्त्री महोदय के उस मत का निराकरण किया जा चुका है कि यशोधर्मदेव विक्रमादित्य नहीं थे। फिर सम्भवतः इन्हें स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का ही आश्रित मानना पड़ेगा। क्योंकि तुंजीन और तौरमाण के समय में काश्मीर आपस के विग्रह के कारण अरक्षित था।

उज्जयिनी के विक्रमादित्य के लिए यह मिलता भी है कि उसने 'सकाश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता।' यह स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की ही बदान्यता थी कि काश्मीर विजय करके उसे मातृगुप्त को दान कर दिया।

चीनी यात्री ह्वेन् सांग ने लिखा है कि कुमारगुप्त की सभा में दिङ्नाग के दादा गुरु मनोरथ को हराने में कालिदास की प्रतिभा ने काम किया था। कुमारगुप्त का समय 455 ई. तक है। किशोर मातृगुप्त ने कुमारगुप्त के समय में ही विद्या का परिचय दिया। मनोरथ के शिष्य बसुबन्धु थे और उनका शिष्य दिङ्नाग था, जिसने कालिदास के काव्यों की कड़ी आलोचना की थी। सम्भवतः उसी का प्रतिकार 'दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्' से किया गया है क्योंकि प्राचीन टीकाकार मल्लिनाथ भी इसको मानते है। दिङ्नाग का गुरु बसुबन्धु अयोध्या के विक्रमादित्य का सुहृद् था। बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने उसकी जीवनी लिखी है। इधर वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के अधिकरण 3 अध्याय 2 में साभिप्रायत्व का उदाहरण देते हुए एक श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है —

'सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्तनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियाँ दिष्टया कृतार्थश्रमः'

'आश्रयः कृतधियामित्यस्य बसुबन्धु साचिव्योपक्षेप परत्वात्साभिप्रायत्वम्।'

यह अयोध्या के विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का तनय चन्द्रप्रकाश युवा कुमारगुप्त हो सकता है। बसुबन्धु के गुरु मनोरथ का अन्त और उसका सभा में पराजित होना स्वयं बौद्धों ने कालिदास के द्वारा माना है। इसी द्वेष में दिङ्नाग कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी बना। अब यह मान लेने में कोई भ्रम नहीं होता कि मातृगुप्त किशोरावस्था में कुमारगुप्त की सभा में थे। वही कालिदास — स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के सहचर थे, कुमारगुप्त का नामांकित एक काव्य भी — कुमारसम्भव बनाया। यह बात तो अब बहुत से विद्वान् मानने लगे है कि कालिदास के काव्यों में गुप्तवंश का व्यंजना से वर्णन है। हूणों के उत्पात और उनसे रक्षा करने के वर्णन का पूर्ण आभास कुमारसम्भव में है। स्कन्दगुप्त के भितरीवाले शिलालेख में एक स्थान पर उल्लेख है —

'क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा'

तो 'रघुवंश' में भी मिलता है —

सललितकुसुमप्रवालशय्यां, ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपति रतिवाहयां बभूव क्वचिद् समेतपरिच्छस्त्रियामाम् ॥

स्कन्दगुप्त के शिलालेखों में जो पद्य रचना है, वह वैसी ही प्रांजल है जैसी रघुवंश की — 'व्यपेत्थ सर्वान्मनुजेन्द्र पुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाश्चकार' इत्यादि में रघुवंश की जैसी ही शैली दीख पड़ती

है। 'स्कंदेन साक्षादिव देवसेनाम्' इत्यादि में स्कन्दगुप्त का स्पष्ट उल्लेख भी है और कुमारगुप्त के तो बहुत उल्लेख है। रघुवंश के 5, 6, 7 सर्गों में तो अज के लिए कुमार शब्द का प्रयोग कम से कम 11 बार है।

विक्रमादित्य के जीवन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उनका अन्तिम जीवन पराजय और दुःखों से सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त के जीवन काल में साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त उसका ह्रास नहीं हुआ। यह स्कन्दगुप्त के समय में ही हुआ कि उसे अनेक षडयन्त्रों, विपत्तियों तथा कष्टों का सामना करना पड़ा। जिस समय पुरगुप्त के अन्तर्विद्रोह से मगध और अयोध्या छोड़कर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनायी और साम्राज्य का नया संगठन हो रहा था उसी समय मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त किया गया। यह समय ईसवीय सन् 450 से 500 के बीच पड़ता है। 467 ईसवीय में स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का अन्त हुआ। उसी समय मातृगुप्त (कालिदास) ने काश्मीर का राज्य स्वयं छोड़ दिया और काशी चले आये। अब बहुत से लोग इस बात की शंका करेंगे कि कहाँ उज्जयिनी, कहाँ मगध, कहाँ काश्मीर फिर काशी और सबके बाद सिंहल जाना — यह बड़ा दूरान्वय — सम्बन्ध है। परन्तु उस काल में सिंहल और भारत में बड़ा अच्छा सम्बन्ध था। महाराज स्कन्दगुप्त के समय में सिंघल के राजा मेघवर्ण ने उपहार भेजकर बोध-गया में 'विहार' बनाने की प्रार्थना की थी; महावंश और स्कन्दगुप्त के लेख में इसका संकेत है और महाबोधि विहार

सिंहल के राजकुल की कीर्ति है, तब से सिंहल के राजकुमार और राजकुल के भिक्षु इस विहार में बराबर आते रहते थे। बोध-गया में लाया गया पटना म्युजियम में एक शिलालेख है — (नम्बर 113), यह प्रमाण प्रख्यात कीर्ति का है — 'लङ्काद्वीप नरेन्द्राणां श्रमणः कुलजोभवत्। प्रख्यातकीर्तिधर्मात्मा स्वकुलाम्बर चन्द्रमा।' महानामन् के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है।

'संयुक्तागमिनो विशुद्धरजसः सत्वानुकम्पोद्यता
शिष्यायस्य सकृद्विचेरुरलांलङ्काचलोपत्यकां
तेम्यः शीलगुणन्विनतश्च शतशः शिष्याः प्रशिष्याः क्रमात्
जातास्तुङ्गनरेन्द्रवंशतिलकाः प्रोत्सृज्य राज्यश्रियम्'

जब, राजकुल के श्रमण और राजपुत्र लोग यहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए बराबर आते थे और संस्कृत कविता का प्रचार भी रहा तब उस काल के सर्वोच्च कवि की मैत्री की इच्छा स्वाभाविक है और उस नष्टाश्रय महाकवि के साथ मैत्री करने में अपने को धन्य समझनेवाले कुमारदास की कथा में अविश्वास का कारण नहीं है। यदि स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के मरने पर दुखी होकर राजमित्र के पास इनका सिंहल जाना ठीक है तो यह कहना होगा कि 'मेघदूत' उसी समय का काव्य है और देवगिरि की स्कन्दगुप्त-प्रतिमा उनकी आँखों से देखी हुई है जिसका वर्णन उन्होंने 'देवपूर्वगिरिं ते' वाले श्लोक में किया। यदि 524 ईसवीय तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो उन्होंने गुप्तवंश का ह्रास भी भलीभाँति देखा अथवा सुना होगा, रघुवंश में वैसा ही अन्तिम

पतनपूर्ण वर्णन भी है। कुमारदास का सिंहल का राजा उसी काल में होना और सिंहल में कालिदास के जाने की रूढ़ि उस देश में माना जाना, उधर चीनी यात्री द्वारा वर्णित कालिदास का मनोरथ को हराना, दिङ्नाग कालिदास का द्वन्द्व, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का 'राजतरंगिणी' में उसी काल का उल्लेख, हूण-राजकुल में सुङ्ग्युन के अनुसार विग्रह, काश्मीर-युद्ध की देखी हुई घटना — यह सब बातें आकर एक सूत्र में ऐसी प्रामाणिक हो जाती है कि दूसरे काव्यकार कालिदास को — विक्रम सखा, दीप शिखा कालिदास को — मातृगुप्त मानने में कुछ संकोच नहीं होता — जैसा डाक्टर भाऊदाजी का भी मत है।

विक्रमांक के समान भोज के पिता सिंधुराज की पदवी साहसांक थी। पद्मगुप्त परिमल ने नवसाहसांक-चरित बनाया था। तंजौरवाली 'साहसांक-चरित' की प्रति में इनको कालिदास लिखा। बहुत सम्भव है कि यह तीसरे कालिदास बंगाल के हों, जैसा कि बंगाली लोग मानते है। ऋतुसंहार, पुष्पबाण-विलास, शृंगार-तिलक और अश्वघाटी काव्यों के रचयिता समभवतः यही तीसरे कालिदास हो सकते है।

गुप्त राजवंश

श्री गुप्त (ई. 275 – 300)

(कोई इसका नाम केवल 'गुप्त' लिखते है। श्री सम्मान सूचक है।)

↓

घटोत्कच गुप्त (ई. 300 – 320) – इस नाम के साथ 'गुप्त' शब्द नहीं मिलता।

↓

चन्द्रगुप्त (ई. 320 – 335)

(यही पहला स्वतन्त्र गुप्त वंशी राजा हुआ। वैशाली के लिच्छिवीयीं के यहाँ इसका ब्याह हुआ।)

↓

समुद्रगुप्त (ई. 335 – 385)

श्रगुप्तवंश का परम प्रतापी, भारत विजेता सम्राट, राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किया।)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई. 385 – 413)

(पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य, जिसे लोग चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कहते है।)

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (ई. 413 – 455)

(मालव-विजेता, आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य का पिता)

↓

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई. 455 – 467) – उज्जयिनी का द्वितीय विक्रमादित्य, महान वीर। इसके चाँदी के सिक्कों पर परम भागवत् श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त अंकित है।

पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई. 467 – 469) – इसके सिक्के पर 'श्री विक्रमा' भी मिलता है। परन्तु प्रकाशादित्य नाम वाले सिक्के भी इसी के है, जिन्हें उज्जयिनी में स्कन्दगुप्त के शासन-काल में मगध में इसने स्वतन्त्र रूप से ढलवाये, फिर स्कन्दगुप्त के मरने पर उसकी उपाधि 'श्री विक्रमः' भी ग्रहण कर ली होगी।

↓

नरसिंहगुप्त बालादित्य (ई. 469 – 473) – यह प्रथम बालादित्य है, जिसे राजतरंगिणी-कार ने भ्रम से विक्रमादित्य का भाई लिखा है। और, वह यशोधर्म का भी

समकालीन नहीं था।

कुमारगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय (ई. 473 – 476) – कई विद्वान कुमार गुप्त को स्कन्दगुप्त का उत्तराधिकार मानते है। परन्तु यह ठीक नहीं। भितरी के 'सील' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमार गुप्त द्वितीय पुरगुप्त का पुत्र था। सारनाथ वाले शिलालेख का कुमारगुप्त और भितरी के 'सील' का कुमार, दोनों एक ही व्यक्ति है, जिसका उत्तराधिकारी बुधगुप्त था — जिसके राज्य में मालव पर हूणों का अधिकार हुआ। मन्दसोर के शिलालेख में जिस कुमारगुप्त का उल्लेख है, उस काल (493 वी.) में बन्धुवर्मा का राज्य मालव पर था, उक्त 436 ई. में

कुमार गुप्त प्रथम का राज्य था। और उसी शिलालेख में जो 529 वि. का उल्लेख है, वह उस मन्दिर के जीर्णोद्धार का है — 'संस्कारितमिदंभूयः श्रेण्या भानुमती गृहं' – से यह स्पष्ट है।

↓

बुधगुप्त परादित्य (ई. 478 – 494) – इसके समय में मगध-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रदेश अलग हुए। इसका राज्य केवल मगध अंग और काशी तक ही रह गया था।

↓

तथागतगुप्त परमादित्य (ई. 494 – 510) – जोत एलन के मतानुसार यहाँ घटोत्कच का नाम होना चाहिए। परन्तु ह्वेन् त्साग ने लिखा है यशोधर्म्म के

साथ मिहिर कुल को हराने वाले बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था। इससे हम भानुगुप्त के पिता का नाम तथागत गुप्त ही मानने को बाध्य होते है।

भानुगुप्त बालादित्य (ई. 510 – 534) जब हूणों से मालव का उद्धार यशोधर्म्म देव न किया उसी समय मगध को इसी बालादित्य ने बचाया। इसी की ओर से एरिकिण में गोपराज ने युद्ध किया। सारनाथ में इसी का लेख मिला है — 'तद्वंश संभवो बालादित्यो नृपछ प्रीत्य प्रकटादित्ये।'

वज्रगुप्त प्रकटादित्य (ई. 535 – 540) – प्रकटादित्य वज्रगुप्त की

उपाधि है। इसी वज्रगुप्त के समय में मालव के शीलादित्य ने मगध छीन लिया। तब से गुप्त वंश का प्राधान्य लुप्त हुआ।

मालव राजवंश

सिंह वर्मा

(समुद्रगुप्त का समकालीन)

↓

चन्द्रवर्मा (पुष्करण-राज)
(गांधार के शिलालेख में वर्णित स्वतन्त्र नरेश)

नरवर्मा (मालव-राज)

↓

विश्ववर्मा (मालव-राज

↓

भीमवर्मा — बंधुवर्मा का

बन्धुवर्मा (मालव-राज) –

भाई, सम्भवतः कौशाम्बी का सामंत राजा, स्कन्दगुप्त का समसामयिक	गुप्त साम्राज्य के अधीन हुआ

पात्र

स्कन्दगुप्त — युवराज (विक्रमादित्य)

कुमारगुप्त — मगध का सम्राट एवं स्कन्दगुप्त का पिता

गोविन्दगुप्त — कुमारगुप्त का भाई

पुरगुप्त — कुमारगुप्त का छोटा पुत्र

पर्णदत्त — मगध का महानायक

चक्रपालित — पर्णदत्त का पुत्र

बन्धुवर्मा — मालव का राजा

भीमवर्मा — बन्धुवर्मा का भाई

मातृगुप्त — काव्यकर्त्ता कालिदास

प्रपंचबुद्धि — बौद्ध कापालिक

शर्वनाग — अन्तर्वेद का विषयपति

धातुसेन (कुमारदास) – कुमारदास के प्रच्छन्न रूप में सिंहल का राजकुमार

भटार्क — नवीन महावलाधिकृत

पृथ्वीसेन — मंत्री कुमारामात्य

खिंगिल — हूण आक्रमणकारी

मुद्गल — विदूषक

प्रख्यातकीर्ति — लंकाराज-कुल का श्रमण, महाबोधि-विहार-स्थविर महाप्रतिहार, महादण्डनायक, नन्दीग्राम का दण्डनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि।

देवकी — कुमारगुप्त की बड़ी — स्कन्दगुप्त की माता

अनन्तदेवी — कुमारगुप्त की छोटी रानी — पुरगुप्त का माता

जयमाला — बन्धुवर्मा की स्त्री — मालव की रानी

देवसेना — बन्धुवर्मा की बहन

विजया — मालव के धनकुबेर की कन्या

कमला — भटार्क की जननी

रामा — शर्वनाग की स्त्री

मालिनी — मातृगुप्त की प्रणयिनी

सखी, दासी इत्यादि

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कन्धावार)

स्कन्दगुप्त — (टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है!

अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है! उत्सवों में परिचायक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? (ठहर कर) उँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पर्णदत्त — (प्रवेश करके) युवराज की जय हो।

स्कन्दगुप्त — आर्य पर्णदत्त का अभिवादन करता हूँ। सेनापति की क्या आज्ञा है? पर्णदत्त — मेरी आज्ञा! युवराज! आप सम्राट के प्रतिनिधि है, मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ। इस वृद्ध ने गरुडध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी

गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना — उसी गरुडध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर-मिटूँ यही कामना है। गुप्तकुलभूषण! आशीर्वाद दीजिये, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कन्दगुप्त — आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता का सराहना करते हुए सुने जाते है। तब भी सन्देह!

पर्णदत्त — सन्देह दो बातों से है युवराज!

स्कन्दगुप्त — वे कौन-सी हैं?

पर्णदत्त — अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन।

स्कन्दगुप्त — क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है

पर्णदत्त — सम्भवतः सम्राट तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

स्कन्दगुप्त — क्या! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं? शोक!

पर्णदत्त — अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं है! इधर प्रौढ़ सम्राट के विलास की मात्रा बढ़ गई है।

स्कन्दगुप्त — चिन्ता क्या आर्य? अभी तो आप है, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ! वह भी किसलिए?

पर्णदत्त — किसलिये? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज! इसीलिए मैंने कहा था कि आपको अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हो, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उतरदायित्व का ध्यान नहीं!

स्कन्दगुप्त — सेनापते! प्रकृतिस्थ होइये? परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेघ-पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासितराज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है। गुप्त-सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त — राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिये गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत

नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आनेवाली वस्तु समझने लगे है।

स्कन्दगुप्त — आर्य! इतना व्यंग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी है?

पर्णदत्त — प्रमाण अभी खोजना है? आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित होता रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है?

स्कन्दगुप्त — क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे है? (हँसता है)

पर्णदत्त — युवराज! व्यंग न कीजिये। केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिये, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिये। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया! तिस पर भी युवराज पूछते है कि अधिकारों का उपयोग किस लिए। यही किस लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले-पड़ी' वस्तु समझने लगे है।

(चक्रपालित का प्रवेश)

चक्रपालित — (देखकर) अरे, युवराज भी यहीं है! युवराज की जय हो।

स्कन्दगुप्त — आओ चक्र! आर्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्रपालित — पिताजी! प्रणाम। कैसी बात है?

पर्णदत्त — कल्याण हो, आयुष्मान्! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं, 'अधिकार किसलिये?'

चक्रपालित — तात! 'किसलिये' का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्णदत्त — क्या?

चक्रपालित — गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम!

स्कन्दगुप्त — चक्र, सावधान! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है?

चक्रपालित — युवराज! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्णदत्त — (गम्भीरता से) चक्र! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग साम्राज्य के सेवक है। असावधान बालक! अपनी चंचलता को विषवृक्ष न बना देना।

स्कन्दगुप्त — आर्य पर्णदत्त, क्षमा कीजिये। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।

पर्णदत्त — ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करना चाहिए। (देखकर) चर आ रहा है, युद्ध का कोई नया समाचार है क्या?

(चर का प्रवेश)

चर — युवराज की जय हो!

पर्णदत्त — क्या समाचार है?

चर — अब की बार पुष्यमित्रों का अन्तिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं! नासीर-सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कन्दगुप्त — अच्छा, जाओ, उसे भेद दो।

(चर जाता है, दशपुर के दूत का प्रवेश)

दूत — युवराज भट्टारक की जय हो!

स्कन्दगुप्त — मालवपति सकुशल है?

दूत — कुशल आपके हाथ में है। महाराज विश्ववर्मा का शरीरान्त हो गया है! नवीन नरेश महाराज बन्धुवर्मा ने साभिवादन श्रीचरणों में सन्देश भेजा है।

स्कन्दगुप्त — खेद! ऐसे समय में, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वे स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में फँस गये है!

दूत — इतना ही नहीं, शक-राष्ट्रमण्डल चञ्चल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चला है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा।

(स्कन्दगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं)

दूत — वलभी का पतन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बन्धुवर्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कन्दगुप्त — मालव और शक-युद्ध में जो सन्धि गुप्त-साम्राज्य और मालवराष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्तव्य है। महाराज विश्ववर्मा के समय से ही सम्राट कुमारगुप्त उनके संरक्षक है। परन्तु दूत! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत — विषय व्यवस्था होने पर भी युवराज-साम्राज्य ने संरक्षकता का भार लिया है।

पर्णदत्त — दूत! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है!

दूत — तब भी मालव ने कुछ समझकर, किसी आशा पर ही, अपनी स्वतन्त्रता को सीमित कर लिया था।

स्कन्दगुप्त — दूत! केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं है, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्वास करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत — धन्य युवराज! आर्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है। (प्रणाम करके जाता है।)

पर्णदत्त — युवराज! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होगी।

चक्रपालित — तात! पुष्यमित्र-युद्ध का अन्त तो समीप हो। विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिये. मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कन्दगुप्त — नहीं चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो। ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता

नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है।

पर्णदत्त — कुछ चिन्ता नहीं युवराज! भगवान सब मंगल करेंगे। चलिये, विश्राम करें।

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(कुसुमपुर के राज-मन्दिर में सम्राट कुमारगुप्त और पार्षद)

धातुसेन — परम भट्टारक! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये है। मैंने तो समझा था, राजसिंहासन पर बैठे-बैठे राजदण्ड हिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त-साम्राज्य स्थापित हो गया था, परन्तु —

कुमारगुप्त — (हँसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते? क्यों धातुसेन — राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परन्तु हाँ, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा। सुना

था रामचन्द्र ने तो जब युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था। सम्राट होने पर भी युद्ध!

कुमारगुप्त — युद्ध तो करना ही पड़ता है। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है।

धातुसेन — अच्छा तो स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का राज्य विजय किया था, सो उनके लिये परम आवश्यक था? क्या पाटलिपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र थी?

कुमारगुप्त — तुम भी बालि की सेना में से बचे हुये हो!

धातुसेन — परम भट्टारक की जय हो! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था। जब उसमें लड्डू खाने वाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर —

कुमारगुप्त — क्यों?

धातुसेन — उनकी बड़ी सुन्दर ग्रीवा में लड्डू अत्यन्त सुशोभित होता था, और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिये — उनकी तारा का मन्त्रित्व। सुना है सम्राट! स्त्री की मन्त्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिये उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिली गई। परम भट्टारक की दुहाई! एक स्त्री को मन्त्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी मूँछवाले मन्त्रियों के बदले उसकी एकान्त मन्त्रणा कल्याणकारी होगी।

कुमारगुप्त — (हँसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धातुसेन — तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिये स्त्री हो जायँ; क्यों कुमारामात्य जी?

पृथ्वीसेन — पर तुम तो स्त्री नहीं हो जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ?

कुमारगुप्त — (हँसते हुए) हाँ, तो आर्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा; क्योंकि मौर्य-साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने लिया था।

धातुसेन — फिर तो लड़कर लेने की एक परम्परा सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये है। उसी प्रकार आर्य...

कुमारगुप्त — उँह! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातुसेन — नहीं धर्मावतार! समझ में तो इतनी बात आ गयी कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भटार्क — नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा?

मुद्गल — (प्रवेश करके) रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ! (पद्मासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन — परम भट्टारक की जय हो! मुझे कुछ निवेदन करना है — यदि आज्ञा हो तो।

कुमारगुप्त — हाँ, हाँ कहिये।

पृथ्वीसेन — शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कन्धावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी बता गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के सहायतार्थ प्रस्तुत है।' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमारगुप्त — मालव का इस अभियान में कैसा भाव है, कुछ पता चला? क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है।

पृथ्वीसेन — अपने मुख से मालवेश के दूत ने यहाँ तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने ही से मैं स्वयं इसे ठीक कर लेता।

कुमारगुप्त — महा सन्धिविग्रहिक — साधु! यह वंश-परम्परागत तुम्हारी ही विद्या है।

पृथ्वीसेन — सम्राट के श्रीचरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने वाला है। इसलिए युवराज को वहाँ भेजने का मेरा अनुराध था।

भटार्क — सौराष्ट्र की गति-विधि देखने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है। वहाँ शक राष्ट्र बड़ा चंचल अथच भयानक है।

पृथ्वीसेन — (गूढ दृष्टि से देखते हुए) महाबलाधिकृत! आवश्यकता होने पर आपको वहाँ जाना ही होगा, उत्कण्ठा की आवश्यकता नहीं।

भटार्क — नहीं, मैं तो...

कुमारगुप्त — महाबलाधिकृत! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी। अभी आवश्यकता नहीं।

धातुसेन — (हाथ जोड़कर) यदि दक्षिणपथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जाकर स्वच्छंदतापूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पायेगा।

(सब हँसते हैं)

मुद्गल — जय हो देव! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वान्त कर डालूँ।

(फिर सब हँसते है, गम्भीर भाव से अभिवादन करते हुए — एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान)

कुमारगुप्त — मुद्गल! तुम्हारा कुछ...

मुद्गल — महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवक भट्टारक की कल्याण-कामना मके लिए चक्रपाणि भगवान की पूजा की सामग्री प्रस्तुत है। आर्यपुत्र कब चलेंगे?

कुमारगुप्त — (मुँह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्त्तकियाँ आने वाली है, अपानक भी है! महादेवी से कह देना, असन्तुष्ट न हों, कल चलूँगा। समझा न मुद्गल?

मुद्‌गल — (खड़ा होकर) परमेश्वर पर भट्टारक की जय हो। (जाता है)

धातुसेन — यह चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये है, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।

कुमारगुप्त — यह राष्ट्रनीति है।

(अनन्तदेवी का चुपचाप प्रवेश)

धातुसेन — भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों-सी सन्तान उत्पन्न हों?

अनन्तदेवी — (सामने आकर) आर्यपुत्र की जय हो!

(धातुसेन भयभीत होने का-सा मुँह बनाकर चुप हो जाता है।)

कुमारगुप्त — आओ प्रिये! तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्तदेवी — नर्त्तकियों को बुलवाती आ रही हूँ। कुमारामात्य आदि थे, मंत्रणा में बाधा समझकर, जानबूझकर देर लगाई।

आपको तो देखती हूँ कि अवकाश ही नहीं। (धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है)

कुमारगुप्त — यह अबोध विदेशी हँसोड़ है।

अनन्तदेवी — तब भी सीमा होनी चाहिए।

धातुसेन — चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह फल मिलता। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूँ, क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

अनन्तदेवी — पूछ लो।

धातुसेन — उसके अनर्थशास्त्र में विषकन्या का...

कुमारगुप्त — (डाँट कर) चुप रहो।

(नर्त्तकियों का गाते हुए प्रवेश)

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए बीन-तार कोकिल।
करुण रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल।
हृदय धूल में मिला दिया है उसे चरण-चिह्न-सा किया है।
खिले फूल सब गिरा दिया है न अब बसन्ती बहार कोकिल।
सुनी बहुत आनन्द-भैरवी विगत हो चुकी निशा-माधवी।
रही न अब शारदी कैरवी न तो मेघा की फुहार कोकिल।
न खोज पागल मधुर प्रेम को न तोड़ना और के नेम को।

बचा विरह मौन के क्षेम को कुचाल अपनी सुधार कोकिल।

(मन्द होते प्रकाश के साथ (दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(पथ में मातृगुप्त)

मातृगुप्त — कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनन्त उत्कण्ठा में कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असन्तोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना! लक्ष्मी के लाली का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या! – एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है! संचित हृदय-कोश के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्रय का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को — भारत के प्रकाण्ड

बौद्ध पण्डित को — परास्त करने में मैं भी सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या?

मुद्‌गल — (प्रवेश करके) कहिये कविजी! आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या?

मातृगुप्त — मैं तो अभी यों ही बैठी हूँ।

मुद्‌गल — क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है? तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो न? भाई! उसे छोड़ दो।

मातृगुप्त — क्यों? लगी तो मेरे भूखे हृदय का आहार है! कवित्व — वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है! अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!

मुद्‌गल — परन्तु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से और आँखों का निद्रा से भी सम्बन्ध होता है कि नहीं? कभी इसको भी सोचा-विचारा है?

मातृगुप्त — संसार में क्या इतनी ही वस्तुएँ विचारने की हैं? पशु भी इनकी चिन्ता कर लेते होंगे।

मुद्‌गल — और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता है — अपनी मूर्खताओ को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है। और वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।।

मातृगुप्त — होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

मुद्‌गल — स्वप्नमय जीवन छोड़कर विचारपूर्ण वास्तविक स्थिति में आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिये दया आती है।

मातृगुप्त — क्या करूँ?

मुद्‌गल — मैं दो-चार दिन में अवन्ती जाने वाला हूँ; युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगा। है स्वीकार?

मातृगुप्त — पर तुम्हें मेरे ऊपर इतनी दया क्यों?

मुद्‌गल — तुम्हारी बुद्धिमत्ता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ। उसी दिन से मैं खोजता था. तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो, ऐसे बहुत आया-जाया करते है।'

मातृगुप्त — तब ते बड़ी कृपा है। मैं अवश्य चलूँगा। काश्मीरमण्डल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत विद्या को कोई पूछने वाला नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़कर राजधानी में चला आया था। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक है।

मुद्गल — अच्छा तो मैं जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूँगा, तुम चलने के लिये प्रस्तुत रहना। (जाता है)

मातृगुप्त — काश्मीर! जन्मभूमि! जिसकी धूलि में लोटकर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाण् संगठित हुए थे वही छूट गया! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा! प्रिय!

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
वह उच्छृंखलता थी अपनी — कहकर मन मत बहलाना।
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निःश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौन्दर्य हुआ, हो चपल चली भौंहे मिलने।
लीन हो गयी लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।

जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकर उठा जाना।

कुमारदास — (प्रवेश करके) साधु!

मातृगुप्त — (अपनी भावनाओं में तल्लीन, जैसे किसी को न देख रहा हो) अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थी, सन्ध्या में शीतल चाँदी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया ही था कि वही स्वप्न टूट गया!

कुमारदास — समझ मैं न आया, सिंहल और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवपूर्ण हो, लम्बे हो, खिंची हुई भौंहे है, सब भी सिंहलियों की घुँघराली लटें, उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या स्वप्न में भी देखने की वस्तु नहीं?

मात-गुप्त — (कुमारदास को जैसे सहसा देखकर) पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अंचल से ढँक दिया है, उस हिमालय के —

कुमारदास — और बड़वानल को अनन्त जलराशि से सन्तुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को — अच्छा जाने दो, रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तब जय हो काश्मीर की। हाँ, उस हिमालय के...

मातृगुप्त — उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित हिम का, पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित था। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली! उसकी मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, मौन-नीड़ मे निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र!

कुमारदास — तुम विद्वान् हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह?

मातृगुप्त — यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस इन्द्रजाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन — यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले।

कुमारदास — मित्र! तुम्हारी कल्पना, वाणी में झनकार उत्पन्न करेगी। तुम संचेष्ट बनो, प्रतिभाशील हो तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

मातृगुप्त — उसकी चिन्ता। दैन्य, जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।

कुमारदास — मित्र! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। अब तो मैं सिंहल जाता हूँ — देश की पुकार है। इसलिये मैं स्वप्नों का देश 'भव्य भारत' छोड़ता हूँ। कविवर!इस क्षीण परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत — कभी आना।

मातृगुप्त — सम्राट कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमारदास! तुम क्या कुमार धातुसेन हो?

कुमारदास — हाँ मित्र, लंका का युवराज! हमारा एक मित्र, एक बाल सहचर प्रख्यात कीर्ति, महाबोधि-विहार का श्रमण है। उसे और गुप्त साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा, और देखा दर्प से उद्धत गुप्त-साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य। आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है।

मातृगुप्त — सम्राट कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्तन!

धातुसेन — सरल युवक! इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन — प्रलय — हुआ! परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट-शान्ति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोंनो हाथ में खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

मातृगुप्त — निस्सन्देह। अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे है। अद्भुत पहेली है!

धातुसेन — पहेली! यह भी रहस्य ही है। पुरुष है कुतूहल और प्रश्न; और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल — उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार! अभागा मनुष्य सन्तुष्ट है — बच्चों के समान। पुरुष ने कहा — 'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया — 'कौवा, बस, वह रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे वे। काले मेघ क्षितिज में एकत्र है, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है। निर्मल शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक

वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है। तुम भी सम्भवतः उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान! सिंहल तुम्हारे लिये प्रस्तुत है। (प्रस्थान)

मातृगुप्त — विचक्षण उदार कुमार! (प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(कुसुमपुर में अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ)

अनन्तदेवी — जया! रात्रि का द्वितीय पहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ?

जया — स्वामिनी! आप बड़ा भयानक खेल रही है।

अनन्तदेवी — क्षुद्र हृदय — जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते है, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते है, उनके लिये उन्नति का कण्टकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

जया — परन्तु राजकीय अन्तःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल कोमल है।

अनन्तदेवी — अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरो चलूँगी, अपनी शिक्षा रहने दे।

(जया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्तद्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है)

भटार्क — महादेवी की जय हो!

अनन्तदेवी — परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो?

अनन्तदेवी — मुझे विश्वास नहीं होता।

भटार्क — महादेवी! कल सम्राट के समक्ष जो विद्रुप और व्यंगबाण मुझ पर बरसाए गये है, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होगे। चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेंगे। मैं उन पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करूँगा। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचण्ड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है, मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। महादेवी! आज मैंने

अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान-बूझकर, कुछ समझकर। मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्यबाण के लिए नहीं।

अनन्तदेवी — तुम वीर हो भटार्क! तुम्हारे लिये उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है। महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हृदय उसके लिये आज ही से चिन्तित है, विकल है। सम्राट की मति एक-सी नहीं रहती वे अव्यवस्थित और चंचल है। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सुखों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त है।

भटार्क — मैं सब समझ हूँ। पुष्यमित्रों के युद्ध से मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ। मैं दूध पीनेवाला शिशु नहीं हूँ और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूँ, महादेवी! आप निश्चिंत रहे।

अनन्तदेवी — पुष्यमित्रों के युद्ध में भेजने के लिये मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया। भटार्क! क्रान्ति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

भटार्क — क्रान्ति के सहसा इतने समीप उपस्थित होने के तो कोई लक्षण मुझे नहीं दिखाई पड़ते।

अनन्तदेवी — राजधानी में आनन्द-विलास हो रहा है, और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है; इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी! आज तुम कालागुरु के गन्धधूम से सन्तुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च सौध-मन्दिरों में महापिचाशी की विप्लव ज्वाला धधकेगी! उस चिरायँध की उत्कट गन्ध असह्य होगी। तब तुम भटार्क! उस आगामी खण्ड-प्रलय के लिए प्रस्तुत हो कि नहीं? (ऊपर देखती हुई) उहूँ प्रपंचबुद्धि की कोई बात आज तक मिथ्या नहीं हुई।

भटार्क — कौन प्रपंच बुद्धि?

अनन्तदेवी — सूची-भेद्य अन्धकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का — प्रज्ज्वलित कठोर नियति का — नील आवरण उठाकर झाँकने वाला। उसकी आँखों में अभिचार का संकेत है; मुस्कुराहट में विनाश की सूचना है, आँधियों से खेलता है, बातें करता हैं — बिजलियों से आलिंगन!

प्रपंचबुद्धि — (सहसा प्रवेश करते हुए) स्मरण है भाद्र की अमावास्या?

(भटार्क और अनन्तदेवी सहमकर हाथ जोड़ते हैं)

अनन्तदेवी — स्मरण है, भिक्षु शिरोमणे! उसे मैं भूल सकती हूँ?

प्रपंचबुद्धि — कौन, महाबलाधिकृत! हँ-हँ-हँ-हँ, तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे, है आँखों में इतना बल? क्यों समझ लिया था कि इन मुण्डित-मस्तक जीर्ण कलेवर भिक्षु कंकालों में क्या धरा है? देखो, शव-चिता में नृत्य करती हुई तारा का ताण्डव नृत्य, शून्य! सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्डमालाओं की कन्दुक-क्रीड़ा! अश्वमेध हो चुके, उनके फलस्वरूप महानरमेध का उपसंहार भी देखो। (तीक्ष्ण दृष्टि से भटार्क को देखते हुए) है तुझ में — तू करेगा? अच्छा महादेवी! अमावास्या के पहले पहर में, जब नील गगन से भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा, महाशून्य की ओर देखना। जाता हूँ। सावधान! (प्रस्थान)

भटार्क — महादेवी! यह भूकम्प के समान हृदय को हिला देने वाला कौन व्यक्ति है? ओह, मेरा तो सिर घूम रहा है!

अनन्तदेवी — यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि है!

भटार्क — तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिये प्रस्तुत हूँ।

अनन्तदेवी — तब प्रतिश्रुत होते हो?

भटार्क — दास सदैव अनुचर रहेगा।

अनन्तदेवी — अच्छा, तुम इसी गुप्तद्वार से जाओ। देखूँ, अभी कादम्ब की मोहनिद्रा से सम्राट जगे कि नहीं!

जया — (प्रवेश करके) परम भटार्क अँगड़ाइयाँ ले रहे है। स्वामिनी शीघ्र चलिये। (प्रस्थान)

भटार्क — तो महादेवी, आज्ञा हो।

अनन्तदेवी — (देखती हुई) भटार्क! जाने को कहूँ? इस शत्रुपुरी में मैं असहाय अबला इतना — आह! (आँसू पोंछती है)

भटार्क — धैर्य रखिये। इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिये!अनन्तदेवी — तो भटार्क, जाओ।

जया — (सहसा प्रवेश करके) चलिये शीघ्र।

(दोनों जाती हैं)

भटार्क — एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है। ओह कितनी साहसशीला स्त्री है? देखूँ, गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है। परन्तु इसकी आँखों में कामपिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय मे

श्वालों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है। परन्तु... अच्छा चलूँ, यह विचार करने का स्थान नहीं है।

(गुप्त द्वार से जाता है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(अन्तःपुर का द्वार)

शर्वनाग — (टहलता हुआ) कौन-सी वस्तु देखी? किस सौन्दर्य पर मन रीझा? कुछ नहीं, सदैव इसी सुन्दरी खड्ग-लता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुन्दर है। वह मेरी स्त्री — जिसके अभावों का कोश खाली नहीं जिसकी भर्त्सनाओं का भण्डार अक्षय है, उसमें मेरी अन्तरात्मा काँप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान छूटी, पर रात बड़ी भयानक है। चलूँ अपने स्थान पर बैठूँ। सुनता हूँ कि परम भट्टारक की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है — जाने भगवान्...

भटार्क — (प्रवेश करते हुए) कौन?

शर्वनाग — नायक शर्वनाग।

भटार्क — कितने सैनिक हैं?

शर्वनाग — पूरा एक गुल्म।

भटार्क — अन्तःपुर से कोई आज्ञा मिली है?

शर्वनाग — नहीं।

भटार्क — तुमको मेरे साथ चलना होगा। शर्वनाग — मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ?

भटार्क — महादेवी के द्वार पर।

शर्वनाग — वहाँ मेरा क्या कर्तव्य होगा?

भटार्क — कोई न तो भीतर जाने पाये और न भीतर से बाहर आने पाये।

शर्वनाग — (चौंककर) इसका तात्पर्य?

भटार्क — (गम्भीरता से) तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करनी चाहिये।

शर्वनाग — तब भी, क्या स्वयं महादेवी पर नियन्त्रण रखना होगा?

भटार्क — हाँ।

शर्वनाग — ऐसा!

(कोलाहल, भीषण उल्कापात)

भटार्क — ओह, ठीक समय हो गया! अच्छा मैं अभी आता हूँ।

(द्वार खोलकर भटार्क भीतर जाता है। रामा का प्रवेश)

रामा — क्यों, तुम आज यहीं हो?

शर्वनाग — मैं, मैं यहीं हूँ, तुम कैसे?

रामा — मूर्ख! महादेवी सम्राट को देखना चाहती है, परन्तु उनके आने में बाधा है। गोबर-गणेश! तू कुछ कर सकता है?

शर्वनाग — मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह ी पूँछ उखाड़ सकता हूँ; परन्तु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।

रामा — (पैर पटक कर) तुम कीड़े से भी अपदार्थ हो।

शर्वनाग — न-न-न-न, ऐसा न कहो, मैं सब कुछ हूँ। परन्तु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो! मुझे क्या करना होगा?

रामा — महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा? क्या आज इस सम्पूर्ण गुप्त-साम्राज्य में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो उनकी रक्षा

करे! शत्रु अपने विषैले डंक और तीखे दाढ़ सँवार रहे है। पृथ्वी के नीचे कुमन्त्रणाओं का क्षीण भूकम्प चल रहा है।

शर्वनाग — यही ता मैं भी कभी-कभी सोचता था। परन्तु...

रामा — तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर जाओ। मैं जाती हूँ। (जाती है)

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक — नायक! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है! पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है। यह सब क्या है। नायक?

शर्वनाग — तुम्हारी तलवार कही भूल तो नहीं गयी है?

सैनिक — म्यान हल्की-सी लगती है, टटोलता हूँ, पर...

शर्वनाग — तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सबको सचेत रखो। हम इसी शिला पर है, कोई डरने की बात नहीं।

(सैनिक जाता है, फाटक खोलकर पुरगुप्त निकलता है, पीछे-पीछे भटार्क और सैनिक)

शर्वनाग — जय हो कुमार की! क्या आज्ञा है?

पुरगुप्त — तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो।

शर्वनाग — दास चिर-अपराधी है कुमार! (सिर झुका लेता है)

भटार्क — इन्हें महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिये, ये विश्वस्त सैनिक वीर है।

पुरगुप्त — जाओ, तुम महादेवी के द्वार पर। जैसा महाबलाधिकृत ने कहा है, वैसा करना।

शर्वनाग — जैसी आज्ञा।

(अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है। दूसरे नायक और सैनिक परिक्रमण करते है)

भटार्क — कोई भी पूछे तो यह मत कहना कि सम्राट का निधन हो गया है। हाँ, बढ़ी हुई अस्वस्थता का समाचार बतलाना और सावधान, कोई भी — चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हों —

भीतर न आने पावें। तुम यही करना कि परम भट्टारक अत्यन्त विकल है, किसी से मिलना नहीं चाहते। समझा?

नायक — अच्छा...

(दोनों जाते हैं, फाटक बन्द होता है)

नायक — (सैनिकों से) आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयों सावधान!

(कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महादण्डनायक और महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार — नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे।

नायक — प्रभु! किसी को भीतर जाने की आज्ञा नहीं है।

महाप्रतिहार — (चौंककर) आज्ञा! किसकी आज्ञा? अबोध तू नहीं जानता — सम्राट के अन्तःपुर पर स्वयं सम्राट का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहार का? शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक — दण्ड दीजिये प्रभु, परन्तु द्वार न खुल सकेगा।

महाप्रतिहार — तू क्या कह रहा है?

नायक — जैसी भीतर से आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य — (पैर पटककर) ओह!

महादण्डनायक — विलम्ब असह्य है, नायक! द्वार से हट जाओ।

महाप्रतिहार — मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम अन्तःपुर से हट जाओ युवक! नहीं तो तुम्हें पदच्युत करूँगा।

नायक — यथार्थ है। परन्तु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हीं के अधीनस्थ सैनिक हूँ। महाप्रतिहार के अन्तःपुर-रक्षकों में मैं नहीं हूँ।

महाप्रतिहार — क्या अन्तपुर पर भी सैनिक नियंत्रण है? पृथ्वीसेन!

पृथ्वीसेन — इसका परिमाण भयानक है। अन्तिम शैय्या पर लेटे हुए सम्राट की आत्मा के कष्ट पहुँचाना होगा।

महाप्रतिहार — अच्छा (कुछ देखकर) हाँ, शर्वनाग कहाँ गया?

नायक — उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रतिहार — (क्रोध से) मूर्ख शर्वनाग!

महादण्डनायक — (कान लगाकर अन्तःपुर का क्षीण क्रन्दन सुनते हुए) क्या सब शेष हो गया? हम अवश्य भीतर जायँगे।

(तीनों तलवार खींच लेते है, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश)

पृथ्वीसेन — भटार्क! यह सब क्या है?

भटार्क — (तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ) परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो! माननीय कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र-अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन कीजिए)

(तीनों एक-दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार — तब क्या सम्राट कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं?

भटार्क — नहीं।

पृथ्वीसेन — परन्तु उत्तराधिकारी युवराज स्कन्दगुप्त?

पुरगुप्त — चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकारी का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट कर गये हैं।

पृथ्वीसेन — परन्तु प्रमाण?

पुरगुप्त — क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा?

पृथ्वीसेन — अवश्य!

पुरगुप्त — महाबलाधिकृत! इन विद्रोहियों को बन्दी करो।

(भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन — ठहरो भटार्क! तुम्हारी विजय हुई, परन्तु एक बात...

पुरगुप्त — आधी बात भी नहीं, बन्दी करो।

पृथ्वीसेन —कुमार! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त-साम्राज्य का राजदण्ड टिकेगा नहीं। सम्भवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे। इसलिये कुमार! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त — महाबलाधिकृत! क्यों विलम्ब करते हो?

भटार्क — आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिये।

महाप्रतिहार — आततायी! यह स्वर्गीय आर्य चन्द्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रखा जा सकता। उठा अपना शस्त्र और अपनी रक्षा कर।

पृथ्वीसेन — महाप्रतिहार! सावधान! क्या करते हो? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड़ रही है, उस समय बलनाश करने का नहीं है। आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधानानुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। परन्तु भटार्क! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति की — प्राण देकर भी — रक्षा

करना। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर न्योछावर हों। आर्य साम्राज्य की जय हो! (छुरा मारकर गिरता है, महाप्रतिहार और महादण्डनायक भी वैसा ही करते हैं।)

पुरगुप्त — पाखंड स्वयं विदा हो गये — अच्छा ही हुआ।

भटार्क — परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक!

पुरगुप्त — कुछ नहीं। (भीतर जाता है)

भटार्क — तो जायँ, सब जायँ, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के-से उज्ज्वल-हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिये बलि हों!

(मंद होते प्रकाश में दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(नगर-प्रान्त के पथ में)

मुद्गल — (प्रवेश करके) किसी के सम्मान-सहित निमन्त्रण देने पर पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना — एक दूसरी

बात है; और भटकते, थकते, उछलते-कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते — हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना — एक भिन्न वस्तु है। कहाँ हम और कहाँ यह दौड़, कुसुमपुरी से अवन्ति और अवन्ति से मूलस्थान! इस बार की आज्ञा का तो पालन करता हूँ; परन्तु यदि, तथापि पुनश्च, फिर भी, कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठकर विचार कर लूँ कि सैंकड़ो योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चलकर काम कर लेना। (गठरी रख बैठकर ऊँघने लगता है)

(मातृगुप्त का प्रवेश)

मातृगुप्त — मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिए भेजा, देखता हूँ कि मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा! चलें, इसे कुछ तंग करें, थोड़ मनोविनोद ही सही।

(कपड़े से मुँह छिपाये, गठरी खींचकर चलता है।)

मुद्गल — (उठकर) ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते है, तुम कष्ट न करो।

(मातृगुप्त चक्कर काटता है, मुद्गल पीछे-पीछे दौड़ता है)

मातृगुप्त — (दूर खड़ा होकर) अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टाँग टूटी!?

मुद्गल — अपनी गठरी बचाने में टाँग का टूटना बुरा नहीं, अपशकुन नहीं। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये है। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण है, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। डण्डा न दिखाओ। हाँ, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है? बोलो —

मातृगुप्त — न्याय? तब तो तुम आप्तावक्य अवश्य मानते होगे?

मुद्गल — अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा?

मातृगुप्त — हाँ, तुमने गीता पढ़ी होगी?

मुद्गल — हाँ अवश्य, ब्राह्मण और गीता न पढ़े!

मातृगुप्त — उसमें लिखा है कि "न त्वेवाहं जातु नाऽसौ न त्वं नेमे" – न हम है, न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है, न हमारी — फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगड़ा!

मुद्गल — ओहो! तुम नहीं समझे!

मातृगुप्त — क्या?

मुद्गल — गीता सुनने के बाद क्या हुआ?

मातृगुप्त — महाभारत!

मुद्गल — तब भइया, इस गठरी के लिए महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी में हाथ लगाया कि डण्डा (तानते हुए) लगा।

मातृगुप्त — मुद्गल, डण्डा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूच्यग्र-भाग के लिए दूध और मधु से बना हुआ रक्त एक बूँद भी गिराऊँ! (गठरी देता है)

मुद्गल — अरे कौन! मातृगुप्त!

मातृगुप्त — (नेपथ्य का कोलाहल सुनते हुए) हाँ मुद्गल। इधर तो शकों और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।

मुद्गल — और मैं महादेवी का सन्देश लेकर अवन्ति गया, वहाँ युवराज नहीं थे। बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त को जिस तरह हो, खोज निकालो। यहाँ तो विकट समस्या है। हम लोग क्या सकते है?

मातृगुप्त — कुछ नहीं, केवल भगवान् से प्रार्थना। साम्राज्य में कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कन्दगुप्त क्या करेंगे?

मुद्गल — परन्तु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते हीं नहीं। इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है। मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी है।

मातृगुप्त — नहीं मुद्गल, निरीह प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिये है? देखो — वह दूर पर बँधे हुए नागरिक और उन पर हूणों की नृशंसता! ओह!!

मुद्गल — अरे! हाय रे बाप!!

मातृगुप्त — सावधान! असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ, हम लोग भगवान् से विनती करे —

(सम्मिलित स्वर से)
उतारोगे अब कब भू-भार
बार-बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार
उमड़ रहा है इस भूतल का दुख का पारावार
बाडव खेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार
प्रलय-पयोधर बरस रहे है रक्त-अश्रु की धार
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार
पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार

सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार

(बन्दियों का साथ हूण सैनिकों का प्रवेश)

हूण — चुप रह, क्या गाता है?

मुद्‌गल — हे हे, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ। आप भी कुछ दीजियेगा? (दीन मुद्रा बनाता है)

हूण — (धक्का देते हुए) चल, एक ओर खड़ा हो। हाँ जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया, बड़े कुत्ते है!

नागरिक — हम निरीह प्रजा है। हम लोगों के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दे। सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति — तुम लोग बातें बनाना खूब जानते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना चाहते हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए हुए लोहे प्रस्तुत है — कोड़े और तेल में तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो!

नागरिक — प्राण तो तुम्हारे हाथों में है, जब चाहों ले लो।

हूण-सेनापति — (कोड़े से मारता हुआ) उसे तो ले लेंगे ही; पर धन कहाँ है?

नागरिक — नहीं है निर्दय! हत्यारे! कह दिया कि नहीं है।

हूण-सेनापति — (सैनिकों से) इन बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डाल कर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो।

स्त्रियाँ — हे नाथ!

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो,
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो?
नहीं तो नाम ही बस नाम है क्या,
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो?
पुकार जब किसी ने तब सुना था,
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो?

(स्त्रियों को पकड़ कर हूण खींचते हैं)

मातृगुप्त — हे प्रभु!

हमें विश्वास दो अपना बना लो
सदा स्वच्छंद हों — चाहे जहाँ हों।

इन निरीहों के लिये प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरों! स्त्रियों पर यह अत्याचार!

(तलवार से बन्धन काटता है, लपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश)

संन्यासी — साधु! वीर!सम्हलकर खड़े हो जाओ — भगवान् पर विश्वास करके खड़े हो।

मुद्गल — (पहचानता हुआ) जय हो महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो!

(सब उत्साहित होकर भिड़ जाते है, हूण सैनिक भागते है)

गोविन्दगुप्त — अच्छा मुद्गल! तुम यहाँ कैसे? और युवक! तुम कौन हो?

मातृगुप्त — युवराज स्कन्दगुप्त का अनुचर।

मुद्गल — वीर पुङ्गव! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेश में!

गोविन्दगुप्त — क्या कहूँ मुद्गल! स्कन्द कहाँ है?

मातृगुप्त — उज्जयिनी में!

गोविन्दगुप्त — अच्छा है, सुरक्षित है। चलो,दुर्ग में हमारी सेना पहुँच चुकी है। वहाँ विश्राम करो। यहाँ का प्रबन्ध करके हमको

शीघ्र आवश्यक कार्य से मालव जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं।

सब — जय हो महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की!

गोविन्दगुप्त — पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ?

मातृगुप्त — विजय हुई।

गोविन्दगुप्त — और मालव का?

मुद्गल — युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्मा की सहायता के लिये गये है।

गोविन्दगुप्त — (ऊपर देखकर) वीरपुत्र है। स्कन्द! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करे। आर्य-साम्राज्य के तुम्हीं एकमात्र भरोसा हो।

मुद्गल — तब, महाराजपुत्र! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिये।

गोविन्दगुप्त — हाँ-हाँ, सब लोग चलो।

(सब जाते हैं।)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(अवन्ती के दुर्ग में देवसेना, विजया, जयमाला)

विजया — विजय किसकी होगी — कौन जानता है।

जयमाला — तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है!

देवसेना — और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं।

विजया — (संकुचित होकर) नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला — परन्तु एक उपाय है।

विजया — वह क्या?

जयमाला — रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना — तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना,न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला — तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश — वही यदि इन धनलोलुप शृंगालों को दे दिया जाता, तो...

विजया — किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है!

जयमाला — ठहरो, कोई आ रहा है।

बन्धुवर्मा — (प्रवेश करके) प्रिये! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। संभवतः शकों और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।

जयमाला - नाथ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था? जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह-विक्रम से शत्रु पर टूट पड़ो! दुर्ग-रक्षा का भार मे लेती हूँ।

विजया — महाराज! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।

बन्धुवर्मा — घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये!

जयमाला — स्वर्ण-रत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठि-कन्ये! हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है।

बन्धुवर्मा — प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए। अच्छा दुर्ग को तो नहीं, अन्तःपुर का भार तुम्हारे ऊपर है।

देवसेना — भैया, आप निश्चिंत रहिये।

बन्धुवर्मा — भीम दुर्ग की निरीक्षण करेगा। मैं जाता हूँ । (जाता है)

विजया — भयानक युद्ध समीप जान पड़ता है — क्यों राजकुमारी!

देवसेना — तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊँ।

विजया — हँसी न करो राजकुमारी।

जयमाला — बुरा क्या है?

विजया — युद्ध और गान!

जयमाला — युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताडंव-नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर एक भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौंदर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव — केवल सच्चे वीर-हृदय होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर-संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के स्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य-सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।

देवसेना — तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नहीं।

जयमाला — तो गाओ न!

विजया — रानी! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो — या स्त्री हो? देवी ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग....

जयमाला — सुनो, देवसेना गा रही है —

(देवसेना गाती है।)

भरा नैनो में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल-मारुत, व्योम में, जो — छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गयी मैं, पागल-प्रेम विभोर।
भाग से भरा हुआ यह कूप।
भरा नैनो में मन में रूप।
धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान।
बलिहारी मैं कौन तू है मेरा जीवन-प्रान।
खेलता जैसे छाया-धूप।
भरा नैनो में मन में रूप।

भीमवर्मा — (सहसा प्रवेश करके) भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अंतःपुर के बाहरी द्वार पर है। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला — उनका क्या समाचार है?

भीमवर्मा — अभी कुछ नहीं मिला। गिरिसंकट में उन्होंने शत्रुओं को रोका था, परन्तु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई। मैं जाता हूँ, सावधान!

(जाता है। नेपथ्य में कोलाहल। भयानक शब्द)

विजया — महारानी! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिये।

जयमाला — (छुरी निकाल कर) रक्षा करने वाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना?

देवसेना — भाभी। श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी दे दो।

विजया — न-न-न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक!

देवसेना — इतनी सुन्दर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने योग्य नहीं है?

विजया — (धड़ाके का शब्द सुनकर) ओह! तुम लोग बड़ी निर्दय हो!

जयमाला — जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ!

(रक्त से लथपथ भीमवर्मा का प्रवेश)

भीमवर्मा — भाभी! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ। वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा। परन्तु...

जयमाला — हम लोगों की चिंता न करो — वीर! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना क्षत्रियों का धर्म है। एक प्रकार की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु का हृदय कँपा दो — वीर! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान — आगे पीछे, सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे!

(भीमवर्मा का प्रस्थान। द्वार का टूटना। विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश। पुनः भीमवर्मा का आकर रोकना। गिरते-गिरते भीमवर्मा का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध। सहसा स्कन्दगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश। 'युवराज स्कन्दगुप्त की जय' – का घोष । शक और हूण स्तंभित होते है।)

स्कन्दगुप्त — ठहरो देवियों? स्कन्द के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा।

(युद्ध शत्रु पराजित और बन्दी होते हैं)

विजया — (झाँककर) अहा! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है!

स्कन्दगुप्त — (विजया को देखकर देवसेना से) यह — यह कौन?

(पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(मालव में शिप्रा-तट कुंज में)

देवसेना — इसी पृथ्वी पर है — और अवश्य है।

विजया — कहाँ राजकुमारी? संसार में छल, प्रवंचना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत ही नरक है, कृतघ्नता और पाखंड का साम्राज्य यही है। छीना-झपटी, नोच-खसोट, मुँह में से आधी रोटी छीन कर भागने वाले विकट

जीव यही तो है! स्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना — पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। विजया! आकाश से सुन्दर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते है, वे कुसुम-कोमल है कि वज्र-कठोर कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नहीं। परन्तु इसी संसार में नक्षत्र से उज्ज्वल — किन्तु कोमल — स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

विजया — होंगे, परन्तु मैंने नहीं देखा।

देवसेना — तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा?

विजया — नहीं तो —

देवसेना — समझ कर कहो।

विजया — हाँ समझ लिया।

देवसेना — क्या तुम्हारा हृदय कभी पराजित नहीं हुआ? विजया! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नहीं हुआ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है। जहाँ

हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है — वहीं स्वर्ग है। वही विहार का, वहीं प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजया — तो राजकुमारी — मैं कह दूँ?

देवसेना — हाँ-हाँ, तुम्हें कहना ही होगा।

विजया — मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पडा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं — उसे कुछ राजकीय प्रभाव कह कर टाल भी सकती हूँ।

देवसेना — विजया! वह टालने से, बहला देने से, नहीं हो सकता! तुम भाग्यवती हो, देखा यदि यह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे (सामने देखकर) अरे लो!

(दोनों जाती हैं। स्कन्दगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित)

स्कन्दगुप्त — विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत भावना है। चक्रपालित! संसार में जो सबसे महान् है, वह

क्या है? त्याग — त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना — वीरता का रहस्य है।

चक्रपालित — युवराज! सम्पूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है। प्राणियों का विकास संभवतः इसी विचार से ऊर्ज्जित होने से हुआ है। जीवन में वही तो विजयी होता है जो रात-दिन 'युद्धस्व विगतज्वर' का शंखनाद सुना करता है।

स्कन्दगुप्त — चक्र! ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए रात-दिन लड़ना पड़े! आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-राशि का विलास ही, तब दाँत-पर-दाँत रखे, मुट्ठियाँ बाँधे — लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करे! वसंत के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय। नहीं-नहीं चक्र! मेरी समझ में मानव जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ रहस्य है, चाहे मैं स्वयं उसे न जान सका हूँ।

चक्रपालित — सावधान युवराज! प्रत्येक जीवन में कोई बार काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते है। वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ो से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है। अयोध्या चलने के

लिए आपने कब का समय निश्चित किया है? राजसिंहासन कब तक सूना रहेगा? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके है।

स्कन्दगुप्त — तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्रपालित — हाँ युवराज! मुझे यह अधिकार है।

स्कन्दगुप्त — नहीं चक्र! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा नहीं करना चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिये। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे...

चक्रपालित — यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के केन्द्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो जायेगा। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

(चर का आकर कुछ संकेत। दोनों का प्रस्थान। देवसेना और विजया का प्रवेश)

विजया — यह क्या राजकुमारी! युवराज तो उदासीन है।

देवसेना — हाँ विजया! युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया — दुर्बलता उन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना — कही तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का परदा तो नहीं हट रहा है? क्यों विजया! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा?

विजया — राजकुमारी! तुम तो निर्दय वाक्य-बाणों का प्रयोग कर रही हो।

देवसेना — नहीं विजया, बात ऐसी नहीं है! धनवानों के हाथ में एक ही माप हैं;विद्या, सौन्दर्य्य, बल, पवित्रता --और तो क्या — हृदय को भी उसी से मापते है। वह माप है उनका — ऐश्वर्य्य!

विजया — परन्तु राजकुमारी! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है? अवश्य है। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुख-मंडल है।

देवसेना — और सबसे अच्छी एक बात है — तुम समझती हो कि यह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो — क्यो? भाई तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो, मेरी दलाली नहीं चलेगी।

विजया — जाओ राजकुमारी —

देवसेना — एक गाना सुनोगी?

विजया — महारानी खोजती होगी, अब चलना चाहिये।

देवसेना — तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का, ठीक सिद्धांत नहीं जानती हो।

विजया — क्या?

देवसेना — नये ढंग के आभूषण, सुन्दर, वसन, भरा हुआ यौवन — यह सब तो चाहिये ही, परन्तु एक वस्तु और चाहिये। पुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिये — धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य है — एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का अभिनय उसके मुख पर रहे — जिससे कुछ आडी-तिरछी रेखायें मुख पर पड़े और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय। और फिर, दो बूँद गरम-गरम आँसू और इसके बाद एक तान — वागीश्वरी की करुण-कोमल तान। बिना इसके सब रंग फिका —

विजया — उस समय भी गान?

देवसेना — बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल है। आह! तुमने सुना नहीं? दुर्भाग्य तुम्हारा! सुनोगी?

विजया — राजकुमारी! गाने का भी रोग होता है क्या? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर शिर को इस जोर से हिला देना, जैसे उस तान से शून्य में एक हिलौर उठ गई!

देवसेना — विजया! प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है। इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो बेताल-बेसुर बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छ्लछ्ल' में, काकली में — रागिनी है।

विजया — राजकुमारी, क्या कह रही हो?

देवसेना - तुमने एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ — पारिजात वृक्ष देखा है?

विजया — नहीं तो।

देवसेना — उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कंप उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर, ताली बजाकर, झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है — सुनता है। उसके अंतर में जीवनशक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है —

धने-प्रेम-तरु-तलै

बैठ छाँह लो भव-आपत से तापित और जले,
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले।
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे चले.
पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,

(बन्धुवर्मा का प्रवेश)

देवसेना — (संकुचित होती-सी) अरे भइया —

बन्धुवर्मा — देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।

देवसेना — रोग तो एक-न-एक सभी को लगता है। परन्तु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते है।

बन्धु — पगली! जा देख, युवराज जा रहे है, कुसुमपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना — तब उन्हें जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती है क्या?

बन्धुवर्मा — हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। संभवतः सिंहासन पर बैठने का — राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना — क्या आप को ठीक नहीं मालूम?

बन्धुवर्मा — नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं। परन्तु भौंहों के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ में नहीं आती।

देवसेना — भइया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी रहस्य है। जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रन्दन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से टाल देते हो — यह बड़ी प्रवंचना है।

बन्धुवर्मा — (हँसकर) अच्छा — जा उधर, उपदेश मत दे! (विजया और देवसेना जाती है) उदार, वीर-हृदय, देवीपम-सौंदर्य, इस आर्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र-लिपियों से अंकित है। अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखूँ कौन विजयी होता है। परन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ — अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है — चलूँ। (जाता है)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग)

प्रपंचबुद्धि — बाहर देख लो, कोई है तो नहीं।

(शर्वनाग जाकर लौट आता है)

शर्वनाग — कोई नहीं, परन्तु आप इतना चौंकते क्यों है? मैं कभी यह चिन्ता नहीं करता कि कौन आया या कौन आवेगा।

प्रपंचबुद्धि — तुम नहीं जानते।

शर्वनाग — नहीं श्रमण, हाथ में खड्ग लिये प्रत्येक भविष्यत् की मैं प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा — वहीं निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी।

प्रपंचबुद्धि — प्रत्येक भित्ति के, किवाड़ के — कान होते है, समझ लेना चाहिये, देख लेना चाहिए।

शर्वनाग — अच्छी बात है, कहिये।

भटार्क — पहले तुम चुप तो रहो।

(शर्वनाग चुप रहने की मुद्रा बनाता है)

प्रपंचबुद्धि — धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

शर्वनाग — भिक्षु शिरोमणे! वह कौन-सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है?

प्रपंचबुद्धि — यही — हत्या रोकना, अहिंसा गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हाँ, अवसर ऐसा है कि हम वह काम भी करे जिससे तुम चौंक उठो। परन्तु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क — क्या?

प्रपंचबुद्धि — महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की संभावना है।

शर्वनाग — ठीक है, तभी आप चौंकते है, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे — क्यों?

भटार्क — ठहरो शर्व! परन्तु महास्थविर! क्या उसकी अत्यंत आवश्यकता है?

प्रपंचबुद्धि — नितांत?

शर्वनाग — बिना इसके काम नहीं चलेगा? धर्म नहीं प्रचारित होगा?

प्रपंचबुद्धि — और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्वनाग — (चौंककर) मुझे! मैं कदापि नहीं...।

भटार्क — शीघ्रता न करो शर्व! भविष्यत् के सुखों से इसकी तुलना करो।

शर्वनाग — नाप-तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा हो। मैं भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ — परन्तु, निरीह-हत्या — यह मुझसे नहीं...!

भटार्क — मेरी आज्ञा!

शर्वनाग — तुम सैनिक हो — उठाओ तलवार! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करे। देखे, मरने से कौन भागता है! कायरता — अबला महादेवी की हत्या! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो।

भटार्क — सावधान शर्व — इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते! या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वांग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा — लूँगा! साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्वनाग — नहीं भटार्क! लाभ के लिए ही मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था, मुझसे यह नहीं होने का।

प्रपंचबुद्धि — ठहरो भटार्क। मुझे पूछने दो। क्यों शर्व! तुमने जो अस्वीकार किया है, वह क्यों — पाप समझकर!

शर्वनाग — अवश्य।

प्रपंचबुद्धि — तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है — पवित्र है। संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके — जीने से क्या लाभ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो! परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म?

शर्वनाग — हाँ।

प्रपंचबुद्धि — मार डालना, प्राणी का अंत कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है — यही न!

शर्वनाग — हाँ, ऐसा ही तो।

प्रपंचबुद्धि — तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कर्म के अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्वनाग — दूसरा उपाय क्या?

प्रपंचबुद्धि — है क्यों नहीं। हम कर्म की जाँच परिणाम से करते है, और यही उद्देश्य तुम्हारे स्थान और समय वाली जाँच का होगा।

शर्वनाग — परन्तु जिसके भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूर्व कर्म कर सकते हो?

प्रपंचबुद्धि-- आशा पर — जो सृष्टि का रहस्य है! आओ इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। (मदिरा का पात्र भरता है। स्वयं पीकर सबको बार-बार पिलाता है)

प्रपंचबुद्धि — क्यों, कैसी कड़वी थी?

शर्वनाग — उँह, हृदय तक लकीर खिंच गई।

भटार्क — परन्तु अब तो एक आनन्द का स्रोत हृदय में बहने लगा है।

शर्वनाग — मैं नाचूँ ।(उठना चाहता है)

प्रपंचबुद्धि — ठहरो — मेरे साथ! (उठकर दोनों नाचते है अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है। उसे चोट लगती है)

भटार्क — अरे रे! (सम्हलकर उठाता है)

प्रपंचबुद्धि-- कुछ चिन्ता नहीं।

शर्वनाग — बड़ी चोट आई।

प्रपंचबुद्धि — परन्तु परिणाम अच्छा हुआ — तुम लोगों पर विपत्ति आने वाली थी।

भटार्क — वह टल गई क्या? (आश्चर्य से देखता है)

शर्वनाग — क्यों सेनापति टल गई?

प्रपंचबुद्धि — उसी विपत्ति का निवारण करने के लिए मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ, अब तुम लोग निर्भय हो!

भटार्क — धन्य गुरुदेव!

शर्वनाग — आश्चर्य!

भटार्क — शंका न करो, श्रद्धा करो, श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व, अब भी तुम विश्वास नहीं करते?

शर्वनाग — करता हूँ। जो आज्ञा होगी वही करूँगा।

प्रपंचबुद्धि — अच्छी बात है चलो —

(सब जाते हैं कुमारदासरूपी धातुसेन का प्रवेश)

धातुसेन — मैं अभी यही रह गया, सिंहल नहीं गया। इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई। परन्तु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहाँ तो आने को था। (देखते हुए) लो — वह आ गया।

मुद्गल — (समीप से देखते) क्यों भइया, तुम्हीं धातुसेन हो?

धातुसेन — (हँसकर) पहचानते नहीं?

मुद्गल — किसी की धातु पहचानना बड़ा असाधारण कार्य है। तुम किस धातु के हो?

धातुसेन — भाई, सोना अत्यन्त घन होता है। बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है। मैं सोना नहीं हूँ, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है वह है 'लोहा'।

मुद्गल — तब तुम लोहे के हो?

धातुसेन — लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोह को भी काट डालता है। उँह, भाई! मैं तो मिट्टी हूँ — मिट्टी जिसमें वे सब निकलते है। मेरी समझ में तो शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते है, लड़ते है, जलते है, टूटते है, फिर मिट्टी हो जाते है। इसलिए मुझे मिट्टी समझो — धूल समझो। परन्तु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा?

मुद्‌गल — मुक्ति का उपाय! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवाले की चोट से गिर जाने में और शूद्रों की — हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी है, सम्भवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।

धातुसेन — तुमने ठीक सोचा, आज अर्धरात्रि में — कारागार में।

मुद्‌गल — कुछ चिन्ता नहीं, चलो युवराज आ गये है।

धातुसेन — मैं भी प्रस्तुत रहूँगा।

(दोनों का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग। मदिरोन्मत शर्वनाग का प्रवेश)

शर्वनाग — कादंब, कामिनी, कंचन-वर्णमाला के पहले अक्षर। करना होगा। इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं तो कर्म क्यों करें? 'कर्म' में एक 'कु' और जोड़ दें — तो अच्छी वर्णमैत्री होगी! (लड़खड़ाते हुए) कादंब! ओह प्यास! (प्याले में मदिरा उड़ेलता है) लाल — यह क्या रक्त है? आह! कैसी भीषण कमनीयता है! लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है। किसका? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो। अरे रे, नहीं, दुर्बल नारी — उँह यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, सामने सोने का संसार खड़ा है!

रामा — (प्रवेश करते) पामर सोने की लंका राख हो गई।

शर्वनाग — उसमें मदिरा न रही होगी, सुन्दरी!

रामा — मदिरा का समुद्र उफन रहा था, मदिरा-समुद्र के तट पर ही तो लंका बसी थी!

शर्वनाग — तब उसमें तुम जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो — स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुड़ैल?

रामा — स्त्री को देखते ही ढिलमिल हुए, आँखें फाड़कर देखते हैं — जैसे खा जायँगे। मैं कोई हूँ!

शर्वनाग — सुन्दरी! यह तुम्हारा ही दोष है। तुम लोगों का वेश-विन्यास, आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटना, चलने में एक क्रीड़ा, एक कौतूहल, पुकार कर — टोंक कर कहते है — 'हमें देखो' – क्या करे हम, देखती ही बनता है!

रामा — दुर्वृत्त! तू अपनी स्त्री को नहीं पहचानता है? परस्त्री समझ कर उसे छेड़ता है!

शर्वनाग — (सम्हल कर) अयँ! अरे — ओह! मेरी रामा तुम हो?

रामा — हाँ, मैं हूँ।

शर्वनाग — (हँसकर) तभी तो, मैं तुमको जानकर ही बोला, नहीं भला मैं किसी स्त्री से ... (जीभ निकालकर कान पकड़ता है)

रामा — अच्छा, यह तो बताओ, कादंब पीना कहाँ से सीखा और यह क्या बकते थे?

शर्वनाग — अरे प्रिय! तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा सुनो —

रामा — हाँ हाँ, कहो।

शर्वनाग — (निकट जाकर) तुमको रानी बनाऊँगा।

रामा — (चौंककर) क्या?

शर्वनाग — (और निकट जाकर) तुम्हें सोने से लाद दूँगा।

रामा — किस तरह?

शर्वनाग — वह भा बतला दूँ? तुम नित्य कहती हो कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है — तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ।'

रामा — अरे कहो भी!

शर्वनाग — वह पीछे बताऊँगा। आज तुम महादेवी के बंदीगृह में न जाना, समझी न?

रामा — (उत्सुकता से) क्यों?

शर्वनाग — सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना, क्योंकि आज वहाँ जो कांड होगा, उसे तुम देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ।

रामा — (डरती हुई) क्या करोगे तुम? पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो तुम — क्या करोगे — बोलो!

शर्वनाग — (मद्यपान करता हुआ) हत्या — थोड़ी-सी मदिरा दे — शीघ्र दे! नहीं तो छुरा भोंक दूँगा। ओर मेरा नशा उखड़ा जा रहा है!

रामा — आज तुम्हें क्या हो गया है — मेरे स्वामी! मेरे...

शर्वनाग — अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूँ, सोना मिलने से सब हो जाऊँगा — इसी का उद्योग कर रहा हूँ।

(इधर-उधर देखकर बगल से सुराही निकाल कर पीता है)

रामा — ओह! मैं समझ गई? तूने बेच दिया — पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभवश मनुष्य से पशु हो गया। रक्त पिपासु! क्रूरवर्मा मनुष्य! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा! नरक की दुर्गन्ध! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसके कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो — नहीं करने पावेगा।

शर्वनाग — क्या तू — ओ तू...

रामा — हाँ-हाँ, मैं न होने दूँगी। ले मुझे ही मार ले हत्यारे! मद्यप! तेरी रक्त-पिपासा शांत हो जाय। परन्तु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी सी प्रलय की काली आँधी बन कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेट कर ताण्डव नृत्य करूँगी। मान जा, इसी में तेरा भला है।

शर्वनाग — अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायेगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा?

रामा — मैं दूँगी। सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य-रूप में चाहिए। (पैर पड़ती है) स्वामी! हिंस्र-पशु भी जिनसे पाले जाते है, उन पर चोट नहीं करते, अरे तुम तो मस्तिष्क रखने वाले मनुष्य हो।

शर्वनाग — (ठुकरा देता है) जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्यायें करनी पड़ेगी! मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ!

रामा — (प्रार्थना करती हुई) तुम्हारा यह झूठा सत्य है! ऐसा प्रतिज्ञाओं का पालना सत्य नहीं कहा जा सकता, ऐसे धोखे का सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते है। स्वामी! मान जाओ।

शर्वनाग — ओह, विलंब होता है, तो पहले तू ही ले — (पकड़ना और मारना चाहता है — रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ाकर भाग जाती है)

(अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश)

भटार्क — शर्व!

शर्वनाग — जय हो! मैं प्रस्तुत हूँ, परन्तु मेरी स्त्री इसमें बाधा डालना चाहती है। मैं पहले उसी को पकड़ना चाहता था, परन्तु वह भगी।

अनन्तदेवी — सौगन्ध है! यदि ते विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायेगा।

प्रपंचबुद्धि-- शर्व! तुम तो स्त्री नहीं हो।

शर्वनाग — नहीं मैं प्रतिश्रुत हूँ परन्तु...

भटार्क — तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का यह प्रमाण-पत्र प्रस्तुत है (दिखाता है) काम हो जाने पर —

शर्वनाग — तब शीघ्र चलिये, दुष्टा रामा भी पहुँच ही गयी होगी।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

रामा — महादेवी! मैं लज्जा के गर्त्त में डूब रही हूँ। मुझे कृतघ्नता और सेवा धर्म धिक्कार दे रहे है मेरा स्वामी...

देवकी — शांत हो रामा! बुरे दिन कहते किसे है? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें — आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें — तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा — महादेवी! परन्तु आपकी क्या दशा होगी!

देवकी — मेरी दशा? मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने वचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया — अपना स्निग्ध अंचल — सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिए रहती है।

रामा — परन्तु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और...

देवकी — न घबरा रामा! एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दुर्दात प्रेतों और क्रूर पिशाचों का त्रास — उनकी ज्वाला — दयामय की कृपा-दृष्टि के एक बिन्दु से शांत होती है।

(नेपथ्य से गान)

पालना बनें प्रलय की लहरें?

शीतल हो ज्वाला की आँधी, करुणा के धन छहरें।

दया दुलार करे, पल भर भी — विपदा पास न ठहरे।

प्रभु का हो विश्वास सत्य, तो सुख का केतन फहरे।

(भटार्क आदि के साथ अनन्तदेवी का प्रवेश)

अनन्तदेवी — परन्तु व्यंग-विष की ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी! तुम मरने के लिये प्रस्तुत हो जाओ।

देवकी — क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

प्रपंचबुद्धि — हाँ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अंतस्थल में भी नहीं बचने पावेगा, और उस महाबलिदान का आरम्भ होगा — तुम्हीं से। शर्व! आगे बढ़ो...

रामा — (सम्मुख आकर) एक शर्व नहीं, तुम्हारे जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आवें तो भी आज महादेवी का अंगस्पर्श — कोई न कर सकेगा। (छुरी निकालती है)

शर्वनाग — मैं तेरा स्वामी हूँ रामा! क्या तू मेरी हत्या करेगी?

रामा — ओह! बड़ी धर्मबुद्धि जगी है — पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन है?

शर्वनाग — फिर भी मैं तेरा...

रामा — स्वामी! नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी का नरकवासी प्रेत है। तेरी हत्या कैसी — तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी — शांत हो रामा! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल, रक्त के प्यासे कुत्ते! चल अपना काम कर!

(शर्व आगे बढ़ता है)

अनन्तदेवी — क्यों देवकी! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?

देवकी — परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।

भटार्क — भगवान् का स्मरण कर लो।

देवकी — मेरे अंतर की करुण-कामना एक थी — स्कन्द को देख लूँ। परन्तु तुम लोगों से — हत्यारों से — मैं उसके लिए भी, प्रार्थना न करूँगी। प्रार्थना उसी विश्वंभर के श्री चरणों में है,

जो अपनी अनंत दया का अभेद्य कवच पहना कर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रखेगा।

शर्वनाग — अच्छा तो) खड्ग उठाता है। रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है) हट जा अभागिनी!

रामा — मूर्ख! अभागा कौन है — जो संसार के सबसे पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है — और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अभीष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान है, वह या मैं?

शर्वनाग — कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दे!

रामा — टुकड़े का लोभी! तू सती का अपमान करे, तेरी यह स्पर्धा? तू कीड़ो से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूँगी, तब महादेवी।

अनन्तदेवी — (क्रोध से) तो पहले इसी का अन्त करो शर्व! शीघ्रता करो।

शर्वनाग — अच्छा तो वही होगा (प्रहार करने पर उद्यत होता है। किवाड़ तोड़कर स्कन्द भीतर घुस आता है। पीछे मुद्गल और धातुसेन आते ही शर्वनाग की गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है)

स्कन्दगुप्त — (भटार्क से) क्यों रे नीच पशु! तेरी क्या इच्छा है?

भटार्क — राजकुमार! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये।

स्कन्दगुप्त — तू वीर है? अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुमने वाले चोर — तुझे भी वीरता का अभिमान है — तो द्वन्द्वयुद्ध के लिए आमंत्रित करता हूँ — बचा अपने को! (भटार्क दो-एक हाथ चलाकर घायल होकर गिरता है)

स्कन्दगुप्त — मेरी सौतेली माँ तू...

अनन्तदेवी — स्कन्द! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ।

(घुटनों के बल बैठ कर हाथ जोड़ती है)

स्कन्दगुप्त — अनन्तदेवी! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो।

जाओ — मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असंभव है (देवकी के चरणों पर झुकते हुए) अहा? मेरी माँ!

देवकी — (आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स।

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(अवन्ती-दुर्ग का एक भाग। बन्धुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला का प्रवेश)

बन्धुवर्मा — वत्स भीम! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है?

भीमवर्मा — तात! आपकी इच्छा — मैं तो आपका अनुचर हूँ।

जयमाला — परन्तु इसकी आवश्यकता ही क्या है? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी मालव के बिना काम नहीं चलेगा। क्या —

बन्धुवर्मा — देवि! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी है, परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी, उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलम्ब शेष था — तब इन्हीं स्कन्दगुप्त ने रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।

भीमवर्मा — परन्तु क्या वे माँगते है?

बन्धुवर्मा — नहीं भीम! युवराज स्कन्द ऐसे क्षुद्र हृदय नहीं, उन्होंने पुरगुप्त को — उस जघन्य अपराध पर भी, मगध का शासक बना दिया है। यह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते।

जयमाला — परन्तु तुम्हारा मालव उन्हें प्रिय है!

बन्धुवर्मा — देवि, तुम नहीं देखती हो कि आर्यावर्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है, आर्य्य-साम्राज्य के अंतर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये है। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की सम्भावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्पत्ति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्य-राष्ट्र के त्राण के लिए, युवराज उज्जयिनी में रहें — इसी में सबका कल्याण है! आर्यावर्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है। और, उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा — सम्राट होंगे स्कन्दगुप्त।

जयमाला — आर्यपुत्र! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निःसंकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है? क्या फिर उन्ही की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा?

बन्धुवर्मा — (सिर झुकाकर सोचते हुए) तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी — वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी — इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।

जयमाला — यदि होता?

बन्धुवर्मा — तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर से ही नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये! जो केवल खड्ग का अवलंब रखने वाले सैनिक है, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीमवर्मा — भैया, तब?

बन्धुवर्मा — भीम! क्षत्रियों का कर्तव्य है — आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और — और विपन्नों के लिए — अपने धर्म के लिए — देश के लिए, प्राण देना!

देवसेना — (सहसा प्रवेश करके) भाभी! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तिवाद का विस्मृत हो जाना — एक मनोहर संगीत हैं! क्षुद्र स्वार्थ — भाभी जाने दो, भैया को देखो — कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र!

जयमाला — देवसेना! समष्टि में भी व्यष्टि रहता है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है,

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो!

बन्धुवर्मा — ठहरो जयमाला! इस क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते है। इसे छोड़ दो जयमाला! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर हो जाते है। बलिदान करने के योग्य वह नहीं — जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीमवर्मा — भाभी! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिए — एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो भाभी! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो — हमारा आर्यावर्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें...

जयमाला — जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।

बन्धुवर्मा — तब मालवेश्वरी की जय हो, तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बन्धुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य सुखद हो । (चलने को उद्यत होता है)

भीमवर्मा — ठहरो भैया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित — (प्रवेश करके) धन्य वीर! तुमने क्षत्रिय का सिर ऊँचा किया। बन्धुवर्मा! आज तुम महान् हो, हम तुम्हारा अभिनन्दन करते है। रण में, वन में, विपत्ति में, आनन्द में, हम सब सहभागी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी — जिसने आर्य-राष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बन्धुवर्मा — स्वागत चक्र! मालवेश्वरी की जय हो! अब हम सब सैनिक जाते है।

चक्रपालित — ठहरो बन्धु! एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके है।

बन्धुवर्मा — संभवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा-रक्षा करेंगे।

चक्रपालित — हाँ बन्धु!

देवसेना — चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

जयमाला — (घुटने टेक कर) मालवेश्वर की जय हो! प्रजा ने अपराध किया है, दंड दीजिये। पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखों खुल गई। आज हमने जो राज्य पाया है — वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है — महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान् — धन्य हूँ मैं! (बन्धुवर्मा सिर पर हाथ रखता है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(पथ में भटार्क और उसकी माता)

कमला — तू मेरा पुत्र है कि नहीं?

भटार्क — माँ संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने पर ही विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किस लिए? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है — और वह जीवित है!

कमला — और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई, मैं क्यों अपने कलंक-पूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा — म्लेच्छों से पददलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा, मेरा शिर ऊँचा होगा। परन्तु हाय!

भटार्क — माँ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया? क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती? क्या मेरे रण-नाद

वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते? क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते?

कमला — मानते है — इसी से तो और भी ग्लानि है।

भटार्क — घर लौट चलो माँ! ग्लानि क्यों है?

कमला — इसलिए कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलयमेघ बन गया, और साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह! नीच! कृतघ्न! कमला कलंकिनी हो सकती है, परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त में नहीं। (रोती है)

(विजया का प्रवेश)

विजया — माता! तुम क्यों रो रही हो? (भटार्क की ओर देखकर) और यह कौन? क्यों जी — तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है?

कमला — देवि! यह मेरा पुत्र था।

विजया — था! क्या अब नहीं?

कमला — नहीं, महाबलाधिकृत होने की लालच में अपने हाथ-पैर पाप की शृंखला में जकड़ दिए; अब फिर भी उज्जयिनी में आया है — किसी षड्यंत्र के लिए।

विजया — कौन — तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो! और तुम्हारी माता की यह दीन दशा!

कमला — ना बेटी! उसे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ। महाकाल के मंदिर में भिक्षा ग्रहण कर इसी उज्जयिनी में पड़ी रहूँगी, परन्तु इससे...

भटार्क — माँ! अब और लज्जित न करो। चलो — घर चलो।

विजया — (स्वगत) अहा! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्त्ति है! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत!

कमला — इस पिशाच ने छलने के लिए रूप बदला है। सम्राट् का अभिषेक होने वाला है, यह उसी में कोई प्रपञ्च रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।

(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

मुद्गल — कौन! भटार्क?

मातृगुप्त —अरे यहाँ भी!

(भटार्क तलवार निकालता है। गोविन्दगुप्त उससे तलवार छीन लेते है)

मुद्‌गल — महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय!

गोविन्दगुप्त — कृतघ्न! वीरता उन्माद नहीं है — आँधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है — न्याय! तू उसे कुचलने पर शिर ऊँचा उठाकर नहीं रह सकता,

मातृगुप्त — बन्दी करो इसे! (कमला के प्रति) और तुम कौन हे भद्रे!

कमला — मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविन्दगुप्त — यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवि! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होगी, तब तक आर्य-राष्ट्र का विनाश असंभव है — और वह युवती कौन है?

कमला — मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है — इसका कोई अपराध नहीं।

मुद्‌गल — अरे राम! यह अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी!

मातृगुप्त — परन्तु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है!

विजया — मैं अपराधिनी हूँ, मुझे भी बन्दी करो।

भटार्क — यह क्यों, इस युवती से तो मैं भी परिचित भी नहीं हूँ — इसका कोई अपराध नहीं।

विजया — (स्वगत) ओह! इस आनन्द महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं मालव में अब किस काम की हूँ! जिसके भाई ने समस्त राज्य का अर्पण कर दिया है — वह देवसेना और कहाँ मैं! (भटार्क की ओर देखती हुई) तब तो मेरा यही...

गोविन्दगुप्त — भद्रे! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो।

विजया — मैं अपराधिनी हूँ?

मातृभूमि — परन्तु तुम्हारा और भी कोई परिचय है?

विजया — यही कि बन्दी होने की अभिलाषिणी हँ।

कमला — वत्से!? तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो?

विजया — मेरी इच्छा — मुझे बन्दी कीजिये! मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण में दूँगी — यहाँ कुछ न कहूँगी। यहाँ मेरा अपमान किया जायगा तो आर्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी।

गोविन्दगुप्त — क्यों भटार्क! यदि तुम्हीं कुछ करते...

भटार्क — मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है। मुझे भी विलम्ब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिये।

मुद्गल — और वृद्धा कमला?

गोविन्दगुप्त — यह बन्दी नहीं है, परन्तु एक बार स्कन्द के समक्ष इसे चलना होगा।

मातृगुप्त — तो फिर सब चलें — अभिषेक का समय भी समीप है।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(उज्जयिनी का राजसभा। बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ एक ओर से स्कन्दगुप्त का और दूसरी ओर से गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — (बीच में खड़े होकर) तात! कहाँ थे? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे? (चरण-वन्दना करता है)

गोविन्दगुप्त — उठो वत्स! आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति! गुप्तकुल-तिलक! भाई से मैं रूठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि नहीं, तुम मेरे आत्मा हो वत्स! (आलिंगन करता है)

(अनुचरियों सहित देवकी का प्रवेश। स्कन्दगुप्त चरणवन्दना करता है)

देवकी — वत्स! चिरविजयी हो! देवता तुम्हारे रक्षक हो। महाराजपुत्र! इसे आशीर्वाद दीजिये कि गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह विनयशील रहे।

गोविन्दगुप्त — महादेवी! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न — यह गुप्तकुल के अभिमान का चिह्न — सदैव यशोमंडित रहेगी!

स्कन्दगुप्त — (बन्धुवर्मा से) मित्र मालवेश! बढ़ो, सिंहासन पर बैठो! हम लोग तुम्हारा अभिनन्दन करे!

(जयमाला और देवसेना का प्रवेश)

जयमाला — देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं। आर्यावर्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

('मालव की जय हो' की तुमुल ध्वनि)

बन्धुवर्मा — (हँसकर) सम्राट्! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिए सिंहासन ग्रहण करने में अब विलम्ब न कीजिये।

गोविन्दगुप्त — वत्स! इन आर्य-जाति के रत्नों की कौन-सी प्रशंसा करूँ। इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं। बढ़ो — वत्स! सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूँ।

स्कन्दगुप्त — ताता! विपत्तियों का बादल घिर रहे है, अंतर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्ज्वलित है, ऐसे समय मैं केवल सैनिक बन सकूँगा, सम्राट् नहीं।

गोविन्दगुप्त — आज, आर्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है — सैनिक छोड़कर और कुछ नहीं। आर्य-कन्याएँ अपहरण की जाती है, हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पादाक्रान्त है; कहीं देवता की पूजा नहीं होती — सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला है। ऐसे समय आर्य-जाति तुम्हें पुकारती है — सम्राट् होने के लिए नहीं, उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए — सम्राट्!

(गोविन्दगुप्त और बन्धुवर्मा हाथ पकड़कर स्कन्दगुप्त को सिंहासन पर बैठाते है। भीमवर्मा छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर करती है। गरुड़ध्वज लेकर बन्धुवर्मा खड़े होते है। देवकी राजतिलक करती है। गोविन्दगुप्त खड्ग का उपहार देते है। चक्रपालित गरुड़ांकित राजदंड देता है।

गोविन्दगुप्त — परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त की जय हो!

सब — (समवेत स्वर से) जय हो!

बन्धुवर्मा — आर्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो!

(सब वैसा ही कहते है)

स्कन्दगुप्त — आर्य! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्यराष्ट्र की रक्षा मे सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्तव्य से — स्वदेश-सेवा से, कभी विचलित न हो।

गोविन्दगुप्त — सम्राट! परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आपका उद्देश्य सफल हो। आज गोविन्द ने अपना कर्तव्य पालन किया।

वत्स बन्धुवर्मा! तुम इस नवीन आर्यराष्ट्र के संस्थापक हो। तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरवगाथा आर्य-जाति का मुख उज्ज्वल करेगी। वीर! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्हीं इसके उपयुक्त हो।

बन्धुवर्मा — आर्य! अभी आपके चरणों में बैठ कर यह बालक स्वदेश सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुम्ब — एक-एक बच्चा — आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा।

(धन्य-धन्य का घोष)

स्कन्दगुप्त — तात! पर्णदत्त इस समय नहीं!

चक्रपालित — सम्राट्? वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे है।

(कुमारदास रूपी धातुसेन का प्रवेश)

मातृगुप्त — सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन का जये हो!

(सब आश्चर्य से देखते हैं)

स्कन्दगुप्त — कुमारदास — सिंहल के युवराज धातुसेन!

मातृगुप्त — हाँ महाराजाधिराज!

स्कन्दगुप्त — अद्भुत! वीर युवराज! तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता हूँ? आओ, स्वागत! (सब मंचों पर बैठते हैं)

गोविन्दगुप्त — बन्दियों को ले आओ।

(सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया और कमला का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — क्यों शर्व! तुम क्या चाहते हो?

शर्वनाग — सम्राट! वध की आज्ञा दीजिये, मेरे जैसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है।

स्कन्दगुप्त — नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दंड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा।

शर्वनाग — वही हो सम्राट! जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कन्दगुप्त — परन्तु मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यंत्रणा को भोगो, क्योंकि

रामा — साध्वी रामा को — मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा! सती रामा! तेरे पुण्य से तेरा पति, आज मृत्यु से बचा।

(रामा सम्राट् का पैर पकड़ती है)

शर्वनाग — दुहाई सम्राट् की — मेरे वध की आज्ञा दीजिये, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया — ओह?

(छुरी निकालना चाहता है)

स्कन्दगुप्त — ठहरो शर्व! मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा।

(रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है)

स्कन्दगुप्त — शर्व! यहाँ आओ। (शर्व समीप आता है)
देवकी — वत्स! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिससे दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

(समवेत कंठ से — महादेवी की जय हो)

स्कन्दगुप्त — शर्व! आज से तुम अंतर्वेद के विषयपति नियत किये गये। यह लो — (खड्ग देता है)

शर्वनाग — (खड्ग लेते रुद्ध कंठ से) सम्राट्! देवता! आप की जय हो! (देवकी के पैर पर गिर कर) मुझे क्षमा करो माँ! मैं मनुष्य से पशु हो गया था! अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि देवचरणों में आत्मबलि देकर जीवन को सफल करूँ!

देवकी — उठो शर्व! (क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती) प्रतिहिंसा-पाशव धर्म है। उठो, मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ। (शर्व खड़ा होता है)

स्कन्दगुप्त — भटार्क! तुम गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित थे यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क — मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी — क्यों भटार्क! यह उत्तर तुम सच्चे हृदय से देते हो? ऐसा कहकर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए क्या औरों को भी प्रवंचित नहीं कर रहे हो?

भटार्क — अपराध हुआ। (सिर नीचा कर लेता है)

स्कन्दगुप्त — तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है। तुम्हारा इतना पतन? (भटार्क स्तब्ध रहता है। विजया की ओर देखकर) और तुम विजया? तुम क्यों उसमें —

देवसेना — सम्राट्! विजया मेरी सखी है।

विजया — परन्तु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला — विजया!

विजया — कर चुकी देवि!

देवसेना — उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतने नीचे गिरा सकती है! परन्तु विजया तूने शीघ्रता की।

(स्कन्द विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है)

गोविन्दगुप्त — यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है! भटार्क की माता है! भटार्क के नीच कर्म से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आई है।

स्कन्दगुप्त — परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया?

देवसेना — (स्वगत) आह! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है — विजया, आज तू हार कर भी जीत गई।

देवकी — वत्स! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की यही मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन-दंड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

धातुसेन — आर्य नारी सती! तुम धन्य हो! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।

स्कन्दगुप्त — जैसी माता की इच्छा —

मातृगुप्त — परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त की जय!

(समवेत कंठ से जयघोष)

(पटाक्षेप)

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

(शिप्रा तट)

प्रपंचबुद्धि — सब विफल हुआ। इस दुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्गला लगी दी। कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनन्तदेवी अपने विडम्बना के बिना रहे है। भटार्क भी बंदी हुआ, उसके प्राणो की रक्षा नहीं। क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म को उठाने की आकांक्षा थी, परन्तु वह दूर गया। (कुछ सोचकर) उग्रतारा की साधना से विकट कार्य भी सिद्ध होते है, तो फिर इस महाकाल के महास्मशान से बढ़कर कौन उपयुक्त स्थान होगा। चलूँ — (जाना चाहता है। भटार्क का प्रवेश)

भटार्क — भिक्षुशिरोमणे! प्रणाम!

प्रपंचबुद्धि — कौन, भटार्क? अरे मैं क्या स्वप्न देख रहा हूँ!

भटार्क — नहीं आर्य — मैं जीवित हूँ।

प्रपंचबुद्धि — उसने तुम्हें सूली पर नहीं चढ़ाया?

भटार्क — नहीं, उससे बढ़कर!

प्रपंचबुद्धि — क्या?

भटार्क — मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार को बोझ लाद दिया।

प्रपंचबुद्धि — तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क — मैं इतना नीच नहीं हूँ!

प्रपंचबुद्धि — परन्तु मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूँ — तुम इतने उच्च भी नहीं हो। चलो एकांत में बातें करें। कोई आता है।

(दोनों जाते हैं)

विजया — (प्रवेश करके) मैं कहाँ जाऊँ। उस उच्छृंखल वीर को मैं लौह-शृंखला पहना सकूँगी — अपने बाहुपाश में उसे जकड़ सकूँगी? हृदय के विकल मनोरथ — आह! (गाती है)

उमड़ कर चली भिंगोने आज तुम्हारा निश्चल अंचल छोर
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल देख ले तू फिरकर इस ओर
हृदय की अंतरतम मुसक्यान कल्पनामय तेरा यह विश्व
लालिमा में लय हो लवलीन निरखते इन आँखों की कोर —

वह कौन? ओ? राजकुमारी?

(देवसेना का प्रवेश — दूर पर उसकी परिचारिकायें)

देवसेना — विजया! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रातट पर तुम भी आ गई हो!

देवसेना — विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई, मुझे कुछ पूछना था।

विजया — पूछना क्या है?

देवसेना — तुमने जो किया उसे सोच-समझकर किया है — कही तुम्हारे दंभ मे तुमको छल तो नहीं लिया? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं बना दिया?

विजया — राजकुमारी! मैं अनुगृहीत हूँ। उस कृपा को नहीं भूल सकती जो आपने दिखाई है। परन्तु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नहीं।

देवसेना — (आश्चर्य से) क्यों विजया! मेरे सखी मनोचित सरल प्रश्नों में भी तुम्हें व्यंग सुनाई पड़ता है?

विजया — क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है? (सरोष) राजकुमारी! आज से मेरी ओर देखना मत। मुझे कृत्या-अभिमान की ज्वाला समझना और...

देवसेना — ठहरो, दम ले लो! संदेह के गर्त्त में गिरने से पहले विवेक का अवलम्ब ले लो — विजया!

विजया — हताश जीवन कितना भयानक होता है, यह नहीं जानती थी? उस दिन जिस तीखी छुरी को रखने के लिए मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था। राजकुमारी! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ। (क्रोध से देखती है)

देवसेना — (आश्चर्य से) क्या कह रही हो?

विजया — वहीं जिसे तुम सुन रही हो।

देवसेना — वह तो जैसे उन्मत्त था अकस्मात् स्वप्न देखकर जग जाने वाले प्राणी की कुतूहल-गाथा था। विजया! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी — मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।

विजया — उपकारों की ओट में मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया।

देवसेना — शीघ्रता करने वाली स्त्री! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक! देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती...। अच्छा इससे क्या। (जाती है)

विजया — जाती हो, परन्तु सावधान!

(भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश)

भटार्क — विजया! तुम कब आई हो?

विजया — अभी-अभी, तुम्हीं को तो खोज रही थी। (प्रपंचबुद्धि को देखकर) आप कौन है?

भटार्क — 'योगाचार संघ' के प्रधान श्रमण आर्य प्रपंचबुद्धि।

(विजया नमस्कार करती है)

प्रपंचबुद्धि — कल्याण हो देवि! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परन्तु मुझे भी जा जाओगी।

विजया — आर्य! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकांक्षा है।

प्रपंचबुद्धि — शुभे! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे! क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी? (कुछ सोचकर) तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और विलंब है। इसलिए तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा।

विजया — आर्य! मेरा भी एक स्वार्थ है।

प्रपंचबुद्धि — क्या?

विजया — राजकुमारी देवसेना का अंत!

प्रपंचबुद्धि — और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महास्मशान में एक राज-बलि चाहिये।

भटार्क — यह तो अच्छा सुयोग है।

विजया — उसे स्मशान तक ले आना तो मेरा काम है, आगे मैं कुछ न कर सकूँगी।

प्रपंचबुद्धि — सब हो जायगा। उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसंपन्न होगा।

भटार्क — परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुँह से ... नहीं.. नहीं...

प्रपंचबुद्धि — सावधान! भटार्क! अलग ले जाकर समझाया फिर...। तुम पहले अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो।

भटार्क — ओह! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य की छुट्टी नहीं! कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है! दुर्भाग्य!

(सब का प्रस्थान)

मातृगुप्त — (ओट से निकल कर) भयानक कुचक्र! एक निर्मल कुसुमकली को कुचलने के लिए इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की?

मनुष्य! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को! तब भी तेरे पास उससे कुछ विशेष साधन है — छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता और पैने अस्त्र। इनमें भी बढ़कर — प्राण लेने की कलाकुशलता। देखा जायगा, भटार्क! तुम जाते कहाँ हो!
(प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(स्मशान-साधक के रूप में प्रपंचबुद्धि । दूर से स्कन्दगुप्त आता है)

स्कन्दगुप्त — इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशांति, राज्य में अशांति, परिवार में अशांति! केवल मेरे अस्तित्व से? मालूम होता है कि सब की — विश्व-भर की — शांति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता — तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से — आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला --कही भी कामना का वन्या नहीं — बलवती आशा की आँधी

नहीं चल रही है। केवल गुप्त-सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कपाल में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया...? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा! जिसे हमने सुख-शर्वरी की संध्या-तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगत-दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया! (प्रपंचबुद्धि को देखकर) ओह! कैसा भयानक मनुष्य है। कैसी क्रूर आकृति है — मूर्त्तिमान पिशाच है? अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिप कर देखूँ।

(छिपता है। विजया के साथ देवसेना का प्रवेश)

देवसेना — आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो?

विजया — और तुम राजकुमारी? क्या तुम इस महावीभत्स स्मशान में आने से नहीं डरती हो?

देवसेना — संसार का मूक शिक्षक — स्मशान — क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है?

(नेपथ्य से गान)

सब जीवन बीता जाता है। धूप-छाँह के खेल-सदृश —
सब जीवन बीता जाता है।
समय भागता है प्रतिक्षण में, नव-अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगाकर भविष्य-रण में, आप कहाँ छिप जाता है —
सब जीवन बीता जाता है।
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके, मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके, जीवन का वह नाता है —
सब जीवन बीता जाता है।
बंशी को बस बज जाने दो, मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख बन्द करके गाने दो, जो कुछ हमको आता है —
सब जीवन बीता जाता है।

विजया — (स्वगत) भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी... आह! कैसा भोला मुखड़ा! पर नहीं, नहीं विजया! सावधान! प्रतिहिंसा... (प्रकट) राजकुमारी!? देखो, यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी?

देवसेना — चलो, परन्तु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन? जब मेरी कामनायें विस्मृति के नीचे दबा दी गई, तब वह चाहे स्वयं ईश्वर ही हो तो क्या? तब भी एक कुतूहल है! चलो —

(विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है और स्वयं हट जाती है। ध्यान से आँखें खोलकर प्रपञ्च उसे देखता है)

प्रपंचबुद्धि — तुम्हारा नाम देवसेना है!

देवसेना — (आश्चर्य से) हाँ, भगवन्!

प्रपंचबुद्धि — तुमको देवसेना के लिए शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाटलिपि कह रही है कि तुम बड़ी भाग्यवती हो!

देवसेना — कौन-सी देवसेना?

प्रपंचबुद्धि — यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका और न करने की आशा है, देवसेवा में अर्पित करो! उग्रतारा तुम्हारा परम मंगल करेगी।

देवसेना — (सिहर उठती है) क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी? (घूमकर देखती है) विजया! विजया!

प्रपंचबुद्धि — डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिए था। नित्य की मोह-ज्वाला में जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती हुई अपनी ज्वाला को शांत कर दो!

देवसेना — परन्तु... कापालिक! एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता।

प्रपंचबुद्धि — (उठकर उसका हाथ पकड़ कर खड्ग उठाता है) पर मुझे ठहरने का अवकाश नहीं। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो!

देवसेना — प्रियतम! मेरे देवता! युवराज! तुम्हारी जय हो!

(सिर झुकाती है। पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़ कर नेपथ्य में ले जाता है। देवसेना चकित होकर स्कन्द का आलिंगन करती है)

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(मगध के राजमंदिर में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क)

पुरगुप्त — विजय-पर-विजय! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायेगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ग-प्रभा का विस्तार करेगा।

अनन्तदेवी — परन्तु तुमको क्या? निर्वीर्य — निरीह बालक! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है? लज्जा के गर्त्त में डूब जाते — और भी छाती फुला कर इसका आनन्द मनाते हो।

विजया — अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती!

भटार्क — यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा!

दौवारिक — (प्रवेश करके) जय हो! एक चर आया है।

भटार्क — ले आओ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है)

चर — युवराज की जय हो!

भटार्क — तुम कहाँ से आये हो?

चर — नगरहार के हूण स्कंधावार से।

भटार्क — क्या संदेश है?

चर — सेनापति खिंगिल ने पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है। परन्तु स्मरण रहे कि अब की हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा स्कन्दगुप्त का साम्राज्य का साम्राज्य-ध्वंस तो पीछे होगा — पहले कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भांडार लूटा जायगा। प्रतिष्ठान, चरणाद्रि और गोपाद्रि के दुर्ग-पतियों को विद्रोह करने के

लिए धन — परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ? अंतर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य का उद्घाटन करके वह धन भी आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिंधु का तट भी छोड़ देना पड़ा।

भटार्क — ओह! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया! आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है। दूत! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट बनाने में उन्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी।

चर — परन्तु उन्हें विश्वास कैसे हो?

भटार्क — मैं प्रमाण-पत्र दूँगा। हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्दगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा — और यह लो प्रमाण-पत्र। (पत्र लिख कर देता है)

पुरगुप्त — ठहरो!

अनन्तदेवी — चुप रहो!

दूत — तो यह उपहार भी साम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है। (रत्नमंजूषा देता है)

भटार्क — और उत्तरापथ के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या किया है?

दूत — आर्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ। सद्धर्म के समस्त अनुयायी और संघ, स्कन्दगुप्त के विरुद्ध है। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है। वे सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक है।

भटार्क — अच्छा, जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा। हूणराज से कहना कि सावधान रहे — शीघ्र वही मिलेगा।

(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त — यह क्या हो रहा है?

अनन्तदेवी — तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है!

सैनिक — (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो!

भटार्क --- क्या है?

सैनिक — कुसुमपुर की सेना जालंधर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्कंधावार से शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त — विजया! बहुत विलम्ब हुआ। एक पात्र...

(अनन्तदेवी संकेत करती है। विजया उसे पिलाती है)

भटार्क — मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न? मैं उसके पहले पहुँचूँगा।

सैनिक — परन्तु महाबलाधिकृत!

भटार्क — कहो!

सैनिक — यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केन्द्र बन रही है। यहाँ के मनुष्यों के लिये विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी — अपर्याप्त है! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता-राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे?

भटार्क — अबोध! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है? जिस जाति के जीवन न होगा विलास क्या करेगी? जाग्रत राष्ट्र

में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते है।

विजया — बात तो यही है।

सैनिक — आप महाबलाधिकृत है — इसलिए मैं कुछ न कहूँगा।

भटार्क — नहीं तो?

सैनिक — यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो!

भटार्क — (क्रोध से) है...

सैनिक — हाँ! यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में! देश पर बर्ब्बर हूणों की चढ़ाई और तिसपर भी यह निर्लज्ज आमोद! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का — यह दृश्य — आह! जिस मगध की सेना सदैव नासीर में रहती थी — आर्य चन्द्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमंत्रण पाने पर साम्राज्य-सेना में जाय! महाबलाधिकृत! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं आत्महत्या कर लूँ! मैं उसे सेना का नायक हूँ, जिस पर गरुड़ध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य समुद्रगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित — उसी सेना का ऐसा अपमान!

भटार्क — (अपने क्रोध का मनोभाव दबाकर) अच्छा, तुम यही मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक — हूँ — अच्छा तो यह खड्ग लीजिये, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं। (खड्ग रख देता है)

पुरगुप्त — (मद्यप की-सी चेष्टा करते) यह अच्छा किया — जाओ मित्र — हम-तुम कादंब पियें। जाने दो इन्हें — लड़ने दो!

अनन्तदेवी — (भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है और विजया से कहती है) विजया! युवराज का मन बहलाओ।

(सैनिक तिरस्कार से देखते हुए जाता है। भटार्क और अनन्तदेवी एक ओर, विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते है)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(अवन्ती के उपवन में जयमाला और देवसेना)

जयमाला — तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता? जब तू गीत गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होगी है।

पहली सखी — सम्राट युद्ध-यात्रा में गये है और...

दूसरी सखी — तो क्या?

देवसेना — तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी गाऊँ वह गीत?

जयमाला — मेरी प्यारी! तू गाती है। अहा! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसाती ताल-सी लहरा रही है। तू दुखी होती है, मैं जाती हूँ। अरी! तुम सब इस हँसाओ। (जाती है)

देवसेना — क्या महारथी हार कर भगे! अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है? अच्छा तो आओ।

पहली सखी — नहीं, राजकुमारी! मैं पूछती हूँ कि सम्राट ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी?

दूसरी सखी — हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है!

तीसरी सखी — तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होंगी? उँहू!

देवसेना — प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है — क्यों कहूँ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।

पहली सखी — न कहा, तब फिर क्या हरी-हरी कोंपलों की टट्टी में फूल खिल रहा है — और क्या!

देवसेना — तेरा मुँह काला, और क्या? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म बड़ा कोमल है। कोई दूसरी हँसी तुझे नहीं आती? (मुँह फेर लेती है)

दूसरी सखी — लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूँ।

देवसेना — क्यों घाव पर नमक छिड़कती है? मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है। (आँखों से आँसू बहता है)

तीसरी सखी — है-है... क्या तुम रोती हो? मेरा अपराध क्षमा करो!

देवसेना — (सिसकती हुई) नहीं प्यारी सखी! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।

दूसरी सखी — तुम्हें इतना दुःख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना — (सम्हलकर) यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है। मेरा हृदय मुझ से अनुरोध करता है, मचलता है,

रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती है, चित्त उत्तेजित करना है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं! मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हाल कर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

तीसरी सखी — आश्चर्य! राजकुमारी! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है!

देवसेना — कूलों में उफनकर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा! परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।

(पहली सखी गाती है)

माँझी! साहस है — खे लोगे?
जर्जर तरी भरी पथिकों से झड़ में क्या खोलोगे?
अलस नील-घन की छाया में —
जलजालों की छल-माया में — अपना बल तोलोगे?
अनजाने तट की मदमाती —
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं — ये झटके झेलोगे?
माँझी? साहस है — खे लोगे?

(भीमवर्मा का प्रवेश)

भीमवर्मा — बहिन! शक-मंडल से विजय का समाचार आय़ा है।

देवसेना — भगवान् की दया है।

भीमवर्मा — परन्तु महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा...

देवसेना — वे धन्य है!

भीमवर्मा — वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बन्धुवर्मा गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिए अभी वे स्कंधावार में ठहरेंगे। उनका आना अभी नहीं हो सकता। और भी कुछ सुना देवसेना?

देवसेना — क्या?

भीमवर्मा — सम्राट में तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गांधारवंशी राजा अब वहाँ नहीं है। काश्मीर अब साम्राज्य के अंतर्गत हो गया है।

देवसेना --- सम्राट की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य?

भीमवर्मा — आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ। बहिन! सिंधु प्रदेश के म्लेच्छ राज्य का ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य को उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठा कर नहीं देखता। लोहित्य

से सिंधु तक हिमालय की कंदराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा। धन्य है हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं!

देवसेना — मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई, साहस चाहिये, कोई वस्तु असंभव नहीं।

भीमवर्मा — उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है — जाता हूँ।

देवसेना — भाई! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चिंत रहते हो। और कामों के लिए तो...

(भीम हँसता हुआ जाता है। मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल — जो है सो काणाम से करके — यह तो अपने से नहीं हो सकता। उँहू, जब कोई न मिला तो फूटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी!

देवसेना — क्या है मुद्गल!

मुद्गल — वही-वही, सीता का सखी मदोदरी का नानी त्रिजटा! कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम! अपने को कवि भी लगाता था! मेरी कुंडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया! शाप दूँगा! दाँत

पीसकर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊँगा। मुझे इस झँझट में फँसा दिया! उसने क्यों मेरा ब्याह कराया...

देवसेना — तो क्या बुरा किया?

मुद्गल — झख मारा, जो है सो काणाम से करके।

देवसेना — अरे ब्याह भी तुम्हारा होता?

मुद्गल — न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता? बाबा अब तो मैं इस पर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले। परन्तु यह हत्या कौन अपने पल्ले बाँधेगा!

(सब हँसती है)

देवसेना — आज कौन-सी तिथि है। एकादशी तो नहीं है?

मुद्गल — हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी — क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठनी है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है!

देवसेना — अच्छा, आज तुम्हारा निमन्त्रण है — तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल — जो है सो देवता प्रसन्न हो, आपका कल्याण हो। फिर शीघ्रता होना चाहिये। पुण्यकाल बीत न जाय, चलिये मैं उसे बुला लेता हूँ।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(गांधार की घाटी — रणक्षेत्र)

(तुरही बजती है, स्कन्दगुप्त और बन्धुवर्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश)

बन्धुवर्मा — वीरो! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुन्दरियों की वीणा के साथ मन्द ध्वनि से नंदन में गूँज उठेगी। असीम साहसी आर्य सैनिक! तुम्हारे शस्त्र के बर्बर हूणों को बता दिया है कि रणविद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूप-साम्राज्य पादाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कंठ से उन्हें

स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर है। समझ लो आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है। जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय।

सैनिक — आर्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार — महाबलाधिकृत को भी नहीं है। हम सब प्राण देने आये है — खेलने नहीं।

स्कन्दगुप्त — साधु! तुम यथार्थ ही जननी जन्मभूमि की संतान हो।

सैनिक — राजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय!

चर — (प्रवेश करके) परम भट्टारक की जय हो!

स्कन्दगुप्त — क्या समाचार है?

चर — देव! हूण शीघ्र ही — नदी पार होकर — आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे है, यदि आक्रमण न हुआ, तो वे स्वयं आक्रमण करेंगे।

बन्धुवर्मा — और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है?

चर — मगध की सेना पर विश्वास करने के लिए मैं न कहूँगा। भटार्क की दृष्टि में पिशाच की मंत्रणा चल रही है, खिंगिल के दूत भी आ रहे है। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड़ सकेंगे कि नहीं इसमें संदेह है।

स्कन्दगुप्त — बन्धुवर्मा! तुम कुभा के रण-क्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहाँ देख लूँगा।

बन्धुवर्मा — राजाधिराज! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना — आज नासीर में है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना न हटेगा।

स्कन्दगुप्त — बन्धु! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बन्धुवर्मा — परन्तु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न है। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मर कर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षडयन्त्र में नहीं। आपके रहने से सौ बन्धुवर्मा उत्पन्न होगे। आप शीघ्रता कीजिये।

स्कन्दगुप्त — बन्धुवर्मा! तुम बड़े कठोर हो।

बन्धुवर्मा — शीघ्रता कीजिये। यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा। चक्रपालित वीर है, परन्तु अभी वह नवयुवक है, आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिये।

स्कन्दगुप्त — मैं समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

बन्धुवर्मा — ओह! जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन कोई भी इधर आँख उठाकर न देखेगा — सम्राट! शीघ्रता कीजिये।

स्कन्दगुप्त — (आलिंगन करता है) मालवेश की जय!

बन्धुवर्मा — महाराजधिराज श्री स्कन्दगुप्त की जय!

(चर के साथ स्कन्दगुप्त जाते है। नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु-सेना आती है। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बन्धुवर्मा की अंतिम अवस्था। गरुड़ध्वज टेककर उसे चूमना)

बन्धुवर्मा — (दम तोड़ते हुए) विजय! तुम्हारी ... विजय ...! आर्य... साम्राज्य की जय! भाई! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण है।

सैनिक — महाराज! आप क्या कहते है! (सब शोक करते हैं)

बन्धुवर्मा — बन्धुगण! यह रोने का नहीं — आनन्द का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।

सैनिक — महाराज बन्धुवर्मा की जय!

(गरुड़ध्वज की छाया में बन्धुवर्मा की मृत्यु)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(दुर्ग के सम्मुख कुभा-तट का रण क्षेत्र। चक्रपालित और स्कन्दगुप्त)

चक्रपालित — सम्राट! प्रतारणा की पराकाष्ठा! दो दिनों से जान-बूझकर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है। आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ — मगध की समस्त सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कन्दगुप्त — चक्र! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिये। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं परन्तु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा।

चक्रपालित — नहीं सम्राट! उसे बन्दी कीजिये। वह देखिये — आ रहा है!

भटार्क — (प्रवेश करके) राजाधिराज की जय हो!

स्कन्दगुप्त — क्यों सेनापति! यह क्या हो रहा है?

भटार्क — आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट!

स्कन्दगुप्त — या समय की?

भटार्क — सम्राट को मुझ पर विश्वास नहीं है, यह...

चक्रपालित — विश्वास तो कही से क्रय नहीं किया जाता!

भटार्क — तुम अभी बालक हो।

चक्रपालित — दुराचारी! कृतघ्न? अभी मैं तेरा कलेजा फाड़ खाता, तेरा..

भटार्क — सावधान? अब मैं सहन नहीं कर सकता। (तलवार पर हाथ रखता है)

स्कन्दगुप्त — भटार्क? वह बालक है। कूटमंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता — चुप रहो चक्र? (चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते है।) भटार्क, प्रवंचना का समय नहीं है। स्मरण रखना — कृतघ्नों और नीचों की श्रेणी में तुम्हारा नाम पहले रहेगा। (भटार्क चुप रहता है) युद्ध के लिए प्रस्तुत हो!

भटार्क — मेरा खड्‌ग साम्राज्य की सेवा करेगा।

स्कन्दगुप्त — अच्छा तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं जाता हूँ। चक्र! तुम दुर्ग की रक्षा करो।

भटार्क — जैसी आज्ञा! नगरहार के स्कंधावार को भी भी सहायता के लिए कहला दिया जाय तो अच्छा हो।

स्कन्दगुप्त — चर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो सामने शत्रु दीख पड़ते है।

(भटार्क का प्रस्थान)

चक्रपालित — तो मै बैठा रहूँ?

स्कन्दगुप्त — भविष्य अच्छा नहीं है चक्र! नगरहार से समय पर सहायता पहुँचती नहीं दिखाई देती। परन्तु यदि आवश्यकता हो — तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्त्तन करना। मैं वही तुमसे मिलूँगा। (चर का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — गांधार युद्ध का क्या समाचार है?

चर — विजय! उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये — परन्तु सम्राट बन्धुवर्मा नहीं है।

स्कन्दगुप्त — आह बन्धु! तुम चले गये? धन्य हो वीर-हृदय! (शोक से बैठ जाता है)

चक्रपालित — इसका समय नहीं है सम्राट, उठिये सेना आ रहा है, इस समय यह समाचार नहीं प्रसारित करना है।

स्कन्दगुप्त — (उठते हुए) ठीक कहा! (भटार्क के साथ सेना का प्रवेश)

भटार्क! देखो, कुभा के उस बंध से सावधान रहना। आक्रमण में यदि असफलता हो, और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे तो उसे काट देना। देखो भटार्क! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क — जैसी आपकी आज्ञा। (कुछ सैनिकों के साथ जाता है)

स्कन्दगुप्त — चक्र! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना! हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेंगे। तुम सावधान! (नेपथ्य में रण-वाद्य) देखो — वह हूण आ रहे है! उन्हें वहीं रोकना होगा।

चक्रपालित — जैसी आज्ञा। (जाता है)

स्कन्दगुप्त — वीर मगध-सैनिकों! आज स्कन्दगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुड़ध्वज की मान रहे, भले ही प्राण जायँ!

मगध-सेना — राजाधिराज

श्री स्कन्दगुप्त की जय!

(सेना बढ़ती है। ऊपर से अस्त्र-वर्षा होता है। घोर युद्ध के बाद हूण भागते है। साम्राज्य-सेना जयनाद करके हुए शिखर पर अधिकर करती है।)

नायक — (ऊपर से देखता हुआ) सम्राट ! आश्चर्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है!

स्कन्दगुप्त — क्या कहा?

नायक — कुछ मगध-सेना भी वहाँ है, परन्तु वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही है।

स्कन्दगुप्त — विश्वासघात — प्रतारणा! नीच भटार्क!

नायक — फिर क्या आज्ञा है?

स्कन्दगुप्त — दुर्ग की रक्षा होनी चाहिये। उस पार की हूण-सेना यदि आ गई, तो कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बतावेगा। वीरो, शीघ्र — उन्हें उसी पार रोकना होगा, अभी कुभा पार होने की सम्भावना है।

(नायक तुरही बजाता है, सैनिक इकट्ठे होते है)

स्कन्दगुप्त — (घबराहट से देखते हुए) शीघ्रता करो!

नायक — क्या?

स्कन्दगुप्त — नीच भटार्क ने बंध तोड़ दिया, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है। शीघ्र —

(सब उतरना चाहते है। कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है। सब बहते हुए दिखाई देते है।

(सघन होते अन्धकार में पटाक्षेप)

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

(कुसुमपुर के प्रकोष्ठ में विजया और अनन्तदेवी)

अनन्तदेवी — क्या कहा?

विजया — मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ! जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ।

अनन्तदेवी — क्यों? इतनी उत्तेजना क्यों है? सुनूँ भी तो।

विजया — समझ जाओ।

अनन्तदेवी — नहीं, स्पष्ट कहो।

विजया — भटार्क मेरा है!

अनन्तदेवी — तो?

विजया — उस राह से दूसरों को हटना होगा।

अनन्तदेवी — कौन छीन रहा है?

विजया — एक पाप-पंक में फँसी निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा? समझी, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा।

अनन्तदेवी — (हँसती हुई) मूर्ख रमणी! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है — समझी?

विजया — समझी और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनन्तदेवी — (बात बनाती हुई) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो? क्यों — वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है?

विजया — हाँ, कुमारगुप्त का पुत्र है, परन्तु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है! तुमसे उत्पन्न हुई सन्तान — छिः!

अनन्तदेवी — क्या कहा? समझ कर कहना।

विजया — कहती हूँ — और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकता। प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़ो — विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ होती है। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिये। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त को विलास-जर्ज्जर मन यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलम्ब वांछनीय नहीं। कह देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमन्त्रणा को एक फूँक में उड़ा दूँगी!

अनन्तदेवी — क्या! इतना साहस! तुच्छ स्त्री! जानती है कि किसके साथ बात कर रही है? मैं वही हूँ — जो अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से बालों को सुगंधित करने ले किए गंधचूर्ण जलवाती थी — जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा

है, उसे तुम... एक सामान्य स्त्री! जा-जा, ले अपने भटार्क को, मुझे कीटपतंगों की आवश्यकता नहीं। परन्तु स्मरण रखना, मैं हूँ अनन्तदेवी! तेरी कूटनीति के कण्टकित कानन की दावाग्नि — तेरे गर्व-शैल-शृंग का वज्र! मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे! (जाती है)

विजया — मैं कही की न रही! इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गंभीर समुद्र! दुर्बल रमणी-हृदय थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना! जिनको क्षमा की आवश्यकता है — जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार, और जो पराये है, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति! यह मन का विष, यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह! जब हम अनजान लोगों की भूल और दुखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते है, तो भूल जाते है कि यहाँ मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वही सच्ची है, जहाँ, स्वार्थ की भी बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ — कहाँ — किधर?

(उन्मत्त भाव से प्रस्थान करना चाहती है। पदच्युत नायक का प्रवेश)

नायक — शांत हो।

विजया — कौन?

नायक — एक सैनिक?

विजय — दूर हो, मुझे सैनिकों से घृणा है।

नायक — क्यों सुन्दरी?

विजया — क्रूर! केवल अपने झूठे मान के लिए, बनावटी बडप्पन के लिए, अपना दंभ दिखलाने के लिए एक अनियंत्रित हृदय का लोहो से खेल विडम्बना है! किसकी रक्षा, किस दीन की सहायता के लिए तुम्हारे अस्त्र है?

नायक — साम्राज्य की रक्षा के लिए!

विजया — झूठ — तुम सबको जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था। डाकू! थोड़े-से ठीकरों के लिए अमूल्य मानव-जीवन का नाश करने वाले, भयानक भेड़िये!

नायक — (स्वगत) पागल हो गई है क्या?

विजया — स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा

में पड़कर खो दिया — इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति! ओह!

नायक — शांत हो!

विजया — शांति कहाँ? अपने को दण्ड देने के लिए मैं स्वंय उनसे अलग हुई, उन्हें दिखाने के लिए — 'मैं भी कुछ हूँ?' अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रक्खा था। उन पर झूठा अभियोग लगाकर, नीच-हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी — अब उसका फल मिला।

नायक — रमणी! भूला हुआ लौट आता है, खोया मिल जाता है, परन्तु जो जान-बूझकर भूल-भुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है। शांति का — कल्याण का मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

विजया — (सिसकती हुई) मैं अनाथ निस्सहाय हूँ!

नायक — (बनावटी रूप उतारते हुए) मैं शर्वनाग हू — सम्राट का अनुचर। मगध की परिस्थिति देखकर अपने विषय अन्तर्वेद को लौट रहा हूँ।

विजया — क्या अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग?

शर्वनाग — हाँ, परन्तु देश पर एक भीषण आतंक है। भटार्क की पिशाचलीला सफल होना चाहती है। विजया! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सके तो हमें अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दे कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावे!

विजया — (कुछ सोचकर) तुमने सच कहा! सबको कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिये। चलो — (दोनों का प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(भटार्क का शिविर नर्तकी गाती है)

भाव-निधि में लहरियाँ उठती तभी,

भूलकर भी जब स्मरण होता कभी।
मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।
सब रंगों में फिर रही हैं विजलियाँ,
नील नीरद! क्या न बरसोगे कभी?
एक झोंका और मलयानिल अहा!
क्षुद्र कलिका है खिली जाती अभी।
कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह,
यह समस्या हल न होगी क्या कभी?

(कमला और देवकी का प्रवेश)

देवकी — भटार्क! कहाँ है मेरा सर्वस्व? बता दे — मेरे आनन्द का उत्सव, मेरी आशा का सहारा — कहाँ है?

भटार्क — कौन?

कमला — कृतघ्न! नहीं देखता है, यह वही देवी है — जिन्होंने तेरे नारकीय अपराधों को क्षमा किया था - जिन्होंने तुम-से घिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था, वही -वही, देव-प्रतिमा महादेवी देवकी।

भटार्क — (पहचान कर) कौन — मेरी माँ!

कमला — तू कह सकता है। परन्तु मुझे तुमको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूँ। जिस जननी की संतान — जिसका अभागा पुत्र — ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुझ दिखाना चाहिये? आह भटार्क!

भटार्क — राजमाता और मेरी माता!

देवकी — बता भटार्क! वह आर्यावर्त का रत्न कहाँ है? देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी — कहाँ है? उससे शत्रुता करते हुए तुझे —

कमला — बोल दे भटार्क!

भटार्क — क्या कहूँ — कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो — हिमवान का गल जाने वाली बर्फ रे पूछो कि वह कहाँ है — मैं नहीं...

देवकी — आह! गया मेरा स्कन्द — मेरा प्राण!

(गिरती है — मृत्यु)

कमला — (उसे सम्हालती हुई) देख पिशाच — एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले — नीच! पुण्य-प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लोटता हुआ देखकर एक बार हृदय खोल कर हँस ले। हाँ देवी!

भटार्क — क्या! (भयभीत होकर देखता है)

कमला — इस यंत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाचभूमि को छोड़ कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता रहा — सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा कराने के लिए -नरक के कीड़े! तू जीता रहा?

भटार्क — माँ अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था — केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैं यह किया। स्कन्दगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट होगा।

कमला — अरे मूर्ख! अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प से भूल कर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है! पामर! तू सम्राटों का नियामक बन गया? मैंने भू की — सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला! आत्म-हत्या के अतिरिक्त अब कोई प्रायश्चित नहीं।

भटार्क — माँ, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। (तलवार डाल देता है)

कमला — तूने विलम्ब किया भटार्क! महादेवी — एक दिन जिनके नाम पर गुप्त साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उसकी अंत्येष्टि-क्रिया के लिए कोई उपाय नहीं! हाँ दुर्दैव!

भटार्क — (ताली बजाता है, सैनिक आते है) महादेवी की अंत्येष्टि-क्रिया राज-सम्मान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो!

(देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिलकर रखते हैं)

कमला — भटार्क! इस पुण्य-चरण के स्पर्श से, सम्भव है, तेरा पाप छूट जाय!)

(भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक में (दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(काश्मीर-न्यायाधिकरण में मातृगुप्त, एक स्त्री और दंडनायक)

मातृगुप्त — नंदीग्राम के दंडनायक — देवनन्द! यह क्या है!

देवनन्द — कुमारामात्य की जय हो! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त — फिर किसका है? तुम गुप्त-साम्राज्य का विधान भूल गये! प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उनकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी भृति से कट कर इस रमणी को मिलेगा।

देवनन्द — परन्तु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन भर की भृति से भी उसका भरना असम्भव है।

मातृगुप्त — तब राज-कोष उसे देगा, और तुम उसका फल भोगेगे।

देवनन्द — परन्तु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धिशालिनी वेश्या — अपने अन्तरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊँ? गुप्तचर भी थक गये!

मातृगुप्त — हाँ, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनन्द — मालिनी।

मातृगुप्त — क्या! मालिनी? (कुछ सोचता हुआ) अच्छा जाओ कोषाध्यक्ष को भेज दो।

(देवनन्द का प्रस्थान)

मातृगुप्त — मालिनी! अवगुण्ठन हटाओ, सिर ऊँचा करो, मैं अपना भ्रम निवारण करना चाहता हूँ। (मालिनी अवगुंठन हटाकर मातृगुप्त की ओर देखती है। मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है)

मातृगुप्त — तुम कौन हो — मालिनी? छलना! नहीं-नहीं, भ्रम है!

मालिनी — नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ! अवगुण्ठन केवल इसलिए था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी! मातृगुप्त! मैं वही हूँ।

मातृगुप्त — तुम? नहीं मेरी मालिनी! मेरे हृदय की आराध्य देवता — वेश्या! असम्भव। परन्तु नहीं, वही है मुख! यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन छाया डाल दी है — उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है, पर तुम वही हो? हा दुर्दैव?

मालिनी — दुर्दैव?

मातृगुप्त — मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा। मूर्ख मैं ... आह मालिनी! मेरे शून्य भाग्याकाश के मन्दिर का द्वार खोलकर तुम्हीं ने उनींदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे भिखारी-संसार पर

स्वर्ण बिखेर दिया था — तुम्हीं ने मालिनी! तुमने सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेंच डाला। जाओ मालिनी ? राज-कोष से अपना धन ले लो।

मालिनी — (मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई) एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त!

मातृगुप्त — मैं इतना दृढ नहीं हूँ मालिनी कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ। पर वह स्मृति — दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुँधली होकर सामने आवेगी! जाओ!

(मालिनी का प्रस्थान। चर का प्रवेश)

चर — कुमारामात्य की जय हो!

मात-गुप्त — क्या समाचार है — सम्राट का पता लगा?

चर — नहीं। पंचनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं। (प्रस्थान)

मातृगुप्त — तो सब गया! मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले! ओह! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव

का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धुल जायेंगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ किसी आर्य-सद्‌गृहस्थ से स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी और आर्य जाति अपने दृढ सबल हाथों में शस्त्र-ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य-सिंधु में शेष-पर्यकशायी सुषुप्तिनाथ जागेगे, सिंधु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराशियाँ आर्यावर्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये — हृदय के उद्‌गार सुनाये जायँगे — परन्तु पासा पलट कर भी न पलटा! प्रवीर उदार-हृदय स्कन्दगुप्त कहाँ है तब काश्मीर! तुझसे विदा।

(प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(नगर प्रांत के पथ में धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति)

प्रख्यातकीर्ति — प्रिय वयस्य! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हें भारत-पर्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है?

धातुसेन — भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वसुंधरा इसे प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुंधरा का हृदय — भारत — किस मूर्ख को प्यारा नहीं है? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और गंभीर और विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है। एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। किन्तु देखता हूँ, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध है। महाबोधि-विहार के संघ-महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यातकीर्ति है। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।

प्रख्यातकीर्ति — राजमित्र! मुझे क्षमा कीजिये। मैं धर्मलाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हूँ। महास्थविर बनने के लिए नहीं।

धातुसेन — मित्र! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यातकीर्ति — वह तो विरक्त होकर घूम रहा है।

धातुसेन — तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यातकीर्ति — पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे?

धातुसेन — जहाँ तक संभव हो शीघ्र चलो।

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु — आचार्य! महान अनर्थ।

प्रख्यातकीर्ति — क्या है? कुछ कहो भी?

भिक्षु — विहार के समीप जो चतुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते है। इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातुसेन — चलो, हम लोग भी चले — उन उत्तेजित लोगों को शांत करने का प्रयत्न करे।

(सब जाते है)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(विहार के समीप चतुष्पथ । एक ओर ब्राह्मण लोग बलि के उपकरण लिए, दूसरी ओर उत्तेजित भिक्षु और बौद्ध जनता । दंडनायक का प्रवेश)

दंडनायक — नागरिकगण! यह समय अंतर्विग्रह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों को लिए परस्पर झगड़ते हो।

ब्राह्मण — इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताडित हूँ इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये है, इन गुप्त शत्रुओं को कृतघ्नता उचित दंड मिलना चाहिये।

श्रमण — ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर गड़े हुए यज्ञसूप सद्धर्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों की तरह जब भी खटकते है। हम लोग निस्सहाय थे — क्या करते — विधर्म्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायें और धर्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्यों के द्वारा बनते है — उन्हीं के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शांति में बाधा पड़ती हो — उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश्य है — मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहे और हमारे कष्टों को न हटावे, तो हमें उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण — ब्राह्मणों की इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्वनियंता नहीं देख सकते। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये उत्पन्न हुई है — वह कभी चरणों के नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी — हमारे धर्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं टाल सकते।

श्रमण — निरीह प्राणियों के वध में कौन-सा धर्म है — ब्राह्मण? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जम्बूद्वीप ने उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्तपिपासु दुर्द्दांत ब्राह्मणदेव! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शांत करेंगे।

(धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति का प्रवेश)

धातुसेन — अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या-क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के

'नेति-नेति' से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त — मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचारित हुआ, व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था — उसके लिए रक्तपात क्यों?

दंडनायक — देखो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायँ, अन्यथा यहाँ बलि न होने दूँगा।

ब्राह्मण — क्यों न होने दोंगे — अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्त-साम्राज्य शिथिल है। कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके — धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करें। आह धर्मदेव! तुम कहाँ हो?

धातुसेन — सप्तसिन्धु प्रदेश नृशंस हूणों से पादाक्रांत है — जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है। क्षत्रिय राजा — धर्म का पालन कराने वाला राजा — पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया? आपने इसे विचारा है? क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे है? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरे की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे है? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया, दक्षिणाओं की योग्यता से — स्वर्ग, पुत्र, धर्म, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अंधी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के

लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है। जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिये, वह धर्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं! धर्मवृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के काटेदार जाल फैलाये गये हैं और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रखा, उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है, इसीलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण! जो पारस्यदेश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रभात में एक गो-निष्क्रय भी कर सकता है। धर्म को बचाने लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा!

ब्राह्मण — तुम कौन हो — मूर्ख उपदेशक? हट जाओ — तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध! तुमको क्या अधिकार है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो?

धातुसेन — ब्राह्मण क्यों महान है इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति है। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट उनके आश्रमों के निकट निश्शस्त्र होकर जाते थे, और वे तपस्वी — ऋत और अमृत-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान से प्रार्थना करते थे —

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्व सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

– आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की संतान है, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बन्द कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव-बुद्धि, ज्ञान का — जो वेदों के द्वारा हमें मिला है — प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्ति — धर्म के अंधभक्तों! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य परम्पराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थित के अनुसार विवृत होते रहे है और होंगे। हम लोगों को हठ-धर्मिता से उन आगन्तुक क्रमिकपूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म को दो शाखायें है। आओ हम दोनों विचार के फूलों से दुःखदग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।

बहुत-से लोग — ठीक तो है — ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते है और आततायियों को देखकर घर में घुस जाते है। हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते।

दंडनायक — यही तो बात है नागरिक!

प्रख्यातकीर्ति — मैं इस विचार का आचार्य हूँ और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में बौद्धों को माननी चाहिये। मैं जानता हूँ कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसीलिए धर्म है। किन्तु जब तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही। अतः यदि तुम में कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते है। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है!

(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यातकीर्ति — (हँसकर) यही आपका धर्मोन्माद था? एक युद्ध करने वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुंदुभी बजाना — यही आपकी करुणा की सीमा है? जाइये, घर लौट जाइये। (ब्राह्मण से) आओ रक्त-पिपासु धार्मिक! लो, उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो! (सिर झुका लेता है)

ब्राह्मण — (तलवार फेंककर) धन्य हो महाश्रमण! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे जैसे धार्मिक भी इसी संघ में है। मैं बलि नहीं करूँगा।

(जनता में जय-जयकार। सब धीरे-धीरे जाते है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(पथ में विजया और शोकमग्न मातृगुप्त)

विजया — नहीं कविवर! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त — कौन, विजया?

विजया — आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणि! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े? एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ।

मातृगुप्त — (विकल भाव से) देवि! तुम देवि...

विजया — हाँ मातृगुप्त! एक प्राण बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट को खोजते हो! एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ! सुना दो वह संगीत — जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँप कर रह जाय — अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुंद की मोह-निद्रा से भारतवासी जाग पड़े। हम-तुम गली-गली, कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे।

मातृगुप्त — वीर बाले! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा (देखकर) वह लो — चक्रपालित आ रहा है।

(चक्रपालित का प्रवेश)

चक्रपालित — (अन्यमनस्क भाव से) लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जलबिन्दु, आकाश के मेघ-समारोह — अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला, मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्णमेघ में बिजली की वर्णमाला — एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली! भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य अतीत का स्वामी है!

मातृगुप्त — बन्धु चक्रपालित!

चक्रपालित — कौन, मातृगुप्त!

भीमवर्मा — (विक्षिप्त सा सहसा प्रवेश करके) कहाँ है मेरा भाई, मरे हृदय का बल, भुजाओं का तेज, वसुंधरा का शृंगार, वीरता का वरणीय — बन्धु, मालव-मुकुट आर्य बन्धुवर्मा?

(प्रख्यातकीर्ति और श्रमण का प्रवेश)

प्रख्यातकीर्ति — सब पागल, लूटे गये-से अनाथ और आश्रयहीन — यही तो हैं! आर्य-राष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, भग्न-साम्राज्य-पोत के टूटे हुए पटरे और पतवार ऐसे वीर हृदय! ऐसे उदार!

मातृगुप्त — तुम कौन हो?

प्रख्यातकीर्ति — संभवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो!

मातृगुप्त — (शंका से देखता हुआ) क्यों अहेरी कुत्तों के समान सूँघते हुए यहाँ भी! परन्तु तुम —

प्रख्यातकीर्ति — सन्देह मत करो मातृगुप्त। शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से तुम लोगों को खोज रहा हूँ। यह लो प्रमाण-पत्र।

मातृगुप्त — (पढ़कर) धन्य सिंहल के युवराज, श्रमण! कह देना मैं आज्ञानुसार चलूँगा, और कनिष्क-चैत्य के समीप भेंट होगी।

प्रख्यातकीर्ति — कल्याण हो! (जाता है)

विजया — कहाँ चलें हम लोग?

मातृगुप्त — उसी जंगल में।

(सब जाते हैं)

(दृश्यान्तर)

सप्तम दृश्य

(कमला की कुटी पर विचित्र अवस्था में स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए। चेतना कहती हा कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है — उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी के टोकरी से भी तुच्छ है? (चिन्तामग्न होता है) करुणासहचर! क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ, दान देते हो! नाथ! मुझे दुखों से भय नहीं, संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती है, उतना ही मनुष्यों बन्धनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर

अग्रसर होता है! परन्तु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था! आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो — मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष — गुप्त-साम्राज्य — हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह! जाने दो, गया सब कुछ गया! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्तव्य — विस्मृत, भविष्य — अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़, और अनन्त सागर का संतरण है —

बजा दो वेणु मनमोहन! बजा दो
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो।
विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूँको।
हमें सब भीति-बंधन से छुड़ा दो।
सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ?
रसीले राग में मन को मिला दो।
तुम्हीं सब हो इसी की चेतना हो?
इसे आनन्दमय जीवन बना दो।

(प्रार्थना में झुकता है। उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश)

शर्वनाग — छीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के मांस की तरह सेंकने लगे! जिन पर विश्व-भर का भंडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने — हूणों ने — लुटेरों ने — लूट लिया! किसने आहों को सुना — भगवान ने? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना! देखते हुए भी न देखा! आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे, कभी आर्यों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं। देश के हर कानन चिता बन रहे है। धधकती हुई नाश के प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपनी ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता? अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले!

(उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

स्कन्दगुप्त — कौन है? यह शर्वनाग है क्या? अन्तर्वेद भी हूणों से पादाक्रांत हुआ? अरे आर्यावर्त के दुर्दैव! बिजली के अक्षरों से क्या भविष्यत् लिख रहा है? भगवन्! यह अर्द्धोन्मत्त शर्व! आर्य साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है? कितनी बीभत्स है। सिंहों को विहारस्थली में शृंगाल-वृंद सड़ी लोथ नोच रहे हैं।

(पगली रामा का प्रवेश)

रामा — (स्कन्द को देखकर) लुटेरा है तू भी! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ? तेरे दाँतों से टूटेंगी? देख तो — (हाथ बढ़ाती है)

स्कन्दगुप्त — कौन? रामा?

रामा — (आश्चर्य से) मैं रामा हूँ! हाँ, जिसकी संतान को हूणों ने पीस डाला! (ठहर कर) मेरी संतान! इन अभागों की-सी वे नहीं थी। वे तो तलवार की बारीक धार पर पैर फैला कर सोना जानती थी। धधकती हुई ज्वाला में हँसती हुई कूद पड़ती थी। तुम (देखती हुई) लुटेरे भी नहीं, उहूँ कायर भी नहीं, अकर्मण्य बातों में भुलाने वाले — तुम कौन हो? देखा था एक दिन! वही तो है जिसने अपनी प्रचंड हुंकार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मारकर सोई हुई अकर्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोयें खड़े हो जाते थे, भुजायें फड़कने लगती थी। वही स्कन्द — रमणियों का आश्रय और आर्यावर्त की छत्र-छाया! नहीं, भ्रम हुआ! तुम निष्प्रभ, निस्तेज उसी के मलिन चित्र-से — तुम कौन हो? (प्रस्थान)

स्कन्दगुप्त —(बैठकर) आह! मैं वही स्कन्द हूँ — अकेला, निस्सहाय!

(कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है)

कमला — कौन कहता है — तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। सहानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो

कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पादाघात से विंध्य के कोई शैल उठ खड़ा होगा जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ। आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा — वीर!

स्कन्दगुप्त — कौन तुम? भटार्क की जननी!

(नेपथ्य में क्रंदन — 'बचाओ-बचाओ' का शब्द)

स्कन्दगुप्त — कौन? देवसेना का-सा शब्द! मेरा खड्ग कहाँ है — (जाता है)

(देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश)

देवसेना —भीम! भाई! मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ गये?

हूण — कौन तुझे बचाता है? (पकड़ना चाहता है। देवसेना छुरी निकाल कर आत्महत्या किया चाहती है। पर्णदत्त सहसा एक ओर से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन, दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है) – क्षमा हो!

पर्णदत्त — अत्याचारी! जा तुझे छोड़ देता हूँ। आ बेटी, हम लोग चलें, महादेवी की समाधि पर।

कमला — कहाँ, वही — कनिष्क के स्तूप के पास!

देवसेना — हाँ, कौन कमला देवी?

कमला — वही अभागिनी।

देवसेना — अच्छा जाती हूँ, फिर मिलूँगी।

(पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान। स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — कोई नहीं मिला। कहाँ से वह पुकार आई थी? मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। सच्चे मित्र बन्धुवर्मा की धरोहर! ओह!

कमला — वह सुरक्षित है, घबराइये नहीं। कनिष्क के स्तूप के पास आपकी माता की समाधि है, वही पर पहुँचा दी गई है।

स्कन्दगुप्त — माँ! मेरी जननी! तू भी न रही! हाँ!

(मूर्च्छित होता है। कमला उसे कुटी में उठा ले जाती है।)

(पटाक्षेप)

पंचम अंक

प्रथम दृश्य

(पथ में मुद्गल)

मुद्गल — राजा में रंक और ऊपर से नीचे; अभी दुर्वृत्त दानव, अभी स्नेह संचलित मानव, कही वीणा की झंकार, कही दीनता का तिरस्कार — (सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है है) भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुनकर कि बन्धुवर्मा वीरगति को प्राप्त हो हुए सती हो गई, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक-माँ महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्मा और मातृगुप्त राजाधिराज को खोज रहै हैं, सब विक्षिप्त! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परन्तु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता। अनन्तदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणों से संधि कर

ली है; मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट की उपाधि है, 'प्रकाशादित्य' परन्तु प्रकाश के स्थान पर अंधेरा है! आदित्य में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के है! समस्त भारत हूणों के चरणों में लोट रहा है, और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पश्चाताप कर रहा है। (सामने देखकर) वह विजया आ रही है! तो हट चलूँ। (उठकर जाना चाहता है)

विजया — अरे मुद्‌गल ! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्‌गल — तुम कौन हो जी? वे जान-पहचान की छेड़-छाड़ अच्छी नहीं लगती, और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वही यह प्रश्न होता है, मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है — मुझसे रूठे हुये है? किसी दूसरे पर उनका स्नेह है? वह सुन्दरी कब मिलेगी? मिलेगी या नहीं? – इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यह प्रश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए मुहूर्त पूछे जाते है!

विजया — क्या मुद्‌गल! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है?

मुद्‌गल — अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया — क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य — मनुष्य से बात न करे? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है। परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल!

मुद्गल — उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, और जो क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख — अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसका मनुष्यता से क्या सम्बन्ध?

विजया — न सही, परन्तु इतना तो बता सकोगे, सम्राट स्कन्दगुप्त से कहाँ भेट होगी? क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित है।

मुद्गल — क्या तुम महाराज से भेट करोगी, किस मुँह से? अवन्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी!

विजया — उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्गल — तुम्हारा साहस तो कम नहीं है!

विजया — मुद्गल! बता दोगे?

मुद्गल — तुम विश्वास के योग्य नहीं। अच्छा अब और तुम क्या कर लोगी! देवसेना के साथ जहाँ पर्णदत्त रहते है, आज कमला देवी के कुटीर से सम्राट वही अपनी जननी की समाधि

पर जाने वाले है — उसी कनिष्क-स्तूप के पास अच्छा, जाता हूँ। देखो, विजया! मैंने बता तो दिया — पर सावधान! (जाता है)

विजया — उसने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी, परन्तु क्या यह सच्चा परिवर्तन नहीं है? क्या मैं अपने को भूलकर देश-सेवा कर सकूँगी? क्या देवसेना... ओह! फिर मेरे सामने वही समस्या। आज तो स्कन्दगुप्त सम्राट नहीं है, प्रतिहिंसे — सो जा! क्या कहा! नहीं, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था — विजया भी एक बार वही करेगी। देश सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती! मेरा रत्न-गृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिये सम्राट को दूँगी, और — एक बार बनूँगी महादेवी! क्या नहीं होगी! अवश्य होगा। अदृश्य ने इसीलिए उस रक्षित रत्न-गृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ! तो आज वही करूँगी, और इसमें दोनों होगा — स्वार्थ और परमार्थ (प्रस्थान)

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क — अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परन्तु परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी

सम्राट! परन्तु गया — मेरी ही भूल से सब गया। आज भी वे शब्द सामने आ जाते है, जो उस बूढ़े अमात्य ने कहे थे — 'भटार्क, सावधान! जिस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति को लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना।' हाय! न हम उसे वश में कर सके और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दंभ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनन्तदेवी — एक क्षुद्र नारी — उसके कुचक्र में — आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि यहीं कहीं स्कन्दगुप्त भी है, चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ। (प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

द्वितीय दृश्य

(कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि। अकेले पर्णदत्त टहलते हुए)

पर्णदत्त — सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती है। जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय!

अक्षय-निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ! मैं रोऊँगा नहीं, परन्तु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है! नहीं, पर्णा! रोना मत। एक बूँद आँसू आँखों में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो — तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे, तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। सन्तोष कर उछलते हुए हृदय — सन्तोष कर! तू रोटियों के लिए नहीं जीता है, तू उसकी भूल दिखाता है जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया — उसे करते नहीं बनता --- स्वाँग भरते नहीं बनता, देश के बहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा — साक्षी रहना भगवन्!

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्णदत्त — बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक — और तुम्हारी वह कहाँ गई — वह... (संकेत करता है)

पर्णदत्त — मेरी बेटी स्नान करने गई है। बाबा! कुछ दे दो!

नागरिक — मुझे उसका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह गाती — तो तुम्हें कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा (जाता है)

पर्णदत्त — (दाँत पीसकर) नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा! बालों को संवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है! कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़ र चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई जिस देश के नवयुवक ऐसे हों उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज!

देवसेना — (प्रवेश करते) क्या है बाबा। क्यों चिढ़ रहे हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया — उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्णदत्त — अपना! देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए — हम भूखों के लिए --- रख छोड़ा है। वह थाती है — उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिए उसके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिए कि...

देवसेना — बाबा! क्षमा करो। जाने दो, कोई तो देगा।

पर्णदत्त — हमारे ऊपर सैंकड़ो अनाथ वीरों के बालकों का भार है! बेटी! ये युद्ध में मरना जानते है, परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना — बाबा! महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ। कई दिनों से भीम नहीं आया, मुद्गल भी नहीं — सब कहाँ है?

पर्णदत्त — आवेंगे बेटी! तुम बैठो, मैं अभी जाता हूँ। (प्रस्थान)

देवसेना — संगीत-सभा की अंतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान् सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति — मेरा क्षुद्र नारीजीवन! मेरे प्रिय गान! अब क्या गाऊँ ओर क्या सुनाऊँ? इन बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है — क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कण्ठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है — (गाती है)

शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
हृदय! तू खोजता किसके छिपा है कौन-सा तुझमें,
मचलता है बता क्या दूँ, छिपा तुमसे न कुछ मुझमें।

रस-निधि में जीवन रहा, मिट्टी न फिर भी प्यास,
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।
हृदय! तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेती तुझमें,
मिला अब कौन सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें!

(प्रस्थान)

(वेश बदले हुए स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — जननी! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम। (समाधि के समीप घुटने टेकर फूल चढ़ाते हुए) माँ अन्तिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसी से यह कष्ट — यह अपमान! माँ तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका — यह अपराध क्षमा करो।

(देवसेना का प्रवेश)

देवसेना — (पहचानती हुई) कौन? अरे — सम्राट की जय हो!

स्कन्दगुप्त — देवसेना!

देवसेना — हाँ राजाधिराज! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए।

स्कन्दगुप्त — देवसेना! बड़ी-बड़ी कामनायें थी।

देवसेना — सम्राट!

स्कन्दगुप्त — क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है?

देवसेना — हाँ, यहीं गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कन्दगुप्त — मालवेश-कुमारी देवसेना! तुम और यह कर्म! समय जो चाहे करा ले! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था! देवसेना यह सब मेरा प्रायश्चित है। आज मैं बन्धुवर्मा के आत्मा को क्या उत्तर दूँगा? जिसने निस्स्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा? मैं यह सब देखता हूँ — और जीता हूँ!

देवसेना — मैं अपने लिए ही नहीं माँगती देव! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये है, वे सब निरवलम्ब है! किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड! उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कन्दगुप्त — वृद्ध पर्णदत्त — तात पर्णदत्त! तुम्हारी यह दशा? जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है। देवसेना! अब इसका कोई काम नहीं, चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम तुम अब अलग न

होंगे! साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकान्तवास करूँगा!

देवसेना — सो न होगा सम्राट! मैं दासी हूँ! मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट! देखो यही पर सती जयमाला की छोटी-सी समाधि है। उसके गौरव की रक्षा होना चाहिये!

स्कन्दगुप्त — देवसेना! बन्धुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना — परन्तु क्षमा हो सम्राट! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी! मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कन्दगुप्त — देवसेना! एकान्त में किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा! साम्राज्य की इच्छा नहीं — एक बार कह दो!

देवसेना — तब तो और भी नहीं! मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी! सम्राट — क्षमा हो। इस हृदय में — आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान

निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिये। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती। (स्कन्दगुप्त के पैरों पर गिरती है)

स्कन्दगुप्त — (आँसू पोंछता हुआ) उठो देवसेना! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूँगा, मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना — हैं, हैं — यह क्या किया!

स्कन्दगुप्त — कल्याण का श्रीगणेश! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका — तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ सकूँगा।

देवसेना — (निश्वास लेकर) देवव्रत! तुम्हारी जय हो। जाऊँ आर्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ। (प्रस्थान)

(विजया का प्रवेश)

विजया — इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह — जैसे सरस्वती के शोणित जल में इन्दीवर का विकास। इसी कारण अब मैं भी मरती हूँ। मेरे स्कन्द! मेरे प्राणाधार!

स्कन्दगुप्त — (घुमकर) यह कौन, इन्द्रजाल-मंत्र? अरे विजया!

विजया — हाँ, मैं ही हूँ।

स्कन्दगुप्त — तुम कैसे?

विजया — तुम्हारे लिए अन्तस्तल की आशा जीवित है।

स्कन्दगुप्त — नहीं विजया! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया — नहीं, मुझे कहने दो (सिसकती हुई) मैं अब भी...

स्कन्दगुप्त — चुप रहो विजया! यह मेरी आराधना की — तपस्या की भूमि है, इस प्रवंचना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ।

विजया — मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो!

स्कन्दगुप्त — परन्तु साम्राज्य के लिए मैं अपने को बेच नहीं सकता। विजया चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं। यह प्रसंग यही तक!

विजया — मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का प्रसंग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनाने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतंत्र करा दूँगी; अर्थलोभी हूण-दस्युओं से उसे छुटा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।

स्कन्दगुप्त — विजया, मुझे इतना लोभी समझ लिया है? मैं सम्राट बन कर सिंहासन पर बैठने के लिए नहीं हूँ। शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूँगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता।

विजया — क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्ण हो गई? आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनन्द लो।

स्कन्दगुप्त — और असहाय दीनों को राक्षसों के हाथ उनके भाग्य पर छोड़ दूँ?

विजया — कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख। फिर सब को बोझ अपने सिर पर लाद कर क्यों व्यस्त होते हो?

स्कन्दगुप्त — परन्तु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ, विजया! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ — परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध हैं। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक...

विजया — रहने दो यह थोथा ज्ञान — प्रियतम! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत की आँखों को थोड़े काल के लिए बन्द कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सरायें ओर इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी — जिस सुख को देखकर आश्चर्यचकित हो, वही मादक सुख, घोर आनन्द, विराट् विनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय! –

अगुरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
व्याकुलता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से —
व्याकुल बिजली-ली, तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घनमाला से,
आँसू वरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।
इस उदास मन का अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से,
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से।
छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से,
ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कम्पन सम से।
इन आकुल जीवन की धड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से,

बजा करे अगणित यंत्रों से सुख-दुख के अनुपातों से।
उखड़ी साँसें उलझ रहीं हों धड़कन से कुछ परिमित हो,
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहै उलझी फिर चाहो ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ।

(स्कन्द के पैरों को पकड़ती है)

स्कन्दगुप्त — (पैर छुड़ाकर) विजया! पिशाची! हट जा, नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार्य-व्रत की प्रतिज्ञा की है।

विजया — तो क्या मैं फिर हारी?

(भटार्क का प्रवेश। विजया स्तब्ध होती है)

भटार्क — निर्लज्ज हार भी नहीं हारता, मर कर भी नहीं मरता।

विजया — कौन भटार्क?

भटार्क — हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरिते! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा — विजया कभी शांति-पाठ पढ़ेगी?

विजया — (सिर नीचा करके) अपराध हुआ।

भटार्क — फिर भी किसके साथ? जिस पर अत्याचार करके मैं भी लज्जित हूँ और जिससे क्षमा-याचना करने मैं आ रहा था। नीच स्त्री!

विजया — घोर अपमान, तो बस... (छुरी निकाल कर आत्महत्या करती है)

स्कन्दगुप्त — भटार्क! इसके शव का संस्कार करो।

भटार्क — देव! मेरी भी लीला समाप्त है — (छुरी निकाल कर अपने को मारना चाहता है, स्कन्दगुप्त हाथ पकड़ लेता है)

स्कन्दगुप्त — तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्म-भूमि का उपकार करो। भटार्क! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं — जन्म-भूमि के उद्धार के लिए — मैं अकेला युद्ध करूँगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूँगा। आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो।

भटार्क — (स्कन्द के सामने घुटने टेक कर) श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो। जो आज्ञा होगी वही करूँगा!

स्कन्दगुप्त — (प्रस्थान करते) पहले इस शव का प्रबंध होना चाहिए।

भटार्क — (स्वगत) इस घृणित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं, लाओ, इसे यहीं गाड़ दूँ!

(भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथ रत्न-गृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना। स्कन्दगुप्त आकर रत्न-गृह देखना)

स्कन्दगुप्त — भटार्क! यह तुम्हारा है।

भटार्क —हाँ सम्राट! यह हमारा है, इसीलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा।

स्कन्दगुप्त — वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है — स्तूप के पास।

भटार्क — नागरिकों का उत्सव है (रत्न-गृह बन्द करके) चलिये, देखूँ।

(दृश्यान्तर)

तृतीय दृश्य

(स्तूप का एक पार्श्व। नागरिकों का आवागमन। उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि का और दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश)

एक नागरिक — अरे वह छोकरी आ गई, इससे कुछ सुना जाय

अन्य नागरिक — हाँ रे छोकरी! कुछ गा तो।

पर्णदत्त — भीख दो बाबा! देश के बच्चे भूखे है, असहाय है — कुछ दे दो बाबा!

अन्य नागरिक — अरे गाने भी दे बूढ़े!

पर्णदत्त — हाय रे अभागे देश!

(देवसेना गाती है)

देश की दुर्दशा निहारोगे, डूबते को कभी उबारोगे?
हारते ही रहे, न है कुछ अब, दाँव पर आपको न हारोगे?
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर, दीन हो दैव को पुकारोगे।
सो रहे तुम, न भाग्य सोता है, आप बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे।

दीन जीवन बिता रहे अब तक, क्या हुए जा रहे, विचारोगे?

पर्णदत्त — नहीं बेटी, निर्लज्ज कभी विचार नहीं करेंगे।

चक्रपालित और भीमवर्मा — आर्य पर्णदत्त की जय!

पर्णदत्त — मुझे जय नहीं चाहिये — भीख चाहिये। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्म-भूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में?

स्कन्दगुप्त — (भीड़ से निकल कर) मैं प्रस्तुत हूँ तात!

भटार्क — श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो!

(नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ते हैं)

सब — हम है, हम आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत है।

स्कन्दगुप्त — आर्य पर्णदत्त!

पर्णदत्त — आओ वत्स — सम्राट। (आलिंगन करता है)

(उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है। चक्रपालित, भीमवर्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला, रामा, सब का प्रकट होना। तुमुल जयनाद के साथ दृश्यान्तर)

चतुर्थ दृश्य

(महाबोधि विहार में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्ति, हूण-सेनापति)

अनन्तदेवी — इसका उत्तर महाश्रमण देंगे।

हूण-सेनापति — मुझे उत्तर चाहिये — चाहे कोई दे।

प्रख्यातकीर्ति — सेनापति! मुझ से सुनो, समस्त उत्तरापथ का बौद्ध-संघ — जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था — वह अब न होगा।

हूण-सेनापति — तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिकों को मिलती थी, बन्द हो गई और उल्टा तिरस्कार!

प्रख्यातकीर्ति — वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म का उत्थान करने में सहायक होंगे, परन्तु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म कोई आश्रय नहीं देगा। (पुरगुप्त की ओर देखकर) यद्यपि संघ ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य-साम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखना चाहता तो भी बौद्ध धर्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।

अनन्तदेवी — भिक्षु! यह क्या कह रहे हो? समझ कर कहना।

हूण-सेनापति — गोपाद्रि से समाचार मिला है, स्कन्दगुप्त फिर जी उठा है, और सिंधु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं, सम्भवतः शीघ्र ही अंतिम युद्ध होगा। तब तक के लिए संघ को प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिये।

पुरगुप्त — क्या — युद्ध! तु लोगों को कोई दूसरी बात नहीं...

अनन्तदेवी - चुप रहो।

पुरगुप्त — तब फिर —एक पात्र! (सेवक देता है)

प्रख्यातकीर्ति — अनार्य! विहार में मद्यपान! निकलो यहाँ से।

अनन्तदेवी — भिक्षु! समझकर बोलो, नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा।

हूण-सेनापति — इसी की सब प्रवंचना है। इसका तो मैं अवश्य ही वध करूँगा।

प्रख्यातकीर्ति — क्षणिक और अनात्मभव में कौन किसका वध करेगा, मूर्ख!

हूण-सेनापति — पाखंड! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रख्यातकीर्ति — सिंहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए है, वहाँ से लौट नहीं सकते।

(हूण-सेनापति मारना चाहता है)

धातुसेन — (ससैन्य प्रवेश करके) सम्राट स्कन्दगुप्त की जय!

(सैनिक सबको बन्दी कर लेते हैं)

धातुसेन — कुचक्रियों! अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ! भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगाई ज्वाला शांत होगी!

अनन्तदेवी — धातुसेन! यह क्या, तुम...हो?

धातुसेन — हाँ महादेवी! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेलना की गई — यह उसी का परिणाम है। (सैनिकों से) सबको शीघ्र साम्राज्य-स्कंधावार में ले चलो।

(सबका प्रस्थान)

(दृश्यान्तर)

पंचम दृश्य

(रणक्षेत्र में सम्राट स्कन्दगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिक्रमण करते हैं।)

मातृगुप्त — वीरो —

हिमालय के आँगन में उस प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिन्धु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत।
बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत।
सुना है दधिचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास।
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरा इतिहास।
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बन्द।
हमीं ने दिया शांति-संदेश सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही, धरा पर धूम।

भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर-घर घूम।
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं।
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचण्ड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।
चरित थे पूत, भुजा मे शक्ति, नम्रता रही सदा संपन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष ।
निछावर कर दे हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

सब — (समवेत स्वर में) जय! राजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय!

(हूण-सेना के साथ खिंगिल का प्रवेश)

खिंगिल — बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है! भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी!

स्कन्दगुप्त — यह बात करने का स्थल नहीं है।

(घोर युद्ध। खिंगिल घायल होकर बन्दी होता है। सम्राट को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु। गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है।)

स्कन्दगुप्त — धन्य वीर आर्य पर्णदत्त!

सब — आर्य पर्णदत्त की जय। आर्य साम्राज्य की जय!

(बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त — मेरी सौतेली माता! इस विजय से आप सुखी होंगी!

अनन्तदेवी — क्यों लज्जित करते हो स्कन्द! तुम भी तो मेरे पुत्र हो!

स्कन्दगुप्त — आह! यदि यही होता मेरी विमाता! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनन्तदेवी — मुझे क्षमा करो सम्राट!

स्कन्दगुप्त — माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई — वही तो कैकेयी ने भी किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा परन्तु कुमारगुप्त के इस अग्नितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढँक दिया — पुरगुप्त!

पुरगुप्त — देव! अपराध हुआ — (पैर पकड़ता है)

स्कन्दगुप्त — भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्म-भूमि की दुर्दशा न हो।

(रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क — देवव्रत! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते है?

स्कन्दगुप्त — क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिंधु के पार देश में कभी आने का साहस न करे।

खिंगिल — आर्य सम्राट! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। (जाता है)

(दृश्यान्तर)

षष्ठ दृश्य

(उद्यान का एक भाग)

देवसेना — हृदय की कोमल कल्पना! सो जा! जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा — सब से मैं बिदा लेती हूँ। —

आह! वेदना मिली बिदाई!
मैंने भ्रमवश जीवन संचित, मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे संध्या के श्रमकण, आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी — नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में, गहन-विपिन की तरु-छाया में।
पथिक उनींदी श्रुति में किसने यह विराग की तान उठाई।

लगी सतृष्ण ढीठ थी सबकी, रही बचाये फिरती कबकी।
मेरा आशा आह! बावली तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी-होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती, मेरी करुणा हा-हा खाती!
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे इससे मन की लाज गँवाई।

स्कन्दगुप्त — (प्रवेश करते) देवसेना!

देवसेना — जय हो देव! श्री चरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कन्दगुप्त — मालवेश-कुमारी! क्या आज्ञा है? आज बन्धुवर्मा इस आनन्द को देखने के लिए नहीं है। जननी जन्म-भूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ प्रतिज्ञा थी — जिसका ऋणशोध कभी नहीं किया जा सकता — उसी वीर बन्धुवर्मा की भगिनी मालवेश कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है?

देवसेना — मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुट्टी मिले।

स्कन्दगुप्त — देवि! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक-दूसरे का मुँह देखकर काट लगें; हमारे अंतर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की

थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नंदन की वसंतश्री, इस अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ — ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ? (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ? देवसेना — देवसेना! तुम जाओ — हतभाग्य स्कन्दगुप्त! अकेला स्कन्द — ओह!

देवसेना — कष्ट हृदय की कसौटी है — तपस्या अग्नि है — सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!!

(घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।)

(यवनिका)

• • •